पश्चिमी शिक्षा का इतिहास

सीताराम जायसवाल, एम. ए. एल. टी,

प्रकाशक
नन्दकिशोर ऐण्ड ब्रदर्स
बनारस

प्रथम संस्करण]   [मूल्य ६)

संसार की खोज : शिक्षा का इतिहास (प्रथम भाग)

(प्रस्तुत पुस्तक लेखक द्वारा उत्तर प्रदेशीय शिक्षा-विभाग के संचालक की आज्ञा)—G/1/3175/XVII. 18 (1) दिनांक जुलाई १४'४७ के अनुसार लिखी गई है ।'

मुद्रक : विश्वनाथ भार्गव,
मनोहर प्रेस, जतनबर, काशी ।

प्रस्तावना

पूर्व और पश्चिम का भेद काफी पुराना हो चुका है, और इनके सम्बन्ध में कुछ निश्चित धारणायें भी बन गई हैं। पूर्व में आध्यात्मिकता और पश्चिम भौतिकता के प्रतीक स्वीकार किये जाते हैं। पूर्व में लोक से अधिक परलोक की चिंता की जाती है और पश्चिम में लोक ही को सब कुछ समझा जाता है। मानव वृत्तियों की दृष्टि से पूर्व में अंतः का प्राधान्य है और पश्चिम में बाह्य का। इसी प्रकार अनेक दृष्टियों से पूर्व और पश्चिम के भेद व्यक्त किये जा सकते हैं और दोनों के आपसी विरोध को उभारा जा सकता है। लेकिन सत्य तो यह है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पूर्व में जो बात है, वह पश्चिम में नहीं है और पश्चिम में जो है, वह पूर्व में नहीं है। इसलिए दोनों को एक दूसरे से कई बातों को सीखना और ग्रहण करना है; विशेष रूप से आज के संसार में इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। अब दुनिया एक हो चली है। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप दूरी मिटती जा रही है तथा पूर्व और पश्चिम एक दूसरे के बहुत पास आते जा रहे हैं और उनके भेद भी मिट रहे हैं। मानवता की दृष्टि से यह शुभ चिन्ह है।

पश्चिम का इतिहास, विशेष रूप से शिक्षा का इतिहास, ईसा से लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होता है और उसके स्वरूप में स्पष्टता सोलन के विधान के बाद आती है। सोलन ने ईसा से पूर्व छठी सदी में एथेन्स के जीवन में क्रांति उपस्थित कर दी। उसके बाद सुकरात, प्लैटो और अरस्तू जैसे दार्शनिकों और शिक्षकों का उदय हुआ। इन महान् व्यक्तियों ने शिक्षा की दार्शनिक भूमि प्रस्तुत की। इनके विचारों की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है

प्रस्तावना

पूर्व और पश्चिम का भेद काफी पुराना हो चुका है, और इनके सम्बन्ध में कुछ निश्चित धारणायें भी बन गई हैं। पूर्व में आध्यात्मिकता और पश्चिम भौतिकता के प्रतीक स्वीकार किये जाते हैं। पूर्व में लोक से अधिक परलोक की चिंता की जाती है और पश्चिम में लोक ही को सब कुछ समझा जाता है। मानव वृत्तियों की दृष्टि से पूर्व में अंतः का प्राधान्य है और पश्चिम में बाह्य का। इसी प्रकार अनेक दृष्टियों से पूर्व और पश्चिम के भेद व्यक्त किये जा सकते हैं और दोनों के आपसी विरोध को उभारा जा सकता है। लेकिन सत्य तो यह है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पूर्व में जो बात है, वह पश्चिम में नहीं है और पश्चिम में जो है, वह पूर्व में नहीं है। इसलिए दोनों को एक दूसरे से कई बातों को सीखना और ग्रहण करना है; विशेष रूप से आज के संसार में इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। अब दुनिया एक हो चली है। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप दूरी मिटती जा रही है तथा पूर्व और पश्चिम एक दूसरे के बहुत पास आते जा रहे हैं और उनके भेद भी मिट रहे हैं। मानवता की दृष्टि से यह शुभ चिन्ह है।

पश्चिम का इतिहास, विशेष रूप से शिक्षा का इतिहास, ईसा से लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होता है और उसके स्वरूप में स्पष्टता सोलन के विधान के बाद आती है। सोलन ने ईसा से पूर्व छँठी सदी में एथेन्स के जीवन में क्रांति उपस्थित कर दी। उसके बाद सुकरात, प्लैटो और अरस्तू जैसे दार्शनिकों और शिक्षकों का उदय हुआ। इन महान् व्यक्तियों ने शिक्षा की दार्शनिक भूमि प्रस्तुत की। इनके विचारों की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है

कि पश्चिमी संस्कृति का कोई अंग इनसे अछूता नहीं है। आज भी सुकरात, प्लैटो और अरस्तू का पश्चिमी दर्शन और शिक्षा में में सर्वोच्च स्थान है।

लेकिन यूनानी-समाज इन महान् शिक्षकों की शिक्षा भूल कर ऐसे कार्य करने लगा जिससे अवनति के दिन निकट आने लगे। रोम की बढ़ती शक्ति का सामना करने में यूनानी असमर्थ थे, क्योंकि वे व्यक्तिवादी थे और उनमें संगठन का अभाव था। इसके विपरीत रोम में संगठन की शक्ति थी और रोमी कुशल सैनिक थे। उनमें वाणिज्य और व्यवस्था की भी असीम क्षमता थी। निर्माण कला (इंजीनियरिंग) तथा शासन में भी वे बढ़-कर थे। लेकिन बुद्धि और विचार में यूनानियों के पीछे होने से उनकी उन्नति केवल बाहरी थी। रोमी समाज में शोषण का बोल-बाला था। उसमें मुट्ठी भर धनी लोग थे और बाकी सब गरीब दास थे। गरीबों को 'नागरिक स्वतन्त्रता' भी न थी। इस प्रकार रोमी शासन भी कुछ दिनों की चमक के बाद धुँधला पड़ने लगा और समाज का नैतिक पतन हो चला। यह सब कैसे हुआ, इस पर प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है जिससे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि किसी देश की शासन-व्यवस्था में जब भ्रष्टाचार घुस जाता है तब समाज का नैतिक पतन हो चलता है और उसी के साथ सामाजिक निर्माण की शिक्षा जैसी शक्तियाँ भी दुर्बल हो जाती हैं। वास्तव में यूनानी और रोमी शिक्षा के इतिहास का जो निष्कर्ष है वह एक प्रकार से शाश्वत सत्य है। जब व्यक्तियों के व्यक्तित्व का हनन करके समाज प्रबल होता है, जब लोकतन्त्र के स्थान पर तानाशाही बैठती है, जब व्यक्ति की विचारशक्ति को विधान बाँध देता है, तब अवनति और पतन आवश्यक है। रोम का इतिहास इस कथन का प्रमाण है।

कि पश्चिमी संस्कृति का कोई अंग इनसे अछूता नहीं है। आज भी सुकरात, प्लैटो और अरस्तू का पश्चिमी दर्शन और शिक्षा में में सर्वोच्च स्थान है।

लेकिन यूनानी-समाज इन महान् शिक्षकों की शिक्षा भूल कर ऐसे कार्य करने लगा जिससे अवनति के दिन निकट आने लगे। रोम की बढ़ती शक्ति का सामना करने में यूनानी असमर्थ थे, क्योंकि वे व्यक्तिवादी थे और उनमें संगठन का अभाव था। इसके विपरीत रोम में संगठन की शक्ति थी और रोमी कुशल सैनिक थे। उनमें वाणिज्य और व्यवस्था की भी असीम क्षमता थी। निर्माण कला (इंजीनियरिंग) तथा शासन में भी वे बढ़-कर थे। लेकिन बुद्धि और विचार में यूनानियों के पीछे होने से उनकी उन्नति केवल बाहरी थी। रोमी समाज में शोषण का बोल-बाला था। उसमें मुट्ठी भर धनी लोग थे और बाकी सब गरीब दास थे। गरीबों को 'नागरिक स्वतन्त्रता' भी न थी। इस प्रकार रोमी शासन भी कुछ दिनों की चमक के बाद धुँधला पड़ने लगा और समाज का नैतिक पतन हो चला। यह सब कैसे हुआ, इस पर प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है जिससे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि किसी देश की शासन-व्यवस्था में जब भ्रष्टाचार घुस जाता है तब समाज का नैतिक पतन हो चलता है और उसी के साथ सामाजिक निर्माण की शिक्षा जैसी शक्तियाँ भी दुर्बल हो जाती हैं। वास्तव में यूनानी और रोमी शिक्षा के इतिहास का जो निष्कर्ष है वह एक प्रकार से शाश्वत सत्य है। जब व्यक्तियों के व्यक्तित्व का हनन करके समाज प्रबल होता है, जब लोकतन्त्र के स्थान पर तानाशाही बैठती है, जब व्यक्ति की विचारशक्ति को विधान बाँध देता है, तब अवनति और पतन आवश्यक है। रोम का इतिहास इस कथन का प्रमाण है।

पर जहाँ एक ओर नाश का नृत्य होता है, वहीं दूसरी ओर निर्माण के अंकुर भी फूटने लगते हैं। रोमी समाज के पतन के बीच जिस प्रकार ईसाई शिक्षा का विकास हुआ, उससे यही सिद्ध होता है। लेकिन इतिहास तो उत्थान और पतन की लहरों से खेलता है। व्यक्ति और समाज, बुद्धि और भावना, आदि को लेकर अनेक समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं। कभी व्यक्तिवाद इतना प्रबल हो उठता है कि जन सामान्य अवहेलित होकर पड़ा रहता है और कभी समाज इतना शक्तिशाली हो जाता है कि व्यक्ति की सत्ता के चिन्ह ही मिट जाते हैं। दोनों दशायें प्रगति की दृष्टि से अवांछनीय हैं। इस ग्रन्थ के अध्ययन में आपको इस कथन का सत्य दिखाई पड़ेगा। इसी प्रकार जब केवल बुद्धि की कठोरता की वृद्धि होती है तो जीवन में भावना का रस सूख जाता है। ऐसा होना भी ठीक नहीं है। मध्यकालीन पश्चिमी शिक्षा में मठवाद का विकास किस प्रकार हुआ और फिर विद्वद्-वाद किस रूप में आया, आदि का अध्ययन बुद्धि और भावना के संघर्ष पर समुचित प्रकाश डालता है।

समाज के आर्थिक ढाँचे का भी शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है। इसे हम पश्चिमी शिक्षा के इतिहास के प्रत्येक काल में देख सकते हैं। लेकिन इस पर विशेष प्रकाश 'गिल्ड' के संगठन के समय पड़ता है। यहीं से आर्थिक और धार्मिक स्वार्थों का संघर्ष आरंभ होता है। वैज्ञानिक युग के उदय होते ही आर्थिक पक्ष की विजय होती है और पश्चिमी शिक्षा में 'प्रकृति' और 'यथार्थ' को केंद्रिय स्थान मिलता है। इसके फलस्वरूप ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादी शिक्षा की धारा प्रवाहित होती है। रूसो के प्रकृतिवाद ने शिक्षा का केंद्र बालक को स्वीकार किया, और समाज की अवहेलना की। लेकिन यह सत्य है कि रूसो ने 'व्यक्ति' पर एक नवीन प्रकाश

पर जहाँ एक ओर नाश का नृत्य होता है, वहीं दूसरी ओर निर्माण के अंकुर भी फूटने लगते हैं। रोमी समाज के पतन के बीच जिस प्रकार ईसाई शिक्षा का विकास हुआ, उससे यही सिद्ध होता है। लेकिन इतिहास तो उत्थान और पतन की लहरों से खेलता है। व्यक्ति और समाज, बुद्धि और भावना, आदि को लेकर अनेक समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं। कभी व्यक्तिवाद इतना प्रबल हो उठता है कि जन सामान्य अवहेलित होकर पड़ा रहता है और कभी समाज इतना शक्तिशाली हो जाता है कि व्यक्ति की सत्ता के चिन्ह ही मिट जाते हैं। दोनों दशायें प्रगति की दृष्टि से अवांछनीय हैं। इस ग्रन्थ के अध्ययन में आपको इस कथन का सत्य दिखाई पड़ेगा। इसी प्रकार जब केवल बुद्धि की कठोरता की वृद्धि होती है तो जीवन में भावना का रस सूख जाता है। ऐसा होना भी ठीक नहीं है। मध्यकालीन पश्चिमी शिक्षा में मठवाद का विकास किस प्रकार हुआ और फिर विद्वद्-वाद किस रूप में आया, आदि का अध्ययन बुद्धि और भावना के संघर्ष पर समुचित प्रकाश डालता है।

समाज के आर्थिक ढाँचे का भी शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है। इसे हम पश्चिमी शिक्षा के इतिहास के प्रत्येक काल में देख सकते हैं। लेकिन इस पर विशेष प्रकाश 'गिल्ड' के संगठन के समय पड़ता है। यहीं से आर्थिक और धार्मिक स्वार्थों का संघर्ष आरंभ होता है। वैज्ञानिक युग के उदय होते ही आर्थिक पक्ष की विजय होती है और पश्चिमी शिक्षा में 'प्रकृति' और 'यथार्थ' को केंद्रिय स्थान मिलता है। इसके फलस्वरूप ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादी शिक्षा की धारा प्रवाहित होती है। रूसो के प्रकृतिवाद ने शिक्षा का केंद्र बालक को स्वीकार किया, और समाज की अवहेलना की। लेकिन यह सत्य है कि रूसो ने 'व्यक्ति' पर एक नवीन प्रकाश

डाला जिसके फलस्वरूप शिक्षा का मनोवैज्ञानिक विकास संभव हो सका। वास्तव में पश्चिम की आधुनिक शिक्षा का विकास यहीं से आरंभ होता है। अट्ठारहवीं सदी के मध्य से लेकर आजतक शिक्षा में जितनी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, उनमें विकास का एक क्रम दिखाई पड़ता है। शिक्षा की मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, समाहारक और सामयिक विकास के अध्ययन से इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध हो जायगी। साथ ही, इस ग्रंथ के अध्ययन से यह स्पष्ट होगा कि व्यक्ति और समाज में सामंजस्य उपस्थित करने में शिक्षा किस प्रकार सहायक होती है। जॉन डिवी ने शिक्षा को जीवन तथा शिक्षालय को समाज का रूप देकर लोकतंत्र की स्थापना पर अत्यधिक बल दिया है। मांटसोरी व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की समुचित शिक्षा द्वारा आध्यात्मिक विकास चाहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी शिक्षा का इतिहास व्यक्ति और समाज, बुद्धि और भावना, धर्म और अर्थ, आध्यात्मिकता और भौतिकता, तानाशाही और लोकतंत्र आदि के संघर्षों से कितना प्रभावित हुआ और पश्चिमी जगत् के निर्माण में शिक्षा ने कितना योग दिया।

प्रस्तुत ग्रंथ के अध्ययन की उपयोगिता उसी समय सिद्ध होगी जब हमारा विश्वास ऐसे समाज के निर्माण में होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर और अधिकार प्राप्त हैं और व्यक्ति, स्वतन्त्रतापूर्वक अपना शारीरिक, मानसिक और नैतिक-आध्यात्मिक विकास करके ऐसे कार्य करता है जिससे लोक का कल्याण होता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में ऐसा सामंजस्य स्थापित करना जिसमें सबके लिए सुख और शांति हो, हम शिक्षकों का पुनीत कर्त्तव्य है। अब इस पुस्तक के सम्बन्ध में दो शब्द और निवेदन करना है।

डाला जिसके फलस्वरूप शिक्षा का मनोवैज्ञानिक विकास संभव हो सका। वास्तव में पश्चिम की आधुनिक शिक्षा का विकास यहीं से आरंभ होता है। अट्ठारहवीं सदी के मध्य से लेकर आजतक शिक्षा में जितनी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, उनमें विकास का एक क्रम दिखाई पड़ता है। शिक्षा की मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, समाहारक और सामयिक विकास के अध्ययन से इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध हो जायगी। साथ ही, इस ग्रंथ के अध्ययन से यह स्पष्ट होगा कि व्यक्ति और समाज में सामंजस्य उपस्थित करने में शिक्षा किस प्रकार सहायक होती है। जॉन डिवी ने शिक्षा को जीवन तथा शिक्षालय को समाज का रूप देकर लोकतंत्र की स्थापना पर अत्यधिक बल दिया है। मांटसोरी व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की समुचित शिक्षा द्वारा आध्यात्मिक विकास चाहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी शिक्षा का इतिहास व्यक्ति और समाज, बुद्धि और भावना, धर्म और अर्थ, आध्यात्मिकता और भौतिकता, तानाशाही और लोकतंत्र आदि के संघर्षों से कितना प्रभावित हुआ और पश्चिमी जगत् के निर्माण में शिक्षा ने कितना योग दिया।

प्रस्तुत ग्रंथ के अध्ययन की उपयोगिता उसी समय सिद्ध होगी जब हमारा विश्वास ऐसे समाज के निर्माण में होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर और अधिकार प्राप्त हैं और व्यक्ति, स्वतन्त्रतापूर्वक अपना शारीरिक, मानसिक और नैतिक-आध्यात्मिक विकास करके ऐसे कार्य करता है जिससे लोक का कल्याण होता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में ऐसा सामंजस्य स्थापित करना जिसमें सबके लिए सुख और शांति हो, हम शिक्षकों का पुनीत कर्त्तव्य है। अब इस पुस्तक के सम्बन्ध में दो शब्द और निवेदन करना है।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना के समय मेरा ध्यान समाज की ओर विशेष रूप से रहा है क्योंकि शिक्षा का इतिहास सामाजिक परिस्थितियों से पूर्णतः प्रभावित होता है। इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सामाजिक भूमिका का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक अध्याय में आवश्यकतानुसार तत्कालीन समाज का चित्रण और फिर शिक्षा के उद्देश्य, विषय, पद्धति, सगठन का वर्णन किया गया है। शिक्षा का जो प्रभाव समाज पर पड़ता है, उसका भी शिक्षा के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए अध्यायों के अन्त में 'समाज पर प्रभाव' भी दिये गए हैं। इस प्रकार 'पश्चिमी शिक्षा का इतिहास' प्रस्तुत करने का यह नवीन प्रयास है।

'शिक्षाशास्त्र' की भाँति प्रस्तुत ग्रंथ भी हिंदी-संसार में प्रथम है। इसके पूर्व केवल 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास' प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार यह ग्रंथ हिंदी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है। मुझे इस कार्य में कहाँ तक सफलता मिली इसका निर्णय तो शिक्षाशास्त्री ही कर सकते हैं। लेकिन यदि किसी विद्वान् को कहीं कोई त्रुटि दिखाई दे तो मेरा ध्यान उस ओर आकर्षित करने की कृपा करें जिससे कि पुस्तक में आवश्यक संशोधन किया जा सके।

पुस्तक में प्रयुक्त नामों के उच्चारण के सम्बन्ध में भी निवेदन करना चाहता हूँ। पश्चिमी नामों के ठीक उच्चारण हिंदी में निश्चित न होने के कारण मैंने अपने ढंग से उनके उच्चारण किये हैं। बहुत संभव है कि मेरे उच्चारण वास्तविक से कुछ भिन्न हों। इसलिए मैंने यथास्थान अँगरेजी में नाम भी दे दिये हैं जिससे उच्चारण सम्बन्धी 'गलती' में सुधार किया जा सके।

इस ग्रंथ की रचना में मुझे उन सभी विद्वानों और लेखकों की

प्रस्तुत पुस्तक की रचना के समय मेरा ध्यान समाज की ओर विशेष रूप से रहा है क्योंकि शिक्षा का इतिहास सामाजिक परिस्थितियों से पूर्णतः प्रभावित होता है। इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सामाजिक भूमिका का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक अध्याय में आवश्यकतानुसार तत्कालीन समाज का चित्रण और फिर शिक्षा के उद्देश्य, विषय, पद्धति, सगठन का वर्णन किया गया है। शिक्षा का जो प्रभाव समाज पर पड़ता है, उसका भी शिक्षा के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए अध्यायों के अन्त में 'समाज पर प्रभाव' भी दिये गए हैं। इस प्रकार 'पश्चिमी शिक्षा का इतिहास' प्रस्तुत करने का यह नवीन प्रयास है।

'शिक्षाशास्त्र' की भाँति प्रस्तुत ग्रंथ भी हिंदी-संसार में प्रथम है। इसके पूर्व केवल 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास' प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार यह ग्रंथ हिंदी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है। मुझे इस कार्य में कहाँ तक सफलता मिली इसका निर्णय तो शिक्षाशास्त्री ही कर सकते हैं। लेकिन यदि किसी विद्वान् को कहीं कोई त्रुटि दिखाई दे तो मेरा ध्यान उस ओर आकर्षित करने की कृपा करें जिससे कि पुस्तक में आवश्यक संशोधन किया जा सके।

पुस्तक में प्रयुक्त नामों के उच्चारण के सम्बन्ध में भी निवेदन करना चाहता हूँ। पश्चिमी नामों के ठीक उच्चारण हिंदी में निश्चित न होने के कारण मैंने अपने ढंग से उनके उच्चारण किये हैं। बहुत संभव है कि मेरे उच्चारण वास्तविक से कुछ भिन्न हों। इसलिए मैंने यथास्थान अँगरेजी में नाम भी दे दिये हैं जिससे उच्चारण सम्बन्धी 'गलती' में सुधार किया जा सके।

इस ग्रंथ की रचना में मुझे उन सभी विद्वानों और लेखकों की

रचनाओं से सहायता मिली है जिन्होंने 'पश्चिमी शिक्षा के इतिहास' पर प्रकाश डाला है। अतः मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। पुस्तक के प्रकाशक श्री नंदकिशोर एंड ब्रदर्स का भी मैं आभारी हूँ क्योंकि हिंदी में शिक्षा-साहित्य की वृद्धि के लिए वे सदा तत्पर रहते हैं।

—सीताराम जायसवाल

रचनाओं से सहायता मिली है जिन्होंने 'पश्चिमी शिक्षा के इतिहास' पर प्रकाश डाला है। अतः मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। पुस्तक के प्रकाशक श्री नंदकिशोर एंड ब्रदर्स का भी मैं आभारी हूँ क्योंकि हिंदी में शिक्षा-साहित्य की वृद्धि के लिए वे सदा तत्पर रहते हैं।

—सीताराम जायसवाल

———

विषय-सूची

विषय-सूची

सहायक पुस्तकों की सूची

1. A student's History of Education. —F. P. Graves.
2. Text-book in the History of Education.—P. Manroe.
3. A History of Western Education. —H. G. Good.
4. The History of Western Education. —W. Boyd.
5. History of Western Philosophy. —B. Russell.
6. The Story of Philosophy. —W. Durant.
7. The Story of Mankind. —H. Van Loon.
8. The Ancient World. —T. R. Glover.
9. A Short History of the World. —H. G. Wells.
10. Glimpses of world History. —Jawahar Lal Nehru.
11. Ancient Times; A History of Early World. —J. H. Breasted.
12. The Theory of Eduetion in Plato's "Republic." —J. E. Adamson.
13. Aristotle on Education. —J. Burnet.
14. Roman Education. —A. S. Wilkins.
15. Roman Education from Cicero to Quintilian. —A. Gwynn.
16. Ancient Education. —J. F. Dobson.
17. Ancient Ideals. —H. O. Taylor.
१८. पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास —सरयूप्रसाद चौबे
१९. रोम का इतिहास —ज्वालाप्रसाद
२०. रोम का इतिहास —प्राणनाथ विद्यालंकार

सहायक पुस्तकों की सूची

1. A student's History of Education. —F. P. Graves.
2. Text-book in the History of Education.—P. Manroe.
3. A History of Western Education. —H. G. Good.
4. The History of Western Education. —W. Boyd.
5. History of Western Philosophy. —B. Russell.
6. The Story of Philosophy. —W. Durant.
7. The Story of Mankind. —H. Van Loon.
8. The Ancient World. —T. R. Glover.
9. A Short History of the World. —H. G. Wells.
10. Glimpses of world History. —Jawahar Lal Nehru.
11. Ancient Times; A History of Early World. —J. H. Breasted.
12. The Theory of Eduetion in Plato's "Republic." —J. E. Adamson.
13. Aristotle on Education. —J. Burnet.
14. Roman Education. —A. S. Wilkins.
15. Roman Education from Cicero to Quintilian. —A. Gwynn.
16. Ancient Education. —J. F. Dobson.
17. Ancient Ideals. —H. O. Taylor.
१८. पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास —सरयूप्रसाद चौबे
१९. रोम का इतिहास —ज्वालाप्रसाद
२०. रोम का इतिहास —प्राणनाथ विद्यालंकार

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

प्राचीन संसार की लेखन कला

आदिम शिक्षा

सभ्यता और संस्कृति—शिक्षा का इतिहास वास्तव में सांस्कृतिक इतिहास का अंश है। मनुष्य जाति और उसकी संस्कृति के विकास की कहानी में शिक्षा का उल्लेख होना स्वाभाविक है क्योंकि संस्कृति कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसका सम्बन्ध केवल अतीत से हो। संस्कृति तो सामाजिक जीवन की शैली है। संस्कृति की व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत मनुष्य जाति की सम्पूर्ण चेष्टायें और उसके सामाजिक संगठन का स्वरूप आ जाता है। इस प्रकार संस्कृति समाज के विकास की कथा है। दूसरे शब्दों में डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त के अनुसार किसी जाति का सामाजिक राजनीतिक विकास उसकी कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन, राजनीति, सामाजिक संगठन आदि में देखा ज़ा सकता है। इसलिए किसी जनसमुदाय विशेष की संस्कृति का इतिहास एक स्वतंत्र वस्तु नहीं होता, वह उस जाति के जीवन के अन्य पक्षों से सम्बद्ध होता है।

जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि संस्कृति का जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्ध होता है तो हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि शिक्षा के इतिहास का अध्ययन करते समय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास की ओर भी ध्यान दें। ऐसा करने से हमें ज्ञात होगा कि सभ्यता के उदयकाल में मनुष्य ने किस प्रकार 'जीवन' को सीखा। दूसरे शब्दों में मनुष्य की शिक्षा की कहानी कहाँ से आरम्भ होती है।

सभ्यता का उदय—मनुष्य का जन्म पृथ्वी पर कब हुआ और उसे वर्तमान स्वरूप किस प्रकार प्राप्त हुआ, आदि प्रश्न ऐसे हैं जिनके द्वारा कल्पना को विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है। और इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य ने इन प्रश्नों पर विचार करते समय अपनी कल्पना से अधिक काम लिया है। इसलिए हम कल्पना-जगत् में न जाकर यथार्थ ही की ओर अधिक ध्यान देंगे और शिक्षा के इतिहास के लिए आवश्यक सामग्री एकत्रित करेंगे।

यह तो सच है कि मनुष्य जितने वर्षों से इस पृथ्वी पर रह रहा है, उनकी गणना असंभव है। मनुष्य की सभ्यता कितनी पुरानी है यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर पुरातत्व-विद्या की सहायता से कुछ ज्ञात होने लगा है। इस सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक तथ्य मनोरंजक प्रतीत होंगे। मिश्र की सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है, इसे सबसे पहले उन्नीसवीं शती के आरम्भ में ज्ञात किया जा सका। मिश्र के शिला-लेखों तथा अन्य प्रकार के लेखों को सन् १८२२ ई० में पढ़ा जा सका। धीरे-धीरे अब ज्ञात हुआ है कि प्राचीन मिश्र के इतिहास के पूर्वकालीन अवशेष वर्तमान मिश्र की राजधानी काहिरा से चालीस मील उत्तर-पूर्व के स्थान के उत्तर-पूर्व में करौंव (Karoun) झील के किनारे तथा लगभग दो सौ पैंतालीस मील काहिरा के दक्षिण में स्थित हैं। मिश्र की सभ्यता के ये अवशेष श्रेष्ठ प्रस्तर युग (Neolithic) के हैं। इसी प्रकार मेसोपोटामिया, ईरान आदि देशों के सम्बन्ध में भी बातें हाल ही में ज्ञात हुई हैं। अतः पुरातत्व-विद्या का विकास ज्यों-ज्यों होता जायगा, त्यों-त्यों नवीन बातों का ज्ञान होना स्वाभाविक है।

गुफाओं के चित्र—आदिम सभ्यता के प्रथम सहस्र वर्ष के अंत और दूसरे सहस्र वर्ष के आरम्भ में हमें धार्मिक कथाओं

और मंत्रों का पता चलता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदिम सभ्यता में मनुष्य के धर्म का स्वरूप वर्तमान स्वरूप से भिन्न था। उस समय वह प्रकृति से 'भयभीत' था। इसलिए प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों में उसे किसी देवता का दर्शन होता था। उस देवता के सम्बन्ध में कल्पना की सहायता से उसने कथायें बनाईं और उसे प्रसन्न करने के लिए जादू और टोने की रचना की। आदिम मनुष्य के जादू और टोने के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि ईसा से लगभग बीस हजार वर्ष से दस हजार वर्ष पूर्व काल में दक्षिणी फ्रांस में स्थित गुफाओं की दीवारों पर हिरन के रेखाचित्र मिले हैं। इन रेखा-चित्रों में यह दिखाया गया है कि दौड़ते हुए हरिन को तीर लग गया है। इन चित्रों को खींचते समय आदिम मनुष्य के मन में यह विश्वास था कि ऐसे चित्रों से उसे शिकार में सहायता मिलती है। यदि कोई आदिम मनुष्य शिकार करने के पूर्व इस प्रकार का चित्र बना लेता था, तो वह हरिन का शिकार कर पाता था। शिक्षा के इतिहास की दृष्टि से इन चित्रों को जब हम देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि इन चित्रों के चित्रण मे कुशलता और अभ्यास की आवश्यकता है। बिना चित्रण की शिक्षा पाये इस प्रकार का चित्रण संभव नहीं है। इस प्रकार शिक्षा के इतिहास का आरम्भ हम ईसा से लगभग बीस हजार वर्ष पूर्वकाल में पा सकते हैं।

पारिवारिक जीवन—समाज के विकास की दृष्टि से जब हम शिक्षा के आरम्भ पर दृष्टि डालते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि पारिवारिक जीवन का जब आरम्भ हुआ तो उस समय शिक्षा की आवश्यकता हुई क्योंकि परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के लिए विशेष प्रकार का कार्य करना पड़ता था। दूसरे शब्दों में जब पारिवारिक दृष्टि से कार्य में विशेषता का महत्त्व स्वीकार किया

गया तो शिक्षा का प्रबन्ध भी आवश्यक हो गया। स्पष्ट है कि बिना शिक्षा के किसी कार्य में विशेष योग्यता प्राप्त नहीं की जा सकती।

पारिवारिक जीवन के लिए जो विशेष योग्यता प्राप्त हुई उसका उपयोग एक से अधिक परिवारों में सहयोग के द्वारा पड़ा। इस प्रकार जब एक से अधिक परिवार मिल कर कार्य करने लगे तो एक प्रकार का 'समाज' बना और पारिवारिक सम्बन्ध ने विस्तृत होकर सामाजिक सम्बन्ध का रूप धारण कर लिया। इस परिवर्तन का प्रभाव मनुष्य की कार्यप्रणाली पर पड़ा। अब कुछ मनुष्यों ने लकड़ी का काम करना शुरू किया तो कुछ ने शिकार के लिए हथियार बनाया। इस प्रकार जीवन-सम्बन्धी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में और लोग लग गये। लेकिन यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य की सभ्यता का विकास एक शिखर की भाँति नहीं हुआ है। सभ्यता के मार्ग में अनेक खाईयाँ भी आई हैं। कभी-कभी उसे नीचे भी जाना पड़ा है। इस प्रकार आज जब हम सभ्यता का अध्ययन करें तो हमें याद रखना चाहिए कि सभ्यता के इतिहास में यदि उन्नति की ऊँचाइयाँ हैं तो पतन की गहराइयाँ भी हैं। मनुष्य ने ग़लतियाँ की हैं और उन ग़लतियों से शिक्षा भी प्राप्त की है। इसे हम स्पष्ट रूप से इस समय देखेंगे जब प्राचीन सभ्यताओं के चित्र हमारे सामने आएँगे।

आदिम शिक्षा के उद्देश्य—आदिम सभ्यता पर साधारण रीति से विचार करने के बाद आदिम शिक्षा के उद्देश्य पर ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि शिक्षा के इतिहास की उपयोगिता उसी समय सिद्ध होती है जब हम यह देखने की कोशिश करते हैं कि इतिहास के विभिन्न युगों में शिक्षा के क्या

उद्देश्य थे, क्या विषय थे, शिक्षण-पद्धति क्या थी और शिक्षा का संगठन किस प्रकार किया गया था। वास्तव में शिक्षा का इतिहास शिक्षा के उद्देश्य, विषय, पद्धति और संगठन का इतिहास है। इसलिए आदिम-शिक्षा के स्वरूप में हमें इन चारों बातों को देखना चाहिए।

आदिम-शिक्षा का उद्देश्य आदिम मानव के जीवन से प्रभावित है। आदिम मानव के जीवन में जीवन की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति ही सब कुछ थी। उसके मन में न तो जानेवाले कल की चिंता थी और न आनेवाले कल की। आदिम मानव की दिलचस्पी वर्तमान क्षण में थी। उसके लिए 'आज' का महत्त्व था। कल के लिए वह विकल न था। इसका कारण यह था कि आदिम मानव को खाने के लिए भोजन, रहने के लिए स्थान और शरीर को ढकने के लिए वल्कल की आवश्यकता थी। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करना आदिम मानव का ध्येय था। अतः आदिम शिक्षा का उद्देश्य था आदिम बालक को इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के योग्य बनाना। शिकार करना, रहने का प्रबन्ध करना और शरीर को ढकने के उपाय आदिम शिक्षा के मुख्य विषय थे। इन विषयों की शिक्षण-पद्धति 'अनुकरण' पर आधारित थी। आदिम बालक अनुकरण से ही सब कुछ सीखता था। आदिम मनुष्य के कार्यों का अनुकरण आदिम बालक करता था।

आदिम-शिक्षा का प्रभाव—आदिम-शिक्षा संगठन का कोई अस्तित्व नहीं था क्योंकि समाज का विकास नहीं हो सका था। इसलिए शिक्षा के लिए किसी प्रकार के शिक्षालय न थे। शिक्षा केवल 'अनुकरण' और 'अनुभव' पर आधारित थी। आदिम बालक अपने विषय में कुछ न सोचता था क्योंकि उस

समय आदिम मानव समाज में किसी के अलग व्यक्तित्व के लिए गुंजाइश न थी। इसलिए शिक्षा में व्यक्तित्व के विकास का भी प्रश्न नहीं था। आदिम मानव में एक प्रकार की 'एकता' थी जो उन्हें एक साथ रखती थी। जहाँ तक आत्मिक विकास का प्रश्न है, उसका स्वरूप भूत-प्रेत से प्रभावित था। भूत प्रेत को खुश रखने के लिए आदिम मनुष्य ने कुछ विधान बना रखे थे और उस विधान की शिक्षा आदिम बालक को दी जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिम समाज ने आदिम शिक्षा के स्वरूप को निश्चित किया और आदिम शिक्षा का प्रभाव यह पड़ा कि आदिम मनुष्य जहाँ का तहाँ रहा। सदा वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करना, भूत और भविष्य की चिंता से मुक्त रहना और अपने बारे में कुछ भी न सोचना आदिम शिक्षा के स्पष्ट प्रभाव हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसा समाज होता है उसीके अनुरूप शिक्षा होती है। शिक्षा समाज के विकास में उस समय सहायक होती है जब व्यक्ति अपनी परिस्थितियों पर विचार करके अपने स्थान को समाज में देखें। जिस समाज में व्यक्ति का कोई स्थान नहीं, वहाँ शिक्षा का प्रभाव स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ सकता। यह बात और अधिक स्पष्ट उस समय होगी जब हम सभ्य समाज में शिक्षा को देखेंगे। शिक्षा द्वारा व्यक्ति का विकास और फिर समाज का हित ये दो बातें ऐसी हैं जो शिक्षा के सम्पूर्ण इतिहास में दिखाई पड़ेंगी। कभी समाज को अधिक महत्त्व दिया जाता है तो कभी व्यक्ति को। इससे मनुष्य ने यह सीखा कि व्यक्ति और समाज में संतुलन (Balance) की आवश्यकता है। यदि हमें इन बातों को ध्यान में रखकर ही शिक्षा के इतिहास का अध्ययन करना चाहिए।

प्राचीन मिश्र और शिक्षा

मिश्री सभ्यता की देन—आदिम मानव समाज का विकास जब यूरोप के जंगलों में हो रहा था, उस समय नील नदी की घाटी में एक सभ्यता फूल-फल रही थी। कहते हैं कि लगभग छः हजार वर्ष ईसा से पूर्व मिश्र की सभ्यता का निर्माण हुआ था। मिश्र की सभ्यता से हमने कई बातें सीखी हैं। आज के किसान ने प्राचीन मिश्र के किसान से खेती करना सीखा। प्राचीन मिश्र का किसान खेतों की सिंचाई करना जानता था। आज सिंचाई की जितनी भी व्यवस्था है वह प्राचीन मिश्र में सिंचाई की व्यवस्था से सम्बन्धित है। प्राचीन मिश्र के लोगों ने ईश्वर के लिए मंदिर बनाये। इन्हीं मंदिरों को हम आधुनिक मंदिर-मसजिद और गिरजाघर का जन्मदाता कह सकते हैं। समय की माप और वर्ष-महीनों का अनुमान सबसे पहले मिश्र में हुआ था। लेकिन मिश्र की इन सब देनों से बढ़कर है लेखन-कला का आविष्कार। मिश्र के लोगों ने सबसे पहले लिखने की कला का विकास किया। इसी लेखन-कला के कारण मिश्र की प्राचीन सभ्यता के सम्बन्ध में आज हम भलीभाँति जानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्र की सभ्यता जो कि अत्यन्त प्राचीन है, उसने हमें खेती, सिंचाई, मंदिरों का निर्माण, समय का अनुमान और लेखन-कला सिखाया। स्पष्ट है कि मिश्र के लोगों ने इन बातों को सीखने के लिए अथक परिश्रम किया होगा और जैसा कि हम जानते हैं आवश्यकता हो आविष्कार की

जननी है। मिश्र के लोगों को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन वस्तुओं का आविष्कार करना पड़ा। इस तथ्य को हम भलीभाँति उस समय समझ सकेंगे जब हम मिश्र की सभ्यता से परिचय प्राप्त करेंगे।

मिश्र की सभ्यता का विकास—शिक्षा और समाज का अटूट सम्बन्ध है। समाज के विकास में शिक्षा कार्य करती है। इसलिए मिश्र की सभ्यता की कहानी में शिक्षा की कहानी भी सम्मिलित है। मिश्र की सभ्यता के विकास में मनुष्य की आदिम आवश्यकता 'भूख' ने बड़ा काम किया है। भोजन की तलाश में पश्चिमी एशिया, मध्य अफ्रीका, और अरब से मनुष्य नील नदी की घाटी में पहुँचा। इन लोगों ने नील नदी की उपजाऊ घाटी के विषय में सुना था कि वहाँ भोजन की कमी नहीं है। इसलिए ये लोग नील नदी की घाटी में आए। जब ये लोग आए तो इनमें उद्देश्य की एकता के कारण आपस में भी एकता स्थापित हो गई। पश्चिमी एशिया, मध्य अफ्रीका और अरब के लोगों ने एक साथ मिलकर हमला किया और नील नदी की घाटी पर अधिकार जमा लिया। इस प्रकार विजयी लोगों ने उस एकता को जिसके द्वारा उन्हें अधिकार मिला था, बनाये रखने के लिए एक नई जाति का निर्माण किया जिसे उन लोगों ने 'रेमी' (Remi) नाम दिया। 'रेमी' का अर्थ होता है 'मनुष्य' * । इस प्रकार 'मनुष्यों' ने मिश्र पर अधिकार प्राप्त किया।

---

* From the interior of Africa and from the desert of Arabia and from the western part of Asia people had flocked to Egypt to claim their share of rich

खेती और सिंचाई—'रेमी' जब नील नदी की घाटी में बसे तो उन्होंने देखा कि नील नदी ने लाखों लोगों के भोजन का प्रबंध कर रखा है क्योंकि नील में जब बाढ़ आती है तो वह अपने दोनों तटों पर उपजाऊ मिट्टी की तह जमा देती है। यह मिट्टी खेती के लिए लाभदायक होती है। अतः रेमी जाति के लोगों ने इस उपजाऊ मिट्टी में खेती करना शुरू किया। खेती करते समय उन्होंने देखा कि सिंचाई की आवश्यकता है। बिना सिंचाई की व्यवस्था के भली भाँति खेती नहीं हो सकती। इसलिए इन लोगों ने नील नदी के पानी को खेतों तक पहुँचाने का उपाय ढूँढ़ा। इस प्रकार सर्वप्रथम सिंचाई के साधन का आविष्कार हुआ। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि मिश्र के लोगों ने सिंचाई के साधन को बड़े परिश्रम के बाद ढूँढ़ा। ऐसा करने में उन्हें कितने अनुभवों को काम में लाना पड़ा होगा। इस प्रकार शिक्षा के इतिहास की दृष्टि से भी मिश्र में सिंचाई के साधन का महत्त्व है। बुनियादी शिक्षा में खेती एक बुनियादी काम है। इसी कार्य को केन्द्र में रख कर बुनियादी अथवा बेसिक शिक्षा का संगठन किया जा सकता है। आदिम शिक्षा की पद्धति में अनुकरण और अनुभव से काम किया जाता था। प्राचीन मिश्र के लोगों ने भी इसी 'अनुकरण' और अनुभव से काम किया और खेती के लिए सिंचाई के साधन को ढूँढ कर भोजन की एक बहुत बड़ी समस्या हल कर ली। अब उन्हें थोड़ी मेहनत में अधिक अन्न मिल जाता था। इस प्रकार उन्हें अवकाश मिला। अवकाश का समय

---

farms. Together these invaders had formed a new race which called itself "Remi" of "the men"......The Story of mankind by H. V. Loon page 22.

जब मिला तो उसके उपयोग की ओर ध्यान गया। समय को व्यर्थ में खोना प्राचीन मिश्र के लोग न जानते थे। इसलिए उन्होंने अवकाश के उपयोग की ओर ध्यान दिया।

अवकाश से विकास—यह कहा जाता है कि सभ्यता और संस्कृति का विकास अवकाश के समय से ही होता है। मनुष्य को जब अवकाश मिलता है तो वह चिंतन करता है। चिंतन करते समय उसका ध्यान केवल वर्तमान की ओर नहीं रहता। वह भविष्य की ओर भी दृष्टि दौड़ाता है। इस प्रकार वह प्रत्येक कार्य के महत्त्व और वास्तविक मूल्य का अनुमान करता है। प्राचीन मिश्र के लोगों को भी जब अवकाश मिला तो वे चिंतन करने लगे। चिंतन करते समय प्राचीन मिश्र के मनुष्य के मस्तिष्क में केवल दैनिक आवश्यकताओं की बातें नहीं आईं, वरन् उसका ध्यान आकाश की ओर भी गया। उसने आकाश में चमकते नक्षत्रों को देखा और पूछा—ये क्या हैं? इन्हें किसने बनाया? इस प्रकार प्राचीन मिश्र का मनुष्य अवकाश पाकर आकाश, नक्षत्र, वर्षा-विद्युत् तथा अन्य प्राकृतिक स्वरूपों की ओर ध्यान देने लगा। इतना ही उसने अपने विषय में भी सोचना आरम्भ किया—मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? और मुझे कहाँ जाना है? इस प्रकार प्राचीन मिश्र ने जीवन के आदि और अंत पर अवकाश के समय विचार किया और ये प्रश्न इतने कठिन थे कि सभी लोगों के लिए यह संभव न था कि वे इनको सुलझा सकें। अतः प्राचीन मिश्र के समाज के कुछ लोगों ने इन समस्याओं का हल ढूँढ़ना शुरू किया। इस प्रकार कुछ लोगों का व्यवसाय ही चिंतन करना हो गया। जो कि कुछ समय बाद प्राचीन मिश्र का 'पुरोहित वर्ग' बन गया। पुरोहित वर्ग ने प्राचीन मिश्र के लोगों के लिए चिंतन कार्य शुरू किया। इस प्रकार पुरोहित की बात पर

लोगों का बड़ा विश्वास हो गया। और जब किसी के लिए कोई सोचनेवाला भी मिल जाता है तो उस मनुष्य की क्या दशा होती है? उसका दिमाग़ सोचना बन्द कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसमें अंधविश्वास का विकास होता है। वह नहीं जान पाता कि क्या सही है और क्या ग़लत।

धार्मिक विश्वास—प्राचीन मिश्र के पुरोहित वर्ग ने कहा कि मृत्यु के बाद आत्मा को 'ओसीस' (शक्तिशाली ईश्वर) के सामने जाना पड़ता है। उस समय ओसीस मनुष्य के उन सभी कार्यों की जाँच करता है जो कि उसने अपने जीवन-काल में किया है। यदि उसके कार्य अच्छे हैं तो ओसीस उन्हें पुनः संसार में भेजता है, अन्यथा घोर कष्ट उठाना पड़ता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मिश्र के लोगों ने जीवन को मृत्यु के बाद के जीवन की तैयारी में बिताना शुरू किया। उनके सभी कार्य 'मृत्यु के बाद जीवन' को ध्यान में रखकर किए जाते थे क्योंकि सभी को संसार में लौटकर आने की इच्छा थी, इसलिए मृत शरीर को सुरक्षित रखने का उपाय ढूँढ़ा गया। इस प्रकार मिश्र में 'ममी' को सुन्दर कब्रों में रखने की चलन हुई। जिस कब्र में 'ममी' रखी जाती थी, वह एक कमरे की भाँति होता था। उस कमरे में भोजन, वस्त्र, धन तथा मनोरंजन के सामान रख दिये जाते थे। ऐसा इसलिए किया जाता था कि मृत्यु के बाद जीवन प्राप्त करने में जितना समय लगता है उस समय में आत्मा को किसी प्रकार का कष्ट न हो। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं कि धन के इच्छुक सभी काल और देश में हैं। इसलिए धन के इच्छुकों ने कब्रों में रखे हुए धन और अन्य सामग्रियों को चुराना शुरू किया। जब चोरी होने लगी तो लोगों ने कब्र के द्वार इस प्रकार बनाने शुरू किये कि आसानी से उसका न तो पता लगे और न

बिना जाने कोई जा ही सके। इसी सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक है कि प्राचीन मिश्र में कब्रों के ऊपर एक ऊँचा टीला-सा बना देते थे। जो व्यक्ति जितना ही धनी होता था उसका टीला उतना मजबूत और ऊँचा होता था। प्राचीन मिश्र के राजाओं के टीले सबसे ऊँचे होते थे। इन टीलों को यूनानी लोगों ने 'पिरामिड' कहा क्योंकि प्राचीन मिश्र की भाषा में 'पीर-एमा-एस' का अर्थ ऊँचा होता है। इस प्रकार मिश्र के पिरामिड बने।

शिक्षा का स्वरूप--प्राचीन मिश्र के लोगों के इस धार्मिक विश्वास पर यदि हम ध्यान दें तो स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि मिश्र के लोगों ने चिंतन कार्य छोड़ दिया था। जो मनुष्य चिंतन नहीं करता वह 'मूर्ख' होता है। 'मूर्खों' द्वारा उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए इन लोगों ने प्रत्येक कार्य के महत्त्व की ओर वांछित और आवश्यक ध्यान नहीं दिया। फलतः उनमें आरम्भशक्ति (Initiative) की कमी हो गई और प्रगति रुक गई। लेकिन फिर भी प्राचीन मिश्र का पतन शीघ्र ही नहीं हुआ। प्राचीन मिश्र की सभ्यता में कुछ ऐसे तत्व भी थे जो मिश्र को अधिक दिनों तक जीवित रख सके। लेकिन शिक्षा के इतिहास की दृष्टि से मिश्र के सामाजिक जीवन में शिक्षा का जीवन से अलग कोई स्थान न था। शिक्षा व्यावहारिक कार्यों द्वारा होती थी। एक कुशल कारीगर के चेले होते थे जो उससे कार्य को सीखते थे। इस प्रकार अनुभव और अनुकरण अब भी शिक्षा की पद्धति थी और अलग से शिक्षालय की व्यवस्था न थी। पुरोहित-वर्ग के लोग अपने बालकों को स्वयं शिक्षा देते थे। पिता पुत्र का शिक्षक था। पिता के कार्यों का अनुकरण करके ही पुत्र सीखता था।

शिक्षा का उद्देश्य—प्राचीन मिश्र की शिक्षा को स्पष्ट रूप से देखने के लिए मिश्र के समाज से परिचय प्राप्त किया जा चुका है। प्राचीन मिश्र की जो सामाजिक दशा थी उसे ध्यान में रखते हुए शिक्षा के उद्देश्य, विषय, पद्धति और संगठन के स्वरूप की भी कल्पना की जा सकती है। प्राचीन मिश्र में शिक्षा के उद्देश्य को निश्चित करते समय हमें ध्यान में रखना चाहिए कि मिश्र निवासियों का ध्यान केवल वर्तमान की ही ओर न था वरन् उनकी दृष्टि भविष्य को भी देखने का प्रयास करती थी। साथ ही उन्हें चिंतन के लिए अवकाश भी था। इन दो बातों का प्रभाव प्राचीन मिश्र की शिक्षा पर पड़ा है। अतः मिश्र के बालकों में यह क्षमता उत्पन्न की जाती थी कि वे तात्कालिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति करनेवाली शिक्षा को न ग्रहण करें वरन् उन बातों को भी सीखें जिनसे उनका भविष्य बन सकता है। भविष्य को सुखमय बनाने के लिए भलाई करना आवश्यक था। इसलिए प्रत्येक बालक को नैतिक शिक्षा भी दी जाती थी। इस प्रकार प्राचीन मिश्र में शिक्षा का उद्देश्य बालक को मृत्यु के बाद जीवन के योग्य बनाना था।

शिक्षा के विषय—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा के विषय का चुनाव भी करना होता है। जैसा कि हम जानते हैं प्राचीन,मिश्र के लोगों का प्रधान कार्य खेती करना था। इसलिए बालकों को कृषि की शिक्षा दी जाती थी। अवकाश के समय का उपयोग करने के लिए चित्रकला, दस्तकारी तथा लेखन-कला की शिक्षा दी जाती थी। मिश्र के लोग 'मृत्यु के बाद जीवन' को वर्तमान जीवन से अधिक महत्त्व देते थे। इसलिए वर्तमान जीवन 'मृत्यु के बाद जीवन' को सुखमय बनाने की तैयारी में व्यतीत होता था। इसका शिक्षा के पाठ्यक्रम पर भी प्रभाव पड़ा। फलतः बालकों को अच्छे कार्य करने की शिक्षा दी जाती थी

और जो धार्मिक शिक्षा उन्हें मिलती थी उससे उनमें 'आरम्भ-शक्ति' का विकास नहीं हो पाता था। इस प्रकार शिक्षा के विषय कृषि, चित्रकला, दस्तकारी, और धर्म माने गये।

शिक्षा की पद्धति और संगठन—शिक्षा की पद्धति व्यावहारिक थी। कर के सीखने की पद्धति ही प्रचलित थी। दूसरे शब्दों में अनुभव और अनुकरण पर ही शिक्षा की पद्धति आधारित थी। जहाँ तक संगठन का प्रश्न है शिक्षक के पास शिक्षार्थी एकत्र होकर शिक्षा पाते थे। शिक्षक का घर ही शिक्षालय था। प्राचीन भारत में जिस प्रकार शिक्षा का संगठन था उसी से मिलता-जुलता संगठन मिश्र में भी था। लेकिन वास्तव में अभी ऐसे ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं हैं जिनके आधार पर मिश्र की शिक्षा के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सके। अतः जो कुछ भी ज्ञात है वह प्राचीन मिश्र के समाज के आधार पर ही है। इसका कारण यह है कि समाज शिक्षा का स्वरूप निर्धारित करता है, और समाज के विश्वास का प्रभाव शिक्षा के उद्देश्य पर पड़ता है। आज हम लोकतंत्र (Democracy) के युग में रहते हैं। इसलिए हमारी शिक्षा भी लोकतंत्र के अनुरूप ही है।

आदिम शिक्षा के बाद प्राचीन मिश्र में शिक्षा से परिचय प्राप्त करते समय हम ऐतिहासिक क्रम और विकास का निर्वाह कर सके हैं। मिश्र की सभ्यता का यूनानी और रूमी सभ्यता पर प्रभाव पड़ा है। इसी दृष्टि से हम आगे सभ्यता के दूसरे स्थल दजला और फ़रात नदियों की घाटी का अध्ययन करेंगे। दजला और फ़रात की घाटी में मेसोपोटामिया का विकास हुआ। मेसोपोटामिया का मिश्र से सम्बन्ध था। इस प्रकार पश्चिमी शिक्षा के इतिहास के अध्ययन की तीसरी कड़ी मेसोपोटामिया की सभ्यता से परिचय प्राप्त करना है।

मेसोपोटामिया

दजला और फरात का प्रदेश—मिश्र की सभ्यता का प्रभाव मेसोपोटामिया पर पड़ा है। मेसोपोटामिया उस प्रदेश का नाम है जो दजला और फरात (Euphrates & Tigris) नदियों के बीच में है। इस प्रदेश का नाम मेसोपोटामिया यूनान के लोगों ने रखा था। क्योंकि यूनानी भाषा में मेसोपोटामिया उस प्रदेश को कहते हैं जो नदियों के बीच में हो।

जिस प्रकार मिश्र की सभ्यता में नील नदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार मेसोपोटामिया में दजला और फरात नदियों का भी है। ये नदियाँ उत्तर में अर्मेनिया के पहाड़ों में से निकल कर दक्षिणी मैदान में बहती हुई फारस की खाड़ी में गिरती हैं। इन नदियों ने पश्चिमी एशिया की ऊसर भूमि को उपजाऊ बना दिया। यदि ये नदियाँ न होती तो लोग इस प्रदेश में आकर न बसते। नील नदी की भाँति इन नदियों ने भी जीवन की सुविधायें प्रस्तुत कीं।

मेसोपोटामिया प्रदेश में जब जीवन की सुविधा सुलभ हो गई तो उत्तरी पहाड़ी प्रदेश के और दक्षिणी मरुभूमि के लोगों ने इससे लाभ उठाना चाहा। यह तो संभव था नहीं कि दोनों मिलकर रहें। इसलिए उत्तरी और दक्षिणी लोगों में मेसोपोटामिया के लिए निरन्तर युद्ध होते रहते।

सुमेरी लोग—उत्तरी पहाड़ी प्रदेश के जो लोग मेसोपोटामिया में आए, वे सुमेरी (Sumerians) कहलाते

थे। सुमेरी लोग श्वेत रंग के थे। पहाड़ों में रहने के कारण इनका जीवन भी पहाड़ी परिस्थितियों से प्रभावित था। जब ये मेसोपोटामिया के मैदान में आए तो एक उन्हें नवीन परिस्थिति का सामना करना पड़ा। अब तक इन्हें पहाड़ी जीवन का अभ्यास था। इसलिए मैदान में आकर सुमेरी लोगों ने सामंजस्य उपस्थित करना चाहा।

सुमेरी लोग धार्मिक विचारों के थे। पहाड़ों पर सुमेरी अपने देवताओं की पूजा करते थे। अतः जब वे मैदान में आए तो यह समस्या सामने आई कि वे देवताओं की पूजा समतल भूमि पर कैसे करें। इस समस्या के हल के लिए उन्होंने मैदान में एक ऊँचा टीला बनाया। लेकिन उस टीले के ऊपर जाँय कैसे? इसलिए उन्होंने टीले के चारों ओर चक्करदार रास्ता बनाया। सीढ़ी बनाना सुमेरी लोग नहीं जानते थे। इसलिए सुमेरी लोगों ने चढ़ावदार टीला बनाया। इस प्रकार वे अपने देवताओं की पूजा करने में सफल हुए। पूजा के लिए बनाये गये इन टीलों को बाद में बाबुल की मीनार' (Towers of Babel) का नाम उस समय दिया गया जब कि यहूदी लोग इस प्रदेश में आए।

अकादी लोग—सुमेरी लोग मेसोपोटामिया के प्रदेश में ईसा से लगभग चार हज़ार वर्ष पूर्व आए थे। लेकिन जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि मेसोपोटामिया प्रदेश पर अन्य लोगों द्वारा हमले भी होते रहते थे। अतः कुछ समय के पश्चात् सुमेरी लोगों पर एक दूसरी जाति के लोगों ने हमला किया। इन्हें अक्कादी (Akkadians) कहते थे। अक्कादी अरब की मरुभूमि प्रदेश के निवासी थे। अकादियों की भी अपना एक इतिहास है। कहते हैं कि अरब प्रदेश में बसनेवाली अनेक जातियों में से एक अकादी भी थे। अकादी लोगों को कालान्तर में अरब

प्रदेश की एक दूसरी जाति अमरोती (Amorites) लोगों ने जीता। इस जाति का एक प्रसिद्ध राजा हम्मुरबी (Hammurabi) था। उसने बाबुल नामक नगर में एक सुन्दर महल बनवाया। इस महल की भव्यता देखकर उस काल की कल्पना की जा सकती थी।

हम्मुरबी की देन—संसार की संस्कृति को हम्मुरबी के शासन से बड़ी सहायता मिली। प्राचीन इतिहास में हम्मुरबी अंधकार के समुद्र में प्रकाश-स्तम्भ की भाँति है। हम्मुरबी ने केवल महल ही नहीं बनवाये, वरन् उसने समाज के जीवन को भी एक निश्चित गति दी। उसने शासन-सम्बन्धी नियमों की रचना की। उन नियमों के अनुसार बाबुल (Babylon) का शासन भली-भाँति होता था। इस प्रकार हम्मुरबी ने बाबुल की जनता को नियमानुकूल कार्य करने की शिक्षा दी।

लेकिन इतिहास-चक्र चलता रहता है। अक्कादियों के बाद एक दूसरी जाति के लोग आए। इन्हें हित्ती (Hittites) कहते हैं। हित्तियों ने बाबुल नगर को नष्ट कर डाला। वे जो कुछ ले जा सके ले गये और जो नहीं ले जा सकते उसे नष्ट कर दिया। इस प्रकार हम्मुरबी ने जिस संस्कृति का निर्माण किया था, उस पर एक बर्बर प्रहार हुआ।

असीरी लोग—हित्तियों के बाद मेसोपोटामिया के उर्वर प्रदेश में उस जाति के लोग आए जो असुर (Ashur) देवता की पूजा करते थे। ये अपने को असीरी कहते थे। असीरियों (Assyrian) ने मेसोपोटामिया के प्रदेश में पुनः सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया। इन लोगों ने अपने शासन का केन्द्र निनवे (Nineveh) नगर को बनाया।

असीरी लोग बड़े प्रतापी थे। इन लोगों ने अपने साम्राज्य का विस्तार भी किया। पश्चिमी एशिया और मिश्र को इन्होंने जीता और कई जातियों के लोगों से कर वसूल किया। इस प्रकार असीरियों की प्रभुता ईसा से लगभग सात सौ वर्ष तक स्थापित थी।

काल्दी लोग—जिस प्रकार सभी जातियों का उत्थान और पतन होता है, उसी प्रकार असीरियों के पतन के भी दिन आए। असीरियों पर काल्दी (Chaldeans) लोगों ने अधिकार किया। इन लोगों ने अपनी राजधानी बाबुल नगर को बनाया। इस समय बाबुल की बड़ी उन्नति हुई और वह उस समय के संसार का सर्वश्रेष्ठ नगर बन गया।

शिक्षा और संस्कृति—काल्दी लोगों ने शिक्षा और संस्कृति के विकास और प्रसार की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। इनके एक राजा नेबुकनेजर (Nebuchadnezzar) ने विज्ञान, गणित और नक्षत्र-विद्या के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। कहते हैं कि विज्ञान, गणित और नक्षत्र-विद्या (Astronomy) के मूल-सिद्धान्तों की खोज इसी काल में हुई थी। इस प्रकार सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा की दृष्टि से काल्दी लोगों का काल महत्त्वपूर्ण है।

मेसोपोटामिया के प्रदेश में इतिहास बनता था। अतः बार-बार नयी जाति के लोग आए और चले गये। काल्दी लोगों के बाद ईरान की ओर से कुछ लोग आए और उन्होंने मेसोपोटामिया के प्रदेश पर अधिकार जमाया। इनके बाद यूनान के सिकन्दर महान् की प्रभुता स्थापित हुई। यूनानियों के बाद रोम के लोग, रोम के लोगों के बाद तुर्की के लोग आए।

इस प्रकार मेसोपोटामिया के प्रदेश में अनेक जातियों का इतिहास दबा पड़ा है। यूनानी शिक्षा के इतिहास को भली भाँति समझने के लिए हम प्राचीन इतिहास का क्रम से परिचय प्राप्त कर रहे हैं। इस परिचय के आधार पर ही हम यूनान की सांस्कृतिक भूमिका को समझ पायेंगे।

यहूदी और उनकी शिक्षा

यहूदी जाति—मेसोपोटामिया में बसने वाली जातियों की संस्कृति और सभ्यता के बाद पश्चिमी सभ्यता के क्रम में यहूदी जाति का उल्लेख होता है। यहूदी जाति की कहानी एक ऐसी जाति की कहानी है जिसने बड़ी विपत्तियों का सामना किया है और जिसने शायद इन विपत्तियों के कारण ही अधिक उन्नति भी की है। विपत्तियों ने यहूदियों को दृढ़ता प्रदान किया और वे निश्चित रूप से उन्नति कर सके। इस उन्नति के लिए उन्होंने शिक्षा को प्रमुख साधन बनाया। यहूदियों के पहले की जातियों में शिक्षा का वह महत्त्व नहीं था जो यहूदियों ने शिक्षा को दिया। इसका कारण स्पष्ट हो जाता है जब हम यहूदी जाति के विकास पर ध्यान देते हैं।

लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व फरात नदी के मुहाने पर उर (UR) नामक एक स्थान था। इस स्थान में एक चरवाहा जाति बसती थी। कुछ दिनों के बाद इस चरवाहा जाति के लोग चारागाहों की तलाश में घूमने लगे। घूमते-घूमते ये बाबुल राज्य में आए। बाबुल के राजा ने इन्हें मार भगाया और ये बेचारे अब पश्चिम की ओर चले।

मिश्र में यहूदी—जिस चरवाहा जाति का उल्लेख ऊपर हुआ है, वह यहूदी जाति है। यहूदी जाति के लोग बाबुल से चल कर मिश्र में आये। मिश्र में इन्हें रहने की सुविधा मिली। यहूदी लोग मिश्र में लगभग पाँच शतियों तक बड़े सुख

से रहे। इसके बाद हिक्सास (Hyksos) जाति का हमला मिश्र पर हुआ। उस हमले के समय यहूदियों ने मिश्र के लोगों के विरुद्ध हिक्सास लोगों का साथ दिया। जब हिक्सास लोगों का अधिकार मिश्र पर हो गया तो उन लोगों ने यहूदियों को और भी सुविधायें दे दीं। उन्हें और भी चरागाह मिल गये। इस प्रकार यहूदी लोग हिक्सास राज्य में सुखपूर्वक रहने लगे।

यहूदियों पर विपत्ति—कुछ समय बाद मिश्र के लोग संगठित हुए और उन्होंने मिश्र की स्वतंत्रता का युद्ध छेड़ दिया। वर्षों तक यह युद्ध चलता रहा और अंत में विजय हुई मिश्र के लोगों की। जब मिश्र पर मिश्रियों का अधिकार हो गया तो उन्होंने यहूदियों से बदला लिया। उस समय मिश्र में जितने यहूदी रहते थे उन सब को गुलाम घोषित कर दिया गया और उन पर सख्तियाँ भी होने लगीं। मिश्र के प्रसिद्ध पिरामिड इन यहूदी गुलामों के खून और पसीने से बनाये गये। इतना ही नहीं यहूदियों पर बड़ा कड़ा पहरा रहता था और उन्हें मिश्र से बाहर जाने की आज्ञा न थी। इस प्रकार मिश्र में यहूदियों पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा।

मोजेज—लेकिन जब विपत्ति आती है तो उसे झेलने का बल भी आता है। यहूदियों के बीच एक ऐसा नवयुवक था जो बड़ा ही बुद्धिमान् था। मरुस्थल के शांत वातावरण में वह पला था। उसे सादा जीवन और उच्च विचार प्रिय थे। इस होनहार युवक का नाम मोजेज (Moses) था। मोजेज ने यहूदी जाति के लोगों को मिश्रियों की गुलामी से निकालने की कोशिश की। लेकिन जब मोजेज के मनमें यह बात आई तो उसने यह भी सोचा कि यहूदी जाति की उन्नति कैसे होगी। उन्नति

के लिए मोज़ेज ने अपने पूर्वजों के सरल जीवन को ध्यान में रखा।

किसी प्रकार मोज़ेज यहूदी जाति के लोगों को मिश्र के बाहर निकाल लाया। मिश्र की सेना ने उनका पीछा किया। लेकिन वे लोग पकड़े न जा सके। इस प्रकार बच कर मोज़ेज और उसके साथ के यहूदी उस मैदान में आए जो कि सिनाइ पहाड़ के निकट था। इस मैदान में आकर यहूदी बसे। उस समय मोज़ेज ने यहूदी लोगों को धर्म की बातें बताईं। उसने आकाश के उस देवता (ईश्वर) को बताया जिसकी कृपा से वर्षा होती थी और जो चरागाहों को हरा-भरा रखता था। उस समय पश्चिमी एशिया में अनेक देवता प्रसिद्ध थे। उन देवताओं में एक देवता जेहोवा (Jehovah) था। यहूदी लोगों को मोज़ेज ने ऐसी शिक्षा दी कि वे जेहोवा को अपनी जाति का प्रधान देवता मानने लगे। इस प्रकार मोज़ेज की प्रेरणा से यहूदियों ने सर्वप्रथम एक देवता—एक ईश्वर को स्वीकार किया।

मोजेज की शिक्षा—मोज़ेज की शिक्षा के परिणाम स्वरूप यहूदी जाति का उद्धार हुआ था। मोजेज ने सादा जीवन और उच्च विचार का आदर्श यहूदियों के सामने रखा था। साथ ही मोजेज ने दैनिक जीवन में नैतिकता की ओर भी ध्यान दिया। उसने भोजन और रहन-सहन की प्रत्येक वस्तु के विषय में एक निश्चित आदेश दिया। मोजेज ने यहूदियों को एक ईश्वर की कल्पना प्रदान की। पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में संभवतः सर्वप्रथम यहूदियों ने ही एक ईश्वर को स्वीकार किया। इस एक ईश्वर के विश्वास के फलस्वरूप यहूदी जाति में दृढ़ संगठन और भ्रातृभाव उत्पन्न हुआ और उन्होंने सहयोग द्वारा विशेष उन्नति की। उनकी उन्नति में शिक्षा का प्रमुख स्थान था। इसलिए हमें

उस शिक्षा के स्वरूप से परिचित होना चाहिए जो उनकी उन्नति में सहायक हुई।

शिक्षा का स्वरूप—मोजेज के प्रभाव के कारण यहूदियों की शिक्षा में नैतिकता और धर्म की प्रधानता थी। इसका कारण उनका वह विश्वास था जो सम्पूर्ण संसार को जहोवा की दैवी-शक्ति की अभिव्यक्ति मानता था। यहूदियों को यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य की सभी शक्तियाँ और उसके जीवन के सभी नियमादि ईश्वर-प्रदत्त हैं। अतः उनकी शिक्षा के दर्शन में धर्म और नैतिकता की प्रधानता स्वाभाविक है।

शिक्षा का उद्देश्य—शिक्षा के दर्शन में धर्म और नैतिकता की प्रधानता के कारण यहूदियों की शिक्षा के उद्देश्य भी धर्म और नैतिकता पर आधारित थे। अतः यहूदियों की प्रारम्भिक शिक्षा के विषयों में ऐसी बातों का समावेश किया गया जो धार्मिक भावना का विकास करते हों और ईश्वर का भय उत्पन्न करते हों। शिक्षा में धर्म की प्रधानता के कारण बालकों को धार्मिक पूजा सम्बन्धी आचारों की शिक्षा भी ग्रहण करनी पड़ती थी। यह स्वाभाविक भी था।

शिक्षा में व्यावहारिकता—लेकिन यहूदी शिक्षा में व्यावहारिकता का भी स्थान था क्योंकि मोजेज ने जीवन को उपयोगी बनाने पर बल दिया था। फलतः यहूदी शिक्षा में सीखने के साथ कार्य करने का भी महत्व था। यहूदी उस शिक्षा का कोई मूल्य नहीं मानते थे जो जीवन को उपयोगी बनाने में सहायक न हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि नवीन-शिक्षा का वह सिद्धांत जो करके सीखने (Learning by Doing) पर जोर देता है, उसका बीज यहूदियों की शिक्षा में मिलता है।

यहूदियों के यहाँ एक नियम है जिसे वे मिशना (Mishnah) कहते हैं। इस नियम के अनुसार केवल शिक्षा ग्रहण करना ही आवश्यक नहीं है, वरन् कार्य करने की क्षमता भी प्राप्त करना आवश्यक है।* इस प्रकार यहूदी शिक्षा में जीवन को उपयोगी बनाने के लिए ऐसी बातों को भी सीखना आवश्यक था, जो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हों।

माता-पिता द्वारा शिक्षा—यहूदियों की शिक्षा में जीवन की ओर पूरा ध्यान दिया जाता था। अतः यहूदी बालक की शिक्षा उसके घर पर ही आरम्भ हो जाती थी। यहूदी माता-पिता अपने बालकों को उन बातों की शिक्षा देते थे जिनकी कि दैनिक जीवन में आवश्यकता थी। और यह तो हम जानते ही हैं कि यहूदी जाति को आरम्भ में जीवन की सुविधा प्राप्त करने के लिए एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को जाना पड़ता था। इसलिए शिक्षा का प्रबन्ध एक निश्चित रूप से नहीं हो सकता था। अतः इस कमी को पूरा करने के लिए बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा का उत्तरदायित्व उनके माता-पिता पर डाल दिया गया। माता-पिता अपने बालकों की शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक शिक्षा की दृष्टि से व्यायाम, नृत्य, संगीत, लिखना-पढ़ना, दया, उपकार, अनुशासन और अन्य नैतिक बातों की शिक्षा देते थे। माता-पिता द्वारा जो शिक्षा दी जाती थी, उसे बालक सरलता से ग्रहण कर लेता था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक भाषण में कहा था कि शिक्षा को माँ के दूध के समान होना चाहिए। दूध से बच्चे का पेट तो भरता ही है, साथ ही उसे माँ का स्नेह भी मिलता है।

---

* "Not learning but doing, is the chief thing". according to their (Jews) oral Law Known as Mishnah ....F. P. Graves.

इसी प्रकार हम देखते हैं कि यहूदियों में माता-पिता द्वारा शिक्षा देने की जो व्यवस्था थी, वह बालकों की दृष्टि से उपयोगी थी क्योंकि उन्हें शिक्षा के साथ ही माता-पिता की देखभाल और स्नेह भी मिलता था। स्नेहहीन शिक्षा सूखे फल के समान है। अतः उसका कोई उपयोग नहीं है। यहूदियों ने इस सत्य को बहुत पहले पाया और उन्होंने शिक्षा को स्नेहहीन होने से बचाया। यहूदी पिता अपने पुत्र को उन बातों की शिक्षा देता जो कि आगामी जीवन के लिए आवश्यक थीं और यहूदी माता अपनी पुत्री को गृहस्थ जीवन के योग्य बनाती।

अनिवार्य शिक्षा—लेकिन जब मोजेज के परिश्रम से यहूदियों के दिन लौटे और वे सुख से रहने लगे तो उन्होंने अपनी जाति की उन्नति के लिए शिक्षा को अनिवार्य बनाया। इस प्रकार पश्चिम में अनिवार्य शिक्षा का आरम्भ यहूदियों ने किया क्योंकि उन्होंने विपत्तियों को झेल कर यह सीखा था कि यदि उन्नति करना है और जाति को शक्तिशाली बनाना है तो निरक्षरता को दूर करना होगा और शिक्षा को अनिवार्य बनाना होगा।

शिक्षा को सार्वजनिक और अनिवार्य बनाने के लिए यहूदियों ने शिक्षालय खोले। उस समय शिक्षालय के लिए अलग से कोई भवन न होता था, वरन् जो उनके उपासना-गृह (Synagogue) थे, उन्हीं में शिक्षालय की व्यवस्था की गई। यह एक उल्लेखनीय बात है कि भारत में भी प्राचीन शिक्षा का आरम्भ धार्मिक वातावरण और स्थान में हुआ था। संभवतः इसका कारण यह है कि आरम्भ में मनुष्य के जीवन में धर्म की प्रधानता थी। उसके सभी कार्य धार्मिक दृष्टिकोण से होते थे। इसलिए यहूदियों के लिए भी यह स्वाभाविक था कि वे अपने शिक्षालय उपासना-गृहों में खोलते।

जब यहूदी जाति के लोग फिलस्तीन के येरुसलम (शांति के नगर) में आकर बसे तो उस समय शिक्षा की ओर पूर्ण ध्यान दिया गया। इतिहास से यह ज्ञात होता है कि यहूदियों के एक पादरी जोशुआ बेन गमाला (Joshua ben Gamala) ने ईसा के ६४ वर्ष बाद यह आज्ञा दी थी कि प्रत्येक उपासना गृह में शिक्षालय खोले जाँय। इसी प्रकार यहूदियों के पूर्ण प्रदेश में शिक्षा को सुलभ करने की व्यवस्था साइमन बेन शेताक (Simon ben Shetach) ने किया। इसी शिक्षा के फलस्वरूप यहूदी जाति की सभ्यता और संस्कृति का विकास और प्रसार हो सका और आज भी यहूदी जाति में अनेक विद्वान् मिलते हैं।

शिक्षा के विषय—यहूदी शिक्षा के उद्देश्यों के अनुरूप शिक्षा के विषय भी थे। जब छः वर्ष का यहूदी बालक शिक्षालय में शिक्षा ग्रहण करने के लिए आता था तो उसे प्रार्थना के गीत, और धार्मिक कथाओं की शिक्षा दी जाती थी। उन्हें सांस्कृतिक जीवन के योग्य बनाने के लिए उत्सवों और त्योहारों के बारे में बताया जाता था। इस प्रकार जब यहूदी कोई उत्सव मनाते थे तो उन्हें उसका महत्त्व भी ज्ञात होता था।

यहूदियों ने उन्नति के लिए उत्तरदायित्त्व की ओर अधिक ध्यान दिया। प्रत्येक यहूदी को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो कि उसका उत्तरदायित्व अपने देश और जाति के प्रति भी है। इस उत्तरदायित्व की भावना का विकास प्रारम्भिक शिक्षा के समय से ही किया जाता था। विद्यार्थियों को कर्त्तव्य का ज्ञान इस प्रकार कराया जाता था कि वे बिना किसी कठिनाई के अपने उत्तरदायित्व को समझ सकते थे।

शिक्षण-पद्धति—यहूदियों ने शिक्षा को सफल बनाने की दृष्टि से शिक्षण-पद्धति की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया। उन्होंने

बालक की रुचि का ध्यान रखते हुए पद्धति का निर्वाचन किया। अतः यहूदी शिक्षा में रटने पर जोर नहीं दिया जाता था। बालक की बुद्धि के अनुसार इस प्रकार शिक्षा दी जाती थी कि उसकी समझ में भली भाँति आ जाता था और उसकी स्मृति भी उसकी शिक्षा में सहायक होती थी। दूसरे शब्दों में शिक्षा की ऐसी पद्धति यहूदियों ने रखी कि बालकों की स्मृति का स्वाभाविक रूप से विकास होता था।

यहूदियों की शिक्षा पद्धति में उत्तरदायित्व की भावना के कारण अनुशासन का प्रश्न उपस्थित होता है। बिना अनुशासन का पालन किये उत्तरदायित्व का विकास नहीं होता। इसलिए विद्यार्थियों को अनुशासन का पालन करना पड़ता था। जो विद्यार्थी अनुशासन भंग करता था, उसे दंड भी मिलता था। लेकिन दंड में निर्दयता नहीं आने दिया जाती थी और बाद में तो दंड को और भी कम कर दिया गया और उसके स्थान पर पुरस्कारों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता था। इस प्रकार यहूदी बालक की शिक्षा नियमित रूप से होती थी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहूदियों ने सह-शिक्षा का प्रबंध नहीं किया था। केवल बालक ही शिक्षालय में शिक्षा के लिए जाते थे और बालिका घर पर माता से शिक्षा प्राप्त करती थी। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है बालिकाओं की शिक्षा में गृह-विज्ञान की बातें अधिक होती थीं। जहाँ तक धार्मिक शिक्षा का प्रश्न है, वह प्रायः बालकों के समान ही होती थी।

यहूदियों की उच्च-शिक्षा—यहूदियों की शिक्षा में विचार की संभावना थी। वे शिक्षा और ज्ञान को सीमित नहीं मानते थे। इसलिए वे अधिक अध्ययन की ओर ध्यान देते थे। इसके लिए यहूदियों ने परिषदों (Academies) की स्थापना की थी।

इन परिषदों का संचालन विद्वान् यहूदियों द्वारा होता था। यहूदी युवकों को परिषद् में अध्ययन के लिए पूर्ण सुविधा थी। न तो उन्हें फीस देनी पड़ती थी और न किसी प्रकार का बंधन था। वाद-विवाद और विचारों के आदान-प्रदान की पद्धति का अनुसरण किया जाता था। गुरु के प्रति आवश्यक श्रद्धा का भाव रखते हुए विद्यार्थी गुरु के विचारों की आलोचना कर सकता था। इस प्रकार यहूदी युवकों की विचार-शक्ति का विकास होता था।

उच्च-शिक्षा के विषय का उल्लेख भी आवश्यक है। यहूदियों के जीवन में धर्म की प्रधानता होने के कारण उच्च-शिक्षा में भी धर्म की प्रधानता थी। लेकिन वह धर्म अंध-भक्ति का विकास न करे इसके लिए गणित और खगोल विद्या का अध्ययन किया जाता था। इसके अतिरिक्त प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्ध का अध्ययन भी उस दृष्टि से किया जाता था जो ईश्वरीय शक्ति का द्योतक था। इस प्रकार यहूदियों की उच्च-शिक्षा धार्मिक केन्द्र से आरम्भ होकर जीवन के उन क्षेत्रों में प्रवेश करती थी जो विचार-शक्ति का विकास करती थी, अंध-विश्वास का नाश करती थी और विश्व की ईश्वरीय शक्ति का बोध करती थी।

समाज पर प्रभाव—उस काल के समाज पर यहूदी शिक्षा का प्रभाव क्या पड़ा? यदि इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना हो तो हमें यहूदियों के धार्मिक विश्वास को देखना चाहिए। पश्चिमी सभ्यता में सर्वप्रथम एक ईश्वर की कल्पना यहूदियों ने की और ईश्वर को जीवन के सभी कार्यों से सम्बन्धित मानते थे। इसलिए उन्होंने आचार-विचार और जीवन प्रणाली में कर्त्तव्य-पालन और उत्तरदायित्व तथा अन्य नैतिक गुणों की ओर ध्यान

दिया। इस प्रकार विश्व को सभ्यता ने प्रगति का एक बड़ा कदम उठाया। यहूदियों की नैतिकता का प्रभाव आनेवाले युग पर पड़ा और आज भी वह प्रभाव किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। यहूदियों की सामाजिक एकता तथा व्यक्ति से बढ़कर समाज की भावना आज भी एक आदर्श है। व्यक्ति और समाज को लेकर अनेक प्रश्न उपस्थित हुए हैं। इन्हीं प्रश्नों को मनुष्य युग-युगों से सुलझाता आया है, और आज भी वह समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है।

यूनानी-शिक्षा : सांस्कृतिक भूमिका

यूनानी शिक्षा के स्वरूप आदि विषयों के अध्ययन के पूर्व यूनान और यूनानियों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। क्योंकि यदि हम यूनान और यूनानियों को नहीं जानते तो उनकी शिक्षा का भी अध्ययन कठिन होगा।

हेलेनी लोग—यूनानी कौन थे, कहाँ से आये थे, इसकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—ईसा के कई शताब्दियों पूर्व जब कि मिश्र के पिरामिड हजार वर्ष पुराने हो चुके थे और जब बाबुल के बादशाह हम्मुरबी का राज्य खत्म हो गया था, उस समय मध्य यूरोप में डैन्यूब नदी के किनारे एक चरवाहा जाति थी। उस जाति के लोग चारागाह की तलाश में निकल पड़े और घूमते-घूमते वे उस प्रदेश में आये जिसे आजकल यूनान कहते हैं।

ये चरवाहे अपने को हेलेनी (Hellenes) कहते थे क्योंकि ये अपने को उस हेलेन की संतान मानते थे जो ड्यूसालियन (Deucalion) और पिरा (Pyrrha) का बेटा था। ड्यूसालियन और पिरा के सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि जब पश्चिमी प्रदेश में जलप्लावन हुआ था तो ये ही दो व्यक्ति बच गये थे। जलप्लावन क्यों हुआ था, इसका कारण यह बताया जाता है कि उस समय के लोग बड़े धोखेबाज और चरित्रहीन हो गये थे। अतः उनका नाश करने के लिए जल-प्लावन हुआ था।

इस प्रकार यूनानी अपने को हेलेनी क्यों कहते थे यह स्पष्ट हो जाता है। हेलेनी कहलाने में उन्हें यह गौरव प्राप्त था कि

उनके पूर्वज उस समय नैतिक थे जब कि संसार नैतिक-पतन के गढ़े में था। लेकिन इस गौरव का गान करने वाले यूनानी भी आरम्भ में जंगली ही कहे जा सकते हैं क्योंकि उनका रहन-सहन और कार्य सभ्यता से अछूता था। जो लोग अपने शत्रुओं को खूँखवार कुत्तों के सामने फेंक दें और जो सुअर की तरह गंदे स्थानों में रहते हों, उन्हें जंगली न कहा जाय तो और क्या कहा जाय ?

हेलेनियों का यूनान में प्रवेश—हेलेनी लोग जब यूनान में आये तो वहाँ के निवासियों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। यूनान के निवासियों की स्त्रियों का हरण करना हेलेनी लोगों के लिए सामान्य बात थी। इस प्रकार सम्पूर्ण यूनान में हेलेनी लोग फैल गये और बस गये। हाँ, इन लोगों का साहस उन पहाड़ी स्थानों पर अधिकार करने का नहीं हुआ जिन्हें इनके पूर्व एजियन प्रदेश के लोगों ने बनाया था। एजियनी लोग अधिक सभ्य थे और उनके पास युद्ध के लिए तलवार और भाले भी थे। इसलिए हेलेनी एजियनी लोगों से लड़ने का साहस नहीं करते थे। लेकिन वे वीर और साहसी एजियनी लोगों से मिलना चाहते थे। अतः धीरे धीरे हेलेनी और येजियनी में सम्पर्क स्थापित हुआ। इस सम्पर्क के फलस्वरूप हेलेनी लोगों ने एशियनों से युद्ध के हथियारों को बनाना सीखा। हेलेनी लोगों ने समुद्र में बड़ी नावों को चलाना और वे सभी बातें येजियनी लोगों से सीख लिया जो उन्नति में सहायक होती थीं। जब हेलेनियों ने सभी बातों को सीख लिया तो उन्होंने एजियनों पर हमला कर दिया और उन्हें यूनान के बाहर निकाल दिया। इस प्रकार हेलेनी लोगों का अधिकार यूनान पर हो गया और वे यूनानी बन गये।

यूनानी नगर-राज्य—हेलेनी जब यूनानी बन गये तो उन्हें अपने रहन-सहन को यूनानी प्रदेश के अनुकूल बनाना पड़ा। यदि यूनानी प्रदेश का मानचित्र देखें तो हमें ज्ञात होगा कि यह प्रदेश भूमध्यसागर में किसी मनुष्य के हाथ की पाँच उँगलियों की भाँति फैला हुआ है। इस प्रदेश के दक्षिण में क्रीट का द्वीप है। इस द्वीप से सभ्यता के बीज यूनानी प्रदेश में आये थे। यूनान के नकशे को ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि यूनानी प्रदेश के समुद्री-किनारे कटे-फटे हैं। इस प्रकार चारों ओर छोटी-बड़ी खाड़ियाँ बन गई हैं। इसका प्रभाव यूनानियों के जीवन पर पड़ा था। तूफानी समुद्र में यात्रा सरल नहीं थी। उस समय समुद्री यात्रा करना मौत के मुँह में जाने के समान था। इसलिए यूनान की भूमि के भाग जो समुद्र के कारण कटे-फटे थे, वहाँ के लोग आसानी से एक दूसरे से नहीं मिल पाते थे। जो जिस भाग में बस गया, बस गया। इस प्रकार पहाड़ों की हर एक घाटी में स्वतंत्र नगर बस गये। आने-जाने की सुविधा न होने के कारण सभी नगरों को अपना प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था। हर एक नगर के अपने नियम थे और रहन-सहन की शैली थी। इस प्रकार यूनान में कई नगर-राज्य (City-States) बन गये थे। इन नगर राज्यों के नाम यूबोई, लोकरिस, एटोलिया, फोसिस, बोइयोटिया, अकीइया, अर्गोलिस, एलिस, अर्काडिया, मेसेनिया, लासोनिया और एटिका थे। स्पार्टा लासोनिया नगर-राज्य का भाग था और एथेंस एटिका का।

यूनानी जनतंत्र—यूनानी नगर-राज्य में जनतंत्र (Democracy) का विकास सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। आरम्भ में यूनानियों में कोई गरीब और अमीर नहीं

होता था। सबके पास कुछ भेड़ें और गायें थीं। सबके घर कच्चे थे। किसी पर किसी प्रकार का बंधन नहीं था। जब कभी, कोई मतभेद होता अथवा न्याय की आवश्यकता होती तो लोग बाजार में एक स्थान पर एकत्रित हो जाते थे और एक वृद्ध सज्जन के सभापतित्व में सभा करते थे। इस सभा में हर एक को अपने विचार व्यक्त करने की अनुमति थी।

लेकिन जब यूनानियों में वर्ग-भेद उत्पन्न हुआ, जब कुछ लोग धनी हुए तो शोषण आरंभ हुआ। धनिकों ने गरीबों के परिश्रम का लाभ उठाना शुरू किया। इस प्रकार नगर में दो वर्ग बन गये—एक तो धनिक वर्ग और दूसरा गरीब वर्ग। धनिकों की संख्या कम थी, लेकिन फिर भी वे धन के बल से नगर की सभा के सभापति बन जाते थे। इस प्रकार जो जनतंत्र की भावना पहले थी वह नष्टप्राय हो चली। धीरे-धीरे धनिक वर्ग के लोग नगर के राजा के समान हो चले। उन्हें इतने ही में संतोष नहीं होता था। वे आपस में लड़ने लगे कि नगर पर किसका अधिकार हो। इस युद्ध में गरीब सिपाही मारे जाते थे। युद्ध के बाद किसी एक धनिक का नगर पर अधिकार हो जाता था। लेकिन इस प्रकार नगर पर अधिकार करनेवाले को नगर के लोग निर्दयी कहते थे।

यूनान के नगर—राज्यों पर निर्दयी लोगों का अधिकार पर्याप्त समय तक था। लेकिन निर्दयता की सीमा होती है। यूनानी और अधिक दिनों तक इस प्रकार तानाशाही बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने सुधार का प्रयास किया और इस प्रयास के परिणामस्वरूप पश्चिमी संसार में सर्वप्रथम जनतंत्र का विकास हुआ।

एथेन्स का महत्त्व—जनतंत्र के विकास और प्रगति में

एथेन्स का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एथेन्स के लोगों ने जनतंत्र (Democracy) की भूमिका तैयार की। उन्होंने सोलन (Solon) नामक विद्वान से सामाजिक नियमों का निर्माण कराया। सोलन्द ने ऐसे नियम बनाये जो सब दृष्टि से पूर्ण थे। अतः इन नियमों के पालन से यूनानी जाति में जीवन आ गया और उनके चरित्र का निर्माण होने लगा। जिस प्रकार आजकल पूँजीजीवी वर्ग और सर्वहारा वर्ग में संघर्ष चल रहा है, उसी प्रकार उस समय भी संघर्ष था। इस संघर्ष में पूँजीजीवी वर्ग ग़रीबों को दबाता रहा। अतः सोलन ने इस अन्याय को रोकने के लिए नियम बनाये। लेकिन चूँकि सोलन स्वयं धनिक वर्ग का व्यक्ति था, इसलिए उसने ऐसे नियम बनाये जो कि धनिकों के विरुद्ध न थे, पर ग़रीबों पर होनेवाले अन्यायों को रोकते थे। ऐसे नियमों में एक नियम यह भी था कि अगर किसी एथेन्स निवासी को किसी बात की शिकायत हो तो उसे यह अधिकार था कि वह अपनी शिकायत एथेन्स के तीस निवासियों द्वारा संगठित जूरी (Jury) के सामने रखे। इस जूरी के सदस्य शिकायत करने-वाले से भलीभाँति परिचित होते थे। अतः न्याय की पूर्ण संभावना थी। इस प्रकार जूरी के सामने धनी और दीन में कोई अंतर नहीं माना जाता था और न्याय की पूर्ण व्यवस्था थी।

जनतंत्र के विकास में एथेन्स ने न्याय का प्रबन्ध करने के बाद प्रत्येक नागरिक को नगर की व्यवस्था में भाग लेने के लिए भी बाध्य किया। नगर सम्बन्धी जब कोई समस्या उपस्थित होती थी, तो उसको सुलझाने के लिए नगर के सभी निवासी सभा में उपस्थित होते थे और उपस्थित होकर अपनी सम्मति देते थे। जो बात बहुमत से निश्चित होती थी, उसी के अनुसार कार्य होता था। इस प्रकार एथेन्स में जनतंत्र का विकास हुआ और इसके द्वारा

यूनानी सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में एक नये अध्याय का आरंभ हुआ।

सामाजिक जीवन—एथेन्स में जिस जनतंत्र का विकास हुआ, उसके अनुसार प्रत्येक नागरिक को 'नगर-राज्य' के प्रबन्ध में भाग लेना पड़ता था। इस प्रकार 'नगर-राज्य' की रक्षा करना उनका प्रमुख सामाजिक कर्त्तव्य था। लेकिन 'राज्य' के प्रति निष्ठा रखते हुए यूनानी लोग अपने सामाजिक जीवन की ओर भी पर्याप्त ध्यान देते थे।

यूनानी समाज में जनतंत्र के नियमानुसार प्रत्येक नागरिक स्वतंत्र माना जाता था। लेकिन यह स्वतंत्रता उन्हीं नागरिकों को प्राप्त थी जिनके माता-पिता उस नगर के मूल-निवासी थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यूनान में अनेक नगर राज्य थे और वे अपना प्रबन्ध स्वयं करते थे। अतः जिस व्यक्ति का जन्म किसी नगर विशेष में न हुआ होता था, वह उस नगर में विदेशी माना जाता था। एथेन्स के नागरिक वही माने जाते थे, जिनका जन्म एथेन्स में हुआ था। अन्य लोग विदेशी थे और इन्हें नगर-राज्य प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार न था।

दास-प्रथा - इस प्रकार यूनान के नगर-राज्यों में स्वतंत्र लोग और विदेशी लोग होते थे। विदेशी लोग दास के समान समझे जाते थे और इस प्रकार यूनान में दास-प्रथा चली। इन गुलामों की संख्या बहुत बड़ी थी। कहते हैं कि पाँच यूनानियों में चार गुलाम होते थे और एक स्वतंत्र होता था। अतः बड़ी संख्या में दास थे। इन गुलामों का मुख्य कार्य था स्वतंत्र यूनानियों की सेवा करना। जो स्वतंत्र यूनानी थे उन्हें घरेलू जीवन के झंझटों से मुक्त रहना पड़ता था क्योंकि घर के सभी काम दास करते थे। इस प्रकार स्वतंत्र नाग-

रिक के पास पर्याप्त अवकाश होता था। कला और संस्कृति के विकास के लिए अवकाश आवश्यक है। जिस जाति के लोगों को अवकाश मिलता है, उस जाति में सभ्यता और संस्कृति का प्रसार होता है। इस प्रकार स्वतंत्र नागरिक अवकाश मिलने पर कला और साहित्य के विकास में लग गये। यूनानी कला और काव्य का विकास इतना और इस प्रकार हुआ कि सारे यूरोप की सभ्यता और संस्कृति पर उसका स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

दासों की दशा—लेकिन यह तो कोई भी स्वीकार कर सकता है कि दास-प्रथा किसी भी रूप में अपेक्षित नहीं है क्योंकि यह मनुष्यता के प्रति अन्याय है। अतः यूनानी दास-प्रथा का किसी प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता। पर उसके पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दास-प्रथा के विषय मे जो वर्तमान कल्पना है, उससे यूनानी दासों की दशा का अनुमान नहीं किया जा सकता। इसके कई कारण हैं। सबसे पहला कारण यह है कि यूनानी दासों में दास-भावना का अभाव-सा था। दास होते हुए भी वे अपने को दास नहीं समझते थे क्योंकि उन्हें कई प्रकार की सुविधायें प्राप्त थी। स्वतंत्र यूनानी नागरिक कला और संस्कृति की साधना में, नगर राज्य की रक्षा में तथा अन्य इसी प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहते थे। साथ ही उनका जीवन-दर्शन 'सादा जीवन उच्च विचार' पर आधारित था। इस प्रकार यूनानी दास की दशा—विशेष कर आर्थिक दशा—कभी कभी स्वतंत्र यूनानियों से अच्छी होती थी। यूनानी दास व्यापार तथा अन्य उद्योग-धंधों को भी करते थे। अतः उन्हें आर्थिक लाभ सरलता से हो जाता था और सादगी के सिद्धान्त के कारण खर्च भी कम होता था।

यूनानी सादगी—यहाँ यूनानी सादगी का संक्षिप्त वर्णन

आवश्यक है क्योंकि इसका प्रभाव यूनानी-शिक्षा के उद्देश्यों पर पड़ा है।

यूनानी जीवन में सादगी का प्रवेश अधिक अवकाश के लिए हुआ था। स्वतंत्र यूनानी यह चाहते थे कि उन्हें सभ्यता और संस्कृति के प्रसार के लिए अधिक समय मिले। इसलिए उन्होंने अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताओं में अधिक से अधिक कमी की। अपने रहन सहन में भी उन्होंने सादगी से काम लिया। उसके रहने का मकान भी अत्यन्त साधारण ढंग से बना होता था। उसके मकान में केवल एक कमरा होता था और उस कमरे में एक द्वार होता था। इसके अतिरिक्त मकान के सामने आँगन को चारदीवारी से घेर देते थे। उस खुले स्थान में कुछ पौधे लगा देते थे। इस प्रकार इस आँगन में यूनानी कुटुम्ब अपना जीवन व्यतीत करता था। जब पानी बरसता था, अथवा शीत अधिक पड़ती थी, तो वे कमरे के भीतर चले जाते थे।

दास-शिक्षक—स्वतंत्र यूनानी परिवार में घर के काम-धंधे करने के लिए दास नौकर होते थे। एक दास भोजन बनाता था तो दूसरा अन्य कार्य करता था। इसी प्रकार एक दास बालकों को पढ़ाने का भी कार्य करता था। यह दास-शिक्षक अक्षर ज्ञान और साधारण जोड़-बाकी की शिक्षा देता था। लेकिन जहाँ तक उच्च-शिक्षा का सम्बन्ध है, उसे स्वतंत्र यूनानी प्रदान करते थे।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि यूनान के यूनानी अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करते थे। लेकिन किसी भी जाति की परीक्षा उस समय होती है, जब उस पर संकट आता है। यूनान पर संकट फारस देश की सेनाओं के आक्रमण के रूप में आया। इस संकट के समय यूनान के नगर-राज्यों में एकता न हो सकी। स्पार्टा और एथेन्स में पुरानी प्रतिस्पर्धा थी। इसलिए जब एथेन्स पर

फारस के लोगों ने आक्रमण किया तो स्पार्टा के लोगों ने एथेन्स की सहायता नहीं की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यूनान के नगर राज्यों में स्पार्टा की सैनिक शक्ति सबसे बढ़कर थी क्योंकि स्पार्टा में सैनिक शिक्षा की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता था।

फारस का पहला आक्रमण जब एथेन्स पर ईसा से ४९० वर्ष पूर्व हुआ तो उस समय एथेन्स ने किसी प्रकार विजय प्राप्त की। लेकिन लगभग आठ वर्ष बाद फारस ने दूसरा हमला किया। इस समय फारस को फोनेशियन लोगों की सहायता प्राप्त थी। अतः उसकी सहायता से फारस को विजय की पूर्ण आशा थी। इधर यूनान के कुछ नगर राज्यों में एकता हुई और इस एकता द्वारा एक सम्मिलित सेना का संगठन हुआ। इसमें स्पार्टा के सैनिक भी सम्मिलित थे। घोर युद्ध हुआ, पर एक देशद्रोही के कारण यूनानी हार गये। लेकिन कुछ वर्षों के बाद यूनान के लोगों ने फारस के लोगों को हरा दिया और यूनान को स्वतंत्र कराया। यूनान के इस स्वतंत्रता-संग्राम की कहानी वीरता की कहानी है। इस संग्राम का प्रभाव यूनान के जीवन पर पड़ा और विशेषकर शिक्षा पर। लेकिन यहाँ इस संग्राम के वर्णन की आवश्यकता नहीं है। हाँ, स्पार्टा और एथेन्स जो कि यूनान के दो महत्त्वपूर्ण नगर राज्य थे, उनका वर्णन आवश्यक है, क्योंकि इनका प्रभाव सम्पूर्ण यूनान पर पड़ता था।

स्पार्टा और एथेन्स—यूनान के नगरों में स्पार्टा और एथेन्स का नाम प्रसिद्ध था। ये दोनों नगर यूनानी संस्कृति के केन्द्र माने जाते थे। शिक्षा के इतिहास में भी स्पार्टा और एथेन्स का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए हमें स्पार्टा और एथेन्स के सांस्कृतिक सम्बन्ध को समझना चाहिए।

भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव किसी भी नगर के विकास पर पड़ता है। स्पार्टा और एथेन्स पर भी भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। स्पार्टा नगर एक घाटी में बसा था। उसके चारों ओर ऊँचे ऊँचे पहाड़ थे। इस प्रकार स्पार्टा में आना अथवा स्पार्टा से बाहर जाना कठिन कार्य था। आने-जाने की कठिनाई के कारण स्पार्टा में नये विचारों का प्रसार नहीं हो सका। इसलिए स्पार्टा के लोग अधिकतर सैनिक स्वभाव के रहे। उनके लिए सैनिक शिक्षा साहित्य-शिक्षा से श्रेष्ठ थी। इसलिए स्पार्टा के लोग अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर सैनिक श्रेष्ठता को प्राप्त करते थे।

इसके विपरीत एथेन्स नगर का विकास मैदान में हुआ। वहाँ आने-जाने की कठिनाई नहीं थी। इसलिए एथेन्स में नवीन विचारों का प्रसार सुगमता से हो जाता था। इसके अतिरिक्त एथेन्स के निकट समुद्री किनारा था। इस प्रकार एथेन्स का सम्बन्ध कुछ अन्य देशों से भी था। इसका प्रभाव एथेन्स के सांस्कृतिक जीवन पर भी पड़ा। एथेन्स के लोगों की आर्थिक दशा स्पार्टा के लोगों से अधिक अच्छी थी। एथेन्स में कला और साहित्य की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था और वहाँ स्पार्टा की सैनिक मनोवृत्ति का एक प्रकार से अभाव था। इस प्रकार हम देखते हैं कि एथेन्स स्पार्टा से अधिक समृद्ध था। एथेन्स की इस समृद्धि को देखकर स्पार्टा के लोगों में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और बाद में यही एथेन्स और स्पार्टा में युद्ध का कारण हुई। यह युद्ध लगभग तीस वर्ष तक चलता रहा और अंत में एथेन्स की हार हुई। लेकिन एथेन्स के लोगों में कला, साहित्य और शिक्षा के प्रति जो भावना थी, उसका नाश नहीं हुआ था। कालान्तर में एथेन्स के लोगों ने पुनः अपना सांस्कृतिक निर्माण किया। यह सांस्कृतिक

पुनरोत्थान पहले से भी बढ़कर था। इस प्रकार एथेन्स अब केवल यूनान के ही लिए नहीं, वरन् यूनान के निकटवर्ती अन्य देशों के लिए भी शिक्षा का प्रकाशस्तम्भ बन गया।

यूनानी शिक्षा की सांस्कृतिक भूमिका का जो संक्षिप्त विवरण यहाँ उपस्थित किया गया है, उससे यूनानी शिक्षा के स्वरूप को समझने में सहायता मिलेगी। यूनानी जाति किस प्रकार बसी, उसने किन संकटों का सामना किया और फिर अपना सांस्कृतिक विकास कैसे किया, आदि प्रश्न यूनानी शिक्षा के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

यूनानी शिक्षा का स्वरूप

प्रगतिशीलता—यूनानी सांस्कृतिक भूमिका में यूनानी-शिक्षा के स्वरूप का परिचय प्राप्त करना कुछ सरल अवश्य प्रतीत होगा। अतः इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यदि हम यूनानी-शिक्षा का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि उसमें परिवर्तन के लिए पर्याप्त स्थान है। वहाँ रूढ़वादिता के दर्शन नहीं होते। यूनानी जीवन-दर्शन का आधार ही कुछ ऐसा था जो सत्य का स्वागत करता था और अनुभव को अपनाता था। इसलिए सर्वप्रथम तथ्य जो कि हमारा ध्यान आकर्षित करता है, वह है यूनानी लोगों की बौद्धिक विशालता। इस बौद्धिक विशालता के कारण यूनानी लोगों ने तटस्थ होकर प्रत्येक समस्या का अध्ययन किया। इस प्रकार वे विकास के पथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहे। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि यूनानी जनता आरम्भकाल से प्रगतिशील रही है। उसकी शिक्षा का इतिहास भी विकास और प्रगति का इतिहास है। बहुधा यह देखा गया है कि अतीत के मोह के कारण प्रगति का विरोध होता है। लेकिन यूनान में इस मोह का अभाव था।

व्यक्ति और समाज में संतुलन—यूनानी शिक्षा के स्वरूप के परिचय से दूसरा तथ्य यह प्राप्त होता है कि उसमें व्यक्ति और समाज का सुंदर सामंजस्य है। बहुधा यह देखा गया है कि समय-समय पर होनेवाले ऐतिहासिक परिवर्तनों के मूल में व्यक्ति और समाज के संतुलन का अभाव होता है। यह

.ए इतिहास से स्पष्ट रूप में ज्ञात होता है। लेकिन यह यूनानी विद्वानों की श्रेष्ठता का द्योतक है कि उन्होंने इस सनातन समस्या की ओर पर्याप्त ध्यान दिया और शिक्षा में व्यक्ति और समाज के सुंदर सम्बन्ध को स्थान दिया।

यहाँ पर आवश्यक है कि हम यह स्पष्ट रूप से समझ लें कि व्यक्ति के विकास के लिए उचित और अनुकूल अवसरों की आवश्यकता होती है। जब व्यक्ति को उचित और अनुकूल अवसर नहीं मिलते, तब उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है और वह समाज में त्रुटियाँ उत्पन्न करता है। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि समाज व्यक्ति का समूह है। यदि समाज के व्यक्ति 'समूह' की ओर ध्यान नहीं देते, और केवल व्यक्तिगत स्वार्थों को देखते हैं, तो स्पष्ट है कि 'व्यक्तियों के समूह' समाज की क्षति होगी और वह उन्नति नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार यदि समाज व्यक्ति के विकास के लिए उचित और अनुकूल अवसर प्रस्तुत नहीं करता, तो वह भी अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है। अतः यह स्पष्ट है कि व्यक्ति का समाज के प्रति और समाज का व्यक्ति के प्रति उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व का स्पष्ट बोध कराना शिक्षा के स्वरूप के अंतर्गत है। पश्चिमी शिक्षा के इतिहास में, इस तथ्य की ओर सर्वप्रथम यूनानियों ने ध्यान दिया। यह यूनानी शिक्षा के लिए बड़े महत्त्व की बात है। लेकिन यह इतिहास से स्पष्ट है कि यूनानी लोग व्यक्ति और समाज में पूर्ण रूप से संतुलन स्थापित नहीं कर सके। यदि कर पाते तो वे अधिक काल तक बने रहते और उनका ह्रास न होता।

व्यक्तित्व का विकास—यूनान की सांस्कृतिक भूमिका में हमें यह ज्ञात हो चुका है कि यूनान में नगर-राज्यों की व्यवस्था थी और प्रत्येक नागरिक का नगर-राज्य के प्रति

दायित्व होता था। दूसरे शब्दों में प्रत्येक यूनानी नगर-प्रबन्ध तथा राजनीतिक कार्यों से सीधा सम्बन्ध रखता था। अतः ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि प्रत्येक यूनानी साधारण राजनीतिक तथ्यों से परिचित हो। इसी दृष्टि से यूनानी शिक्षा में व्यक्ति के विकास की पूरी व्यवस्था की गई। विकास के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति के मार्ग में रुकावटें डाली जाती हैं, तो स्पष्ट है कि उसका विकास नहीं हो सकेगा। इसीलिए यूनान में व्यक्ति को स्वतंत्रता की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था।

कोई व्यक्ति स्वतंत्र है, अथवा परतंत्र, इसकी कसौटी उसको मिले अधिकारों में है। यदि व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह उस शासन में जिससे कि वह शासित होता है, वांछित परिवर्त्तन के लिए सुझाव दे सके, तो यह कहना होगा कि व्यक्ति अपनी सीमा के भीतर स्वतंत्र है। उसे राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त है और वह अपने मत को शासन के सम्बन्ध में प्रगट कर सकता है। यूनान में शिक्षा के दृष्टिकोण से व्यक्ति को यह स्वतंत्रता प्रदान की गई और अनेक पश्चिमी विद्वानों का यह मत है कि सर्वप्रथम यूनान ही में व्यक्ति के विकास के दृष्टि से राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान की गई और इस प्रकार व्यक्ति के **राजनीतिक व्यक्तित्व के पूर्ण विकास** का अवसर प्रदान किया गया।

नैतिकता—यूनानी-शिक्षा में यह भी देखा जाता था कि साधन और साध्य में एक नैतिक सम्बन्ध हो। जब यूनानी नागरिक को स्वतंत्रता इसलिए दी गई कि वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके, तब साथ ही यह भी अनिवार्य किया गया

कि व्यक्तित्व के विकास के नाम पर अनैतिक साधनों को न अपनाया जाय। इस तथ्य को और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। अतः एक उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि यूनानी नागरिक को नगर-राज्य की भलाई के लिए कार्य करना है, तो इस कार्य को करने के पूर्व यूनानी नागरिक के लिए यह आवश्यक था कि वह कार्य-पद्धति पर नैतिकता की दृष्टि से विचार कर ले। विचार करते समय वह तटस्थ होता था और वह धार्मिक, राजनीतिक अथवा सामाजिक स्वार्थों से अपने को मुक्त रखता था। इतना ही नहीं, यदि वह यह अनुभव करता था कि उसका धर्म उसकी नैतिकता के मार्ग में रोड़े अटका रहा है, तो वह उस धर्म को भी छोड़ देने के लिए तैयार हो जाता था। यही कारण है कि यूनानी संस्कृति तथा दर्शन में नैतिकता का बड़ा महत्त्व है और इसी नैतिकता के आधार पर ही धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विश्वासों का पोषण होता था। अतः हम देखते हैं कि यूनानी व्यक्तित्व के विकास के लिए नैतिकता आवश्यक थी। इस नैतिकता को हम व्यक्ति में पाते हैं और साथ ही यूनानी-समाज में भी। पर यह स्मरणीय है कि वैयक्तिक नैतिकता और सामाजिक नैतिकता अपनी अलग स्वतंत्र सत्ता भी रखते हैं। यूनानी शिक्षा की यह चौथी विशेषता है कि उसने वैयक्तिक नैतिकता को पूर्ण रूप से ग्रहण किया। पर साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार नैतिक विकास की पूरी स्वतंत्रता थी, वहीं यह भी आवश्यक था कि कुछ ऐसे नैतिक नियमों का निर्माण भी हो जाता जो सर्वसाधारण के पथ-प्रदर्शक होते; क्योंकि सर्वसाधारण से यह आशा नहीं की जा सकती कि उनमें नीर-क्षीर विवेक हो, और वे प्रत्येक स्थिति में सही मार्ग अपना सकें।

जिज्ञासा और उत्सुकता—यूनानी-शिक्षा के स्वरूप में निखार लाने का श्रेय यूनानी लोगों की जिज्ञासु-प्रवृत्ति को है। वे सभी विषयों के सम्बन्ध में जानना चाहते थे। वे किसी भी बात को अंध-विश्वास के आधार पर स्वीकार नहीं करते थे। वे वही बातें मानते जो उनकी बुद्धि स्वीकार करती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि यूनानी लोग प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में जानने के लिए उत्सुक होते थे और उन्हीं बातों को स्वीकार करते थे, जो उनकी बुद्धि ग्रहण कर सकती थी। इसका कारण यूनानी दर्शन और दार्शनिकों के सम्बन्ध में जानने से हो जायगा, क्योंकि इन्हीं के कारण यूनानी लोग जिज्ञासु और बौद्धिक प्रवृत्ति के बने। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यूनानियों को इतनी स्वतंत्रता प्राप्त थी कि वे अपना बौद्धिक विकास कर सकें। उन पर कोई बात लादी नहीं जाती थी। न तो राज्य और न ही धर्म उनके बौद्धिक-विकास में रुकावटें डालता था। यदि ऐसा न होता तो यूनानी लोगों के लिए अपना बौद्धिक विकास करना अत्यन्त कठिन था। वास्तव में यह आवश्यक भी है कि प्रत्येक मनुष्य विवेक और विचार से कार्य करे, अपनी बुद्धि का प्रयोग करने के लिए सदा उत्सुक रहे और नई-नई बातों के सम्बन्ध में जिज्ञासा करे, तभी वह उन्नति और अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। यूनानी शिक्षा ने इस सत्य को अपनाया और व्यक्ति के राजनीतिक, नैतिक और बौद्धिक विकास में एक ऐसा समन्वय उपस्थित किया जो कि व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहायक होगा।

सौंदर्य की उपासना—अभी तक यूनानी शिक्षा के स्वरूप के विषय में जितनी बातें हमें ज्ञात हुई हैं, उससे यह बोध

होता है कि यूनानी शिक्षा बुद्धिप्रधान है क्योंकि विवेक और विचार, जिज्ञासा और उत्सुकता, व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता आदि के पीछे बुद्धि की प्रधानता है। लेकिन यूनानी दार्शनिक जानते थे कि केवल बुद्धिवादी होने से व्यक्ति सफल नहीं हो सकता। जब तक बुद्धिपक्ष और हृदय पक्ष, अथवा, विचार और भावना में सामंजस्य उपस्थित नहीं होता, तब तक व्यक्ति का पूर्ण विकास असंभव है। यदि कोई व्यक्ति केवल बुद्धिवादी है और उसका हृदय बुद्धि का दास है, तो यह स्पष्ट है कि उस व्यक्ति में हृदय-पक्ष के अभाव के कारण सौंदर्य के प्रति आकर्षण न होगा। दूसरी बात यह है कि व्यक्ति केवल बाहरी ज्ञान को ग्रहण ही नहीं करता, वरन् वह अपने को व्यक्त करना चाहता है। वास्तव में व्यक्ति की यही विशेषता है। जो व्यक्ति अपने को व्यक्त करना नहीं चाहता, उसके व्यक्तित्व में बड़ी कमी होती है। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि अभिव्यक्ति की इच्छा एक बात है और अभिव्यक्ति की क्षमता दूसरी। यूनानी-शिक्षा में इस तथ्य की ओर ध्यान दिया गया और शिक्षा में सौंदर्य की उपासना और कलात्मक अभिव्यक्ति को प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार जहाँ यूनानी विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में बड़ी से बड़ी बातों की कल्पना करते थे और सिद्धान्त बनाते थे, वहीं वे अपनी अनुभूतियों को कला के माध्यम से स्वरूप प्रदान करते थे। यूनान में कला की देवियों (Muses) की आराधना का भी यही रहस्य है। तो यह स्पष्ट है कि यूनानी शिक्षा ने बुद्धिपक्ष के साथ-साथ हृदय-पक्ष के विकास की ओर भी इतना ध्यान दिया जो इतिहास के दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है।

यूनानी शिक्षा का सार—यूनानी शिक्षा के स्वरूप का

साधारण परिचय प्राप्त कर लेने के बाद, हम इस स्थिति में हैं कि यूनानी शिक्षा के सार को ग्रहण कर सकें। इस दृष्टि से हमें यह ज्ञात होता है कि यूनानी शिक्षा में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की ओर पूरा ध्यान दिया गया। इसके लिए व्यक्ति को राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान की गई, उसकी बुद्धि का विकास किया गया, उसे नैतिकता की शिक्षा दी गई और अंत में उसे सौंदर्य बोध और अभिव्यक्ति की क्षमता प्रदान की गई। ऐसा करने का उद्देश्य केवल यह था कि व्यक्ति अपना पूर्ण विकास करके अपने जीवन को सुखी बना सके। प्रसिद्ध विद्वान अरस्तू का एक कथन इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। अरस्तू ने कहा—जीवन का उद्देश्य है सुंदरता और आनन्द के साथ रहना। इस प्रकार हम देखते हैं कि यूनानी शिक्षा ने व्यक्ति के जीवन को सुखी बनाने का प्रयास किया, साथ ही उसमें इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिया गया कि जीवन में केवल भौतिक अथवा पार्थिव वस्तुओं का ही महत्त्व नहीं है। इनसे भी बढ़कर कुछ वस्तुएँ हैं जो हृदय में रस उत्पन्न करती हैं और आनन्द प्रदान करती हैं।

यूनानी शिक्षा की त्रुटियाँ—यूनानी शिक्षा में जहाँ अनेक विशेषतायें थीं, वहीं उसमें कुछ त्रुटियाँ भी थीं जो हमें यह बताती हैं कि इन्हीं त्रुटियों के कारण शिक्षा के क्षेत्र में नये प्रयोग होते गये और नये विधान बनते गये। यदि यूनानी-शिक्षा में त्रुटियाँ न होतीं, तो फिर आज की शिक्षा केवल यूनानी शिक्षा की पुनरावृत्ति होती। अतः हमें जानना चाहिए कि यूनानी शिक्षा में कौन सी त्रुटियाँ थीं।

दास-प्रथा—यदि हम यूनानी समाज को देखें तो उसमें हमें दास-प्रथा मिलती है। यूनान में विदेशियों को दास-वृत्ति

अपनानी पड़ती थी और इनकी संख्या भी नब्बे प्रतिशत थी। इन नब्बे प्रतिशत व्यक्तियों को विकास के सभी अवसरों का अभाव था। इनका कार्य तो यूनानी नागरिकों की सेवा करना था, और उनके दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। यदि यूनानी शिक्षा में मानवता के प्रति आदर और भक्ति होती तो मनुष्य-मनुष्य में भेद न दिखाई पड़ता।

नारी की अवहेलना—यूनानी शिक्षा की दूसरी त्रुटि नारी-शिक्षा का अभाव है। आधुनिक युग में सबको समान अवसर और अधिकार देने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। लेकिन यूनान में स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता था और उन्हें घर से बाहर भी जाने नहीं दिया जाता था। इस प्रकार यूनानी स्त्रियाँ पुरुषों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थीं और उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं थी। पर बाद में नारी-शिक्षा का प्रबन्ध हुआ जिसके सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे।

समाज के प्रति उदासीनता—यूनानी-शिक्षा की तीसरी त्रुटि इस बात में मिलती है कि जहाँ उसमें व्यक्ति और समाज में संतुलन, सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने की कोशिश की गई और कुछ सीमा तक इसमें सफलता भी मिली, वहीं हम यह भी देखते हैं कि उसमें मानव-समाज के प्रति एक प्रकार की उदासीनता थी। व्यक्ति अपने विकास के लिए बुद्धि-विचार से कार्य लेता था और उसकी नैतिकता भी अधिकतर व्यक्तिगत थी। इस कारण एक व्यक्ति जो बात ठीक समझता था, वही बात ठीक होती थी और जो उसकी दृष्टि में नैतिक था, वही उसकी नैतिकता की द्योतक थी। इस प्रकार यूनानी में नियमन की आवश्यकता थी। लेकिन इस आवश्यकता की पूर्ति की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मानव-

समाज के प्रति उदासीनता और सहानुभूति का अभाव उत्पन्न हो गया।

वाक्-चातुर्य्य की प्रधानता—यूनानी शिक्षा की चौथी त्रुटि इस तथ्य में दिखाई पड़ती है कि उसमें विचार-विनिमय की इतनी प्रधानता थी कि वह केवल वाक्-चातुर्य्य पर जाकर समाप्त हो जाता था। प्रत्येक यूनानी इस बात की कोशिश करता था कि वह अपनी वाक्-पटुता से अपनी बुद्धिमता सिद्ध करे। अतः वह वास्तविक तथ्यों की ओर ध्यान नहीं देता था और अपने वाक्-चातुर्य्य की सिद्धि के लिए समय-समय पर सभी सिद्धान्तों की तिलांजलि दे देता था। इतना ही नहीं उन्हें अपने सत्य, सम्मान और उत्तरदायित्व का भी ध्यान नहीं होता था। उनके लिए तो बाल की खाल उतारना ही सब कुछ था।

आध्यात्मिक अभाव—यूनानी-शिक्षा की पाँचवीं और अंतिम त्रुटि यह थी कि यूनानियों के लिए तात्कालिक समय का सबसे अधिक महत्त्व था। उनकी दृष्टि में भूत और भविष्य का का कोई महत्त्व न था। इसका कारण यह था कि उनमें आध्यात्मिक भावना और विश्वास का अभाव था। इसलिए वे यह नहीं मानते थे कि जैसा कर्म वे करते हैं, उसीके अनुसार उन्हें फल मिलता है। यदि यूनानियों में इस प्रकार का विश्वास होता तो उनमें दया और करुणा की प्रधानता होती और वे वृद्ध तथा अयोग्य बालकों के प्रति सहानुभूति रखते और उनके दुःखों को समझते।

लेकिन अंत में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यूनानी-शिक्षा सभ्यता के उदयकाल में विकसित हुई थी। आदिम मानव धीरे-धीरे सभ्यता की ओर अग्रसर हो रहा था। अतः यह स्वाभाविक था कि उसमें त्रुटियाँ हों। पर यूनानी लोगों ने यथाशक्ति विकास और प्रगति के लिए प्रयास किया, इसमें भी संदेह नहीं है।

यूनानी-शिक्षा का होमर-युग

यूनानी-शिक्षा के स्वरूप का परिचय उपस्थित करते समय यूनान की शिक्षा के इतिहास के विविध कालों की विशेषता का उल्लेख नहीं किया गया था। जो त्रुटियाँ भी दिखाई गई थीं, उन्हें यदि ऐतिहासिक भूमिका में जब देखेंगे, तब उनकी 'भीषणता' और 'बर्बरता' कम हो जायगी। अतः अब यह आवश्यक है कि हम यूनान की शिक्षा के इतिहास के विभिन्न युगों से परिचित हों जिससे कि यूनानी-शिक्षा भली भाँति समझ में आ जाय।

होमर-युग—यूनान के इतिहास और विशेष कर शिक्षा के इतिहास का आरम्भ काल होमर-युग कहलाता है। होमर यूनान के प्रसिद्ध कवि का नाम है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि होमर केवल एक व्यक्ति नहीं था, वरन् कवियों की एक परम्परा होमर के नाम से प्रसिद्ध थी। इसके अतिरिक्त यह कोई नहीं जानता कि होमर का जन्म काल और जन्म स्थान क्या है। प्रसिद्ध प्राचीन यूनानी इतिहासकार हिरोडोटस ने होमर का काल ईसा से ८५० वर्ष पूर्व निश्चित किया था। कुछ विद्वान् १००० वर्ष पूर्व मानते हैं। मगर फिर भी इस सम्बन्ध में मतभेद हैं और निश्चय रूप से होमर-युग की सीमा निश्चित नहीं की जा सकती।

होमर के महाकाव्य—लेकिन समय की सीमा के प्रश्न को भूल जाने के बाद जब होमर की प्रसिद्ध रचनाओं 'इलियड' और 'ओडिसे' पर दृष्टिपात करते हैं, तो इस महान् कवि की महानता के दर्शन हो जाते हैं। 'इलियड' और 'ओडिसे' होमर

के महाकाव्य हैं। इसके कथानक में यूनानी वीरता, उत्साह और कल्पना का चमत्कार मिलता है। इन रचनाओं का होमर-युगीन शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है। एक बार एक यूनानी ने सुकरात (Socrates) से कहा कि मेरे पिता मुझे शिक्षा प्रदान करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने मुझे होमर की रचनाओं को कंठस्थ कराया और वे रचनायें मुझे आज भी याद हैं। कहिए तो मैं आपको अभी सुना दूँ। सुकरात होमर-युग के लगभग चार सौ वर्ष बाद हुआ था। मगर उसके समय में भी होमर की रचनाओं का महत्त्व था।

महाकाव्य का शिक्षा में स्थान—होमर की ये दोनों रचनायें बीस-बीस हजार पंक्तियों की हैं। लेकिन प्रत्येक काव्य की इन बीस हजार पंक्तियों को यूनानी बालक बड़ी रुचि और गर्व के साथ पढ़ता और याद करता था क्योंकि इन पंक्तियों में उसके पूर्वजों का इतिहास, उनके पराक्रम का वर्णन और उनकी वीरता का चित्र था। इस प्रकार होमर की रचनाओं को पढ़कर यूनानी बालक अपने पूर्वजों की वीरता से ही नहीं प्रभावित होता था, वरन् वह इस प्रसन्नता से भी फूल उठता था कि उसके शरीर में पराक्रमी पूर्वजों का रक्त है। यह एक बहुत बड़ी बात है। किसी भी राष्ट्र को जिसे उन्नति करना है और आगे बढ़ना है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने बालकों को अपने देश के प्राचीन महाकाव्यों को शिक्षा में उचित स्थान दे। यूनानियों ने इस तथ्य को ग्रहण किया और होमर के महाकाव्यों को शिक्षा में उचित स्थान दिया।

होमर-युगीन शिक्षा—होमर ने अपने महाकाव्य 'इलियड' में 'कर्म' और 'ओडिसे' में 'ज्ञान' के आदर्श को स्थापित

किया था। 'इलियड' महाकाव्य का नायक एकलीज़ (Achilles) कर्म के आदर्श का प्रतीक होकर ट्राय के महायुद्ध में भाग लेता है और ओडिसे का नायक ओडिसियस ज्ञान मार्ग का अनुसरण करता है। इस प्रकार होमर ने कर्म और ज्ञान के आदर्शों को यूनानी लोगों के सामने रखा। उस समय यूनानी लोग होमर के महाकाव्यों के अनुसार चलने का प्रयास करते थे। लेकिन यूनानी इतिहास के उदयकाल में यूनानी सभ्यता की वह विशेषता उत्पन्न नहीं हुई थी जिसे कि हम आज जानते हैं। उस समय होमर-युग में आदिम प्रवृत्तियाँ सभ्यता का वर्ण धारण करने का प्रयास कर रही थीं। अतः हमें होमर-युग की शिक्षा में व्यावहारिकता तथा कार्य की अधिकता अधिक, और सैद्धान्तिक शिक्षा की कमी दिखाई पड़ती है। होमर-युग की शिक्षा में साहित्यिक तत्त्वों का अभाव था, लेकिन युद्ध-कला की प्रधानता थी। यूनानी युवक अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति—जैसे भोजन, वस्त्र और रहन-सहन की शिक्षा घर में, और युद्ध तथा सामाजिक कार्यों की शिक्षा युद्ध में और सामाजिक जीवन में भाग लेकर पाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि होमर-युग की शिक्षा व्यावहारिक थी और उसके लिए शिक्षालय की व्यवस्था न थी।

होमर के आदर्शों का प्रभाव : कर्मशीलता—होमर ने कर्म और ज्ञान के आदर्शों को यूनानी लोगों के सामने रखा था। जहाँ तक कर्म के आदर्श का सम्बन्ध है, उसे शिक्षा में समाज के हित-कार्यों की दृष्टि से देखा जाता था। अतः कर्म के आदर्श को माननेवाला यूनानी युवक सैनिक शिक्षा भली भाँति प्राप्त करता था। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि यह सैनिक शिक्षा वास्तविक युद्ध में भाग लेकर ही प्राप्त की जा सकती थी। इसके

अतिरिक्त यूनानी युवक में वीरता की भावना भी भरी जाती थी। लेकिन यह वीरता की भावना समय के अनुसार कार्य करती थी। उदाहरण के लिए यदि शत्रु से यूनानी युवक दुर्बल पड़ता है तो उस समय भाग जाना उसकी वीरता के अनुकूल था। अवसर के अनुकूल युद्ध में कार्य करना यूनानी सैनिक की वीरता थी। साथ ही वह यूनानी यह भी जानता था कि उसका उद्देश्य केवल युद्ध ही नहीं करना है, वरन् युद्ध में विजयी होना है। विजय प्राप्त करने के लिए सभी उपायों से काम लेना वीरता के अंतर्गत है। इसका अर्थ यह हुआ कि सुविधा के अनुसार अवसर देखते हुए कार्य करना कर्म के आदर्श के अनुकूल था।

निर्णय-शक्ति का विकास—शिक्षा में होमर का दूसरा आदर्श ज्ञान का था। इस आदर्श के अनुसार प्रत्येक यूनानी इस बात की कोशिश करता था कि उसमें निर्णय-शक्ति का विकास हो। वह जो भी निर्णय करे, उससे समाज का कल्याण हो। इस प्रकार जहाँ वह एक ओर कर्म की प्रधानता को स्वीकार करता था, वहीं वह उचित कर्म करने के लिए ज्ञान भी चाहता था। यह सच है कि ये दोनों आदर्श बिना एक दूसरे के साथ सह-योग के अपने प्रभाव को बहुत कम कर देते हैं। इसलिए यूनानी शिक्षा में ज्ञान के आदर्श को भी अपनाया गया। जिसके कारण यूनानी लोगों में निर्णय शक्ति का विकास हुआ और वे अपने समाज के हित के लिए भी कार्य कर सके। साथ ही उन्होंने इस ज्ञान के द्वारा अपने में वह विचार-शक्ति उत्पन्न करने का भी प्रयास किया जिसके द्वारा वे अपनी अवांछित इच्छाओं को वश में करते थे। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि इन प्रयासों

के होते हुए भी उनके चरित्र में दोष थे। धोखे-धड़ी से भी स्वार्थ सिद्ध करना उन्हें स्वीकार था।*

होमर-युगीन शिक्षा का समाज पर प्रभाव—होमर का कर्म और ज्ञान का आदर्श सामाजिक जीवन को प्रभावित करने में पूर्ण सफल हुआ। लोगों में सामाजिक भावना का उदय इतिहास में संभवतः सर्वप्रथम दिखाई पड़ा। इन आदर्शों के अनुसार शिक्षा होने के कारण लोग विचार-विनिमय करके किसी निश्चय पर पहुँचते थे और इस प्रकार वे अपनी विचार-शक्ति के द्वारा भावनाओं पर नियंत्रण रखते थे। साथ ही उस समय जो विचार-विनिमय की समितियाँ होती थीं, वे भी लोगों को शिक्षित बनाने में सहायक होती थीं क्योंकि वहाँ खुल कर व्यक्त करने की स्वतंत्रता होती थी। किसी के लिए मनाही न थी। इस सुविधा के कारण हर एक को अभिव्यक्ति का अवसर मिलता था और वह निर्भय होकर निर्णय कर सकता था। इस प्रकार विचारों के आदान-प्रदान से समाज के लिए नियम निर्धारित किये जाते थे, पर साथ ही व्यक्ति को यह स्वतंत्रता होती थी कि वह प्रत्येक नियम की उपयुक्तता को अपनी बुद्धि के बल से देखे और यदि उसे मान्य हो तो स्वीकार करे। अतः हम देखते हैं कि यूनानी समाज का संगठन व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता को मानते हुए हुआ। होमर-युगीन शिक्षा की यूनान के लिए यह बड़ी देन थी क्योंकि इसी के सहारे भविष्य में यूनान का सम्पूर्ण

---

* ...There entered much of craftiness—even of deceit,—which, since for common good, was permissible—P. Monroe—"A Text-book in the History of Educatian" page 65.

विकास होनेवाला था। पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि शिक्षा के लिए स्वतंत्र रूप से कोई प्रबन्ध न होने के कारण व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का निखरा हुआ रूप नहीं दिखाई पड़ता। उनके लिए तो होमर के महाकाव्य 'शिक्षा-शास्त्र' का काम देते थे और उस महाकाव्य के प्रतिपादित आदर्श ही उनकी शिक्षा के विषय थे। इतना ही नहीं होमर ने यूनानियों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन का काम किया। यह तथ्य त्यों त्यों स्पष्ट होता जायगा, ज्यों ज्यों हम यूनानी शिक्षा के इतिहास से परिचित होते जायेंगे।

यूनानी शिक्षा का प्राचीनकाल : स्पार्टी शिक्षा

प्राचीन यूनानी शिक्षा—यूनानी शिक्षा का प्रथम ऐतिहासिक काल होमरयुग के नाम से प्रसिद्ध था। इस युग के बाद 'प्राचीन काल' आता है। प्राचीन काल का आरम्भ उस समय से माना जाता है जब कि यूनान में नगर-राज्यों का संगठन भली भाँति हो गया था। होमर युग में इस संगठन का अभाव था। लेकिन प्राचीन काल में नगर राज्य पूर्ण रूप से विकसित हो गये थे। इन विकसित नगर राज्यों में स्पार्टा और एथेन्स का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ये दोनों नगर यूनानी संस्कृति और शिक्षा की दो धाराओं के प्रतीक थे। इसलिए यूनानी शिक्षा के प्राचीन-काल का इतिहास विशेषकर स्पार्टा और एथेन्स की शिक्षा का इतिहास है। लेकिन इसके पूर्व कि हम स्पार्टा और एथेन्स की शिक्षा को ऐतिहासिक दृष्टि से देखें, यह आवश्यक है कि हम प्राचीन काल की शिक्षा को सामान्य धाराओं से परिचित हो लें।

शिक्षा में नागरिकता—यूनान में जब नगर-राज्यों का संगठन हुआ, उस समय प्रत्येक यूनानी के कर्त्तव्यों और अधिकारों पर भी प्रकाश पड़ा क्योंकि नगर-राज्य के नागरिक से यह आशा की जाती थी कि वह अपनी नागरिकता के लिए कुछ करेगा। फलतः हम देखते हैं कि इस काल में यूनानियों को कुशल नागरिक बनाने की ओर ध्यान दिया गया और इसी दृष्टि से शिक्षा के उद्देश्य भी निश्चित किये गये। यदि इस काल में

नगर-राज्यों का संगठन न होता तो शिक्षा में नागरिकता को शायद स्थान भी न दिया जाता। लेकिन समाज के विकास के साथ साथ शिक्षा के उद्देश्यों का भी विकास होता है। इसीलिए यूनानी शिक्षा के प्राचीन काल में नागरिकता की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस नागरिकता के अंतर्गत नगर की रक्षा-कार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस प्रकार शिक्षा में नागरिकता को स्थान देकर यूनानियों ने नगर-राज्य के विकास और रक्षा का पर्याप्त प्रबन्ध किया।

अभिजात वर्ग का प्रभाव—यूनानी शिक्षा में नागरिकता की कल्पना के साथ-साथ कुलीनता का आदर्श भी आया। इस आदर्श के अनुसार यूनानियों में एक अभिजात वर्ग (Nobility) उत्पन्न हुआ जो दर्शन और विज्ञान के अध्ययन की ओर अधिक ध्यान देता था। अभिजात वर्ग के इस आदर्श के पीछे उनकी निम्नकोटि और असभ्य जातियों के प्रति तिरस्कार की भावना कार्य कर रही थी। अतः अपने को सभ्य सिद्ध करने के लिए अभिजात वर्ग ने अपने लिए अवकाश के समय की व्यवस्था की और दर्शन-विज्ञान का अध्ययन आरंभ किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप वे केवल जीवन व्यतीत करने का ही प्रयास नहीं करते थे, वरन् वे उस जीवन को भलीभाँति व्यतीत करना चाहते थे। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् अरस्तू का एक कथन है कि यदि ग्रामों का उद्देश्य केवल जीवन व्यतीत करना है, तो नगरों का उद्देश्य जीवन को भली भाँति व्यतीत करना है। इस प्रकार यूनान का अभिजात वर्ग 'भली भाँति' पर बल देता था और इसके लिए दर्शन, विज्ञान और कलाओं का अध्ययन करता था साथ ही इनके द्वारा व्यक्तित्व का विकास अभिजात वर्ग के अनुकूल करना चाहता था। इस प्रवृत्ति

का भी प्रभाव प्राचीन यूनानी शिक्षा पर पड़ा और साथ ही एक प्रकार का वर्ग-भेद अथवा जाति-भेद भी प्रगट हुआ।

प्राचीन यूनानी शिक्षा में नागरिकता के उद्देश्य और अभिजात वर्ग के आदर्शों की दृष्टि से स्पार्टा और एथेन्स में शिक्षा का स्वरूप महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। नागरिकता के लिए स्पार्टा में शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया गया, और एथेन्स में अभिजात वर्ग के अध्ययन की ओर। इसीलिए स्पार्टा की शिक्षा में सैनिक शिक्षा और एथेन्स में दर्शन, विज्ञान और कला की शिक्षा की प्रधानता थी। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, प्राचीन यूनानी शिक्षा की दो धारायें थीं। एक धारा का प्रतीक स्पार्टी शिक्षा है और दूसरी धारा का प्रतीक एथेन्स की शिक्षा। अतः इन दोनों धाराओं का अध्ययन आवश्यक है।

स्पार्टी समाज—स्पार्टी शिक्षा पर स्पार्टा के जीवन का विशेष प्रभाव पड़ा था। जैसा समाज होता है, वह वैसी ही शिक्षा की व्यवस्था अपने लिए करता है। इस दृष्टि से जब हम स्पार्टा के समाज को देखते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि स्पार्टा के समाज में तीन वर्ग के लोग रहते थे। प्रथम वर्ग में वे लोग थे जो अपने को डोरिक वंश का मानते थे। डोरिक यूनान देश का एक प्रदेश था और उसका मुख्य केन्द्र स्पार्टा था। इसी प्रकार आयोनिया प्रदेश का मुख्य केन्द्र एथेन्स था। अतः स्पार्टा में एक वर्ग शुद्ध स्पार्टा-निवासियों का था। स्पार्टा में दूसरा वर्ग 'किसानों' का था। ये किसान खेती करते थे और इनके परिश्रम का फल मूल स्पार्टी लोग भोगते थे। यदि ये बेचारे भी स्पार्टा के मूल-निवासी होते तो इन्हें भी सुख से जीवन व्यतीत करने का अधिकार होता। स्पार्टी समाज में तीसरा वर्ग दासों

का था। यूनान में दास प्रथा प्रचलित थी। इसके सम्बन्ध में हम यूनान की सांस्कृतिक भूमिका में विचार कर चुके हैं। अतः यहाँ पुनरावृत्ति अपेक्षित नहीं है।

मूल स्पार्टी लोगों ने इस प्रकार अपने रहन-सहन के लिए खेतिहर मजदूरों और दासों के वर्ग बनाये थे। इन दो वर्गों के लोगों की संख्या मूल स्पार्टी लोगों से कहीं अधिक थी। मगर फिर भी इन्हें दासता के बंधन में रखा जाता था। इन्हें किसी प्रकार का राजनीतिक अधिकार प्राप्त न था। स्पार्टा में जो दास-वर्ग था वह तो राज्य के अधिकार में होता था और वह राज्य की इच्छानुसार कार्य करता था। उसकी अपनी कोई इच्छा न होती थी।

स्पार्टी आर्थिक व्यवस्था—कोई भी समाज हो, जब तक उसकी आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक उसका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः जब हम स्पार्टा की आर्थिक व्यवस्था देखते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि स्पार्टा के किसान वर्ग पर अनेक प्रकार के कर लगाये जाते थे। बहुत से कर ऐसे और इतने अधिक थे कि वे न्याय की सीमा पार कर जाते थे। उन्हें तो दूसरे शब्दों में सरकारी लूट ही कहा जा सकता था। दूसरी ओर 'राज्य' ने स्पार्टा की सम्पूर्ण भूमि को नौ हजार टुकड़ों में बाँट दिया था। भूमि के प्रत्येक टुकड़े की उपज और आमदनी पर एक स्पार्टी सैनिक और उसका परिवार निर्भर करता था। इस प्रकार मूल स्पार्टी सैनिक को कोई कार्य नहीं करना पड़ता था और वे दूसरे के परिश्रम का फल बिना हिचक के भोगते थे। यदि इस आर्थिक व्यवस्था को सामाजिक न्याय की दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि स्पार्टा में आर्थिक शोषण भीषण रूप में होता था।

स्पार्टी शिक्षा का उद्देश्य—स्पार्टा की इस सामाजिक

और आर्थिक भूमिका में जब हम स्पार्टी शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने 'नगर राज्य' की रक्षा की दृष्टि से सैनिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। इस प्रकार स्पार्टी शिक्षा का उद्देश्य था व्यक्ति का शारीरिक विकास करना, उसे साहसी बनाना और उसमें राज्य के प्रति अपार भक्ति उत्पन्न करना। इस उद्देश्य के फलस्वरूप स्पार्टी युवक में वीरता की भावना का विकास होता था और वह राज्य की रक्षा के लिए प्राणों की बलि देने के लिए सदा तत्पर रहता था। यदि स्पार्टा में 'राज्य की रक्षा' को महत्त्व न दिया जाता तो संभवतः इस प्रकार की शारीरिक और सैनिक शिक्षा का प्रबन्ध न किया जाता। साथ ही स्पार्टी शिक्षा में अनुशासन और आज्ञापालन पर भी बड़ा बल दिया जाता था। इसका कारण यह था कि सेना में बिना अनुशासन के कार्य नहीं चल सकता। यदि प्रत्येक सैनिक मनमाना काम करने लगे, तो युद्ध में सफलता असंभव हो जाय। इसलिए स्पार्टी शिक्षा का उद्देश्य अनुशासन और आज्ञापालन की प्रवृत्ति का विकास करना था। इसी सम्बन्ध में यह भी समझ लेना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति, जो सैनिक शिक्षा प्राप्त करता है, यदि उसमें साहस वीरता, और डटकर युद्ध करने की क्षमता न हो, किस प्रकार योग्य और श्रेष्ठ सैनिक बन सकता है? वास्तव में एक सैनिक की श्रेष्ठता उसके साहस, वीरता और आत्म-संयम पर है। इन्हीं सब दृष्टियों से स्पार्टी शिक्षा के उद्देश्यों में इन सब तथ्यों का समावेश किया गया। इतना ही नहीं स्पार्टी शिक्षा यह चाहती थी कि व्यक्ति राज्य के प्रति अपना सम्पूर्ण समर्पण कर दे। इस प्रकार स्पार्टा का व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खोकर स्पार्टा नगर-राज्य का नागरिक-सैनिक मात्र रह जाता था।

स्पार्टी शिक्षा का संगठनः जन्म से सात वर्ष तक—शिक्षा में सैनिक उद्देश्यों की प्रधानता के कारण स्पार्टी शिक्षा के संगठन में भी एक प्रकार की कठोरता दिखाई पड़ती है। अतः हम देखते हैं कि स्पार्टा में शिक्षा के संगठन के लिए सबसे पहले स्पार्टी शिशु को राज्य की सम्पत्ति मान लिया जाता था। 'स्पार्टी शिशु पर राज्य का अधिकार होगा और उसकी शिक्षा-दीक्षा राज्य के आदेशानुसार होगी'। इस नियम के कारण जब बालक जन्म लेता था तब माता बालक को लेकर राज्य-सभा में जाती थी। राज्य-सभा में बालक के शरीर का निरीक्षण होता था। यदि बालक स्वस्थ और सुंदर होता तो राज्य की ओर से माता को आदेश होता था कि वह उसका पालन-पोषण सात वर्ष तक करे। यदि कहीं बालक अस्वस्थ अथवा असुंदर हुआ तो उसे पहाड़ की चोटी से गिरा देने की आज्ञा दी जाती थी, क्योंकि स्पार्टी लोग यह चाहते थे कि उनकी जाति में कोई अस्वस्थ और असुंदर व्यक्ति न हो। इस प्रकार अस्वस्थ बालक आरम्भ ही में मौत के मुँह में डाल दिया जाता था। यह प्रथा कितनी अमानुषिक थी, इसकी कल्पना मात्र से हृदय दहल जाता है।

आठ वर्ष से बारह वर्ष तक—राज्य की ओर से आठ से बारह वर्ष के बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध होता था। इसके लिए राज्य ने एक व्यक्ति को नियुक्त कर दिया था, जिसे कि पेडॉनॉमस की पदवी प्राप्त थी। पेडॉनॉमस स्पार्टा राज्य में शिक्षा का पूरा प्रबन्ध करता था। इस अधिकारी का चुनाव प्रतिवर्ष होता था और इसकी सहायता के लिए कई सहायक (बिडोई) भी नियुक्त होते थे। इस प्रकार पेडॉनॉमस राज्य में शिक्षा-कार्य की देख रेख करता था। जब बालक सात वर्ष का हो जाता था, तब

वह पेडॉनॉमस को सौंप दिया जाता था। पेडॉनॉमस उस बालक को छात्रावास में भर्ती कर देता था। वहाँ इस बात का भी प्रबन्ध था कि बालक ६४–६४ की टोलियों में रखे जायँ। हर एक टोली का नियंत्रण राज्य की ओर से नियुक्त युवक, जिसे 'ईरेन' कहते थे, करता था। इतना ही नहीं प्रत्येक टोली जिसे कि 'इलाई' कहते थे, उसका निरीक्षण करने के लिए राज्य का प्रधान शासक 'एफर्स' प्रति दसवें दिन आता था। निरीक्षण के समय बालकों को नंगा कर दिया जाता था और यह देखा जाता था कि उनके शरीर के किसी भाग में मोटापा तो नहीं आ गया है। यदि किसी बालक का शरीर यूनानी मूर्तियों की भाँति सुगठित न होता तो उसे दंड मिलता था। इसलिए बालक व्यायाम और खेल-कूद में भाग लेकर अपने शरीर को सुडौल और सुगठित बनाये रखने की कोशिश करते थे। इस प्रकार आठ से बारह वर्ष की अवस्था के बालक राज्य की देख-रेख में छात्रावासों में रहते थे। इनकी शिक्षा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान् प्लूटार्क का कथन है कि इन बालकों में जो सबसे अधिक साहसी और चरित्रवान् होता था, वही टोली (Company) का नायक नियुक्त किया जाता था। नायक की देख-रेख में रहना, उसकी आज्ञा का पालन करना अन्य बालकों का कार्य था। वास्तव में इस अवस्था में जो शिक्षा दी जाती थी उसे तो 'अनुशासन का अभ्यास' ही कहा जा सकता है। साथ ही बालकों को छात्रावास में एक साथ रखने का उद्देश्य यह भी था कि उनमें भाईचारे की भावना उत्पन्न हो और वे एक दूसरे में कोई भेद-भाव न रखें।

तेरह वर्ष से अठारह वर्ष तक—जब बालक तेरहवें वर्ष में प्रवेश करता था तो सहनशीलता का विकास करने के लिए उसकी कठिनाइयों को बढ़ा दिया जाता था। यह तो साधा-

रण नियम ही था कि बालक अपने नायक 'ईरेन' की पूरी सेवा करे। अतः 'ईरेन' बालकों को दिन भर किसी न किसी काम में लगाये रखता था। कभी-कभी 'ईरेन' के लिए बालकों को चोरी भी करनी पड़ती थी। स्पार्टा के नियमानुसार प्रत्येक सम्पत्ति राज्य की होती थी। अतः बिना राज्य की आज्ञा से किसी वस्तु को लेना दंडनीय था। इसलिए 'ईरेन' जब किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए कहता तो बालकों को चोरी भी करनी पड़ती थी। यदि कोई बालक चोरी करते समय पकड़ा जाता था तो उसे दंड मिलता था, अन्यथा उसका कुछ भी न होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि बालकों के लिए पकड़ा जाना ही अपराध था, चोरी करना नहीं।

जब बालक अपने 'ईरेन' के लिए वस्तु लाने जाते थे तो उन्हें काफी घूमना भी पड़ता था। इस घूमने में उन्हें देश के प्रत्येक भाग का भौगोलिक ज्ञान हो जाता था। घूमते समय बालक शिकार का भी अभ्यास करते। इस प्रकार उन्हें अच्छा शिकारी बनने का भी अभ्यास हो जाता था। साथ ही उनमें सहनशीलता बढ़ाने के लिए शरीर को कोड़े से पीटने की व्यवस्था की जाती थी। जो बालक बिना किसी उफ़ के जितनी अधिक मार सह सकता था वह कठिनाइयों को सहने में उतना ही अभ्यस्त माना जाता था। अतः शरीर पर मार सहने की प्रतियोगिता होती थी। प्रतियोगिता में विजयी होने के लिए मार खाते और कभी कभी मार खाते-खाते उनकी मृत्यु भी हो जाती थी। इस प्रकार सैनिक जीवन में कठिनाइयों का सामना करने के लिए सहन-शीलता का विकास किया जाता था। आधुनिक शिक्षा की दृष्टि में सहनशीलता को क्षमता उत्पन्न करने की यह पद्धति अमानुषिक कही जा सकती है। मनुष्य शिक्षा को इस अमानुषिक वाता-

वरण से निकाल कर मानवीय वातावरण में किस प्रकार लाया यह शिक्षा के इतिहास का रोचक विषय है।

अठारह वर्ष के बाद—जब बालक अठारह वर्ष का युवक हो जाता था, तब उसे सैनिक शिक्षा का व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता था। इसके लिए उसके जीवन में कठोरता बढ़ा दी जाती थी। उसे सफल सैनिक बनाने के लिए युद्ध-कला की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। स्पार्टा में दासों के जीवन का कोई मूल्य न था। अतः इन युवकों की व्यावहारिक सैनिक शिक्षा दासों पर धावा बोलकर दी जाती थी। इस धावे में दासों की निर्ममता और निर्दयता के साथ हत्या होती थी।

अठारह वर्ष के युवकों को 'एफेबी' अथवा 'कडेट' की कक्षा में भर्ती करते थे। भर्ती होने के बाद वे दो वर्षों तक सैनिक शिक्षा का विशेष अध्ययन करते थे। इस समय वे ऐसे युवकों के साथ रहते थे जिन्हें 'मिलीरेन' कहते थे। इस काल में युवकों की कठोर परीक्षा होती थी। हर दसवें दिन उनकी जाँच की जाती थी और अधिकतर उन्हें अपना समय अपने से छोटे बालकों की शिक्षा के लिए देना पड़ता था। इस प्रकार वे जो कुछ भी सीखते थे, उसे दूसरे को सिखाते भी थे। जब युवक बीस से तीस वर्ष की अवस्था में होता तो उसे 'ईरेन' बना दिया जाता था। 'ईरेन' बन कर युवक बालकों की शिक्षा की ओर ध्यान देता था। तीस वर्ष की आयु के बाद युवक पूरा 'मनुष्य' माना जाता और उसे नागरिक अधिकार प्राप्त होते थे। साथ ही वह अपने परिवार का अध्यक्ष भी बनता था। लेकिन इसके बाद भी उसे 'बैरेक' में सैनिक की भाँति रहना सबके साथ भोजनालय में भोजन करना, और बालकों का शिक्षक बनना पड़ता था।

हमें जो ज्ञात हुआ उस पर हम स्पष्ट रूप से सैनिक उद्देश्यों का प्रभाव पाते हैं। सैनिक उद्देश्यों का प्रभाव शिक्षा के विषयों पर भी पड़ा था। स्पार्टी बालकों को जो शिक्षा दी जाती थी उसमें शारीरिक और सैनिक विषयों की प्रधानता थी क्योंकि स्पार्टा सैनिक-नागरिक चाहता था। शारीरिक और सैनिक विषयों की प्रधानता के कारण शिक्षा में उन विषयों का प्रायः अभाव था जो बौद्धिक और मानसिक विकास में सहायक होते थे। अतः शिक्षा में शारीरिक विकास के लिए खेल-कूद, व्यायाम और कुश्ती की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। कुश्ती के द्वारा सहनशीलता और आत्म-नियंत्रण उत्पन्न करने में सहायता मिलती थी। इसलिए कुश्ती लड़ने का काफी अभ्यास किया जाता था। सैनिक योग्यता के लिए बनावटी युद्ध का प्रबन्ध भी हो जाता था।

इसके अतिरिक्त शिक्षा के विषयों में साधारण लिखने-पढ़ने को भी स्थान दिया जाता था, क्योंकि बिना इसके उनका काम नहीं चल सकता था। स्पार्टा-राज्य के राजदूतों के पास संदेश भेजने तथा राज्य का हिसाब रखने के लिए लिखने-पढ़ने का ज्ञान आवश्यक माना जाता था। लिखने-पढ़ने के अलावा उन्हें सामूहिक गान-नृत्य की भी शिक्षा दी जाती थी। इस नृत्य में भी एक प्रकार से व्यायाम होता था और साथ ही उनमें आत्मसंयम, सहनशीलता, साहसिकता, वीरता, निर्भयता, अनुशासन और राज्य-भक्ति की भावनाओं का विकास भी होता था। इस प्रकार स्पार्टी सामूहिक गान और नृत्य से भी परोक्ष रूप में सैनिक उद्देश्यों ही की पूर्ति होती थी।

अवकाश के समय शिकार खेलना भी स्पार्टी शिक्षा के अंतर्गत था क्योंकि शिकार में काफी कसरत हो जाती है और इससे शारीरिक विकास में सहायता भी मिलती है। चूँकि स्पार्टी

समाज स्पार्टी बालक और युवक के लिए शिक्षालय के समान था, इसलिए हर एक प्रौढ़ व्यक्ति शिक्षक की भाँति कार्य करता था। बाजार, मार्ग अथवा भोजनालय में जहाँ भी युवकों और प्रौढ़ों में सम्पर्क होता था, वहीं पर स्पार्टी प्रौढ़, स्पार्टी युवक की भाषण-कला में परीक्षा लेते थे और उनके सामने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते थे जिनमें न्याय और आत्म सम्मान के सम्बन्ध में उन्हें अपने विचार प्रगट करने पड़ते थे। एक परिस्थिति में जो न्याय है, वही दूसरी परिस्थिति में अन्याय हो सकता है। इसी प्रकार आत्म-सम्मान की भावना के विषय में भी विचार-विनिमय होता था और विभिन्न परिस्थितियों में 'आत्म-सम्मान' के स्वरूप पर विचार किया जाता था।

नैतिक-शिक्षा—स्पार्टी शिक्षा में व्यक्तिगत गुणों का विकास भी सैनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता था। पर जब हम नैतिक दृष्टि से स्पार्टी-शिक्षा को देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि स्पार्टा के समाज में कोई बात छिपाकर नहीं होती थी। जो भी होता, उसे सब देखते थे। नैतिकता की दृष्टि से किसी कार्य को छिपाकर करना ग़लत होता है। अतः इस चलन के कारण सभी काम खुलेआम किये जाते थे और यदि कोई काम बड़े-बूढ़ों के विचार से गलत होता, तो यह भी तुरन्त ही मालूम हो जाता था क्योंकि सभी को विचार प्रगट करने की स्वतंत्रता थी। इसके अतिरिक्त स्पार्टी उत्साहक अपने श्रोता युवक के नैतिक विकास की ओर पर्याप्त ध्यान देता था। उत्साहक और श्रोता में स्नेह का सम्बन्ध होता था और उत्साहक अपने श्रोता की उन्नति और प्रसिद्धि में अपनी उन्नति तथा प्रसिद्धि मानता था। इस प्रकार स्पार्टी युवक न्याय, आत्म-सम्मान, देश-भक्ति, सत्य, आत्म-त्याग और संयम आदि गुणों का अपने में

विकास कर नैतिक पथ का अनुसरण करता था। लेकिन साथ ही यह भी सत्य है कि इन नैतिक गुणों के होते हुए भी स्पार्टी युवक में उस संवेदना और सहानुभूति की कमी दिखाई पड़ती थी जो कि मानवता का प्राण है।*

नारी-शिक्षा—स्पार्टा में नारी का बड़ा आदर था, क्योंकि वह सैनिक-नागरिक की माता थी। इसके अतिरिक्त बालक आरम्भ के सात वर्षों में माता द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करता था। इसलिए स्पार्टी बालिका की शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया। स्पार्टी बालिका आरम्भ में बालकों की भाँति कपड़ा पह-नती थी। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा भी बालकों के समान होती थी। कभी-कभी बालक-बालिका में कुश्ती भी होती थी। स्पार्टी युवतियों को युवकों से मिलने-जुलने की स्वतंत्रता थी। उन्हें गृह-कार्य से भी काफी छुट्टी रहती थी क्योंकि दास-दासी गृह का कार्य कर दिया करते थे। इस प्रकार स्पार्टी बालिका और युवती की शिक्षा सैनिक उद्देश्यों से प्रभावित थी। हाँ, जब विवाह हो जाता था, तब व्यायाम नहीं करना होता था। लेकिन विवाह के पूर्व सभी स्त्रियों को अपना शारीरिक विकास करना पड़ता था और अपने में ऐसी क्षमता उत्पन्न करनी होती थी कि यदि पति या पुत्र की मृत्यु हो जाय तो किसी प्रकार का शोक न हो। नारी-हृदय भावुक होता है। स्पार्टा में नारी-शिक्षा इस प्रकार दी जाती थी कि नारी-हृदय से भावुकता निकल जाय और वे यथार्थ जीवन को भली भाँति समझ सकें।

---

* ......it must be admitted that while the Spartan moral training conserved certain elemental virtues, it effects morally, as well as physically had a hardening, even brutalizing tendency.—Dr. Paul Monroe.

स्पार्टी शिक्षा में त्रुटियाँ—यूनानी शिक्षा के प्राचीन काल की प्रमुख धारा स्पार्टी शिक्षा पर अब तक हम लोगों ने सम्यक् दृष्टि से विचार किया। लेकिन यदि इस शिक्षा की प्रधान त्रुटियों को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि स्पार्टी शिक्षा में सबसे बड़ी त्रुटि बौद्धिक और कलात्मक तत्त्वों की थी। स्पार्टी शिक्षा इन गुणों का विकास करने में असमर्थ थी जो मनुष्य की बुद्धि और हृदय पक्ष में सुंदर सामंजस्य उपस्थित करते हैं। राज्य की रक्षा के निमित्त सारे समाज को एक सैनिक खेमे में बदल देना, कोई अच्छी बात नहीं है। साथ ही स्पार्टी शिक्षा में कलात्मक तत्त्वों का भी अभाव था। कलात्मक विषयों के अध्ययन से भावनाओं और संवेगों का उन्नयन होता है। मनुष्य अपने चित्त की वृत्तियों को भली भाँति समझ पाता है। इनके सहारे वह अपने स्वार्थ को भूलकर पर-उपकार की बात सोचता है। उसके मनमें दया, करुणा, संवेदना और सहानुभूति के लिए स्थान होता है। वास्तव में यही मनुष्य की मानवता के प्रतीक हैं। यदि मनुष्य में सहानुभूति नहीं है, तो वह किस काम का! इसी प्रकार जिस शिक्षा द्वारा बालकों में मानवीय गुणों का विकास न हो, वह शिक्षा भी किस काम की। अतः स्पार्टी शिक्षा जो कि सैनिक उद्देश्यों से पूर्ण रूपेण प्रभावित थी, इस ओर ध्यान न दे सकी।

एथेन्स की शिक्षा

प्राचीन यूनानी शिक्षा को दूसरी धारा एथेन्स की शिक्षा में दिखाई पड़ती है। अभिजात वर्ग ने दर्शन, कला और विज्ञान के अध्ययन द्वारा व्यक्तित्व के विकास पर बल दिया था। यह तथ्य हमें एथेन्स की शिक्षा में दिखाई पड़ेगा। लेकिन इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम एथेन्स और उसके समाज से परिचित हो जाँय।

एथेन्स का महत्त्व—एथेन्स के इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनान की संस्कृति का केन्द्र एथेन्स रहा है। यदि स्पार्टा यूनान की सैनिक शक्ति का प्रतीक था तो एथेन्स उसकी संस्कृति का। इसका कारण यह था कि एथेन्स में दर्शन, कला और विज्ञान के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। साथ ही एथेन्स-निवासी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था। इसलिए व्यक्तित्व का विकास व्यक्ति के लिए होता था और उसका राज्य के प्रति वह उत्तरदायित्व नहीं था जो कि स्पार्टा में पाया जाता है। एक ओर जहाँ व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएँ थीं, दूसरी ओर उन्हें किसी प्रकार की आर्थिक कठिनाई का भी सामना नहीं करना पड़ता था। प्राचीन एथेन्स में खेती और व्यवसाय का काफी प्रसार हो गया था।

जहाँ तक एथेन्स के समाज का महत्त्व है, उसके लिए दो व्यक्तियों को श्रेय दिया जाता है। इनमें से एक व्यक्ति सोलन था। सोलन ने एथेन्स की सभ्यता और संस्कृति के विकास और प्रसार की ओर पर्याप्त ध्यान दिया और यह सत्य है कि यदि सोलन न

होता तो शायद एथेन्स के समाज से बर्बरता जा भी न पाती। इसी लिए यह कहा जाता है कि सोलन ने एथेन्स को 'शिक्षित' बनाया।

महात्मा सोलन का कार्य—सोलन को जब एथेन्स की उन्नति का कार्य सौंपा गया तो उस समय वह अधेड़ व्यक्ति था। युवाकाल में सोलन व्यापार करता था और व्यापार के सम्बन्ध में भूमध्य सागर के प्रदेशों में खूब घूमा भी था। इसलिए सोलन को अधिक अनुभव था। व्यापार छोड़ने के बाद सोलन कविता करने लगा और उसकी कविता का साधारण जनता में बड़ा प्रचार था। उसमें दया, देशभक्ति और जन-साधारण की भावनाओं को समझने की शक्ति थी। दूसरे शब्दों में हम सोलन को प्राचीन एथेन्स का गाँधी कह सकते हैं। गाँधी जी की भाँति सोलन को भी महात्मा की उपाधि प्राप्त थी। अतः सर्वमान्य लोकप्रिय महात्मा सोलन ने एथेन्स के सुधार के लिए सबसे पहले किसानों और खेतिहरों के शोषण का अंत किया। सोलन ने उनके जीवन को सुखी बनाने के लिए सबसे पहले उन्हें ऋण-मुक्त बनाया। इस प्रकार सोलन की पहली आज्ञा से खेतिहर वर्ग ऋण-मुक्त बना और उसके जीवन में आशा का संचार हुआ।

उस समय ऋण चुकाने के लिए बालकों और पत्नी देने की भी प्रथा थी। इस कारण पारिवारिक सुख का अभाव था। लेकिन जब सोलन ने सभी को ऋण-मुक्त कर दिया तो परिवार संगठित होने लगा और लोग सुखी होने लगे। सोलन ने अनेक कार्य किये, उनका सम्पूर्ण वर्णन यहाँ संभव नहीं है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सोलन ने एथेन्स के लोगों को आशा दी, उन्हें यह बताया कि इस जीवन में सुख संभव है और इसके लिए प्रयास करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

वास्तव में सोलन ने एथेन्स के लोगों को एक जीवन-दर्शन दिया। इस प्रकार सोलन ने एथेन्स के व्यक्ति को वे अवसर प्रदान किये जिसमें कि उन्नति संभव थी। श्री टी० आर० ग्लोवर ने अपनी पुस्तक 'ऐन्शेंट वर्ल्ड' में सोलन के कार्यों के सम्बन्ध लिखा है— सोलन के कार्यों संक्षेप रूप यह था कि उसने व्यक्तित्व के महत्त्व को समझा और व्यक्ति को इस प्रकार स्वतंत्र किया जो कि उसके लिए एक नवीनता थी; उसने नई परिस्थितियों के अनुकूल विधान में परिवर्तन किया, और उस शक्ति का विकास किया जिससे एथेन्स में महान् दार्शनिक और कवि उत्पन्न हुए। दर्शन, काव्य और कला का एक व्यक्तिगत स्तर होता है। इसके लिए व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है। सोलन ने इसे अनुभव किया और इसका पूर्ण प्रबन्ध किया।*

शिक्षा का संगठन—इस प्रकार हम देखते हैं कि एथेन्स और स्पार्टा के समाज में एक मौलिक अंतर था और इसी भेद के कारण एथेन्स की शिक्षा स्पार्टा से भिन्न थी। इस भेद की दृष्टि एथेन्स की शिक्षा के संगठन पर भी पड़ी। सोलन ने माता-पिता के ऊपर बालक की शिक्षा का भार रखा। उसने यह नियम बना दिया कि जो माता-पिता बालक की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं करते, वे वृद्धावस्था में अपने पुत्र से किसी भी प्रकार की आशा नहीं रख सकते। यह बहुत बड़ी बात थी और इसका प्रभाव एथेन्स के समाज पर पड़ा। सभी माता-पिता अपनी-अपनी संतानों की शिक्षा की ओर ध्यान देने लगे।

शिक्षा के लिए शिक्षालय राज्य की ओर से नहीं होते थे। इसलिए शिक्षालयों का संचालन समाज द्वारा होता था। चूँकि

* The Ancient World by T. R. Glover. Page 65.

शिक्षा का उत्तरदायित्व समाज पर था इसलिए समाज शिक्षालयों की पूरी देख-भाल करता था और सरकार को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। हाँ, उस शिक्षा द्वारा उद्देश्य की पूर्ति की ओर राज्य अवश्य ध्यान देता था। एथेन्स का शासन यह चाहता था कि बालकों को संगीत और व्यायाम की शिक्षा भली भाँति दी जाय और इस शिक्षा की जाँच शासन द्वारा परोक्ष रूप में हो जाती थी।

बालक के प्रथम सात वर्ष—शिक्षा के संगठन की दृष्टि से एथेन्स के बालक को भी स्पार्टा के बालक की भाँति अपने घर पर ही व्यतीत करना होता था। अंतर केवल इतना था कि जहाँ स्पार्टा में बालक की शिक्षा का उत्तरदायित्व माताओं पर था, वहीं एथेन्स में यह कार्य दासियों और दाइयों पर छोड़ दिया जाता था। माता द्वारा देख-रेख न होने से शिक्षा स्पार्टा की भाँति न हो पाती थी। दूसरे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महत्त्व के कारण, बालक को अपने से भी विकास करने का अवसर दिया जाता था। इस प्रकार बालक के प्रथम सात वर्ष घर पर ही शिक्षा प्राप्त करने में व्यतीत होते थे। जिन बालकों के माता-पिता गरीब होते और शिक्षा का खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकते थे, उन्हें घर पर नौ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करना पड़ता था।

आठ से सोलह वर्ष तक—सात वर्ष के बाद एथेन्स का बालक एक शिक्षक के सुपुर्द कर दिया जाता था। यह शिक्षक या तो दास होता था या नौकर। साधारणतः जो लोग वृद्ध होते थे अथवा अन्य किन्हीं कारणों से दूसरा काम नहीं कर सकते थे, उन्हीं को इस कार्य के लिए रखा जाता था। इस प्रकार जो शिक्षक रखे जाते थे, उनका प्रधान कार्य बालक की देखभाल और नैतिक विकास का था। बालक जहाँ-जहाँ जाता था, उसका

शिक्षक उसके साथ होता था। इस काल में बालक दो प्रकार के शिक्षालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाता था। एक तो संगीत विद्यालय होता था और दूसरा व्यायाम-विद्यालय। सात वर्ष के बाद का बालक संगीत और व्यायाम की शिक्षा भलीभाँति प्राप्त करता था। इसके अतिरिक्त वह लिखना-पढ़ना भी सीखता था। पढ़ने के लिए उसे प्रसिद्ध कवियों की कवितायें दी जाती थीं। बालक इन कविताओं को गाता भी था। इस प्रकार कविता के साथ संगीत का भी सम्बन्ध होता था। यह कार्य आठ से सोलह वर्ष की अवस्था तक होता था।

सत्रह से अठारह वर्ष तक—सोलह वर्ष के बाद एथेन्स का तरुण किसी शिक्षक के अंतर्गत नहीं होता था। उसे किसी प्रकार की साहित्यिक अथवा संगीत की शिक्षा भी प्राप्त नहीं करना पड़ता था क्योंकि नौ वर्षों तक उसने इन विषयों का अध्ययन किया था। इसलिए इस अवधि में एथेन्स का तरुण व्यायाम-शाला में जाता था और वहाँ पर अपने से बड़ों और समवयस्कों से मिलता था। ऐसा करने से उसे विचारों के आदान-प्रदान का अवसर मिलता था। इन अवसरों को हम तरुण को प्राप्त स्वतंत्रता का भाग कह सकते हैं क्योंकि एथेन्स में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बड़ा बल दिया जाता था। पर साथ ही तरुण के चाल-चलन की देख-भाल करने के लिए भी नगर-राज्य की ओर से प्रबन्ध होता था। इस प्रकार तरुण अपनी सीमा के भीतर स्वतंत्र होते हुए नैतिक दृष्टि से बँधा था।

शारीरिक-विकास के लिए तरुण को व्यायामशाला में जाना पड़ता था। तरुणों की दो सुन्दर व्यायामशालायें नगर-राज्य की सीमा से बाहर बनी हुई थीं। एथेन्स में शुद्ध एथेन्स-निवासी तथा अन्य लोगों में भेद-भाव था। इसलिए दो व्यायामशालायें

थीं। जिस व्यायामशाला में शुद्ध एथेनी तरुण जाते थे उसे एकेडेमी कहते थे और जिसमें अन्य तरुण जाते थे, उसे सिनोसर्गीज़ (Cynosarges) कहते थे। इन व्यायामशालाओं में तरुण दो वर्षों की अवधि में प्रौढ़ विद्वानों से विचार-विनिमय करके अपना ज्ञान बढ़ाते थे। उनके इस विचार-विनिमय के क्षेत्र में समाज, राजनीति, दर्शन तथा अन्य विषय भी आ जाते थे। लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अभिजात वर्ग के तरुणों को ही पूर्ण-शिक्षा दी जाती और नागरिकता के लिए तैयार किया जाता था। इस प्रकार एथेन्स का अभिजात वर्ग शासन-सूत्र को अपने हाथ में रखने का प्रयत्न करता था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जिस वर्ग का शासन होता है, शिक्षा भी उसी वर्ग के हितों की रक्षा के निमित्त दी जाती है। यदि प्राचीन शिक्षा के क्षेत्र में वर्ग-प्रभाव देखना हो तो हमें एथेन्स की शिक्षा का इतिहास पढ़ना चाहिए और साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि उस समय एथेन्स प्रगतिशील माना जाता था।

अठारह वर्ष के बाद—अठारह वर्ष की अवस्था तक युवक बड़े लोगों से बाजार, मार्ग, न्यायालय, नाट्यगृह, तथा अन्य स्थानों में मिल कर बात-चीत करता था और अपने को नागरिकता के योग्य बनाता था। अठारह वर्ष के बाद उसे, यदि किसी प्रकार का शारीरिक अथवा नैतिक दोष न होता, नागरिकता का अधिकार दिया जाता था। इस अधिकार को प्राप्त कर लेने पर एथेन्स का युवक पूर्ण नागरिक बन जाता और नगर-सभा में बैठता था। उस समय एथेन्स के नागरिकों की पोशाक भी एक विशेष प्रकार की होती थी। जब कोई नागरिक बनता था तो उसे नागरिक की पोशाक धारण करना पड़ता था।

इस प्रकार एथेन्स में पोशाक की भिन्नता के कारण नागरिक पहिचान लिए जाते थे।

जिस प्रकार स्पार्टा के युवक को 'कडेट' बनकर सैनिक दक्षता प्राप्त करना पड़ता था, उसी प्रकार एथेन्स युवक भी सैनिक दक्षता नागरिक बन जाने के बाद प्राप्त करता था। लेकिन जहाँ स्पार्टा में इसके लिए दस वर्ष दिये जाते थे, वहीं एथेन्स में दो वर्ष। इसका कारण यह था कि स्पार्टा में राज्य का मूल उद्देश्य सैनिक शक्ति बढ़ाना था लेकिन एथेन्स में सभ्यता और संस्कृति को मूल स्थान दिया गया और सैनिक शक्ति को संस्कृति की रक्षा का साधन समझा गया। इस भेद के कारण सैनिक-दक्षता के काल में अंतर दिखाई पड़ता है।

सैनिक दक्षता की तैयारी—सैनिक दक्षता के लिए जो दो वर्ष एथेन्स का नया नागरिक देता था, उसमें से एक वर्ष उसे कठिन सैनिक अभ्यास में बिताना पड़ता था। बैरेक या कैम्प में रहकर सैनिक-जीवन की सभी कठिनाइयों को अनुभव करना, हथियार चलाना तथा युद्ध का अभ्यास करना प्रथम वर्ष के प्रधान कार्य थे। दूसरे वर्ष में सैनिक कार्य का प्रसार होता था। अब उन्हें नगर से दूर के प्रदेशों में जाकर रहना और भौगोलिक ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। एथेन्स के प्रदेश की रक्षा के लिए सैनिकों को भौगोलिक बातें जानना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त एथेन्स का नया नागरिक अपने को सभी अवसरों के, चाहे वे सांस्कृतिक हों या सैनिक, अनुकूल बनाता था और इसकी परीक्षा भी राज्य की ओर से होती थी। इसका कारण यह था कि राज्य नागरिकों को पूर्ण स्वतंत्रता देने के साथ साथ उन पर परोक्ष रूप से समाज के हित में नियंत्रण भी रखता था। साथ ही एथेन्स में विभिन्न कार्यों की इतनी अधिकता थी कि सभी नागरिकों को

स्वेच्छापूर्वक उसमें भाग लेना स्वाभाविक था। एथेन्स की शिक्षा का संगठन इन विभिन्न कार्यों के अनुकूल किया गया था। इस प्रकार शिक्षा और समाज में पूर्ण सम्पर्क और सहयोग संभव था।

एथेन्स की शिक्षा के उद्देश्य—एथेन्स की शिक्षा का संगठन किन उद्दश्यों को लेकर हुआ था, इस प्रश्न का उत्तर हमें संगठन की रूप-रेखा से ही ज्ञात हो जाता है। एथेन्स की शिक्षा का प्रथम उद्देश्य था व्यक्तित्व का विकास करना। इसकी व्यवस्था सोलन ने ही कर दी थी। इसलिए व्यक्ति की शिक्षा का उद्देश्य भी उसे स्वतंत्रता प्रदान करना था। एक स्वतंत्र वातावरण में बालक का विकास हो यह प्रथम उद्देश्य था।

एथेन्स की शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था कुशल नागरिक बनाना। इसके लिए शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास की व्यवस्था की गई, क्योंकि वह व्यक्ति कुशल और सफल नागरिक नहीं बन सकता जिसका शरीर रोग ग्रस्त हो, जिसकी भावनाओं और प्रवृत्तियों का उन्नयन न हुआ हो और जो विचार-विनिमय न कर सकता हो। इसलिए कुशल नागरिकता की ओर सभी दृष्टियों से ध्यान देना शिक्षा का दूसरा प्रधान उद्देश्य था।

एथेन्स की शिक्षा के विषय—शिक्षा के विषय भी उद्देश्यों के अनुरूप होते थे। शारीरिक विकास के लिए खेल-कूद और व्यायाम का विषय था। मानसिक विकास के लिए संगीत और काव्य की व्यवस्था थी। काव्य का सम्बन्ध देश के इतिहास और भूगोल से भी होता था। अतः जब बालक किसी प्रसिद्ध काव्य का अध्ययन करता था तो उसे केवल काव्यसौन्दर्य का ही बोध नहीं होता था, वरन् उसका ध्यान कविता में वर्णित घटनाओं और प्रदेशों की ओर भी जाता था। इस प्रकार वह

अपने वीर योद्धाओं, देशभक्तों और नेताओं आदि से भी परिचित हो जाता था।

आरम्भ से लेकर सात वर्ष तक की शिक्षा के विषय अच्छी आदतें थीं। बालक को किस प्रकार चलना, उठना-बैठना चाहिए, और साथ ही कौन से कार्य अच्छे हैं और कौन से बुरे, इन सब बातों की शिक्षा प्रधान थी। सात वर्ष के बाद आठवें वर्ष से बालक की शिक्षा के विषय थे लिखना-पढ़ना; व्याकरण का अध्ययन, खेल-कूद, व्यायाम, संगीत और काव्य। उसे होमर, हेसिओड और ईसप की रचनाओं को पढ़ना पड़ता था। संगीत की ओर भी वह विशेष ध्यान देना था। शरीर के सौन्दर्य के लिए व्यायाम भी अत्यन्त आवश्यक था। इसलिए आठ वर्ष से सोलह वर्ष की शिक्षा में इन सभी विषयों का समावेश हुआ था।

सोलह वर्ष के बाद शिक्षा के विषय सैनिक कुशलता से सम्बन्धित थे। अठारह वर्ष की अवस्था तक युवक को उन सभी बातों को सीखना पड़ता था जो कि उसे योग्य सैनिक बनाने के लिए आवश्यक थे। अठारह वर्ष के बाद की शिक्षा व्यावहारिक थी। उसे व्यवहार द्वारा कुशल नागरिकता का अभ्यास करना पड़ता था।

एथेन्स की शिक्षण-पद्धति—शिक्षा के विषयों के बाद शिक्षण-पद्धति पर दृष्टि जाती है। इस दृष्टि से जब हम एथेन्स की शिक्षा को देखते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि वहाँ ऐसी शिक्षण-पद्धति की प्रधानता थी जिसमें 'करके सीखना' होता था। करके सीखने के लिए बालकों के सामने ऐसे अवसर उपस्थित किये जाते थे जो उनकी रुचि के अनुकूल थे। रुचि के

अनुकूल अवसर प्रस्तुत करने के लिए ऐसे विषयों को नहीं लिया जाता था जो कि निर्जीव हो। तात्पर्य यह है कि शिक्षण-पद्धति में जीवन लाने का प्रयास किया जाता था।

एथेन्स की शिक्षण-पद्धति की दूसरी विशेषता यह थी कि अध्यापक स्वयं आदर्श उपस्थित करता था। अध्यापक जिन बातों की आशा विद्यार्थियों से करता था, वे सभी बातें उसमें होती थी। इस प्रकार विद्यार्थियों के सामने एक जीवित उदाहरण होता था और वे अपने को उसी के अनुरूप बनाने का प्रयास करते थे। इस प्रयास में वे सभी क्रियायें सम्मिलित थीं जिनसे कि अनुभव प्राप्त होता था। कोई विद्यार्थी दूसरे के अनुभव पर अपना ज्ञान आधारित नहीं करता था वरन् वह उस अनुभव को स्वयं ग्रहण करता था। शिक्षा में अनुभव का सिद्धान्त कितना महत्त्वपूर्ण है, यह आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान सिद्ध कर चुका है। हमें यह देखकर हर्ष होता है कि प्राचीन यूनानी शिक्षा में करके सीखना और अनुभव प्राप्त करना शिक्षण-पद्धति के आवश्यक अंग थे। इसी तथ्य के आधार पर प्राचीन यूनान की दार्शनिक धारा का प्रवाह होता है। आजकल बेसिक शिक्षा में, जिसके जन्मदाता हमारे राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी थे, करके सीखने और अनुभव प्राप्त करने पर बल दिया जाता है। यह देख कर कभी यह विचार आ सकता है कि क्या हम प्राचीन युग में जा रहे हैं? बात प्राचीन युग में जाने की नहीं है। सच तो यह है कि प्रत्येक युग की एक देन होती है। वह देन सभी देश, काल और समाज के कल्याण के लिए होती है। यूनानी शिक्षा में 'करके सीखने का' सिद्धान्त एक ऐसी ही देन है जिसे कि हम आज काम में ला रहे हैं और शिक्षा के इतिहास में भी हम यह देखेंगे कि किस प्रकार इस सिद्धान्त को

समय समय पर छोड़ा और अपनाया गया।

शिक्षा-पद्धति में शिक्षक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से शिक्षक में चरित्र का होना आवश्यक था और साथ ही विद्यार्थियों के लिए वह एक मित्र, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक भी होता था। यह भी एक ऐसी बात है जिसे शिक्षा के इतिहास में समय-समय पर भुला दिया गया और फलस्वरूप शिक्षा का रूप तथा समाज भी बदला। अब हम प्राचीन यूनानी-शिक्षा का समाज पर प्रभाव देखेंगे जिससे कि हम शिक्षा की देन को समझ सकें।

समाज पर प्रभाव – यूनानी प्राचीन शिक्षा की दूसरी धारा जो एथेन्स में विकसित हुई, उसका यदि तत्कालीन समाज पर प्रभाव देखें तो हमें ज्ञात होगा कि व्यक्ति का विकास इस प्रकार किया गया कि वह समाज के हित में सहायक हो। जिस प्रकार स्पार्टा में व्यक्ति पूर्ण रूप से समाज के लिए होता था, उस प्रकार की व्यवस्था एथेन्स में न थी। एथेन्स के लोग व्यक्ति और समाज का विकास समान रूप से चाहते थे और दोनों की ओर समान रूप से ध्यान देते थे। यही कारण था कि एथेन्स में दर्शन, विज्ञान और कला आदि के विकास और प्रसार के लिए समुचित वातावरण मिला।

यूनानी शिक्षा के प्राचीन काल की दो धाराओं से परिचित हो जाने के पश्चात् हम प्राचीन यूनानी शिक्षा की विशेषताओं को स्पष्ट कर सकते हैं। इन विशेषताओं के सम्बन्ध में साधारण रूप से कहा जा सकता है कि राज्य की रक्षा का प्रश्न प्रधान था। अतः शिक्षा भी राज्य के लिए योग्य सैनिक तैयार करने के लिए प्रदान की जाती थी। व्यक्ति के विकास के पीछे भी यही भावना

थी। जहाँ नैतिकता का प्रश्न था, वह परिस्थितियों पर आधारित थी। अपने देश के हित में जो बात हो वह नैतिक है, साधारणतः नैतिकता का यही अर्थ था। प्राचीन यूनानी समाज विकास के पथ पर था। इसलिए हम उसमें वह मानसिक और बौद्धिक श्रेष्ठता नहीं पाते जो कि नवीन यूनान में मिलती है। यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जायगा जब कि हम नवीन यूनानी शिक्षा पर विचार करेंगे। नवीन यूनानी शिक्षा एथेन्स की शिक्षा का विकसित रूप है क्योंकि नवीन यूनान का केन्द्र एथेन्स रहा है।

नवीन यूनानी शिक्षा

नवीन यूनानः पेरीक्लीज़ युग—नवीन यूनानी शिक्षा को समझने के लिए नवीन यूनान से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। प्राचीन यूनान, जो कि सोलन के विधान के फलस्वरूप फूला-फला था, नवीन यूनान की भूमिका तैयार कर सका। नवीन यूनान जो कि इतिहास में स्वर्णयुग का यूनान है, सभी दृष्टियों से उन्नति और गौरव के शिखर पर था। इस उन्नति और गौरव का श्रेय पेरीक्लीज़ को था, क्योंकि जिस प्रकार प्राचीन यूनान सोलन की देन था उसी प्रकार नवीन यूनान पेरीक्लीज़ की। इसीलिए यूनान के नवीन युग को पेरीक्लीज़ युग भी कहते हैं। पेरीक्लीज़ युग ईसा से ४५९—४३१ वष पूर्व माना जाता है। इस युग की क्या विशेषता थी, इसे पेरीक्लीज़, के एक प्रसिद्ध भाषण के उद्धरण से जाना जा सकता है। पेरीक्लीज़ ने एक आदर्श नगर के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट किये हैं जो इस प्रकार हैं:—

पेरीक्लीज़ के अनुसार नवीन यूनान—'सर्व प्रथम आदर्श नगर एक स्वतंत्र नगर है और इसका शासन जनता के लिए जनता द्वारा होता है। यह एक लोकतंत्र है। इसलिए शासन बहुजन द्वारा होता है, अल्पजन द्वारा नहीं। हमारा विधान सबके लिए समान रूप से न्याय की व्यवस्था करता है। ग़रीबी किसी की उन्नति में बाधा नहीं बन सकती। सबको अपनी योग्यता के अनुसार राज्य की सेवा करने का अधिकार है। हम योग्यता का सर्वत्र आदर करते हैं। हम अपनी इच्छानुसार कार्य

करते हैं और हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि हमारे पड़ोसी भी अपनी इच्छानुसार कार्य कर रहे हैं। हमारे सामाजिक जीवन में श्रद्धा की भावना होती है और हम शासन तथा विधान को आदर की दृष्टि से देखते हैं, विशेषकर उस विधान को जो दुखियों, पीड़ितों की रक्षार्थ है। हम उन अलिखित नियमों का भी पालन करते हैं जिनके टूटने पर मनुष्य शर्म में डूब जाता है।

नवीन यूनान का मनुष्य—'हमारे यहाँ उत्सवों और खेल-कूद की व्यवस्था है। हमारा गार्हस्थ्य जीवन परिष्कृत है। हमारे दैनिक जीवन की खुशी उदासी को दूर करती है। हमारा नगर (एथेन्स) विशाल और विस्तृत है और संसार के सारे सुख हमारे लिए उपलब्ध हैं। हम विदेशियों को भगाते नहीं। कोई भी विदेशी अपनी इच्छानुसार आ सकता है और जा सकता है। यहाँ रहकर जितना ही वह सीखता है, उतना ही अच्छा होता है क्योंकि हमारा नगर युद्धकाल और शांतिकाल में एक-सा रहता है। एक शब्द में हमारा नगर आदर्श नगर है। यह सभी यूनानियों के लिए शिक्षा के समान है। देखिए उस मनुष्य को जिसे हम तैयार करते हैं। हम युवकों के साथ निर्दयता का व्यवहार शारीरिक विकास के लिए नहीं करते। हम उनका सर्वांगीण विकास करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि उनमें सौंदर्य का प्रेम हो लेकिन साथ ही उनकी रुचि सरल हो। हम उनके मस्तिष्क का विकास बिना उनके मनुष्यत्व (manliness) को हानि के करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य सामाजिक कार्यों में अभिरुचि रखे और यदि उसकी अभिरुचि सामाजिक कार्यों में नहीं है तो उसे हम बेकार समझते हैं। हम इस बात की आशा करते हैं कि उसका विकास इस प्रकार होगा कि वह जाति के हित में उचित-अनुचित का निर्णय कर सके। हम उससे यह

आशा करते हैं कि वह यूनान में होनेवाले सभी कार्यों में दिलचस्पी रखे जिससे कि उसे दुनिया की सभी बातों का ज्ञान हो और वह अपने देश की सेवा के निमित्त सही कदम उठा सके।

यूनान का शिक्षालय एथेन्स—'कुछ लोगों का विचार है कि मनुष्य में अज्ञान के कारण साहस होता है और जब वे विचार करने लगते हैं, तब उनमें हिचकिचाहट पैदा हो जाती है। हम इससे सहमत नहीं हैं। हमारे विचार से वही मनुष्य वीर है जो जीवन के सुख और दुख को स्पष्ट रूप से समझता है, जो संकट को समझ कर खतरा उठाता है। संक्षेप में मैं एथेन्स को यूनान का शिक्षालय समझता हूँ और मैं यह जोर देकर कहता हूँ कि आप को एथेन्स से प्रेम होना चाहिए।'

'प्रेम' शब्द को पेरीक्लीज ने बहुत बल देकर कहा था। इसका अर्थ यह था कि एथेन्स के लिए हमें जीना और मरना है।

ऊपर पेरीक्लीज के प्रसिद्ध भाषण के प्रधान अंशों का छायानुवाद दिया गया है। इसे पढ़कर हम नवीन यूनान का एक काल्पनिक चित्र बना सकते हैं। लेकिन जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात पेरीक्लीज ने कही वह थी एथेन्स के सम्बन्ध में। पेरीक्लीज ने एथेन्स को यूनान का शिक्षालय कहा। इसके पूर्व भाषण के आरम्भ में पेरीक्लीज ने यह भी कहा था कि एथेन्स सारे यूनानियों की शिक्षा है। पेरीक्लीज के ये दोनों कथन शिक्षा और समाज के सम्बन्ध की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसने एथेन्स नगर-राज्य की व्यवस्था इस प्रकार की और ऐसे विधान बनाये कि यूनानी नागरिक जीवन-पर्यन्त शिक्षा ग्रहण करता था। इतना ही नहीं वह भावी नागरिकों के लिए आदर्श स्वरूप होता था। यही कारण था कि यूनान में एक नवीन युग आया और एक नया समाज बना।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—पेरीक्लीज़ के इस कथन के पश्चात् नवीन यूनान की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि इस ज्ञान के आधार पर नवीन यूनानी शिक्षा को हम स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। इसके लिए हम पहले यूनान की राजनीतिक परिस्थितियों को लेते हैं क्योंकि इनका प्रभाव यूनान पर बहुत पड़ा है।

नवीन यूनान के पूर्व छठी शताब्दी में किलीस्थीनीज़ ने सोलन के विधान में परिवर्त्तन किया। इस परिवर्त्तन के फलस्वरूप नागरिक अधिकार बहुजन के हाथ में आ गया और इसके साथ ही उनके लिए उन्नति का द्वार भी खुल गया। इस प्रकार नवीन यूनान का जन्म हुआ और उसमें इतनी शक्ति आ गई कि उसने फारस के आक्रमणकारियों को युद्ध में हरा दिया। यह युद्ध केवल एक वर्ष तक (५००—४७९ ई० पू०) हुआ था। इसके बाद यूनान में लोकतन्त्र के विकास के लिए उपयुक्त अवसर आया। इसी समय वाणिज्य और व्यवसाय की भी प्रगति हुई। सभी वर्गों को उन्नति का अवसर मिलने लगा और नवीन यूनान में समृद्धि का प्रसार हुआ। ऐसे अवसरों पर दूसरे देश आक्रमण करने की सोचते हैं। लूट का माल पाने के लिए फारस ने फिर आक्रमण किया। इस आक्रमण का सामना एथेन्स के नेतृत्व में हुआ। सामना करने के लिए एथेन्स ने अन्य नगर-राज्यों को एक संस्था में सम्मिलित किया। इस संस्था का नाम डिलियन लीग रखा गया। इस बार फिर एथेन्स की विजय हुई। इस विजय ने नवीन यूनान को राजनीतिक महत्त्व प्रदान किया। इसे स्पार्टा कब देख सकता था? अतः एथेन्स और स्पार्टा में भी युद्ध हुआ। इस युद्ध का भयानक परिणाम हुआ। एथेन्स का राजनीतिक महत्त्व छिन गया और स्पार्टा

अपनी सैनिक शक्ति के बल से यूनान का सर्वश्रेष्ठ राज्य बन गया। इस सम्बन्ध में पुस्तक के आरम्भ में यूनान की 'सांस्कृतिक भूमिका' के अध्याय में लिखा गया है। अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है।

सामाजिक परिस्थितियाँ—राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव समाज पर पड़ता है। फारस के साथ युद्ध की समस्या ने यूनान के नगर-राज्यों में एकता स्थापित की। यह यूनान के इतिहास की अभूतपूर्व घटना थी। अतः इस एकता से युद्ध में विजय तो हुई ही, पर साथ ही आपसी सम्बन्ध में भी प्रगाढ़ता आई। अब एथेन्स यूनान के नगर-राज्यों की सांस्कृतिक राजधानी बन गया। व्यापार की दृष्टि से भी एथेन्स का विकास हुआ। एथेन्स में ऐसे लोगों को बसने के लिए प्रोत्साहन दिया गया जो कला-कौशल जानते थे। युद्ध से बचे जहाज़ों को व्यापार में लगाया, उसके कारण एथेन्स की आर्थिक दशा में सुधार हुआ। इस प्रकार वाणिज्य और व्यवसाय की बड़ी उन्नति हुई। इसका प्रभाव समाज पर भी पड़ा। अब एथेन्स के समाज में विदेशियों का भी स्वागत होने लगा क्योंकि वाणिज्य और व्यवसाय के सिलसिले में बाहर से लोग आते थे और साथ ही वे एथेन्स के सांस्कृतिक जीवन में भाग भी लेते थे। ऐसी दशा में एथेन्स में विदेशी विद्वान् भी आने लगे और इन विद्वानों ने एथेन्स में शिक्षण कार्य शुरू किया। एथेन्स निवासियों ने विदेशी शिक्षकों को 'सोफिस्ट' की उपाधि दी। नवीन यूनान के समाज पर सोफिस्टों का बड़ा प्रभाव पड़ा है और इसे हम विशेष रूप से शिक्षा के क्षेत्र में देख सकते हैं। इन सोफिस्टों का वर्णन शिक्षा-संगठन के समय किया जायगा।

सांस्कृतिक जीवन—नवीन यूनान को सांस्कृतिक नवीनता

भी उल्लेखनीय है। इस काल के साहित्य में ऐसी समस्याओं का भी समाधान किया गया जो मनुष्य के जीवन में सुख-दुख का कारण बनती हैं। उदाहरण के लिए एक नाटक में यह समस्या उपस्थित की गई कि विजय का मूल्य क्या है? जब जीवन में सभी चीजें ग़लत हो जाती हैं, तब सही क्या है? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देते समय कवि ने कहा—जब सभी चीजें ग़लत हो रही हों, तब जीवन की सबसे बड़ी वस्तु 'मन की जीत' होती है। जब तक मन नहीं हारता, मनुष्य नहीं हारता। हमारे एक प्रसिद्ध कवि ने भी ठीक ही कहा है—मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। अतः हम देखते हैं कि नवीन यूनान के साहित्य में आशा की गुंजार है और मनुष्य एक नये उत्साह से उठता है और आगे बढ़ता है।

यूनानी नाटकों में ट्रेजेडी की प्रधानता थी। उस समय के नाटककार ऐसे नाटक लिखते थे जिसमें शुभ द्वारा शुभ (good against good) का विरोध होता था। शुभ का विरोध अशुभ से होना स्वाभाविक है। लेकिन जब शुभ का विरोध शुभ द्वारा होता है तो वास्तव में दुःखान्त नाटक की रचना होती है। यूनानी नाटककारों ने ट्रेजेडी की रचना कर मनुष्य का ध्यान महान् समस्याओं की ओर आकर्षित किया।

लेकिन जब शांतिकाल आ गया और यूनानी समाज पर किसी संकट की संभावना न रही तो व्यक्ति में समाज के हित की भावना कम हो चली। अब एथेन्स में व्यक्तिवाद का उदय हुआ। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा को कर्त्तव्य से ऊँचा मानने लगा। इसके फलस्वरूप सुखान्त नाटकों की रचना हुई। दुःखान्त नाटकों में जहाँ देव पात्रों का वर्णन होता था, अब वहाँ सुखान्त नाटकों में मनुष्य की इच्छाओं और क्रियाओं का चित्रण होने लगा।

इसका प्रभाव यूनानी परम्परा पर भी पड़ा। प्राचीन संस्कृति के स्थान पर एक नयी संस्कृति का विकास हुआ जो व्यक्तिवादी थी। इस व्यक्तिवादी संस्कृति में न तो नैतिकता के प्रति निष्ठा ही रही और न कर्त्तव्य की भावना ही। व्यक्ति की इच्छा और व्यक्ति का स्वार्थ प्रबल हो गया। इस प्रकार प्राचीन यूनानी संस्कृति के सभी बंधन तोड़ दिये गये और एक नई व्यक्तिवादी, स्वच्छंद संस्कृति का विकास हुआ। इस परिस्थिति को देखकर सुकरात और प्लैटो को बड़ा दुःख हुआ था। इसलिए सुकरात ने कहा था, "वीर और सुंदर युवावस्था का उत्साह हमारे नगर से चला गया······जो अच्छी आदतों का केवल तिरस्कार ही नहीं करता वरन् उपहास भी करता है, वह शरीर के विकास की ओर कैसे ध्यान देगा ?" इसी सम्बन्ध में प्लैटो ने भी कहा था कि यदि आप किसी एथेन्सवासी से पूछें कि गुण अर्जित है या स्वाभाविक तो वह उपहास करेगा और कहेगा मैं तो जानता ही नहीं कि गुण क्या है ?

सुकरात और प्लैटो के ये कथन नवीन यूनान के सांस्कृतिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। अतः हम कल्पना कर सकते हैं कि जब समाज की यह दशा हो चली तो उसका प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ना स्वाभाविक था। फलतः नवीन यूनानी शिक्षा के उद्देश्य, पद्धति, संगठन आदि में परिवर्त्तन हुआ। इस परिवर्त्तन में सोफिस्टों ने भी बड़ा कार्य किया। अतः अब हमें सोफिस्टों के विषय में भी जान लेना चाहिए क्योंकि इन्हीं के आधार पर नवीन यूनानी शिक्षा का विकास हुआ।

सोफिस्ट शिक्षक—सामाजिक परिवर्त्तन और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति ने ऐसे शिक्षकों की माँग की जो कि प्रत्येक यूनानी को वैयक्तिक स्वार्थों और हितों के योग्य बनाते। प्राचीन एथेन्स

की शिक्षा में व्यक्ति और समाज में एक संतुलन-सा था। लेकिन अब व्यक्ति की प्रधानता थी। इसलिए शिक्षा भी केवल व्यक्ति की उन्नति की दृष्टि से होने लगी। इस प्रकार की व्यक्तिवादी शिक्षा के लिए नये ढंग के शिक्षकों की आवश्यकता हुई। ये नये शिक्षक सोफिस्ट कहे जाते थे।

'सोफिस्ट' शब्द के अर्थ होते हैं—ऐसा विचारक जो झूठ को तर्क द्वारा सच कहता है। इस प्रकार सोफिस्टों द्वारा यूनान में एक ऐसी तर्क प्रणाली का विकास हुआ जो सच को झूठ और झूठ को सच बना सकता था। व्यक्तिवाद में ऐसे तर्क की बड़ी आवश्यकता होती है। फलतः सोफिस्टों का नवीन यूनानी शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया। उन्होंने जिस प्रकार की शिक्षा दी उसके उद्देश्यादि पर भी विचार करना उचित होगा।

सोफिस्ट शिक्षा का उद्देश्य—सोफिस्ट शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था व्यक्तिवाद का विकास करना। अतः वे व्यक्ति के हित को समाज के हित से बढ़कर मानते थे। तात्कालिक सुख प्राप्त करने के लिए व्यक्ति के ऊपर कोई नैतिक बंधन न था। उसकी नैतिकता तात्कालिक सुख प्राप्त करने पर ही निर्भर थी। इस प्रकार प्राचीन यूनान में बनी नैतिक धारणा में परिवर्त्तन करना भी सोफिस्ट शिक्षा का उद्देश्य था। संक्षेप में सोफिस्ट शिक्षा का उद्देश्य था—(१) व्यक्ति अपने को समाज से बढ़कर माने। (२) नैतिकता का विचार तात्कालिक सुख की दृष्टि से करे और (३) सांसारिक सुख को सर्वश्रेष्ठ सुख माने।

सोफिस्ट शिक्षा के विषय—उद्देश्य के अनुरूप सोफिस्ट शिक्षा में ऐसे विषयों को स्थान दिया गया जो कि व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का विकास करते थे। उदाहरण के लिए अब उन्हें ऐसे साहित्य और काव्य का अध्ययन करना पड़ता था जो व्यक्ति के

हित को समाज के हित से बढ़कर बताते थे। संगीत, गणित, विज्ञान और अर्थशास्त्र आदि विषयों की शिक्षा भी इस रूप में दी जाने लगी कि आपस में सहयोग के स्थान पर व्यक्ति के स्वार्थ की प्रधानता हो गई। फलतः अब प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा के विषयों का अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए अध्ययन करने लगा। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षा का कोई विषय अपने में भला-बुरा नहीं है, वरन् उसकी अच्छाई या बुराई अध्ययन के तरीके पर निर्भर करती है। इसलिए सोफिस्ट शिक्षा के विषय जो प्राचीन यूनानी शिक्षा के समान थे, शिक्षण-पद्धति की भिन्नता के कारण परिवर्त्तित हो गये।

सोफिस्ट शिक्षा का संगठन—सोफिस्टों ने शिक्षा के संगठन की दृष्टि से प्राथमिक काल सात वर्ष से तेरह वर्ष की आयु तक, माध्यमिक काल चौदह से सोलह वर्ष तक और उच्च-शिक्षा काल सत्रह से अठारह वर्ष तक निश्चित किया। प्राथमिक काल में सोफिस्टों ने लिखने, पढ़ने, गणित और संगीत पर विशेष ध्यान दिया। शारीरिक व्यायाम का एक प्रकार से अभाव था क्योंकि व्यायाम की आवश्यकता व्यक्तिगत सुख की दृष्टि से नहीं रही। माध्यमिक काल में संगीत और साहित्य, व्याकरण और रेखा-गणित के विषय प्रधान थे। साथ ही माध्यमिक शिक्षा में भाषण-कला को भी स्थान दिया गया क्योंकि नवीन यूनान में भाषण-कला का बड़ा महत्त्व था। सभी लोग सुंदर भाषण करके अपना महत्त्व प्रदर्शित करना चाहते थे। व्यायाम और खेल-कूद भी होते थे। लेकिन इनका अब पहले जैसा महत्त्व नहीं रहा। संगीत के लिए नये नये कवियों के ऐसे गीत विद्यार्थियों को सिखाये जाने लगे जो सांसारिक सुखों की प्रशंसा और नैतिकता की अव-हेलना करते थे। इसका प्रभाव यह हुआ कि प्राचीन यूनानी

आदर्शों का ह्रास और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का प्रसार होने लगा।

सैनिक शिक्षा का पतन—सोलह वर्ष के बाद यद्यपि सैनिक शिक्षा की व्यवस्था थी। लेकिन यह सैनिक शिक्षा केवल नाम मात्र की हो गई। अब सैनिक शिक्षा के समय भी साहित्य चर्चा होती। इस काल में जो साहित्यिक शिक्षा होती थी उसका उद्देश्य यह था कि बाहुबल के स्थान पर वाक्‌बल द्वारा किस प्रकार लोगों को अपने वश में करके स्वार्थ सिद्ध किया जाय। फलतः लच्छेदार भाषा का प्रयोग भी होने लगा। चूँकि उस समय समाज में अच्छा भाषण करने वाले का आदर होता था, इसलिए यूनानी युवक भाषण-कला का अभ्यास करने लगे। इसके लिए सोफिस्ट शिक्षक युवकों के एक समूह को एक साथ निश्चित स्थान पर शिक्षा देते थे। इस प्रकार नवीन यूनान में भाषण-कला की धूम मच गई और उच्च-शिक्षा एक प्रकार से भाषण-कला की शिक्षा हो गई। इसलिए व्यायामशालायें भी भाषण शालाओं में परिवर्त्तित कर दी गईं और भाषण-कला के अनेक शिक्षक भी उत्पन्न हो गये।

समाज पर प्रभाव—सोफिस्टों और उनकी शिक्षा का यूनानी समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। सोफिस्ट जिन्हें वे यात्री शिक्षक भी कहते थे, हर एक स्थान में जाकर शिक्षा देते थे। इनकी शिक्षा का ढंग यह था कि ये प्रत्येक वस्तु के विषय में निर्भय होकर प्रश्न करते और वे हर एक की खरी आलोचना करने को तैयार रहते थे। यूनान में जितने भी धार्मिक विश्वास अथवा संस्थायें थीं, उन सब के विषय में संदेह करना और उन पर विचार करना सोफिस्टों की विशेषता थी। सोफिस्टों की इस प्रवृत्ति का समाज पर प्रभाव पड़ा और लोगों में भी इस प्रकार की विचार

धारायें प्रवाहित होने लगीं। इसी काल में सुकरात, प्लैटो और अरस्तू जैसे विचारक और दार्शनिक भी हुए। इनके विचारों के सम्बन्ध में अगले अध्यायों में विचार किया जायगा। लेकिन यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रोटागोरस और प्रोडोकस जैसे प्रसिद्ध सोफिस्टों ने यूनान में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं जो कि लोकतंत्र को संकुचित करने लगीं और बाद में लोकतंत्र तो नाम मात्र का रह गया। ऐसे समय में सुकरात, प्लैटो और अरस्तू जैसे दार्शनिक हुए और इन लोगों ने यूनानी नैतिकता को सुधारने की चेष्टा की। सोफिस्टों के कारण जो एक प्रकार की अव्यवस्था फैल गई थी, उसी को ठीक करने का प्रयास इन विद्वानों ने किया। अतः इनके कार्य को भली भाँति समझने की आवश्यकता है। इसके लिए हमें इनके जीवन की परिस्थितियों से परिचित होना पड़ेगा और इस दृष्टि से पहले सुकरात के जीवन और विचारों की विवेचना उचित होगी क्योंकि सुकरात, प्लैटो और अरस्तू से काल की दृष्टि से प्रथम है।

सुकरात

सुकरात और उसकी शिक्षा

(४६९ ई० पू०—३९९ ई० पू०)

सुकरात का प्रारम्भिक जीवन—सुकरात का जन्म एथेन्स में हुआ था। इनका जन्म वर्ष ४६९ वर्ष ईसा से पूर्व माना जाता है। सुकरात के पिता गरीब थे। इसलिए सुकरात की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध न कर सके। युवक होने पर सुकरात ने मूर्तिकार (Sculptor) का पेशा अपनाया। लेकिन इस पेशे में भी सुकरात का कोई विशिष्ट स्थान न था। वह एक साधारण कोटि का मूर्तिकार था। उसका विवाह भी एक ऐसी स्त्री से हुआ था जो बड़ी चालाक थी। विवाह हो जाने पर सुकरात कई बच्चों का पिता बन गया। मगर फिर भी उसका मन न तो अपने पेशे में लगता था और न बाल-बच्चों में ही। वह तो विद्वानों से मिलना चाहता था और उनसे बातें करना चाहता था। बात करते समय सुकरात अपने को अज्ञानी मान लेता और फिर प्रश्न करता था। इसी के आधार पर एक 'सुकराती पद्धति' विकास हुआ। इसके सम्बन्ध में हम आगे विचार करेगें। लेकिन यहाँ हम सुकरात के रूप-गुण का वह वर्णन उपस्थित करना चाहते हैं जो उसके एक शिष्य एलकिबेडीज़ (Alcbiades) द्वारा किया गया है। इस वर्णन को पढ़ने से हमें सुकरात के विषय में पर्याप्त रूप से ज्ञात हो जाता है:—

सुकरात का रूप-गुण—'साथियों, अब मैं सुकरात की 'प्रशंसा' इस प्रकार करना चाहता हूँ जो कि उसे (सुकरात)

परिहास ज्ञात होगा, लेकिन वस्तुतः बात बिल्कुल सच होगी। सुकरात की सूरत उस देवता (Satyr) से मिलती है जिसका चेहरा मनुष्य का और शरीर बकरी का है।......जब हम किसी वक्ता का भाषण सुनते हैं तो उसका हम पर कोई प्रभाव नहीं होता। लेकिन जब हम सुकरात की बात दूसरे से भी सुनते हैं तो हम पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। और यदि मुझे शराबी समझा जाने का भय न होता तो मैं शपथ लेकर कह सकता कि सुकरात के भाषण ने हमें सदा प्रभावित किया है। भाषण सुनने पर मेरा हृदय गद्गद हो जाता है और मेरे नेत्रों से प्रसन्नता के आँसू बहने लगते हैं।

मैंने पेरीक्लीज और अन्य वक्ताओं के भाषण सुने हैं। मेरे विचार से वे अच्छे वक्ता हैं। लेकिन उनके भाषणों को सुनकर मेरे हृदय में वे भावनायें उत्पन्न नहीं हुईं जो सुकरात को भाषण से होती हैं। सुकरात की बातों को सुनकर मैं अपने को धिक्कारता हूँ और कहता हूँ कि मुझे इस प्रकार का जीवन व्यतीत नहीं करना चाहिए। कई बार मैंने सोचा कि क्या ही अच्छा होता यदि सुकरात मर जाता। लेकिन यह मैं ही जानता हूँ कि उसकी मौत से मुझे खुशी होने के बजाय अपार दुःख होता।'

ऊपर दिये गये अवरतण से यह ज्ञात होता है कि सुकरात कितना प्रिय था और वह किस प्रकार युवकों को निश्चित धारणाओं को निर्दयता के साथ परिवर्त्तित करता था।

सुकरात की मूर्ति का जो अवशेष मिला है, उसे देखकर यह ज्ञात होता है कि उसमें सुंदरता नाम मात्र को भी न थी। उसका चेहरा गोल था और सिर के बाल उड़ गये थे। उसकी आँखें गहराई से देखती थीं और उसकी नाक चौड़ी और लम्बी थी। ऐसा

था सुकरात का स्वरूप जो कि यूनान का महान् शिक्षक और दार्शनिक था।

ऐतिहासिक भूमिका—सुकरात और उसकी शिक्षा को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व के यूनान के इतिहास से भली भाँति परिचित हो लें। ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व के एथेन्स में एक महान् परिवर्तन हुआ। यह परिवर्त्तन हमें परम्परागत विचारों के त्याग और नवीन बुद्धिवादी प्रवृत्ति में जो कि सोफिस्टों द्वारा प्रचारित की गई थी, दिखाई पड़ती है। इस सदी के आरम्भ में हम यह भी देखते हैं कि एथेन्स का सर्वप्रधान कार्य नगर-राज्यों का संगठन करके फारसी युद्ध में विजय प्राप्त करना था। यूनान के इतिहास में ऐसा संगठन पहले कभी नहीं हुआ था। अतः फारसी युद्ध में एथेन्स के नेतृत्व में ४६० ई० पू० विजय प्राप्त हुई। यह विजय माराथान के विजय के नाम से प्रसिद्ध है।

दूसरे फारसी युद्ध में जो कि पहले युद्ध से दस वर्ष बाद हुआ, एथेन्स ने फिर विजय प्राप्त की। इस समय एथेन्स की नौ-सेना बड़ी मजबूत थी और उसका समुद्र पर बड़ा प्रभाव था। लेकिन स्थल-सेना स्पार्टा की ही सब श्रेष्ठ थी। पहले युद्ध में स्पार्टा ने एथेन्स के साथ मिलकर फारसी युद्ध में भाग लिया था। लेकिन दूसरे युद्ध में भाग नहीं लिया। इसका कारण यह था कि अब की बार फारसी युद्ध एशियाई यूनान में हो रहा था। यूरोपीय यूनान में इससे कोई खतरा नहीं था इसलिए स्पार्टा अलग रहा। स्पार्टा के साथ न देने पर भी एथेन्स की विजय हुई। दूसरे युद्ध में विजय के कारण एथेन्स सर्वश्रेष्ठ राज्य बन गया। इसी समय पेरीक्लीज़ का उदय हुआ और उसने एथेन्स की उन्नति के लिए बड़ा कार्य किया। एथेन्स के वैभव और गौरव में बड़ी वृद्धि हुई।

इसके बाद पेलोपोनेजियन (Peloponnesian) युद्ध ४३१ ई० पू० में छिड़ गया। इस युद्ध में लड़नेवाले एथेन्स और स्पार्टा के लोग थे। इस लड़ाई ने एथेन्स का पतन किया। ४२९ ई० पू० में पेरीक्लीज़ की मृत्यु हो गई। पेरीक्लीज़ की मृत्यु के बाद एथेन्स में अंधकार छा गया। इसी समय एथेन्स में बड़े ज़ोर का प्लेग फैला। इस प्लेग में हज़ारों आदमी मरे। लेकिन युद्ध जारी रहा। एथेन्स की नौ-सेना अब भी शक्तिवान थी। इसलिए एथेन्स ने स्पार्टा के एक साथी सीराक्यूज़ (Syracuse) को पकड़ने के लिए अपनी सेना भेजी। एथेन्स का यह प्रयास असफल रहा। इससे एथेन्स के लोगों में निराशा फैली और साथ ही उनमें मरने-मारने की भी प्रवृत्ति भी आ गई। अतः जब एथेन्स ने मेलोज़ द्वीप पर ४१६ ई० पू० में हमला किया और उसे जीता तो वहाँ के उन सभी लोगों को मौत के घाट उतार दिया जो युद्ध करने के योग्य थे; और जो युद्ध नहीं कर सकते थे उन्हें दास बना लिया। लेकिन अंत में एथेन्स की हार हुई और स्पार्टा की विजय। स्पार्टा एथेन्स की भाँति लोकतंत्र का पोषक न था। वहाँ तो कुछ लोगों (Oligarchy) का शासन था। इसलिए जब स्पार्टा का एथेन्स पर अधिकार हुआ तो वहाँ लोकतंत्र के स्थान पर तीस व्यक्तियों का शासन स्थापित कर दिया गया। ये तीस व्यक्ति एथेन्स के इतिहास में तीस निर्दयी (Thirty tyrants) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीस व्यक्तियों का प्रधान क्रीटीयस (Critias) तथा उसके कुछ साथी सुकरात के शिष्य थे। इन्हें एथेन्स के लोग चाहते भी नहीं थे। इसलिए एक वर्ष बाद इनसे अधिकार छीन लिया गया। इसके बाद स्पार्टा की सलाह से फिर 'लोकतंत्रात्मक' शासन स्थापित किया। ऐसा करते समय यह निश्चय हो गया था कि एथेन्स में यदि राज्य का कोई शत्रु हो तो उससे बदला

न दिया जाय। यद्यपि यह बात तय हो गई थी, मगर फिर भी किसी न किसी बहाने उन लोगों को सज़ा दी जाती थी जिन्हें शासन का शत्रु समझा जाता था। सुकरात को भी इसी कारण मौत की सज़ा मिली थी क्योंकि वह ऐसे वातावरण में भी क्रांतिकारी विचारों को व्यक्त करता था। वे विचार क्या थे, और सुकरात की शिक्षा कैसी थी, इसे अब हम ज्ञात करेंगे।

सुकराती शिक्षा का उद्देश्य—सुकरात की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था मनुष्य को वह योग्यता प्रदान करना जिससे कि वह अपने को जान सके। सुकरात कहा भी करता था—अपने को जानो (Know thyself)। 'अपने को जानो' जो कि सुकरात की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है, समझना कठिन है। वैसे तो अपने को सभी जानते हैं। लेकिन वास्तविक रूप से अपने को बहुत कम लोग जानते हैं। जो लोग अपने को जानते हैं उन्हें अपनी शक्तियों और दुर्बलताओं के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं होता। वे अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और विचारों का विश्लेषण भली भाँति कर सकते हैं। सुकरात यह नहीं चाहता था कि लोग बिना समझे बूझे किसी विचार या सिद्धान्त को अपनायें। जब लोग बिना विचार किये किसी बात को स्वीकार कर लेते हैं, तो उनसे भूल हो जाना अथवा कुरीतियों का प्रसार होना स्वाभाविक है। अतः सुकरात ने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए लोगों को विचार करने की शक्ति या अपने को जानने की योग्यता प्रदान करना चाहा। दूसरे शब्दों में सुकरात की शिक्षा का उद्देश्य था मनुष्य को जीवन का वास्तविक पारखी बनाना। जीवन का वास्तविक पारखी वही मनुष्य हो सकता है जो कि मनुष्य-मनुष्य के सम्बन्ध के सूक्ष्म भेदों को समझता है, सुख-

शांति के साथ रहना जानता है और बिना समझे-बूझे कोई बात नहीं कहता।

सुकराती शिक्षा के विषय—सुकरात ने मनुष्य को आत्म-ज्ञान प्रदान करने के लिए और उसके अज्ञान को दूर करने के लिए शिक्षा के विषयों को चुना। सुकरात शिक्षा के ऐसे विषय नहीं चाहता था जो केवल बौद्धिक विलास की सामग्री हों। अतः हम देखते हैं कि सुकरात अपने शिष्यों को उन बातों की शिक्षा देता था जो कि उनके दैनिक जीवन के दृष्टि से उपयोगी होते थे। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि सुकरात केवल दैनिक जीवन को ही महत्त्व देता था। वह उन गुणों का विकास भी करना चाहता था जो कि जीवन की सफलता के लिए आवश्यक थे। फलतः मनुष्य के व्यवहार और स्वभाव को समझने के लिए मनोविज्ञान, मानसिक विकास के लिए काव्य, संगीत और नृत्य, बौद्धिक विकास के लिए अंकगणित, और रेखागणित, और नैतिक विकास के लिए नीति-शास्त्र, आचार-शास्त्र और दर्शन जैसे विषय सुकराती शिक्षा में सम्मिलित थे। शारीरिक विकास की ओर ध्यान देना उस समय साधारण बात थी और यह हर एक यूनानी के लिए स्वाभाविक सा हो गया था कि वह अपने शारीरिक विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दे। लेकिन उस समय सबसे बड़ी समस्या लोगों में अज्ञान की थी क्योंकि सुकरात ने देखा कि लोग अनुमान के आधार पर तथा इंद्रिय संवेदन की सहायता से ही समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करते थे जब कि किसी समस्या का हल ज्ञान (Knowledge) में था। यह सत्य है कि किसी भी समस्या को बिना उसके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये, सुलझाना संभव नहीं है। इसके लिए सुकरात ने

लोगों को 'ज्ञान' प्रदान करने की कोशिश की और यह कार्य वह अपनी एक विशेष पद्धति से करता था। यह पद्धति शिक्षा के इतिहास में सुकराती पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है।

सुकराती पद्धति—सुकराती शिक्षा पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि कोई निष्कर्ष प्रदान नहीं किया जाता था, वरन् उस निष्कर्ष को विचार और तर्क करके प्राप्त किया जाता था। उदाहरण के लिए यदि कहा जाय कि न्याय की विजय होती है तो सुकरात इस कथन को स्वीकार नहीं करता था। वह अपने शिष्य से पूछता था—न्याय क्या है? विजय का क्या अर्थ है? इस प्रकार के प्रश्नों को पूछ कर सुकरात राह चलते या बाजार में अपने शिष्यों को यह बताता कि उनकी धारणायें कितनी भ्रामक हैं और वे किस प्रकार बिना समझे-बूझे शब्दों का प्रयोग करते हैं। और सचमुच सुकरात के शिष्य यह अनुभव करते कि उन्होंने बिना विचार किये कोई बात कहते थे। इस प्रकार सुकरात अपनी पद्धति द्वारा सर्वप्रथम भ्रम को दूर करता था और फिर वह विचार द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचता था। उसकी शिक्षा की पद्धति में भाषण देना न था। सुकरात तो एक अज्ञानी की भाँति प्रश्न करता था और प्रश्नोत्तर की शैली में किसी विषय के सम्बन्ध में उसके शिष्य ज्ञान प्राप्त करते थे। इससे यह हुआ कि सुकरात के शिष्यों को किसी भी विषय के सम्बन्ध में भ्रम न था। उन्हें स्पष्ट और वास्तविक ज्ञान अपने अनुभव, विचार और तर्क की सहायता से प्राप्त होता था।

समाज पर प्रभाव—लेकिन उसकी इस पद्धति को वे लोग नापसन्द करते थे जो पुराने विचारों के थे। उनका कथन था कि सुकरात यूनान के नवयुवकों का पतन कर रहा है और देव-

ताओं के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहा है। सुकरात का मज़ाक भी उस समय के प्रसिद्ध कवि अरिस्टोफनीज़ (Aristophanes) ने अपनी रचना 'बादल' (Clouds) में उड़ाया था। इस प्रकार सुकरात का विरोध वे लोग करते थे जो कि पुराने विचारों के थे। उन्होंने शासन द्वारा सुकरात को अपराधी भी घोषित कराया और उसको मृत्यु-दंड दिया गया। सुकरात को जब न्यायालय में उपस्थित होना पड़ा, उस समय का वर्णन उसके प्रिय शिष्य प्लैटो ने अपनी पुस्तक 'माफ़ी' (Apology) में किया है। इस पुस्तक में प्लैटो ने सुकरात पर लगाये गये अपराधों और उसके दिये उत्तरों का सुंदर वर्णन किया है। सुकरात अपनी मृत्यु के समय सत्तर वर्ष का था और उसका शिष्य प्लैटो अट्ठाईस वर्ष का। सुकरात पर चलाये गये मुकदमें का प्लैटो पर गंभीर प्रभाव पड़ा। इसका अध्ययन हम प्लैटो से परिचय प्राप्त करते समय करेंगे। लेकिन सुकरात ने अपने जीवन और मृत्यु द्वारा समाज की भी बड़ी सेवा की। उसने उस नैतिक पतन को प्रायः रोका जो सोफिस्टों के कारण आरम्भ हो गया था। सुकरात ने यूनानी युवकों को आत्म-ज्ञान (Know thyself) का संदेश देकर अपने ऊपर निर्भर होना सिखाया। इस प्रकार सुकरात की शिक्षा का समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ा। जहाँ तक सुकराती शिक्षा पद्धति का प्रश्न है, उसका सभी विषयों के अध्ययन में व्यवहार नहीं किया जा सकता था। यह पद्धति उसी विषय के अध्ययन में सहायक और उपयोगी थी जिसका कोई अनुभव या पूर्वज्ञान होता था। लेकिन जिस विषय का पूर्वज्ञान न हो उसके सम्बन्ध में प्रश्न करना ही व्यर्थ है। इसलिए गणित और विज्ञान जैसे विषयों में अनुभव और प्रयोग आवश्यक है न कि सुकराती पद्धति। मगर फिर भी सुकरात और उसकी शिक्षा का तात्कालीन

समाज पर जो प्रभाव पड़ा वह स्थायी था और आज भी जब शिक्षा में अनुभव और आत्मज्ञान की बात आती है तो हमें सुकरात का स्मरण हो आता है, क्योंकि इन विचारों का वही जन्मदाता और पोषक था और इसीके लिए सुकरात जिया और मरा।

प्लैटो और उसकी शिक्षा

(४२० ई० पू०—३४८ ई० पू०)

प्लैटो का परिचय—यूनान का दूसरा प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री प्लैटो था। प्लैटो का जन्म एक धनी परिवार में हुआ था। उसे जन्मकाल ही से सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं। वह देखने में बहुत ही सुन्दर था और उसका शरीर भी बहुत ही बलिष्ठ था। उसका नाम 'प्लैटो' इसलिए पड़ा कि उसके कन्धे चौड़े थे। उसने सैनिक-शिक्षा भी प्राप्त की थी और उसकी गणना यूनान के श्रेष्ठ सैनिकों में थी। इस प्रकार का व्यक्ति एक दार्शनिक होगा यह आशा नहीं की जा सकती थी। लेकिन जब प्लैटो सुकरात से मिला तो उसके जीवन में महान् परिवर्तन आ गया। सुकरात के प्रश्नोत्तर की प्रणाली का प्रभाव प्लैटो के मस्तिष्क पर पड़ा और इसीलिए वह अपने गुरु सुकरात का भक्त बन गया। एक बार प्लैटो ने कहा था—'मैं ईश्वर को इसलिए धन्यवाद देता हूँ कि उसने हमें जंगली न बना कर यूनान में जन्म दिया, दास न बना कर स्वतंत्र बनाया, स्त्री न बना कर पुरुष बनाया और सबसे बढ़ कर यह कि उसने मुझे सुकरात के युग में पैदा किया।' इससे बढ़ कर सुकरात की क्या प्रशंसा हो सकती थी ?

प्लैटो में परिवर्तन—सुकरात को जब मौत की सजा मिली, उस समय प्लैटो अट्ठाईस वर्ष का था। उसे यह देख कर महान आश्चर्य और दुःख हुआ कि सुकरात जैसे विद्वान्, शिक्षक और दार्शनिक को यूनान की लोकतन्त्र द्वारा मृत्युदण्ड दिया

गया। इसलिए प्लैटो ने सोचा कि लोकतंत्र धोखे की टट्टी है। जब तक मनुष्य शिक्षा प्राप्त कर हर एक बात को समझने की शक्ति नहीं रखता तब तक लोकतंत्र असफल रहेगा। इसलिए एक नया मार्ग ढूँढ़ना होगा और एक आदर्श समाज (Utopia) का निर्माण करना होगा।

प्लैटो का भ्रमण—सुकरात के ऊपर जब मुकदमा चल रहा था, उस समय प्लैटो ने उसकी पैरवी में बड़ी सहायता की थी। इस प्रकार प्लैटो भी सुकरात के साथ विरोधियों की आँख में खटकने लगा। इसलिए जब सुकरात की मृत्यु हो गई तब प्लैटो के मित्रों ने उससे कहा कि इस समय उसका एथेन्स में रहना उचित नहीं है। मित्रों की राय से प्लैटो विदेश भ्रमण के लिए निकल पड़ा। वह कहाँ कब गया, इसके सम्बन्ध में मतभेद है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि वह सर्वप्रथम मिश्र देश में गया था। वहाँ जाकर उसने मिश्र के विद्वानों से भेंट की। बातचीत करने पर उसे मालूम हुआ कि मिश्र के लोग एथेन्स की सभ्यता और संस्कृति के बारे में कुछ नहीं जानते। मिश्र से प्लैटो सिसली गया और फिर वहाँ से इटली। इटली में प्लैटो ने उस शिक्षालय में कुछ समय व्यतीत किया जिसका संस्थापक पाइथागोरस था। यहाँ पर प्लैटो ने देखा कि कुछ लोग सादा जीवन व्यतीत करते हैं और सम्पूर्ण साधना के साथ अध्ययन करते हैं।

एथेन्स में पुनरागमन—कहते हैं कि प्लैटो हिन्दुस्तान भी आया था और यहाँ आकर उसने हिन्दू दर्शन और धर्म का अध्ययन भी किया था। बारह वर्ष तक देश-देश का भ्रमण करके और विभिन्न लोगों से मिल कर प्लैटो ने अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त किया और फिर वह एथेन्स लौट आया। जब वह एथेन्स

में आया तो उस समय उसकी अवस्था चालीस वर्ष की हो गई थी। उसमें अब युवाकाल का वह उत्साह न था जो किसी समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने में बाधक होता है। अब वह इतना विद्वान् बन गया था कि किसी भी समस्या पर स्पष्ट रूप से अपने मार्मिक विचार व्यक्त कर सकता था। उसमें एक दार्शनिक और एक कवि की अपार प्रतिभा थी। इसलिए उसने जो कुछ लिखा उसे स्पष्ट रूप से समझने में कठिनाई होती है। मगर फिर भी विद्वानों ने प्लैटो के विचारों का अध्ययन किया है।

प्लैटो का रिपब्लिक—प्लैटो की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' है। इस पुस्तक में प्लैटो के सभी विचार प्रस्तुत हैं। क्या धर्म, क्या दर्शन, क्या शिक्षा, क्या समाज और क्या राजनीति सभी विषयों पर प्लैटो के मत 'रिपब्लिक' पुस्तक में मिलते हैं। इसीलिए अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान इमर्सन का कथन है कि प्लैटो दर्शन है और दर्शन प्लैटो। साथ ही इमर्सन ने कुरान के सम्बन्ध में उमर के वाक्य को भी 'रिपब्लिक' की श्रेष्ठता दिखाने के लिए किया है। उमर का कथन था कि सभी पुस्तकालयों में आग लगा दो क्योंकि उनका तथ्य कुरान में निहित है।

रिपब्लिक पुस्तक वार्तालाप की शैली में लिखी गई है। इसका आरम्भ एक वादविवाद से होता है। इस वादविवाद में प्लैटो के दो भाई ग्लाकान (Glaucon) और एडीमान्टस (Adeimantus) तथा थ्रासीमेकस (Thrasymachus) नामक सोफिस्ट उपस्थित थे। यह वादविवाद एथेन्स के एक धनी व्यक्ति सेफालस (Cephalus) के घर पर हो रहा था और

प्लैटो ने एक प्रश्न सुकरात से कराया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्लैटो ने वार्तालाप की शैली में पुस्तक लिखते समय अपने गुरु सुकरात को प्रधान प्रश्नकर्त्ता का स्थान दिया था। अतः सुकरात ने सेफालस से प्रश्न किया, "धन से तुम्हें सबसे बड़ी कौन सी वस्तु प्राप्त हुई ?" सेफालस ने कहा, "धन की सहायता से मैं सचाई और न्याय का जीवन व्यतीत करता हूँ।" इस पर सुकरात ने सेफालस से पूछा, "न्याय क्या है ?" और इस प्रकार सुकरात उन सभी परिभाषाओं को ग़लत साबित करता है जो उसके सामने उपस्थित की जाती हैं। सुकरात का यह तरीका वादविवाद में उपस्थित सोफिस्ट को क्रोधित कर देता है और वह सुकरात को जो उत्तर देता है उससे यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि यूनान के नैतिक पतन के लिए सोफिस्ट किस सीमा तक उत्तरदायी थे।

क्रोधित सोफिस्ट ने कहा,—"लो सुनो, मैं कहता हूँ जिसकी लाठी उसकी भैंस। न्याय बलवान के स्वार्थ का नाम है। एक राज्य में जो नियम बनाए जाते हैं चाहे वे लोकतन्त्रात्मक या एकाधिकार के द्योतक क्यों न हों, उनका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि वे शासन करनेवालों के स्वार्थ की रक्षा करें। जब शासकों के स्वार्थ का किसी प्रकार अपहरण होता है तो न्याय के नाम पर दण्ड दिया जाता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि सोफिस्टों ने यह प्रचार किया कि न्याय स्वार्थरक्षा का दूसरा नाम है और नैतिकता कमजोरों की लाठी। प्लैटो ने इस प्रकार के विचारों का प्रचार रोका और उसने समझाया कि न्याय एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध और सामाजिक संगठन पर निर्भर करता है। इसी दृष्टिकोण से उसने एक आदर्श समाज (Utopia) की कल्पना की। उसने इसी आदर्श समाज के विकास के लिए

शिक्षा के सिद्धांतों की विवेचना की है। लेकिन इसके पूर्व कि हम प्लैटो के शिक्षा सिद्धान्तों का वर्णन करें, उसके मूल विचारों से परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा। प्लैटो ने राजनीतिक समस्या और साथ ही मनुष्य की मनोवैज्ञानिक समस्या पर विचार किए हैं।

प्लैटो के राजनीतिक विचार—राजनीतिक समस्या के सम्बन्ध में प्लैटो का विचार था कि कोई भी शासन हो वह तभी समाप्त होता है जब कि उसमें किसी विचार की अति हो जाती है। उदाहरण के लिए लोकतन्त्रात्मक शासन में लोकतन्त्र की अति हानिकर है। उसका विचार था कि लोकतन्त्र का मुख्य उद्देश्य सबको समान अवसर प्रदान करना है। समान अवसर पाकर योग्यतानुसार मनुष्य अपना विकास कर सकता है। लेकिन उस समय लोकतंत्र के सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित थी कि सभी को राज्य में किसी भी पद को प्राप्त करने की आज्ञा है। प्लैटो का विचार था कि बाह्यरूप से इस प्रकार की व्यवस्था अच्छी मालूम पड़ती है, लेकिन बिना योग्यता के कोई अच्छा शासक कैसे बन सकता है? जब कोई बीमार पड़ता है तब हम इलाज के लिए किसी वैद्य को बुलाते हैं। लेकिन जब शासन का प्रश्न उपस्थित होता है तब हम शासक की योग्यता को भूल जाते हैं और यह समझने लगते हैं कि सभी व्यक्ति अच्छे शासक हो सकते हैं। वास्तव में प्लैटो के अनुसार उस समय सबसे बड़ी राजनीतिक समस्या यह थी कि किस प्रकार योग्य व्यक्तियों का चुनाव किया जाय और उन्हें कुशल शासक बनाया जाय।

आदर्श समाज का व्यक्ति—प्लैटो की यह दृढ़ धारणा

थी कि आदर्श समाज में आदर्श व्यक्ति का भी होना आवश्यक है। इसलिए व्यक्ति को समझना चाहिए, क्योंकि जैसा व्यक्ति होता है वैसा ही शासन होता है। जब व्यक्ति के चरित्र में परिवर्तन होता है तब शासन में भी परिवर्तन आ जाता है। इसलिए शासन को सुधारने की दृष्टि से व्यक्ति का सुधार अपेक्षित है और व्यक्ति का सुधार तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जाता। आजकल तो मनोविज्ञान काफी विकसित हो चुका है। लेकिन उस समय प्लैटो ने मनुष्य के मनोविज्ञान के सम्बन्ध में जो बातें कहीं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

व्यक्ति का मनोविज्ञान—प्लैटो का विचार था कि मनुष्य के व्यवहार के तीन स्रोत हैं। पहला स्रोत इच्छा का है, दूसरा भावना का और तीसरा ज्ञान का। इच्छा (Desire) को स्पष्ट करते हुए प्लैटो ने कहा है कि इसके साथ हम क्षुधा, आवेश और मूल प्रवृत्तियों को भी ले सकते हैं। शरीर में इच्छा नाभि के निकट निवास करती है और वह प्रधान रूप से कामशक्ति की द्योतक है।

भावना (Emotion) के अन्तर्गत प्लैटो साहस, उत्साह और आकांक्षा को मानता था और शरीर में उसका स्थान हृदय था जहाँ से मनुष्य के सभी कार्यों की प्रेरणा प्रवाहित होती थी। ज्ञान (Knowledge) के अन्तर्गत् प्लैटो बुद्धि, विचार और तर्क को मानता था और इसका निवास स्थान मस्तिष्क था। इस प्रकार मनुष्य इच्छा भावना और ज्ञान या भारतीय शब्दावली में तृष्णा, धृति और विवेक का मिश्रित रूप था। लेकिन मनुष्य के इन तीनों मनोवैज्ञानिक शक्तियों की मात्रा समान नहीं होती। जिस व्यक्ति में इच्छा या तृष्णा की प्रधानता होती है

वह सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने में अपनी सारी शक्ति लगा देता है। ऐसे लोग वाणिज्य और व्यवसाय में सफल होते हैं। जिनमें भावना या धृति प्रधान होती है उनमें असीम उत्साह होता है और वे किसी भी कार्य को पूर्ति में साहस और लगन के साथ लग जाते हैं। जिन व्यक्तियों में ज्ञान अथवा विवेक की प्रधानता है वह प्रत्येक वस्तु को भलीभाँति समझते हैं और उनके लिए दुःख-सुख तथा हानि-लाभ में कोई भेद नहीं होता। वे अपना समय सत्य की खोज में व्यतीत करते हैं और अपने जीवन को दीप की भाँति ज्ञान का प्रकाश प्रसारित करने के लिए जलाते हैं। उनका ज्ञान उनके जीवन का प्रकाश बन जाता है और वे मानव जाति का पथ-प्रदर्शन करते हैं।

लेकिन वास्तविक समस्या तो यह है कि व्यक्ति में इच्छा भावना और ज्ञान का संतुलित विकास किस प्रकार किया जाय? यदि इनमें से किसी एक की भी कमी हो जाती है तो व्यक्ति का विकास नहीं हो पाता। अतः व्यक्ति के संतुलित विकास के लिए प्लैटो ने जो मार्ग निकाला वह हम उसके शिक्षा-सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्लैटो का शिक्षा-सिद्धान्त उसके दार्शनिक विचारों की छाया है। इसलिए हम प्लैटो के शिक्षा-सिद्धांत में उसके दार्शनिक विचारों का भी प्रभाव पाएँगे।

प्लैटो की शिक्षा के उद्देश्य—प्लैटो की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आदर्श समाज के लिए ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना था जो किसी कार्य को सहृदयता और विवेक से करें।* दूसरे

* ... Effective individual action implies that desire, though warmed with emotion, is guided by knowledge ..... Will Durant.

शब्दों में प्लैटो शिक्षा का उद्देश्य इस प्रकार निश्चित करना चाहता था कि व्यक्ति में गुण का विकास हो। उसका विश्वास था कि गुणी व्यक्ति ही नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। मनुष्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते समय प्लैटो ने इच्छा, भावना और ज्ञान के अनुसार मनुष्य के गुणों की ओर संकेत भी किया था। इच्छा से सम्बन्धित गुण आत्मसंयम है। बिना आत्म-संयम के मनुष्य अपनी इच्छा अथवा तृष्णा का दास हो जाता है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य आत्मसंयम का विकास भी होना चाहिए। भावना जिसका कि सम्बन्ध हृदय से है उसका प्रधान गुण साहस और सहनशीलता है। बिना साहस, धैर्य और सहनशीलता के मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता। इसलिए व्यक्ति में इन गुणों का भी विकास होना चाहिए। मनुष्य के ज्ञान से सम्बन्धित गुण विवेक और विचार है। अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को विचारशील और विवेकी बनाना होना चाहिए। आधुनिक शिक्षा के उद्देश्य में शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास का उल्लेख होता है। इसीके समान प्लैटो की शिक्षा का भी उद्देश्य है। जब शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक गुणों का समुचित विकास हो जाता है, तभी व्यक्ति नैतिक जीवन के अनुकूल होता है। यही प्लैटो की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था।

सुकराती उद्देश्य से तुलना—प्लैटो की शिक्षा के उद्देश्य की तुलना यदि सुकरात की शिक्षा के उद्देश्य से की जाय तो हमें ज्ञात होगा कि दोनों नैतिक जीवन को महत्त्व प्रधान करते थे। जिस प्रकार सुकरात 'अपने को जानो' अथवा 'आत्म-ज्ञान' पर बल देता था, उसी प्रकार प्लैटो ने भी व्यक्ति के लिए ज्ञान आवश्यक माना। लेकिन अंतर केवल यह रहता था कि जहाँ सुकरात ने ज्ञान की आवश्यकता की ओर संकेत किया और कुछ व्यक्तियों

को इसके योग्य बनाया, वहाँ प्लैटो ने इसकी पूरी छान-बीन की और इसके फलस्वरूप ज्ञान के रूप को निश्चित किया। प्लैटो ने उस ज्ञान की पूरी व्याख्या की जिसे प्राप्त करना व्यक्ति की शिक्षा का उद्देश्य था। उसके अनुसार वस्तु और विचार का घनिष्ठ सम्बन्ध था। व्यक्ति का विचार जितना ही स्पष्ट होगा, उतना ही अधिक उसे वस्तु का स्पष्ट ज्ञान होगा। इसलिए प्लैटो के अनुसार विचार ही सब कुछ था। यदि मनुष्य में स्पष्ट और पूर्ण विचार की शक्ति है तो वह सफल, श्रेष्ठ और नैतिक हो सकता है। इसी 'विचार' के सम्बन्ध में प्लटो ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है। इसे भली भाँति समझने के लिए 'पश्चिमी-दर्शन' की पुस्तक का अध्ययन अपेक्षित है। यहाँ हमें केवल इतना स्मरण रखना है कि प्लैटो वस्तु (Object) से बढ़कर विचार (Idea) को महत्त्व प्रदान करता था और यह सत्य भी है। जब हम कहते हैं कि यह मेज़ है तो इस कथन के पीछे 'मेज़' का विचार (Idea) है। यदि किसी जंगली को मेज दिखाई जाय तो वह नहीं बता सकता कि उस चीज का क्या नाम है। इसीलिए कहा जाता है कि संसार भी मनुष्य के विचार में ही निहित है। इसी तथ्य के समान भारतीय दार्शनिकों ने 'माया' का उल्लेख किया है। अतः इन सब बातों का अध्ययन किसी 'दर्शन' पुस्तक की सहायता से किया जा सकता है। यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

शिक्षा के विषय—प्लैटो ने शिक्षा के उद्देश्य के अनुरूप शिक्षा के विषय भी निर्धारित किये। दैनिक जीवन में कुशलता के लिए शिक्षा में कृषि और व्यापार सम्बन्धी विषयों को स्थान दिया। ऐसा प्लैटो ने इसलिए किया कि उस समय एथेन्स में कृषि और व्यापार प्रधान धंधे थे और इन्हीं के द्वारा एथेन्स-

वासी धन एकत्रित करते थे। इसलिए यह आवश्यक था कि शिक्षा में कृषि और व्यापार जैसे विषय भी रखे जाँय। मनुष्य में सौंदर्य-बोध उत्पन्न हो और उसमें नैतिकता का विकास हो, इसके लिए प्लैटो ने शिक्षा के विषयों में संगीत, नृत्य, कविता को स्थान दिया। स्पष्ट विचार में गणित के अध्ययन से सहायता मिलती है। इसलिए शिक्षा के विषयों में गणित को स्थान ज्ञान की वृद्धि के लिए दिया गया। इसके साथ साथ प्लैटो व्यक्ति को आदर्श समाज के योग्य बनाने के लिए नागरिक जीवन की बातों को भी शिक्षा के विषयों में स्थान देता था। इस प्रकार प्लैटो ने शिक्षा के ऐसे विषय निर्धारित किये जो आदर्श समाज के योग्य व्यक्तित्व उत्पन्न करने में सहायक होते थे।

शिक्षा-संगठन और पद्धति—प्लैटो चाहता था कि उसकी कल्पना के आदर्श समाज के लिए योग्य नागरिक तैयार हों। इस दृष्टि से उसने शिक्षा के संगठन में यह व्यवस्था की कि जन्म से लेकर दस वर्ष तक बालकों को उनके माता-पिता के प्रभाव से मुक्त रखा जाय। उसका विचार था कि यदि वे अपने माता-पिता के सम्पर्क में आएँगे तो उनमें भी उनके दोष उत्पन्न हो जायेंगे। इसलिए बालकों का अपने माता-पिता से अलग रहना आवश्यक था।

प्रथम दस वर्ष में व्यायाम—प्रथम दस वर्ष में बालकों को व्यायाम और खेल-कूद की शिक्षा विशेष रूप से देने के पक्ष में प्लैटो था क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य को रोगी नहीं रहना चाहिए। प्लैटो चाहता था कि आदर्श समाज के नागरिक स्वस्थ हों। अस्वस्थ होना वह लज्जाजनक समझता था। अतः उसका दृढ़ विश्वास था कि आदर्श समाज के लिए स्वस्थ व्यक्तियों का होना

अनिवार्य है और इसके लिए शिक्षा के आरम्भ में शारीरिक विकास की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य विषयों की अवहेलना की जाय। हमें शिक्षा के उन विषयों की ओर भी ध्यान देना है जिनके द्वारा साहस और मृदुल स्वभाव का विकास होता है। इसके लिए संगीत और नृत्य की शिक्षा आवश्यक है क्योंकि संगीत के द्वारा मानसिक विकास होता है जो कि चरित्र-निर्माण में सहायक है। जिस व्यक्ति को संगीत और नृत्य का ज्ञान नहीं है, उस व्यक्ति के चरित्र में त्रुटि होती है। इस प्रकार नृत्य और संगीत मानसिक विकास के साधन थे और साथ ही शारीरिक विकास में भी सहायक होते थे।

शिक्षा में स्वतंत्रता—लेकिन शारीरिक व्यायाम और संगीत की अधिकता अच्छी नहीं है। प्लैटो का विचार था कि शिक्षा में अधिक व्यायाम मनुष्य को जंगली बना देता है और अधिक संगीत इतना कोमल कि वह किसी काम का नहीं रह जाता। इसलिए सोलह वर्ष की आयु के बाद विद्यार्थी को संगीत का व्यक्तिगत अध्ययन समाप्त कर देना चाहिए और केवल सामूहिक संगीत में भाग लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्लैटो का यह विचार था कि संगीत का समन्वय अन्य विषयों से भी होना चाहिए। उदाहरण के लिए गणित, विज्ञान और इतिहास की शिक्षा सुंदर गीतों द्वारा रोचक बनाई जा सकती है। लेकिन साथ ही इसका भी ध्यान रखना है कि इन विषयों की शिक्षा किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं देनी चाहिए। प्लैटो का यह निश्चित मत था कि शिक्षा में किसी प्रकार की बाध्यता अच्छी नहीं क्योंकि एक स्वतंत्र व्यक्ति को शिक्षा में भी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। जो शिक्षा बाध्य होकर ग्रहण की

जाती है उसका मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए किसी प्रकार की बाध्यता का सहारा न लेकर प्रारम्भिक शिक्षा को रोचक बनाना चाहिए। जब शिक्षा रोचक होगी तो बालक का विकास स्वाभाविक रूप से हो सकेगा। प्लैटो का यह सिद्धान्त आज भी कितना सत्य है। वास्तव में यह सिद्धान्त आधुनिक शिक्षा का प्राण है।

युवकों की शिक्षा—प्लैटो का विचार था कि जब बालक बीस वर्ष का युवक बन जाय, उस समय उसकी कठिन परीक्षा होनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि उसमें उच्च शिक्षा की प्रतिभा है या नहीं। इस कठिन परीक्षा में युवक की सहनशीलता और साहस, योग्यता और आरम्भशक्ति की जाँच होती थी। यदि उसमें कमी होती थी तो उसे उच्च शिक्षा न देकर वाणिज्य-व्यवसाय, कृषि इत्यादि कार्यों में लग जाना पड़ता था। जो युवक प्रतिभाशाली और योग्य होते, उन्हें उच्च-शिक्षा दी जाती थी। यह उच्च-शिक्षा दस वर्ष तक दी जाती। इस अवधि में युवक की शिक्षा इस प्रकार की होती कि उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो जाय। इस दस वर्ष के बाद दूसरी परीक्षा होती थी। जो इस परीक्षा में असफल होते उन्हें राज्य की सेना में अथवा कार्यालय में अधिकारी पद प्रदान किये जाते थे। जो इस परीक्षा में सफल होते, उन्हें दर्शन का अध्ययन कराया जाता। तीस वर्ष की आयु के पहले युवकों को दर्शन की शिक्षा नहीं दी जाती थी क्योंकि प्लैटो का विचार था कि यदि युवकों को आरम्भ में ही दर्शन की शिक्षा दी जाय तो वे उसे मनोरंजन के लिए तर्क की सामग्री बना देते हैं और उनकी दशा कुत्ते के पिल्लों की भाँति हो जाती है जो प्यार से कपड़े फाड़ने लगते हैं।

दर्शन का अध्ययन—प्लैटो तीस वर्ष के उन युवकों को जो दूसरी परीक्षा में सफल होते थे, दर्शन की शिक्षा दो कारणों से देता था। प्रथम कारण यह था कि दर्शन के अध्ययन के द्वारा उनमें स्पष्ट रूप से सोच-विचार करने की क्षमता उत्पन्न हो और दूसरा कारण यह था कि वे योग्य शासक बनें। इस प्रकार प्लैटो आदर्श समाज के लिए योग्य शासक उत्पन्न करना चाहता था। अतः तीस वर्ष से पैंतीस वर्ष तक युवकों को दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करना पड़ता था। इसी काल में उन्हें तर्क करने और भाषण देने की योग्यता भी भली भाँति प्राप्त हो जाती थी। इसके पश्चात् वे राज्य के उच्च अधिकारी बना दिए जाते थे। पचास वर्ष की आयु तक शासन-कार्य करने के पश्चात् उन्हें 'अवकाश' मिलता था। अवकाश ग्रहण करने के बाद वे दार्शनिक सत्यों की खोज करने में अपना समय बिताते थे।

शिक्षा-संगठन का सारांश—ऊपर हमने प्लैटो की शिक्षा-संगठन और पद्धति में सामान्य रूप से विचार किया है। कुछ विद्वानों ने प्लैटो की प्रसिद्ध रचनाओं 'रिपब्लिक' और 'लॉज' का अध्ययन करके उसके शिक्षा-संगठन के स्वरूप को ज्ञात किया है। यहाँ हम उसका सारांश उपस्थित कर रहे हैं:—

(१) जन्म से प्रथम तीन वर्ष में बालक का पालन-पोषण इस प्रकार हो कि उसे पीड़ा और आनन्द का कम से कम अनुभव हो। साथ ही इस अवधि में बालक को किसी प्रकार से भयभीत न किया जाय। भय से कायरता उत्पन्न होती है।

(२) तीन वर्ष के बाद छः वर्ष तक बालक को पीड़ा और आनन्द का साधारण अनुभव होना चाहिए। उसे अच्छी आदतों की भी शिक्षा मिलनी चाहिए। उसे ऐसी राष्ट्रीय कहानियाँ

सुनानी चाहिएँ जिनके द्वारा उसमें राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और आदर के भाव उत्पन्न हों और साथ ही आत्मनिर्भरता, सहनशीलता और साहस की भी शिक्षा उसे मिले।

(३) छः वर्ष के बाद बालकों को नृत्य, संगीत, कविता की शिक्षा मिलनी चाहिए। शारीरिक विकास के लिए खेल-कूद और व्यायाम, घुड़सवारी और मामूली हथियार चलाना भी सिखाना चाहिए। इसके अतिरिक्त गणित की भी शिक्षा इसी काल में आरम्भ हो जानी चाहिए। यह कार्य तेरह वर्ष की आयु तक चलता था।

(४) तेरह वर्ष के बाद सोलह वर्ष तक धार्मिक गीत, गणित तथा काव्य के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(५) सोलह वर्ष के बाद बीस वर्ष तक सैनिक शिक्षा की प्रधानता होनी चाहिए। युवकों को ऐसे व्यायाम की शिक्षा देनी चाहिए जो उनमें स्फूर्ति उत्पन्न करें।

(६) बीस वर्ष के बाद पहली कठिन परीक्षा। परीक्षा में सफल युवकों को उच्च-शिक्षा प्राप्त करना चाहिए और असफल युवकों को वाणिज्य व्यवसाय में लग जाना चाहिए।

(७) बीस वर्ष से तीस वर्ष तक युवकों को 'वैज्ञानिक अध्ययन' अर्थात् भिन्न-भिन्न वस्तुओं के आपसी सम्बन्ध को समझना पड़ता था।

(८) तीस वर्ष की आयु के बाद दूसरी परीक्षा। परीक्षा में सफल व्यक्तियों को तीस से पैंतीस वर्ष की आयु तक दर्शन, तथा भाषण-कला का अध्ययन करना पड़ता था। जो असफल हो जाते वे सेना में अथवा राज्य के कार्यालय में भर्ती हो जाते।

(९) पैंतीस वर्ष से पचास वर्ष तक उच्च अधिकारी पद पर आसीन होकर राज्य की सेवा करना।

(१०) पचास वर्ष के बाद अवकाश ग्रहण करके सत्य की खोज करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्लैटो ने ऐसा शिक्षा-संगठन बनाया कि उसमें व्यक्ति जीवन भर शिक्षा ग्रहण करता था और योग्यता के अनुसार कार्य करता था।

स्त्री-शिक्षा—प्लैटो की शिक्षा व्यवस्था में बालक और बालिकाओं को समान रूप से शिक्षा मिलती थी, क्योंकि वह स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं मानता था। उसका यह दृढ़ विचार था कि पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी कार्य कर सकती हैं, यद्यपि उनमें पुरुषों की तुलना में शारीरिक बल कम है। इसलिए प्लैटो ने नारी-शिक्षा की कोई अलग व्यवस्था नहीं की और बालक-बालिकाओं को एक ही प्रकार की शिक्षा देने का विधान बनाया।

समाज पर प्रभाव—प्लैटो की शिक्षा का समाज पर क्या प्रभाव हो सकता है? इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें प्लैटो के आदर्श-समाज (Utopia) को याद रखना चाहिए। प्लैटो की शिक्षा के सिद्धान्त और विधान आदर्श समाज के लिए बनाये गये थे। साथ ही प्लैटो मनुष्य का विकास इस प्रकार करना चाहता था कि उसमें विवेक उत्पन्न हो। उसका यह भी विश्वास था कि लोकतंत्र का अर्थ होता है सबको उन्नति करने का समान अवसर देना और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा शासन कराना। वह लोकतंत्र का अर्थ बहुमत नहीं मानता था। बहुमत को वह भेड़-बकरियों की व्यवस्था समझता था। इसलिए प्लैटो कुशल और ज्ञानी नागरिक बनाना चाहता था।

शिक्षा और समाज की दृष्टि से प्लैटो की दूसरी देन यह थी कि उसने व्यायाम और संगीत की शिक्षा में संतुलन स्थापित किया

और शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाया, यद्यपि उस समय मनो-विज्ञान नाम का कोई विषय अलग से नहीं था, वरन् वह दर्शन का एक अंग था। इसलिए प्लैटो ने दार्शनिक अध्ययन द्वारा समाज में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ाई जो भली भाँति सोच-समझ सकते थे। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि प्लैटो गणित को भी दर्शन का एक अंग मानता था। उसका विचार था कि गणित के द्वारा व्यक्ति स्पष्ट रूप से विचार कर सकता है और उसके नियम मनुष्य को दार्शनिक सत्य समझने में सहायक होते हैं। यही विचार कुछ आधुनिक दार्शनिकों का भी है जिनमें बर्टरैन्ड रसेल का नाम उल्लेखनीय है।

प्लैटो ने अपनी शिक्षा योजना द्वारा एथेन्सवासियों का नैतिक उत्थान करना चाहा। सोफिस्टों की शिक्षा का जो अहित-कर प्रभाव पड़ा और उसके कारण जो अराजकता बढ़ी, उसे भी प्लैटो ने अपनी योजना द्वारा सुधारना चाहा। दर्शन-शास्त्र के अध्ययन द्वारा व्यक्ति को विवेकशील बनाया। इस प्रकार प्लैटो ने आनेवाले युग का मार्ग प्रशस्त किया। प्लैटो के विचारों और सिद्धान्तों के प्रभाव शिक्षा के इतिहास में हमें स्पष्ट दिखाई देंगे और आज भी उसके सिद्धान्त उल्लेखनीय और अनुकरणीय हैं।

प्लैटो की त्रुटियाँ—जैसा कि हम जानते हैं, प्लैटो की कल्पना में एक आदर्श समाज—'यूटोपिया' था। उसी आदर्श समाज के निर्माण के लिए प्लैटो ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। वे ऐसे विचार हैं जिनसे सहमत होना सबके लिए सरल नहीं है। इसलिए उसमें त्रुटियाँ भी मिलती हैं। स्पष्ट है, कोई भी विचार हो जब तक उसे व्यवहार में न लाया जाय, तब तक वह पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। प्लैटो ने जो योजनायें बनाईं

उसे लोगों ने उसी समय अपनाया नहीं और न उसके अनुसार कार्य ही किया। फलतः प्लैटो के विचार केवल दार्शनिक रह गये और वे व्यावहारिक नहीं बनाये गये। यदि व्यवहार के द्वारा उन विचारों की परख होती तो यह संभव था कि प्लैटो उनमें कुछ सुधार कर सकता। जो भी हो, यह कहा जाता है कि प्लैटो के शिक्षा-सिद्धान्त में नियंत्रण अत्यन्त कठोर था और उससे व्यक्ति की स्वतंत्रता छिन जाती थी। दूसरी त्रुटि यह बताई जाती है कि प्लैटो ने राज्य को इतनी प्रधानता दी कि परिवार का कोई मूल्य ही नहीं रहा। तीसरी त्रुटि यह निकाली जाती है कि प्लैटो ने जो दार्शनिक शासकों की कल्पना की, वह अपूर्ण थी क्योंकि प्लैटो ने दार्शनिक योग्यता और नागरिकता में सुंदर सामंजस्य स्थापित नहीं किया।

प्लैटो में जो त्रुटियाँ निकाली गई हैं, उनका उत्तर दिया जा सकता है। लेकिन मुख्य बात यह है कि प्लैटो के विचार इतने गहन हैं कि उन्हें भली भाँति समझना सबके लिए संभव नहीं है। उन विचारों का जितना ही अध्ययन किया जाय, उतना ही अधिक ज्ञात होता है। इसलिए शिक्षा की दृष्टि से हमें प्लैटो के उन सिद्धान्तों को स्मरण रखना चाहिए जिनका प्रभाव आनेवाले युगों पर निरन्तर पड़ता आया है।

अरस्तू और उसकी शिक्षा

अरस्तू का परिचय—यूनान का तीसरा शिक्षा-शास्त्री अरस्तू था। यह प्लैटो का शिष्य था। अरस्तू का जन्म एथेन्स से लगभग २०० मील उत्तर की ओर स्टेगरा नामक स्थान में ईसा से तीन सौ चौरासी वर्ष पूर्व हुआ था। अरस्तू का पिता सिकन्दर के पितामह का मित्र और चिकित्सक था। अरस्तू को भी चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करना पड़ा। उसे आरम्भ ही से वैज्ञानिक अध्ययन के अवसर मिलते रहे। अरस्तू के पूर्व किसी दूसरे विद्वान ने वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया। इसीलिए अरस्तू को विज्ञान का जन्मदाता भी कहते हैं।

अरस्तू के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। उसके सम्बन्ध में एक कथा यह है कि उसने युवा-काल में अपनी पैतृक सम्पत्ति लुटाकर भूखों न मरने के लिए सेना में नौकरी कर ली। उसके बाद वह अपने जन्मस्थान स्टैगरा में लौट आया और चिकित्सा का कार्य करने लगा। तत्पश्चात् तीस वर्ष की आयु में प्लैटो के पास दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए गया। दूसरी कथा यह है कि अरस्तू अट्ठारह वर्ष की अवस्था में प्लैटो के पास अध्ययन के लिए गया था। इस प्रकार इन दोनों कथाओं से ज्ञात होता है कि अरस्तू ने अपना प्रारम्भिक जीवन अव्यवस्थित रूप से व्यतीत किया और बाद में प्लैटो के पास जाकर दर्शन-शास्त्र का अध्ययन किया।

प्लैटो से सम्पर्क—अरस्तू अत्यन्त प्रतिभाशाली युवक था और प्लैटो जैसा दार्शनिक शिक्षक जब उसे मिला तब उसकी

प्रतिभा और भी प्रस्फुटित हुई। प्लैटो ने अपने शिष्य अरस्तू को बड़े परिश्रम से शिक्षा दी और अरस्तू ने भी शिक्षा ग्रहण करने में कोई त्रुटि नहीं रखी। इसका फल यह हुआ कि शिष्य गुरु से भी अधिक उन्नति कर सका। अरस्तू के विद्वत्ता के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उसने एक पुस्तकालय अपना धन व्यय करके बनाया था। यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय पुस्तकें छपती नहीं थीं वरन् लिखित होती थीं। अतः पुस्तकों का मूल्य अधिक होता था।

सिकन्दर का शिक्षक—अरस्तू अपने युग का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् और दार्शनिक था। उस समय उसके और भी प्रतियोगी थे, जिनमें आइसोक्रेटीज़ का नाम उल्लेखनीय है। अरस्तू ने अपने प्रतियोगी आइसोक्रेटीज़ को नीचा दिखाने के लिए भाषण-कला का एक विद्यालय खोला। इस विद्यालय में धनी वर्ग के युवक भाषण-कला को शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे क्योंकि अरस्तू अत्यन्त योग्य शिक्षक था। इसी कारण सिकन्दर के पिता ने अरस्तू को सिकन्दर का शिक्षक नियुक्त किया। अरस्तू जब सिकन्दर का शिक्षक नियुक्त हुआ तब सारे यूनान में उसकी विद्वत्ता की धाक जम गई। सिकन्दर आरम्भ में बहुत ही उच्छृंखल युवक था। शिक्षा में उसका मन न लगता था लेकिन जब वह अरस्तू के सम्पर्क में आया तो उसमें संयम का विकास हुआ। वह अरस्तू का बहुत आदर करता था और उसे अपने पिता के समान मानता था।

सिकन्दर को शिक्षा देने के पश्चात् अरस्तू यात्रा करने के लिए निकल पड़ा और बहुत दिनों तक भ्रमण करने के बाद एथेन्स में लौट आया। इस समय अरस्तू की अवस्था ५२ वर्ष की

हो चुकी थी और एथेन्स पर सिकन्दर का अधिकार था। अरस्तू ने एथेन्स में आकर सिकन्दर के शासन-कार्य में सहायता पहुँचाई। राज्य के लिए योग्य व्यक्तियों की शिक्षा के लिए अरस्तू ने एक विद्यालय खोला। इस विद्यालय की रूप-रेखा को निश्चित करते समय अरस्तू ने अनुशासन का बड़ा ध्यान रखा; क्योंकि उस समय एथेन्स के वातावरण में सिकन्दर के विरुद्ध बातें हो रही थीं और किसी भी दिन विद्रोह हो सकता था। अरस्तू ने अपने जीवन के ५३ वें वर्ष में शिक्षा के जिन सिद्धान्तों की स्थापना की उन पर हम प्लैटो का प्रभाव पाते हैं। इतना ही नहीं, कुछ दृष्टियों से अरस्तू प्लैटो से भी बढ़ कर हैं।

अरस्तू के दार्शनिक विचार—अरस्तू ने प्लैटो की भाँति समाज के विकास और उन्नति के लिए यह आवश्यक समझा कि व्यक्ति में राजनीतिक बुद्धि उत्पन्न हो जिससे कि वह समाज का उपयोगी सदस्य और राज्य का कुशल नागरिक बन सके। जब तक अच्छे नागरिक न होंगे तब तक राज्य के सुंदर शासन में बाधाएँ उपस्थित होती रहेंगी। इसीलिए अरस्तू ने शिक्षा के द्वारा कुशल नागरिक बनाने की व्यवस्था की। प्लैटो की भाँति अरस्तू भी यह मानता था कि राज्य की सेवा करना ही जीवन की सफलता है। अतः उसने शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को जीवन पर्यन्त राज्य की सेवा में लगाए रखने की व्यवस्था की।

अरस्तू और प्लैटो की तुलना—अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य इस तथ्य में निहित था कि व्यक्ति और समाज में किसी प्रकार का विरोध न हो और दोनों मिल कर राज्य की सेवा करें। साथ ही जहाँ प्लैटो ने विचार (Idea) को प्रधानता दी, वहाँ अरस्तू ने आनन्द (Happiness) को मुख्य वस्तु माना। अरस्तू के अनुसार विचार

तो वस्तु को केवल रूप (Form) प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त उनका कोई उपयोग नहीं। इसके विपरीत प्लैटो यह मानता था कि विचार ही के द्वारा मनुष्य गुणी बनता है और गुण ही के सहारे उसमें नैतिकता का विकास होता है। इस प्रकार प्लैटो व्यक्ति में 'विचार' उत्पन्न कर नैतिकता का विकास करना चाहता था। लेकिन अरस्तू इसे न मान कर यह चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य के हित को अपने जीवन का उद्देश्य माने और व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध का आधार 'आनन्द' हो। यह आनन्द क्या है? जब तक हम इस तथ्य को नहीं समझते, तब तक अरस्तू को समझना कठिन है।

अरस्तू और आनन्द—अरस्तू के अनुसार जीवन का उद्देश्य अच्छाई (Goodness) नहीं, वरन् आनन्द है। आनन्द जीवन का साध्य है न कि साधन। इसके विपरीत जब हम अच्छे बनने की कोशिश करते हैं, तब इससे यह स्पष्ट होता है कि अच्छे बन कर हम वह वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं जिससे खुशी होती है। दूसरे शब्दों में हम अच्छाई के द्वारा आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। लेकिन आनन्द का यहीं अन्त नहीं होता। वास्तविक आनन्द इससे बढ़कर है और वह तब मिलता है जब कि मनुष्य अपनी सम्पूर्ण शक्ति के द्वारा इसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। मनुष्य की सम्पूर्ण शक्ति उसकी विचारशक्ति पर निर्भर है। इसी शक्ति के कारण मनुष्य मनुष्य में अन्तर पाया जाता है और इसी के आधार पर वह उन्नति और शासन करता है। मनुष्य की विचारशक्ति (Power of thought) का ज्यों ज्यों विकास होता है त्यों त्यों वह आनन्द की ओर अग्रसर होता है और जब उसका पूर्ण विकास हो जाता है, तभी उसे आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार आनन्द की प्राप्ति के लिए सबसे बड़ी

आवश्यकता विचारशक्ति है। विचारशक्ति ही पर मनुष्य के सभी गुण निर्भर करते हैं। विचार और तर्क करके ही मनुष्य यह निश्चय करता है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। दूसरे शब्दों में विचार ही मनुष्य के संयम, निर्णय, आदि का आधार है और इसी के द्वारा वह किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए साधन ढूँढ़ता है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी अच्छी वस्तु हम अच्छे ही साधन से प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में अच्छे साध्य के लिए अच्छा साधन आवश्यक है। इस प्रकार अरस्तू ने साध्य और साधन को समान महत्त्व प्रदान किया। इसका परिणाम यह हुआ कि साधन की अच्छाई (Excellence) पर बल दिया जाने लगा। इस अच्छाई को प्राप्त करने के लिए अरस्तू ने मध्यमा प्रतिपदा अथवा मध्यम मार्ग का (Golden Mean) का अनुसरण करने के लए कहा।

मध्यम मार्ग—अरस्तू के अनुसार किसी भी गुण की विशेषता तीन रूपों में (Triaeds) पाई जाती है। एक तो किसी गुण की अधिकता है, दूसरी न्यूनता और तीसरी माध्यमिकता। अरस्तू के अनुसार किसी भी गुण की अधिकता और न्यूनता दोनों ठीक नहीं है। इसलिए मनुष्य को मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। उदाहरण के लिए साहस का गुण है। साहस की अधिकता उतावलापन (Rashness) है और उसकी न्यूनता कायरता। इसी प्रकार मित्रता चाटुकारिता और कलह का मध्यमा प्रतिपदा (Golden mean) है। इसी तथ्य को हम महात्मा बुद्ध के उपदेश में भी पाते हैं। महात्मा बुद्ध ने सर्वप्रथम उपदेश दिया—

"भिक्षुओ! संन्यासी को चाहिए कि वह इन दो अन्तों का

सेवन न करे। कौन से दो अन्त? एक तो यह जो काम और विषय-वासनाओं का जीवन है, जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य और अनर्थकर है; और दूसरा यह जो शरीर को व्यर्थ ही पीड़ा पहुँचाना; (क्योंकि) यह भी अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य, अनर्थकर है। इन दोनों अन्तों को त्याग कर तथागत ने मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया है। ······कौन सी है यह मध्यमा प्रतिपदा? यही जो (१) ठीक (सम्यक् विचार), (२) ठीक संकल्प, (३) ठीक वाणी, (४) ठीक कर्म, (५) ठीक आजीविका, (६) ठीक व्यायाम, (७) ठीक स्मृति (चित्त-वृत्ति) और ठीक समाधि।"[1]

तथागत के इस उपदेश का प्रकाश अरस्तू के मध्यम मार्ग पर पर्याप्त रूप से पड़ता है और हमें समझने में भी सरलता होती है। इसीलिए इसका उल्लेख यहाँ अपेक्षित है। महात्मा बुद्ध ने जिन आठ बातों का उल्लेख किया है, वे मनोवैज्ञानिक भी हैं। इसका विश्लेषण हमें बौद्ध-शिक्षा के इतिहास में मिलेगा।

सम्यक् कार्य का महत्त्व—अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'एथिक्स' में लिखा है कि जब कोई व्यक्ति ठीक (सम्यक्) कार्य करता है तभी वह अच्छा और गुणी माना जाता है। इसलिए अरस्तू का विचार था कि व्यक्ति कोई काम ठीक से इसलिए नहीं करता कि उसमें अच्छाई (Excellence) है, वरन् उसमें अच्छाई इसलिए है कि वह ठीक से कार्य करता है।[2] इस प्रकार

---

१. धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र बुद्धचर्या।

2 ·········We do not act rightly because we have virtue or excellence, but we rather have these because we have acted rightly······" The story of Philosophy.

हम देखते हैं कि अरस्तू भी 'ठीक से काम' को अधिक महत्त्व प्रदान करता था। उसके अनुसार ठीक से कार्य करने की आदत मनुष्य को डालनी चाहिए। तभी उसमें गुण और अच्छाई (Virtue and excellence) उत्पन्न होती है।

सम्यक् कार्य और मध्यम मार्ग के पक्ष में अधिकतर दार्शनिकों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। अरस्तू के गुरु प्लैटो ने भी गुण उसी कार्य को माना जिसमें किसी प्रकार का विरोध न हो (Virtue in harmonious action)। इसी प्रकार सुकरात जब ज्ञान और गुण में समन्वय स्थापित करता है, तब उसका तात्पर्य सम्यक् कार्य से होता है। अरस्तू ने इस सत्य को अधिक स्पष्ट किया, इसमें कोई संदेह नहीं।

अरस्तू का आदर्श व्यक्ति—अरस्तू ने अपने दार्शनिक विचारों और सिद्धान्तों द्वारा जीवन में आनन्द की प्राप्ति पर जोर दिया। आनंद की प्राप्ति के लिए व्यक्ति में अच्छाई और गुण होना चाहिए जो कि सम्यक् कार्य पर निर्भर है। जब व्यक्ति यह सब कर ले तभी वह आदर्श व्यक्ति बन सकता है। अपनी पुस्तक 'एथिक्स' में अरस्तू ने आदर्श व्यक्ति का वर्णन किया है जो इस प्रकार है:—

वह बिना प्रयोजन अपने को संकट में नहीं डालता क्योंकि ऐसी वस्तुएँ बहुत कम हैं जिनके लिए उसे चिन्ता करनी पड़ती है; लेकिन वह अवसर आने पर अपनी जान भी देने के लिए तैयार रहता है क्योंकि वह जानता है कि किन्हीं परिस्थितियों में मृत्यु जीवन से भी श्रेयस्कर है। वह दूसरों की सेवा के लिए सदा तत्पर रहता है और दूसरों से अपनी सेवा कराने में लज्जित होता है। किसी पर दया करना श्रेष्ठता है और

किसी की दया का पात्र बनना लघुता। ... वह क्या पसन्द करता है और क्या चाहता है, यह स्पष्ट होता है। वह बिना हिचक के साफ साफ बातें कहता और कार्य करता है। वह प्रशंसा से कभी फूलता नहीं क्योंकि उसकी दृष्टि में कोई वस्तु बड़ी नहीं है। वह सबसे मित्रता का व्यवहार रखता है और किसी का दास बनना नहीं चाहता। वह अपने मन में नीच विचारों को नहीं रखता और वह दूसरों द्वारा की गई हानियों को भूल जाता है। उसे बातचीत करने का शौक नहीं है। वह यह नहीं चाहता कि उसकी प्रशंसा हो और दूसरों की निंदा। वह दूसरों की, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं की भी निंदा और बुराई नहीं करता। उसकी वाणी में गंभीरता होती है और वह नपे-तुले शब्दों का प्रयोग करता है। वह कभी जल्दी नहीं करता क्योंकि वह किसी वस्तु के सम्बन्ध में चिंतित नहीं रहता। वह किसी बात को बहुत जोर देकर भी नहीं कहता क्योंकि वह किसी भी बात को बहुत महत्त्व नहीं देता। वह जीवन के संघर्षों का सामना गौरव और गरिमा से करता है और परिस्थितियों से यथासंभव लाभ उठाकर अपनी शक्ति का उसी प्रकार प्रयोग करता है जैसे युद्ध में एक सेनानायक। वह अपना सबसे बड़ा मित्र होता है और एकान्त में बड़े आनन्द के साथ रहता है, इसके विपरीत जो व्यक्ति गुणहीन और अयोग्य है, वह स्वयं अपना सबसे बड़ा शत्रु है और वह एकान्त से घबराता है।"[1]

अरस्तू के आदर्श व्यक्ति का जो वर्णन ऊपर दिया गया है उससे हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि वह किस प्रकार के व्यक्ति को चाहता था। इसी व्यक्ति की तैयारी में अरस्तू की शिक्षा की रूपरेखा निश्चित हुई है।

---

* (1) Ethics, X 7.;

अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य—अरस्तू के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आनन्द (Happiness) की प्राप्ति है। यह आनन्द मनुष्य को उस समय प्राप्त होता है जब कि सम्यक् (ठीक) कार्य करता है। ठीक से कार्य करने की आदत डालना शिक्षा का अनुषांगिक उद्देश्य है। ठीक से कार्य करने की शिक्षा में व्यक्ति का विकास भी निहित है। इस प्रकार अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का विकास इस दृष्टि से करना है कि वह विचारशक्ति के द्वारा सम्यक् कार्य करे और मध्यम मार्ग का अनुसरण कर आनन्द की प्राप्ति करे।

अरस्तू ने शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करते समय बालक के स्वभाव और मनोविज्ञान को भी ध्यान में रखा। प्लैटो ने व्यक्ति के मनोविज्ञान का जो अध्ययन आरम्भ किया था, उसे अरस्तू ने वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा पूर्ण किया। उस अध्ययन के आधार पर अरस्तू का मत था कि "बालक असभ्य व्यक्ति की भाँति सुख के पीछे पड़ा रहता है।"[1] आरम्भ में बालकों में इंद्रियजन्य संवेदन और भावनाओं की प्रधानता होती है। उनमें अनुकरण, उत्सुकता, स्पर्धा आदि की प्रवृत्तियाँ होती हैं। अतः शिक्षा का उद्देश्य इन प्रवृत्तियों का विकास इस प्रकार करना है कि बालकों में अच्छी आदतें पड़ें और वे ठीक से कार्य कर सकें।

शिक्षा का संगठन—अरस्तू ने बालक में अच्छी आदतें डालने और उसके चरित्र का विकास करने के लिए शिक्षा के विषय और संगठन को निश्चित किया। इस सम्बन्ध में हमें अरस्तू के शिक्षा सम्बन्धी उन प्रमुख विचारों से परिचित हो जाना चाहिए जो उसने अपनी पुस्तक 'पालीटिक्स' में व्यक्त

---

(1) Politics, VII, II.

किये हैं। अरस्तू का मत था कि शिक्षा पर राज्य (State) का नियंत्रण होना चाहिए। जिन वस्तुओं के द्वारा शासन के विधान को शक्ति मिले, उन्हें शिक्षा में स्थान देना चाहिए। नागरिक की शिक्षा भी शासन के अनुरूप होनी चाहिए। जब विद्यालयों पर राज्य (State) का नियंत्रण होगा, उस समय यह संभव होगा कि आवश्यकतानुसार लोगों को वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योग-धंधों से हटाकर कृषि-कार्य में लगा दिया जाय। शिक्षा के द्वारा मनुष्य को यह भी सिखाया जाय कि वह, अपनी सम्पत्ति का पूर्णाधिकारी होते हुए भी, दूसरों के साथ मिलकर उसका उपभोग कर सके। दूसरे शब्दों में अरस्तू इस पक्ष में था कि आवश्यकतानुसार व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को समाज के सुख के लिए व्यय करे। लेकिन इन सबसे अधिक अरस्तू भावी नागरिक के लिए अनुशासन की शिक्षा आवश्यक मानता था। शिक्षा के विषय और संगठन ऐसे हों जो अनुशासन और नियम-पालन की भावना का विकास करें। अरस्तू का विश्वास था कि योग्य अधिकारी वही व्यक्ति बन सकता है जिसमें अनुशासन और नियम-पालन की भावना हो। इसलिए बालक की शिक्षा में अनुशासन और नियम-पालन का पूरा ध्यान रखा जाय। जब बालक में अनुशासन की प्रवृत्ति होगी तभी वह योग्य नागरिक बन सकता है। इस प्रकार के योग्य नागरिक बनाना तभी संभव होगा जब कि शिक्षालयों पर राज्य का नियंत्रण हो। राज्य शिक्षा की योजना बनाकर शिक्षा का प्रबन्ध करे तभी शासन-कार्य सफलतापूर्वक हो सकता है। इसलिए शिक्षा द्वारा युवक को यह भली भाँति अनुभव करा देना चाहिए कि राज्य से ही उसे सुख प्राप्त होते हैं। यदि राज्य न हो तो उसे सुख नहीं मिल सकता क्योंकि राज्य ही समाज का संगठन करके उसकी रक्षा करता है

और नियम-पालन करा कर स्वतंत्रता प्रदान करता है। यदि लोग नियम-पालन न करें तो सबकी जान हर समय ख़तरे में रहे और किसी को किसी भी तरह की स्वतंत्रता न मिले। इस प्रकार अरस्तू शिक्षा द्वारा व्यक्ति को राज्य की सेवा और रक्षा के लिए तैयार करना चाहता था। इसीलिए शिक्षा के संगठन पर राज्य का नियंत्रण भी अरस्तू चाहता था।

शिक्षा के विषय—अरस्तू ने शिक्षा के लिए तीन अवस्थायें निश्चित कीं। प्रथम अवस्था जन्म से सात वर्ष की थी। इस अवस्था में बालक की प्रारम्भिक शिक्षा होती थी। प्रारम्भिक शिक्षा के विषयों में खेल-कूद को प्रधान स्थान दिया। अरस्तू शारीरिक विकास को आवश्यक मानता था। उसका विचार था कि स्वस्थ शरीर ही में स्वस्थ मस्तिष्क हो सकता है। लेकिन वह स्पार्टी शिक्षा की भाँति व्यायाम की अति नहीं चाहता था। वह शारीरिक विकास के लिए अधिक शारीरिक परिश्रम के पक्ष में नहीं था क्योंकि उसका विश्वास था कि "अधिक शारीरिक परिश्रम से मस्तिष्क थक जाता है और बौद्धिक परिश्रम से शरीर।" सात वर्ष के बाद चौदह वर्ष की अवस्था तक लिखना-पढ़ना, संगीत और साधारण ज्ञान शिक्षा के प्रधान विषय थे और साथ ही व्यायाम तथा खेल-कूद की भी व्यवस्था थी। चौदह वर्ष के बाद इक्कीस वर्ष तक में गणित, ज्योमिति और खगोल की शिक्षा होनी चाहिए। इक्कीस वर्ष के बाद अरस्तू युवकों के लिए नीति-शास्त्र, मनोविज्ञान और राजनीति का अध्ययन आवश्यक मानता था क्योंकि राज्य-कार्य में भाग लेने के लिए इन विषयों का ज्ञान अपेक्षित है।

शिक्षा की पद्धति—अरस्तू की शिक्षा-पद्धति का प्रधान

आधार 'अनुभव' था। उसका विचार था कि बालक की शिक्षा की पद्धति उसके अनुभव पर निर्भर होनी चाहिए। अरस्तू की शिक्षा-पद्धति में दूसरा सिद्धान्त 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' था। जब विद्यार्थी को किसी विषय की शिक्षा देनी हो तो उसके लिए ज्ञात से अज्ञात की ओर ले जाने की पद्धति प्रयोग में लानी चाहिए। अरस्तू ने शिक्षा की जो पद्धतियाँ निश्चित कीं उन्हें हम आजकल प्रयोग में लाते हैं। यह सत्य है कि इन पद्धतियों में वह निखार और स्पष्टता न थी जो आजकल है।

यह तो हम जानते हैं कि अरस्तू को वैज्ञानिक पद्धति बहुत पसन्द थी। इसलिए शिक्षा में अरस्तू यह चाहता था कि किसी विषय के सम्बन्ध में सभी बातों का ज्ञान करा कर बालक द्वारा निष्कर्ष निकलवाना चाहिए। इस पद्धति को आजकल 'आगमन पद्धति' (Inductive Method) कहते हैं। दूसरे शब्दों में अरस्तू की शिक्षा-पद्धति वैज्ञानिक थी और वह अनुभव, तर्क और विचार पर आधारित थी।

समाज पर प्रभाव—अरस्तू की शिक्षा का तत्कालीन समाज पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना कि आनेवाले युग पर। अरस्तू की रचनायें मिश्र और अरब देशों में गईं और वहाँ उनका अनुवाद हुआ। इन अनुवादों का प्रभाव उन देशों की संस्कृति पर पड़ा। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म पर भी अरस्तू का प्रभाव पड़ा। तात्पर्य यह है कि अरस्तू के बाद का काल और आजकल भी अरस्तू के विचारों से प्रभावित है।

अरस्तू अपने तत्कालीन एथेन्स को प्रभावित नहीं कर सका। इसका कारण उसका सिकन्दर के शासन का पक्षपात था। एथेन्स पर मेसीडोनियन लोगों का अधिकार था और

अरस्तू इनकी सहायता करता था। इसलिए एथेन्स के लोग अरस्तू को नहीं चाहते थे। अरस्तू भी अपने विचारों को राज-नीति की भूमिका में निश्चित करता था क्योंकि उसके लिए राज-नीति सबसे बढ़कर थी। इसलिए वह राजनीति की दृष्टि से ही सभी वस्तुओं को देखता और समझता था। साथ ही वैज्ञानिक होने के कारण वह आगमन पद्धति का अनुसरण करता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तू का तत्कालीन समाज पर प्रभाव न पड़कर, आगामी युगों पर पड़ा और उसकी वैज्ञानिक विचारधारा से विश्व में विज्ञान का विकास हुआ।

अरस्तू के बाद यूनानी शिक्षा

अरस्तू का अंत—अरस्तू के जीवन के अंतिम काल में एथेन्स की दशा बिगड़ चली थी। इसके कई कारण थे। यह तो हमें ज्ञात ही है कि एथेन्सवासी सिकन्दर का विरोध आरम्भ से ही कर रहे थे क्योंकि सिकन्दर एथेन्स का निवासी नहीं था। अरस्तू भी एथेन्स का रहनेवाला नहीं था। इसलिए एथेन्स के लोग दोनों का विरोध करते थे। इसी समय अरस्तू के भतीजे कैलिस्थनीज़ को सिकन्दर ने फाँसी की सजा दी, क्योंकि उसने सिकन्दर को देवता की भाँति नहीं माना। अरस्तू ने सिकन्दर की आज्ञा का विरोध किया और कहा कि फाँसी नहीं होनी चाहिए। सिकन्दर कब इसे सुनने लगा और उसने कहा कि मैं अरस्तू को भी फाँसी दे सकता हूँ। मगर फिर भी, अरस्तू सिकन्दर की सहायता करता ही गया।

इसी बीच ईसा से ३२३ व० पू० में सिकन्दर की मृत्यु हुई। मृत्यु का समाचार सुनते ही एथेन्स के लोग खुशी से पागल हो गये क्योंकि उन्हें अब आजादी मिलनेवाली थी। सिकन्दर की मैसीडोनिया की पार्टी निकाल बाहर की गई और उसीके साथ अरस्तू का भी आदर, सम्मान और अधिकार जाता रहा। जब एथेन्स के लोगों का शासन हुआ तो यूरीमेडान (Eurymedon) नामक पुरोहित ने अरस्तू पर यह दोष लगाया कि वह धर्म के विरुद्ध प्रचार करता है, इसलिए उस पर मुकद्मा चलाना चाहिए। अरस्तू ने चालाकी की और एथेन्स छोड़ कर चला गया

क्योंकि वह नहीं चाहता था कि उसकी भी मौत सुकरात की भाँति हो। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अरस्तू का एथेन्स छोड़कर जाना कोई कायरता न थी क्योंकि एथेन्स में यह नियम था कि यदि अपराधी चाहे तो एथेन्स छोड़कर जा सकता था। वास्तव में एथेन्स से निकल जाना स्वयं एक बड़ी सजा थी।

एथेन्स छोड़कर अरस्तू चालसिस (Chalcis) नामक स्थान में आया। यहाँ आकर वह बीमार पड़ा। इस समय अरस्तू बड़ा निराश हो चुका था क्योंकि उसने जीवन भर जिस राज्य के लिए कार्य किया वह समाप्त हो चुका था। इसलिए उसकी बीमारी उसके मौत का कारण हुई। अरस्तू ने विष पान कर अपने प्राण ३२२ ई० पू० में दिये। इस प्रकार अरस्तू का अंत हुआ।

सार्वलौकिक युग—इसके बाद एथेन्स और यूनान में एक ऐसा युग आता है, जिसे हम सार्वलौकिक युग कह सकते हैं। इस युग में सुकरात, प्लैटो और अरस्तू जैसे दार्शनिक न थे, मगर फिर भी इनकी शिक्षाओं का प्रभाव था। फलतः यूनानी समाज में सार्वजनीन शिक्षा का प्रसार था। लेकिन इस सार्वजनीन (Universal) शिक्षा का प्रभाव यह पड़ा कि जहाँ लोगों में एक ओर उदारता आई वहीं दूसरी ओर उनमें व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का विकास हुआ। इसका कारण यह था कि उस समय यूनानी सभ्यता और संस्कृति का आस-पास के देशों में प्रसार हो चुका था और यूनानियों में पहले की सी तीव्र राष्ट्रीयता न रह गई। फलतः उनकी उदारता से जहाँ लोक-भावना का पोषण हुआ, वहीं उनमें समाज के प्रति उत्तरदायित्व की कमी आ गई और वे व्यक्तिवादी बनने लगे। साथ ही यूनान की परम्परा यह भी

रही है कि समय-समय पर सुकरात, प्लैटो और अरस्तू जैसे दार्शनिक पथ-प्रदर्शन का कार्य करते थे। लेकिन अब ऐसे, दार्शनिकों का अभाव था जो व्यक्ति, समाज और राज्य में एक सुंदर समन्वय स्थापित करते। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों में व्यक्तिवादी भावना का विकास हुआ, समाज और राज्य के प्रति उदासीनता आई। साथ ही नैतिकता का भी ह्रास हुआ क्योंकि नैतिकता का आधार सामाजिक कर्त्तव्य और राज्य के प्रति निष्ठा थी। अब लोगों को केवल अपनी चिंता थी और व्यक्ति सभी सामाजिक बंधनों से अपने को मुक्त समझने लगा। ऐसी दशा में नैतिकता का प्रश्न ही कब उठता है? हाँ, जो कुछ नैतिकता बची वह धार्मिक क्षेत्रों में ही रह सकी, अन्यथा समाज और राज्य से नैतिकता का कोई सम्बन्ध अब न रह सका। लेकिन साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नैतिकता का जब राज्य से सम्बन्ध न रहा, तब वह राजनीतिक प्रभावों से मुक्त होकर सार्वलौकिक हितों में लग गई और यूनानी लोगों में उस भावना और प्रवृत्ति का विकास हुआ जो विश्व की एकता और मानवता की मूल कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में यूनानियों में अब ऐसी राष्ट्रीयता नहीं रही जो अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध करती।

शिक्षा-संस्थायें—इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप यूनानी शिक्षा में ऐसी संस्थाओं का विकास हुआ जो सार्वलौकिक आदर्शों के अनुकूल थीं। इन संस्थाओं के क्रमिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से यह आवश्यक है कि हम प्रमुख शिक्षा-संस्थाओं से परिचित हो लें।

भाषा की शिक्षा और भाषण-कला—यूनानी-शिक्षा में

सोफिस्टों के आने पर तर्क और भाषण-कला का महत्त्व इसलिए अधिक हो गया कि इसके द्वारा व्यक्ति यूनानी समाज में आदर का स्थान पा सकता था। सभाओं में जो व्यक्ति जितनी ही कुशलता से शब्दों का प्रयोग कर सकता, और तर्क उपस्थित कर सकता था, वह उतना ही विद्वान् समझा जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग सारी शक्ति लगा कर यह सीखने लगे कि कोई बात कैसे कही जाय। क्या बात कही जाय इसकी ओर ध्यान कम दिया गया क्योंकि उनकी धारणा यह बन गई कि गलत बात भी यदि अच्छे ढंग से कही जाय तो वह सही मालूम पड़ेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा की बनावट पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा और जिन बातों को भाषा के माध्यम से कहना है, उनकी अवहेलना होने लगी। इसलिए भाषा की बनावट और भाषण-कला की शिक्षा के लिए शिक्षालय भी खोले गये। लेकिन आरम्भ में सुकरात ने इस बात की कोशिश की कि जो कुछ कहा जाय उसमें तत्त्व भी हो। सुकरात, प्लैटो और अरस्तू ने जो प्रयास किये उसके फलस्वरूप यूनानी दर्शन शास्त्र का विकास हुआ था। पर अरस्तू के प्रतियोगी आइसोक्रेटीज़ ने भाषण-कला का जो शिक्षालय चलाया था, वह भलीभाँति चलता रहा। इतना ही नहीं उसके विद्यालय में विदेशों से भी विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे। मगर सुकरात, प्लैटो और अरस्तू ने जिस दार्शनिक धारा को प्रवाहित किया उसके फलस्वरूप यूनान में दार्शनिक विद्यालयों की नींव पड़ी।

दार्शनिक विद्यालय—यूनान में दार्शनिक विद्यालयों का आरम्भ प्लैटो और अरस्तू के समय से हो गया था। उस समय कुछ विद्यार्थी इन दार्शनिकों से दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए आते थे। कुछ समय के बाद प्लैटो ने एकेडेमी और

अरस्तू ने लीक्यूम (Lyceum) की स्थापना की। इन दार्शनिक विद्यालयों की अपनी कुछ सम्पत्ति भी होती थी। प्लैटो और अरस्तू के बाद यह नियम हो गया कि इन विद्यालयों का कोई प्रधानाध्यापक नियुक्त हो। इन विद्यालयों के विद्यार्थियों को विद्यालय के व्यय के लिए शुल्क भी देना पड़ता था। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यूनानी-शिक्षा में शुल्क देने की परिपाटी सोफिस्टों ने चलाई थी और इस परिपाटी का आरम्भ में विरोध भी हुआ था। लेकिन अब विद्यालयों की स्थापना हो गई थी और उनके व्यय के लिए विद्यार्थियों से शुल्क लेना स्वाभाविक था। इस प्रकार शिक्षालयों की व्यवस्था के लिए शुल्क लेने की परिपाटी चल पड़ी और राज्य भी अपने आर्थिक उत्तरदायित्व से बच गया। इसलिए अब जो चाहे शिक्षालय खोल सकता था। फलतः एकेडेमी और लीक्यूम के अतिरिक्त दो और विद्यालय खोले गये। एक विद्यालय तो जेनो (Zeno) ने एक मंदिर के बरामदे में खोला था। इस विद्यालय के विद्यार्थी 'स्टोइक्स' (Stoics) कहे जाते थे। दूसरा विद्यालय एपीक्यूरस (Epicurus) ने अपने स्थान पर ही खोला। एपीक्यूरस का विद्यालय भी दर्शन-शास्त्र के अध्ययन के लिए बहुत प्रसिद्ध था और इसी के आधार पर 'एपीक्यूरियन दर्शन' की एक धारा ही निकल पड़ी। एपीक्यूरियन दर्शन की विशेषता यह थी कि इसमें 'खाओ पियो मौज करो' का सिद्धान्त प्रमुख था।

अरस्तू का विद्यालय—यह तो हम जानते ही हैं कि अरस्तू ने जो दार्शनिक विद्यालय खोला था, उसका नाम लीक्यूम था। अरस्तू के इस विद्यालय में अनुशासन की कठोरता और अन्य कठिनाइयाँ भी थीं। फलतः यह विद्यालय अधिक विकसित न हो सका। मगर फिर भी अरस्तू के बाद के प्रधानाचार्य थियोफ्रेस्टस

(Theophrastus) के समय में लीक्यूम में विद्यार्थियों की संख्या लगभग दो हज़ार थी। एक विद्यालय में दो हज़ार की संख्या कम नहीं हो सकती। लेकिन अरस्तू इससे भी अधिक उन्नति चाहता था।

प्रधानाचार्य थियोफ्रेस्टस के बाद प्रधानाचार्य के पद के चुनाव की व्यवस्था चल पड़ी। विद्यालय के अन्य अध्यापक मिल कर अपने प्रधान का चुनाव करते थे। आजकल के विश्वविद्यालयों में वाइस चांसलर के चुनाव की प्रथा संभवतः लीक्यूम की प्रथा से प्रभावित है। इसके अतिरिक्त कुछ समय के बाद प्रधानाचार्य को वेतन भी मिलने लगा और अब वेतनभोगी स्थान के लिए चुनाव शासन अथवा नृप के द्वारा होने लगा।

विद्यालयों की प्रगति—यूनानी विद्यालयों का विकास इस प्रकार एक निश्चित दिशा में होने लगा। बहुत से लोग विद्यालयों में अध्यापन-कार्य करने लगे और विद्यार्थियों को घर पर पढ़ाने के लिए जाने लगे। दूसरे शब्दों में शिक्षकों की दशा वर्तमान काल जैसी हो चली। हाँ, उनकी अवहेलना वर्तमान युग के अध्यापकों की भाँति न थी। इसलिए विद्यालयों की प्रगति भली भाँति होने लगी। लेकिन अरस्तू के विद्यालय लीक्यूम की प्रगति न हो सकी। इसका कारण यह था कि अरस्तू के विद्यालय में नये दर्शन का विकास न हो सका और साथ ही अरस्तू के बाद के आचार्यों ने अरस्तू के दर्शन की सुंदर व्याख्या भी नहीं की। फलतः अरस्तू के विद्यालय की प्रगति रुक गई। लेकिन अन्य तीन विद्यालयों की प्रगति संतोषजनक थी। प्लैटो की एकडेमी में 'प्लैटोवाद' (Platonism) जेनो के विद्यालय में स्टोइकवाद (Stocism) और एपीक्यूरस के विद्यालय में एपीक्यूरसवाद (Epicureanism)

पर उतना बल नहीं दिया जाता था जितना कि पहले। साथ ही अब अध्ययन काल लगभग सात वर्ष का हो गया था। इस प्रकार इन विश्वविद्यालयों की दशा आधुनिक विश्वविद्यालयों की भाँति हो चली थी। जब हम मध्यकालीन पश्चिमी शिक्षा का अध्ययन करेंगे तो हम विश्वविद्यालयों के एक क्रमिक विकास का पूर्ण ज्ञान हो सकेगा। अतः यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

यूनानी शिक्षा का अंत—यूनानी शिक्षा की विकास और प्रगति से परिचित हो जाने के बाद हम यूनानी शिक्षा के अंत की ओर अग्रसर होते हैं। यह अंत वास्तव में एक प्रकार का रूप परिवर्त्तन है। जब रोम निवासियों का आधिपत्य बढ़ा तो उनकी शिक्षा का प्रभाव भी यूनान पर पड़ा। इस प्रभाव के फलस्वरूप यूनानी शिक्षा का अंत हुआ और एक नई शिक्षा का विकास हुआ। इस नवीन शिक्षा में यूनानी शिक्षा के अंश बहुत मात्रा थे। मगर फिर भी रोमी प्रभाव के कारण इसने एक ऐसा रूप धारण किया जो पुराना होते हुए भी नया था। रोम के शासन का प्रभाव हमें यूनानी शिक्षा के उद्देश्य, संगठन, पद्धति, विषय आदि पर दिखाई देता है। मगर फिर भी यूनानी शिक्षा में जो अच्छाई थी उसका प्रभाव भी रोमी शिक्षा पर पड़ा। इसे हम रोमी शिक्षा के इतिहास में देखेंगे।

रोमी शिक्षा : सांस्कृतिक भूमिका

यूनान के बाद पश्चिमी शिक्षा के इतिहास में रोम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रोम ने पश्चिमी सभ्यता के विकास और प्रसार में बड़ा काम किया है और यदि रोम न होता तो शायद पश्चिमी सभ्यता की वर्तमान उन्नति न हो पाती। अतः रोम का पश्चिमी संस्कृति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसे हम रोमी-शिक्षा का अध्ययन करते समय देखेंगे। लेकिन इसके पूर्व यह आवश्यक है कि हम रोम की ऐतिहासिक भूमिका से भी परिचित हो लें। इस परिचय के फलस्वरूप रोम की कहानी अधिक स्पष्ट और रोचक होगी।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—रोमी इतिहास के आरम्भ में इटली के प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग तथा सिसिली द्वीप में यूनानी लोग रहते थे। उन दिनों बड़ी-बड़ी नावें बन चुकी थीं, इसलिए यूनानियों ने उन प्रदेशों में भी बसना शुरू किया जो उनके देश के निकट थे। अतः इस प्रकार जाकर बसे यूनानी लोग इटली प्रायद्वीप के मूल-निवासियों की तुलना में अधिक सभ्य थे। इटली में उस समय कई जातियाँ बसती थीं और उनका सम्बन्ध बाहरी जगत् से न हो सका था। जो जातियाँ उस समय इटली में थीं, उनमें से एक लैटिन जाति थी। लैटिन जाति के लोग इटली प्रायद्वीप के मध्यभाग में रहते थे। प्रायद्वीप के उत्तरी भाग में एट्रस्कन (Etruscan) जाति के लोग रहते थे। लेकिन इन लोगों को आल्प पर्वत के दूसरी ओर रहनेवाली गाल (Gaul)

जाति के लोगों ने आकर दक्षिणी भाग की ओर भगा दिया और इनके स्थान पर रहने लगे।

एट्रस्कन लोग—इटली के री भाग में रहनेवाले एट्रस्कन लोग, जिन्हें गाल जाति के लोगों ने दक्षिण की ओर भगा दिया था, सभ्यता के पथ पर अग्रसर हो रहे थे। इन लोगों ने बर्बर जातियों से रक्षा के लिए अपनी बस्तियों के चारों ओर ऊँची दीवारें बना दी थीं। इस प्रकार एट्रस्कन के नगर किलों में बसे थे। आने-जाने के लिए इन नगरों में अच्छी सड़कें बनी हुई थीं। एट्रस्कन लोग वाणिज्य-व्यवसाय और कृषि-कार्य भी करते थे। इतना ही नहीं, वे लिखना-पढ़ना भी जानते थे। इस प्रकार रोमी इतिहास के आरम्भ में एट्रस्कन लोग सभ्यता की ओर बढ़ रहे थे।

लैटिन लोग—इटली में दूसरी जाति लैटिन लोगों की थी। ये लोग टाइबर नदी के बायें किनारे पर रहते थे। यह स्मरणीय है कि वर्तमान रोम नगर टाइबर नदी के किनारे सात पहाड़ियों पर बसा हुआ है। टाइबर नदी इटली के पश्चिमी किनारे की ओर बहकर समुद्र में गिरती है। अतः इटली का दक्षिणी भाग टाइबर नदी के बाँयें किनारे पर पड़ता है और उत्तरी भाग दाहिने किनारे पर। टाइबर के दाहिने किनारे पर एट्रस्कन लोग रहते थे।

लैटिन लोगों का प्रधान कार्य भेड़ें चराना और खेती करना था। ये लोग पहाड़ों में झोपड़ियाँ बना कर रहते थे और झोपड़ियों की रक्षार्थ चारों ओर दीवार बना देते थे। इस प्रकार इनके छोटे-छोटे नगरों का विकास हुआ और कुछ समय के बाद इन लोगों ने यह अनुभव किया कि यदि कई नगरों के लोग मिलकर

रक्षा की योजना बनावें तो बड़ा अच्छा हो। फलतः कई नगरों के लोगों ने मिलकर रक्षार्थ और समय-समय पर नये स्थानों को जीतने के लिए भी, संगठन बनाया। संगठन ही शक्ति है। इसलिए लैटिन लोगों ने इस संगठन के द्वारा केवल अपनी रक्षा ही नहीं की, वरन् इन्होंने अपना विस्तार भी आरम्भ किया। कुछ दिनों में (५१० ई० पू०) इन लोगों ने टाइबर नदी के दोनों किनारों पर अधिकार कर लिया। टाइबर नदी के मुहाने से लेकर उद्गम स्थान की ओर का एक बड़ा भू-भाग लैटिन लोगों के अधिकार में आ गया। इस प्रकार इनकी शक्ति बढ़ती गई और २५० ई० पू० में लैटिन लोगों ने सम्पूर्ण इटली पर अधिकार प्राप्त कर लिया। इटली के दक्षिणी भाग में जो यूनानी नगर थे उन्हें भी इन लोगों ने जीत लिया और फिर पचास वर्षों के बाद सिसिली, सार्डीनिया और स्पेन पर भी इनका अधिकार हो गया।

रोमी साम्राज्य का विस्तार—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनकी शक्ति संगठन में थी। लेकिन इनकी आंतरिक-शक्ति का एक दूसरा भी कारण था। यह कारण इनकी धार्मिक भावना में दिखाई पड़ता है। ये लोग एक धर्म के माननेवाले थे। इस प्रकार इनमें धार्मिक संगठन भी था। संगठन की इस शक्ति के बल से इन लैटिन लोगों को विजय पर विजय प्राप्त होती गई और उस समय भूमध्यसागर के चारों ओर जितने भी देश थे, उनपर इनका अधिकार होता गया। कारथेज, मिश्र, मेसोपोटामिया, फिलस्तीन, सीरिया, यहाँ तक कि एथेन्स और यूनानी राज्य सभी इनके अधिकार में आ गये। इस बड़े साम्राज्य की राजधानी टाइबर नदी के किनारे स्थित रोम नगर बना और फिर इसीके आधार पर यहाँ के लोग रोमी अथवा 'रोमन'

कहलाये। रोम को राजधानी क्यों बनाया गया? इसके भी वही कारण थे जो कि किसी भी देश की राजधानी की स्थिति के लिए हो सकते थे। रोम का एक केन्द्रीय स्थान था और यह एक नदी के किनारे बसा था। नदी के द्वारा समुद्र में जाने की सुविधा थी साथ ही यहाँ से रक्षा-कार्य भी भली भाँति हो सकता था। इन्हीं सब कारणों से रोम इस नये साम्राज्य का केन्द्र बना।

सामाजिक जीवन—रोमी साम्राज्य के विस्तार की कहानी बड़ी रोचक है और इसे इतिहास में पढ़ना चाहिए। अब हम रोमी साम्राज्य के सामाजिक जीवन से परिचित होंगे क्योंकि बिना समाज के परिचय से शिक्षा के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता।

रोमी साम्राज्य के समाज में लोगों का जीवन सुविधाजनक हो चला था। उस समय वाणिज्य और व्यवसाय का इतना विकास हो गया था कि क्रय-विक्रय में सिक्कों का व्यवहार सरलता-पूर्वक होता था। रोमी समाज के विकास में धर्म और नियम पालन का बड़ा महत्त्व था। रोमी देवताओं की पूजा करना सभी का कर्त्तव्य था। रोमी लोगों के जीवन में सादगी प्रधान थी। वर्षों के युद्ध के बाद रोमी समाज को उन्नति करने का जब अवसर मिला तब पुरानी सादगी जाती रही और नये लोगों में नये प्रकार की रीतियाँ फैलीं। धनी लोगों को शासन करने का अवसर मिला और उन्होंने यह तय किया कि रोमी साम्राज्य का शासन धनी लोगों के लिए और धनी लोगों के द्वारा होगा। इस प्रकार रोम में आर्थिक शोषण का चक्र चला और अमीर लोग गरीबों का हर प्रकार से शोषण करने लगे। उस समय जब रोम के धनी लोग किसी देश पर विजय प्राप्त करते थे तो वहाँ

की सेना के लोगों को कैद कर दास बना लेते थे। यह कहा जाता है कि जब कारथेज पर रोम का अधिकार हुआ तब वहाँ की स्त्रियों और बालकों को पकड़ कर लाया गया और दास के रूप में बेंच दिया गया। इस प्रकार रोम के पूँजीपति अपने धन को भूमि और दास खरीदने में लगाते थे। खरीदे हुए दास बहुत काम करते थे और कभी-कभी काम की अधिकता के कारण कार्यक्षेत्र ही में गिर कर मर जाते थे। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व तक दासों की बाजार में अधिकता थी और वे बड़े सस्ते मूल्य में खरीदे जा सकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोम के समाज में दो वर्ग थे। एक वर्ग तो धनिकों का था और दूसरा वर्ग दासों का।

बेकारी और बीमारी—यह तो हम जानते ही हैं कि लैटिन लोगों का प्रधान काय भेंड़ चराना और खेती करना था। इसलिए जब युद्ध समाप्त हुआ तब सैनिकों ने अपने पुराने पेशे कृषि-कार्य को शुरू किया, लेकिन इस बीच धनी लोगों ने दासों की सहायता से खेती करना आरम्भ कर दिया था। इन धनी लोगों के पास अधिक भूमि थी और काम करने के लिए अनगिनत गुलाम। इसलिए वे लोग बड़े सस्ते में अनाज उत्पन्न करते थे। युद्ध से लौटे हुए सैनिक-किसान अपनी मेहनत से उतना सस्ता अन्न नहीं उत्पन्न कर पाते थे जितना कि धनी लोग करते थे। अतः हार कर इन लोगों ने खेती करना छोड़ दिया और नौकरी की तलाश में शहरों में गए। शहरों में इनके लिए काम न था। इसलिए इन्हें भूखा रहना पड़ा। कालान्तर में इस प्रकार के लोगों की संख्या शहरों में बढ़ती ही गई। इन भूखे और गरीब लोगों के लिए रहने के स्थान भी न थे। उन्हें बुरी तरह रहना पड़ता था और धीरे-धीरे उनमें तरह-तरह की

बीमारियाँ भी फैलने लगीं। लेकिन जब आदमी निराश हो जाता है और उसकी मुसीबतों का कोई अन्त नहीं होता तब वह यह तय करता है कि ऐसे जीवन से मृत्यु ही अच्छी है। अतः इन गरीबों ने मिलकर अपना संगठन बनाया और अपनी दशा को सुधारने का प्रयत्न किया।

रोमी समाज के सेवक—लेकिन रोमी समाज में कुछ ऐसे लोग भी थे जो दीन-दुखियों की सहायता करना चाहते थे और यह देखा गया है कि जो लोग समाज की सेवा का व्रत लेते हैं, उन्हें उस सेवा के बदले दुःख, पीड़ा, और मृत्यु तक मिलती है। सुकरात का अंत विष-पान से हुआ, प्लैटो लगभग बारह वर्ष तक मारा-मारा फिरता रहा और अरस्तू के अंतिम काल भी दुःखमय थे। आगे आनेवाले युगों में भी सेवकों की यही दशा हुई है। अतः रोमी समाज के दुःख दूर करने का प्रयास करनेवाले टाइबेरियस (Tiberius) को मार डाला गया। टाइबेरियस जब रोम का 'ट्रिब्यून' चुना गया, तब उसने देखा कि इटली की सारी भूमि दो हजार परिवारों के हाथ में है। अतः इन लोगों के हाथ में अधिक भूमि न रहने देने के लिए टाइबेरियस ने उस पुराने नियम को फिर चालू किया जो कुछ एकड़ों से अधिक भूमि पर अधिकार नहीं मानता था। इस नियम के फिर चालू होने से धनी लोग बहुत बिगड़े और उन्होंने दंगा-फसाद कराना शुरू किया। इसके बाद उन्होंने कुछ गुंडों को टाइबेरियस की हत्या के लिए तैयार किया। जब टाइबेरियस असेम्बली में जा रहा था, उसी समय उस पर हमला किया गया और उसे इतना मारा गया कि वह मर गया। ग़रीब किसानों की सहायता करने का यह फल टाइबेरियस को मिला।

ग़रीबों का कानून—दस वर्ष बाद टाइबेरियस के भाई गेयस (Gaius) ने सुधार करने की कोशिश की। उसने 'ग़रीबों का कानून' बनाया। इस कानून से ग़रीबों को सहायता मिली, लेकिन धनी लोग असंतुष्ट हुए। गेयस ने ग़रीबों के लिए निवास-स्थान बनवाये। इस प्रकार के कानून बन जाने से पेशेवर भिखारियों की संख्या बढ़ चली और जो वास्तविक दीन-दुखिया थे, उन्हें कभी कभी सहायता मिल न पाती थी। मगर फिर भी गेयस ने जो प्रयास किया, वह सराहनीय था और इसी के फल-स्वरूप रोम के धनिक वर्ग ने गेयस की हत्या कराई। गेयस के जो दूसरे साथी थे उन्हें भी समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार रोम के समाज में एक ओर शोषक वर्ग था और दूसरी ओर शोषित वर्ग। इन दो वर्गों के बीच समझौते के लिए जो प्रयत्न किये गये उनकी क्या दशा हुई इससे भी हम परिचित हुए। इसके बाद रोम के रंगमच पर मैरियस, सल्ला, पाम्पे, सीज़र, आक्टाविनस, और आगस्टस आदि रोम के अधिष्ठाता हुए।

बाहरी उन्नति, भीतरी अवनति—रोम के अधिष्ठाताओं ने रोमी साम्राज्य का बड़ा विस्तार किया और आगस्टस के काल में यह विस्तार अपनी चरम सीमा पर भी पहुँच गया था। आगस्टस ने शांतिपूर्वक शासन करना चाहा और कुछ दिनों के लिए रोमी साम्राज्य का विस्तार रुक भी गया। लेकिन इस बाहरी उन्नति के होते हुए भी रोमी समाज में भीतरी अवनति हो रही थी। इसके कई कारण थे। रोम के लोग लगभग दो सौ वर्षों से युद्ध में लगे हुए थे। इस युद्ध में रोम के योग्य युवक मरते रहे। इसलिए आनेवाले समय में योग्य व्यक्तियों की कमी हो गई। दूसरी बात अवनति की यह हुई कि

किसान सैनिक भी बनते थे। अतः जब वे सेना में चले गये, तब धनिकों ने गुलामों की मेहनत से खेती करके धीरे-धीरे कृषि-कार्य पर अधिकार जमा लिया। इस प्रकार किसान-सैनिक युद्ध से वापस आने पर बेकार हो गये और भूखों मरने लगे क्योंकि वे गुलामों से अधिक काम नहीं कर सकते थे। यदि रोम में दास-प्रथा न होती तो वहाँ के किसान सुखी रहते। लेकिन दास-प्रथा के कारण रोमी समाज में एक ओर धनी लोग बिना मेहनत की रोटी खाते और आराम करते थे और दूसरी ओर मेहनत करके भी किसान भूखों मरते थे। इन सब का परिणाम यह हुआ कि रोमी समाज में शांति का नाम न था। चारों ओर भूख, बीमारी और बेकारी फैल रही थी और इसके फलस्वरूप दंगा-फसाद और हिंसा-हत्या की बाढ़ हो चली। इस प्रकार समाज के भीतर अवनति के बीज फूल-फल रहे थे और इन्हीं के कारण रोमी-साम्राज्य का पतन हुआ। यह पतन काफी दिनों के बाद हुआ क्योंकि यह कहावत प्रसिद्ध है कि रोम एक दिन में नहीं बना था। जिस प्रकार रोमी साम्राज्य के विस्तार में सैकड़ों वर्ष लग गये थे, उसी प्रकार इसके पतन में भी काफी समय लगा।

लेकिन जब किसी वस्तु का नाश होता है तो उसमें भविष्य के निर्माण के बीज भी छिपे होते हैं। रोम के पतन के साथ ईसाई धर्म के आरम्भ की कहानी भी शुरू होती है जिससे हम ईसाई शिक्षा के इतिहास का अध्ययन करते समय परिचित होंगे। अब हम रोमी समाज का एक काल्पनिक चित्र बना सकते हैं और शिक्षा के स्वरूप को भली-भाँति समझ सकते हैं। लेकिन यह चित्र तब तक अधूरा रहेगा जब तक हम रोम के धर्म, विश्वास और दर्शन से परिचित न हो लें। जैसा कि हम

जानते हैं, यूनानी शिक्षा पर यूनानी दर्शन का बड़ा प्रभाव है। इसी प्रकार रोमी शिक्षा पर रोम के धर्म, विश्वास और दर्शन का भी प्रभाव है। अतः रोम की सांस्कृतिक भूमिका के सिलसिले में रोम के धार्मिक विकास का ज्ञान भी आवश्यक है।

रोम की धार्मिक भूमिका—यह तो हम जानते ही हैं कि रोम में अधिकतर लोग पीड़ित और शोषित थे। केवल कुछ धनी लोग ही सुखी थे। लेकिन साथ ही सुखी धनी लोग यह भी जानते थे कि उनके लिए प्रत्येक क्षण में संकट उपस्थित है। इसलिए वास्तविक शांति किसी को न थी। इस शांति के लिए देवी-देवताओं की पूजा होने लगी। लेकिन इस पूजा में यह विशेषता थी कि जहाँ पहले समाज के हित के लिए कामना की जाती थी, वहाँ अब व्यक्तिगत पूजा होने लगी। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख की चिंता करने लगा और समाज को भूल गया। इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना चाहिए कि रोमी लोगों पर यूनान का बड़ा प्रभाव पड़ा था। इन लोगों ने यूनान से शिक्षा, दर्शन ही नहीं सीखा, वरन् धार्मिक भावना भी ग्रहण की। लेकिन स्थान-परिवर्तन का प्रभाव तो पड़ता ही है। इसलिए रोमी समाज के अनुकूल इनमें संशोधन भी हुआ, मगर मूल-भावना वही थी। सभी अपने-अपने दुःखों का निवारण देवताओं से चाहते थे।

यूनानी प्रभाव—रोमी शिक्षा की सांस्कृतिक भूमिका में यूनानी प्रभाव भी है। अतः उसे भी भली भाँति समझ लेना चाहिए। इस दृष्टि से रोम और यूनान के लोगों में तात्विक भेद यह था कि यूनानी लोग जिज्ञासु और अनुभवी थे, लेकिन रोमी लोग इसमें पिछड़े हुए थे। उनमें यूनानी लोगों की न तो कल्पना ही

थी और न सौंदर्यानुभूति। अतः जब रोमी लोग यूनानियों के सम्पर्क में आए तो उन्होंने इन बातों को सीखा। कई रोमी लोगों ने यूनानी काव्य, दर्शन और भाषण-कला का गहन अध्ययन किया। रोम के प्रसिद्ध विद्वान् सिसरो (Cicero) ने यूनानी दार्शनिकों और विशेषकर प्लैटो के सिद्धान्तों को लैटिन भाषा में अनूदित किया और उनके आधार पर रचनायें कीं। इसके अतिरिक्त रोम के लोगों को यूनानी नैतिकता बहुत पसन्द आई। इसका कारण रोम में अनुशासन और नियम-पालन की प्रवृत्ति थी। यूनानी नीति-शास्त्र (Ethics) का अध्ययन सिनेका (Seneca) ने विशेष रूप से किया। रोमी सम्राट मारकस आरलियस (Marcus Aurelius) को यूनानी विद्वान् जेनो (Zeno) का नीति-शास्त्र अत्यन्त प्रिय था। अतः सम्राट ने भी जेनो से प्रभावित होकर नीति-शास्त्र की रचना की। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमी लोगों ने यूनानियों से जिज्ञासा की प्रवृत्ति और नीति-शास्त्र सीखा।

नीति-शास्त्र के अतिरिक्त रोम के लोगों को यूनानी काव्य और इतिहास भी प्रिय था। प्रसिद्ध रोमी कवि वर्जिल (Vergil) ने होमर के महाकाव्य का अध्ययन किया और इसके पश्चात् स्वयं महान् काव्य की रचना की। जिस प्रकार यूनानी साहित्य में होमर का स्थान है, उसी प्रकार लैटिन में वर्जिल का। अतः हम देखते हैं कि लैटिन साहित्य पर यूनानी साहित्य का प्रभाव निरन्तर पड़ता रहा। यूनानी साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करके लैटिन साहित्य फूलता-फलता रहा। इसीलिए कुछ विद्वानों का विचार है कि लैटिन साहित्य में वह मौलिकता नहीं है, जो यूनानी साहित्य में है। लेकिन इसका कारण लैटिन स्वभाव है। लैटिन अथवा रोमी लोगों की यह विशेषता थी कि वे अन्तर्मुखी नहीं थे।

वे अपने सुख की खोज भीतर नहीं करते थे, वरन् अपने वातावरण में करते थे। यूनानी लोगों ने अपने अन्तर को विशेष रूप से देखा। लेकिन रोमी लोगों ने अपने बाहरी जगत् का अध्ययन किया और परिश्रम द्वारा सुख की सामग्री जुटाने का प्रयास किया। रोम और यूनान की सभ्यता में यह तात्विक भेद है। श्री एच० जी० गुड के शब्दों में रोमी लोगों ने विचार तथा कला-क्षेत्र में नहीं, वरन् कर्म-क्षेत्र में उत्तम कार्य किया है।* श्री गुड का यह कथन पूर्ण सत्य है। रोम की संस्कृति कर्मप्रधान थी और यूनान की विचार-प्रधान। इसीलिए रोम के लोगों ने बड़ी इमारतों और सड़कों के निर्माण में अद्भुत दक्षता का प्रदर्शन किया। उनकी यह कर्मशीलता और व्यावहारिकता हमें शिक्षा-क्षेत्र में भी दिखाई पड़ेगी। अतः अब हमें रोमी-शिक्षा के स्वरूप से परिचित होना चाहिए।

---

* The Romans excelled as doers rather than as *thinkers or artistic creators*—*H. G. Good.*

रोमी-शिक्षा का स्वरूप

व्यावहारिक बुद्धि—रोमी शिक्षा के स्वरूप में सर्वप्रधान विशेषता 'कर्मशीलता' अथवा व्यावहारिकता है। रोम के लोग जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यूनान से प्रभावित थे। उन्होंने यूनान की भाँति अपने 'नगर-राज्य' भी बनाये, लेकिन वे अन्तर्मुखी नहीं थे। वे अपने सुख की सामग्री बाहरी जगत् में खोजते थे। अतः वे सदा नये-नये उपाय ढूँढ़ते रहते और उनके द्वारा निर्माण-कार्य करना चाहते थे। इसलिए उनमें कवि की कल्पना नहीं वरन् इंजीनियर की व्यावहारिक बुद्धि का विकास हुआ। अतः उनकी शिक्षा के स्वरूप में हमें व्यावहारिक बुद्धि के विकास का प्रयास दिखाई पड़ता है।

उचित अनुमान—रोमी शिक्षा के स्वरूप में व्यावहारिकता का दूसरा अंश 'उचित अनुमान' दिखाई पड़ता है। रोमी लोगों की, व्यावहारिक होने के नाते यह विशेषता थी कि वे जिस वस्तु को बनाने अथवा जिस कार्य को करने जाते थे, उसके सम्बन्ध में सही अनुमान कर सकते थे। दूसरे शब्दों में उनकी कल्पना भी व्यावहारिक थी। वे अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा किसी भी कार्य के सम्बन्ध में उचित अनुमान कर लेते थे और फिर उन्हें किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता था। उदाहरण के लिए जब एक इंजीनियर किसी पुल का निर्माण शुरू करता है, तब वह गणित की सहायता से पुल का पूरा नक्शा बना लेता है। इस प्रकार वह नक्शे के आधार पर पुल के सम्बन्ध में

निश्चित धारणा प्राप्त करता है। लेकिन यदि इंजीनियर बिना निश्चित धारणा पर पहुँचे ही पुल का बनाना शुरू कर दे, तो यह पूर्ण संभव है कि पुल ठीक-ठीक न बन पावे। इसीलिए जो भी व्यावहारिक लोग होते हैं, वे किसी भी काम को करने से पहले, उसके सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करके 'उचित अनुमान' लगा लेते हैं। ऐसा करने से ग़लती होने की तनिक संभावना नहीं होती। रोमी लोगों में व्यावहारिकता के कारण 'उचित अनुमान' का गुण भी आ गया था। अतः वे रोमी शिक्षा को ऐसा बनाना चाहते थे जो व्यावहारिक बुद्धि के साथ उचित अनुमान का भी विकास करे।

कार्य के प्रति श्रद्धाभाव—रोमी शिक्षा के स्वरूप पर रोमी धार्मिक भावना का भी प्रभाव पड़ा। रोम के लोग व्यावहारिक होने के नाते देवी-देवताओं की पूजा इसलिए करते थे, कि उनके कार्य सफलतापूर्वक समाप्त हों। अतः उनके जितने भी कार्य थे, उनके लिए अलग-अलग देवता भी निश्चित थे। उदाहरण के लिए कृषि-कार्य के जितने भी अंग थे, उनसे सम्बन्धित देवता भी थे। हमें रोम में जोताई के देवता, बोआई के देवता, निराई के देवता आदि मिलते हैं। इसी प्रकार अन्य कार्यों के भी देवतागण थे। इन देवताओं की पूजा करके रोमी लोग, सफलता प्राप्त करना चाहते थे। दूसरे शब्दों में रोम के लोगों की धार्मिक भावना भी व्यावहारिक थी। वे देवताओं को कार्य की पूर्णता और सफलता के लिए प्रसन्न करते थे। अतः उनके सभी कार्य एक प्रकार से धर्म से सम्बन्धित थे और बिना विभिन्न देवताओं की पूजा-पाठ किये कोई कार्य की सफलता की आशा नहीं कर सकता था। फलस्वरूप रोमी शिक्षा में इस बात की भी कोशिश की गई कि जितने भी कार्य किए जाँय उनके प्रति सफलता के लिए

धार्मिक भावना भी हो। इसका प्रभाव यह हुआ कि रोमी शिक्षा द्वारा कर्त्तव्य-परायणता, और सभी कार्यों को श्रद्धा तथा धार्मिक भाव से करने के योग्य बालकों को बनाया गया। जब मनुष्य कार्य के प्रति इस प्रकार के विचार रखता है तब उसका प्रभाव कार्य करनेवालों, विशेषकर कुटुम्ब और देश के लोगों पर भी पड़ता है। अतः रोमी शिक्षा के स्वरूप में हमें कार्य के प्रति श्रद्धा-भाव, आदि गुणों के विकास का प्रयास रोमी धार्मिक भावना के कारण मिलते हैं।

अधिकार और कर्त्तव्य—रोम के लोगों को अधिकार और कत्तव्य का पूण ज्ञान था क्योंकि रोमी शासकों ने व्यवस्था और विधानों द्वारा इन्हें स्पष्ट कर दिया था। ऐसा करने का कारण भी था। सर्वप्रथम कारण यह था कि रोम के लोग व्यावहारिक थे। वे अधिक सोचना-विचारना नहीं जानते थे। उन्हें तो साफ-साफ मालूम होना चाहिए कि उनके अधिकार क्या हैं और कर्त्तव्य क्या हैं। जब उन्हें एक बार यह मालूम हो गया, तो पूरी शक्ति लगाकर वे अधिकार और कर्त्तव्य की ओर ध्यान देते थे। अतः शिक्षा के द्वारा अधिकार और कर्त्तव्यों का स्पष्ट ज्ञान भी कराया जाता था, जिससे कि लोग भली भाँति समझ लें कि जो भी अधिकार उन्हें मिलते हैं, वे उन कर्त्तव्यों के कारण हैं, जिन्हें कि वे पूरा करते हैं। दूसरे शब्दों में यूनानी शिक्षा यह स्पष्ट कर देना चाहती थी कि कोई भी अधिकार बिना कर्त्तव्य-पालन के प्राप्त नहीं होता। जब मनुष्य कर्त्तव्य-पालन करता है, तब उसे अधिकार प्राप्त होते हैं। बिना कर्त्तव्य-पालन के अधिकार की माँग अनुचित है। रोम के इस विधान का प्रभाव आनेवाले समय पर पड़ा और आज भी अधिकार तथा कर्त्तव्य के सम्बन्ध में लोगों के यही विचार हैं।

निश्चित कर्त्तव्यों की शिक्षा—अधिकार और कर्त्तव्य के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्पष्ट करने के बाद रोमी शिक्षा द्वारा निश्चित कर्त्तव्यों का ज्ञान भी कराया जाता था। उदाहरण के लिए रोम के विधान में पाँच प्रकार के अधिकारों का उल्लेख एंटोनाइन काल के दूसरी शताब्दी के अंत में मिलता है। ये अधिकार इस प्रकार थे:—(१) पिता का पुत्र पर अधिकार, (२) पति का पत्नी पर अधिकार, (३) स्वामी का दास पर अधिकार, (४) स्वतंत्र व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर कानून द्वारा अधिकार और (५) सम्पत्ति पर अधिकार।* इन पाँच अधिकारों में व्यक्ति का अपने परिवार और समाज के प्रति कर्त्तव्य निहित है। जब पिता को अपने पुत्र पर अधिकार दिया गया तो उसके साथ कुछ कर्त्तव्यों का पालन भी आवश्यक था। अतः एक रोमी पिता अपने पुत्र का बड़ा ध्यान रखता था। आरम्भ में जब पुत्र का जन्म होता था तब वह पिता के पैर के पास एक प्रकार की धार्मिक पूजा के लिए लाकर रख दिया जाता था। यदि पिता उस बालक को उठाकर गोद में ले लेता तो इसका अर्थ यह होता कि बालक को परिवार में स्वीकार कर लिया गया और पिता उसके प्रति अपने अधिकारों-कर्त्तव्यों का पालन करेगा। लेकिन यदि बालक किसी प्रकार से अस्वस्थ या कुरूप हुआ तो पिता उसे गोद में नहीं लेता था और वह बालक कुरूप स्पार्टी बालक की भाँति मृत्यु के मुख में डाल दिया जाता था। यदि किसी प्रकार उसकी जान बच भी गई तो उसे दास का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इस प्रकार के व्यवहार को हम अमानु-

---

* A Text-book in the History of Education—Page 180.

षिक ही कहेंगे। लेकिन उस समय की यह प्रथा राज्य-हित के लिए थी। रोम के लोग अस्वस्थ और बेकार रहनेवालों को नहीं चाहते थे। इसलिए आरम्भ में ही इस प्रकार की व्यवस्था कर दी गई थी।

अधिकारों और कर्त्तव्यों के रूप केवल पारिवारिक जीवन में ही स्पष्ट नहीं थे, वरन् उन्हें समाज के अन्य क्षेत्रों में भी व्यक्त किया गया। समाज के आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में रोमी नागरिक के क्या कर्त्तव्य हैं, यह सभी को स्पष्ट रूप से ज्ञात थे। लेकिन किसी भी नागरिक के लिए सभी क्षेत्रों में अपने कर्त्तव्यों का पालन करना सरल नहीं था। आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक कर्त्तव्यों के पालन के नियम थे और उन नियमों का अध्ययन-मंनन आवश्यक था। अतः रोमी शिक्षा में कर्त्तव्यों के ज्ञान का प्रमुख स्थान था।

गुणों का विकास—रोमी समाज में कुछ ऐसे गुण थे जिनका प्रत्येक व्यक्ति में होना अपेक्षित था। उदाहरण के लिए प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती थी कि वह देवताओं के प्रति श्रद्धा-भाव रखेगा। यह श्रद्धा-भाव माता-पिता के प्रति भी होता था क्योंकि उन्हें भी पूज्य समझा जाता था। इसके अतिरिक्त रोमी व्यक्ति में विनीत-भावना भी होनी आवश्यक थी। रोमी समाज में कोई व्यक्ति डींग हाँकना पसन्द नहीं करता था। जो ऐसा करता था, उसे असभ्य समझा जाता था। अतः सभी इस बात की कोशिश करते थे कि नम्रता और विनीत-भावना (Modesty) का विकास हो। लेकिन यह नम्रता उनकी वीरता और पुरुषार्थ में किसी प्रकार बाधक नहीं होती थी। जब अवसर आता था तब रोमी व्यक्ति पूर्ण दृढ़ता से कार्य करता था। दूसरे

शब्दों में रोमी नम्रता और विनीत-भावना रोमी साहस और वीरता के समकक्ष थी और यथावसर इनका कार्य था। अतः इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए। रोमी शिक्षा द्वारा इन गुणों के समुचित विकास की ओर ध्यान दिया जाता था।

लेकिन यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि कर्त्तव्य के क्षेत्र में मनुष्य के सभी गुण आ जाते हैं। जो मनुष्य कर्त्तव्य-पालन करना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह सच बोले, सोच-विचार कर काम करे, उद्दंड न हो और साहसी तथा वीर हो। कोई भी कार्य हो जब तक उसे सचाई से और निर्भय होकर नहीं किया जाता, तब तक उसकी अच्छाई में संदेह होता है। अतः जब रोमी शिक्षा द्वारा गुणों के विकास की ओर ध्यान दिया गया, तो उसका उद्देश्य यह था कि लोगों में कर्त्तव्य की भावना भली भाँति विकसित हो जाय।

कार्य द्वारा शिक्षा—आधुनिक शिक्षा में कार्य का विशेष स्थान है। कार्य द्वारा शिक्षा देना कितना हितकर है, इसे हम सभी मानते हैं। रोमी शिक्षा में भी कार्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की गई। लेकिन यह व्यवस्था बालक के विकास की दृष्टि से उतनी नहीं की गई जितनी कि जीविकोपार्जन के उद्देश्य से। अतः विद्यार्थी को उन सभी कार्यों की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी जो उसके जीवन में सहायक होते थे। उस समय रोमी लोगों का प्रधान कार्य कृषि था। इसलिए शिक्षा में कृषि-कार्य की प्रधानता थी और कृषि के जितने भी आवश्यक अंग थे, उन सब को विद्यार्थी सीखते थे।

शिक्षालय और समाज—रोमी शिक्षा में समाज का

विशेष स्थान था। इसका कारण यह था कि पिता को अपने पुत्र की शिक्षा का सुंदर प्रबन्ध करना पड़ता था। इसलिए बालक की शिक्षा घर से ही शुरू हो जाती थी। रोमी लोग यह जानते थे कि बालक कुछ समय के लिए शिक्षालय में रहता है। इसलिए जब तक उसकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर भी न हो, तब तक वह भली भाँति शिक्षित नहीं हो सकता। अतः बालक के माता-पिता उसकी शिक्षा की देख-भाल और व्यवस्था निरन्तर करते रहते थे। दूसरे शब्दों में शिक्षालय और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध था और इस प्रकार रोमी समाज ही शिक्षालय के रूप में परिवर्त्तित हो गया था। इसका प्रधान कारण पिता का पुत्र पर अधिकार था और इसी अधिकार के कारण शिक्षा का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध था। श्री पाल मनरो ने रोम के कवि होरेस (Horace) का जिसका जन्म ईसा से ६५ वर्ष पूर्व हुआ था, कथन उद्धृत किया है। होरेस अपनी शिक्षा के विषय में कहता है—"यदि मेरा जीवन पवित्र और निर्दोष है तथा मेरे मित्र मुझसे प्रम रखते हैं, तो इसका श्रेय मेरे पिता को है। मेरे पिता ग़रीब किसान होने के कारण उस शिक्षालय में मुझे नहीं भेज सके जहाँ अमीरों के लड़के शुल्क देकर पढ़ते थे। लेकिन उन्होंने मुझे रोम ले जाकर उन कलाओं की शिक्षा प्रदान की जिन्हें किसी बड़े सरदार का पुत्र भी सीखने को लालायित होता। वे हमारे अध्ययन के सम्पूर्ण काल में संरक्षक की भाँति सदा साथ रहे।"

होरेस के इस कथन में हमें रोमी शिक्षा के स्वरूप का दर्शन होता है। जब हम रोमी शिक्षा के ऐतिहासिक कालों का अध्ययन करेंगे तब हमें यह स्वरूप और भी स्पष्ट होगा।

रोमी शिक्षा का प्रथम काल

अध्ययन के लिए रोमी शिक्षा के इतिहास को साधारणतः चार भागों में बाँटा जाता है। कोई कोई विद्वान् रोमी शिक्षा के इतिहास के पाँच काल भी मानते हैं। लेकिन प्रसिद्ध इतिहास लेखक पाल मनरो चार काल ही के पक्ष में हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि एक काल के अंत और दूसरे काल के आरंभ की तिथि निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। अतः जब हम इतिहास के विभिन्न कालों का अध्ययन करेंगे तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायगा। पर साधारणतः रोमी शिक्षा के इतिहास के प्रथम काल का आरम्भ रोम नगर की स्थापना से किया जाता है। रोम की स्थापना ईसा से ७५३ वर्ष पूर्व हुई थी। प्रथम काल का अंत ईसा से २५० वर्ष पूर्व में मानते हैं। इस प्रकार रोमी शिक्षा का प्रथम काल ७५३ ई० पू० से २५० ई० पू० तक माना जाता है।

प्रथम काल का समाज—रोमी-शिक्षा के प्रथम काल में समाज की दशा का अध्ययन आवश्यक है। प्रथम काल का रोमी समाज बर्बरता को छोड़कर सभ्यता के पथ पर आ गया था। लेकिन उनका इतना विकास नहीं हो गया था कि यूनानियों की भाँति नाट्य-साहित्य और दर्शन की रचना करते। उस समय समाज में व्यावहारिकता का बोल-बाला था। लोग वाणिज्य और कृषि में व्यस्त थे और साथ ही नये नये देशों को जीतने की भी तैयारी और कोशिश होती रहती थी।

बारह नियम (Twelve Tables)—प्रथम काल में लोगों का रहन-सहन सादा था और उन्हें जीवन की सुकुमार वृत्तियों की ओर ध्यान देने का अवसर न था। इसका कारण दर्शन का अभाव और कार्य की अधिकता थी। लेकिन प्रथम काल में जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात हुई वह बारह नियमों (Twelve Tables) की रचना थी। विद्वानों का विचार है कि पश्चिमी सभ्यता में न्याय के दर्शन में इन बारह नियमों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रोमी लोग व्यावहारिक होने के नाते नियम-पालन की ओर अधिक ध्यान देते थे। इसलिए उन्होंने बारह नियमों की रचना को आवश्यक समझा। अतः रोम के दस विद्वानों द्वारा ईसा से पाँचवीं सदी के मध्य में, इन नियमों को लिखित रूप दिया गया। ऐसा करते समय उन्होंने यूनानी नियमों का भी अध्ययन किया और रोमी आवश्यकतानुसार बारह नियमों को लिखा। न्याय के इन बारह नियमों द्वारा अदालती कार्रवाई, गवाही, सबूत, न्यायाधीश द्वारा किसी नये कानून का न बनाना, धारासभा और सम्राट द्वारा नये नियमों का बनाया जाना, न्याय के आधार पर नियम बनाना, न्यायालय में सबको निर्भय करना, सबके साथ समान व्यवहार होना, घूसखोरी बंद करना, अदालती कार्रवाई संयम और गंभीरता से होना आदि की ओर पूर्ण ध्यान दिया गया। दूसरे शब्दों में न्याय को केवल न्याय ही नहीं माना, वरन् इस बात का प्रयास किया कि न्याय न्याय प्रतीत भी हो।

पिता-पुत्र का सम्बन्ध—इसके अतिरिक्त बारह नियमों में से कुछ नियम ऐसे भी थे जो आर्थिक और पारिवारिक समस्याओं से सम्बन्ध रखते थे। उदाहरण के लिए एक नियम यह था कि 'पिता अपने पुत्र को किसी का दास बनाकर बेच सकता है;

परन्तु इसके पश्चात् पुत्र पिता के अधिकार से मुक्त हो जायगा। पिता के मरने के पश्चात् सम्पत्ति का उत्तराधिकारी वह होगा जिसका कि नाम वसीयतनामें में लिखा हो।' इस नियम को ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि दासों की बिक्री होती थी और पिता को अपनी सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था। पिता की इच्छा के विरुद्ध कोई पुत्र सम्पत्ति नहीं पा सकता था। इस प्रकार पुत्र अपने पिता की आज्ञा-पालन करता और उसकी इच्छानुसार कार्य करता था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि पिता के मन में पुत्र के प्रति स्नेह न था। स्नेह अवश्य था और हर एक पिता अपने पुत्र की उन्नति की कामना करता था।

आर्थिक व्यवस्था—भूमि पर अधिकार के सम्बन्ध में यह नियम था कि 'किसी भी नागरिक को यह अधिकार न होगा कि वह बिना कर के भूमि का मालिक हो सके—चाहे वह कितने ही अधिक समय तक उसके पास रही हो।' साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि कोई विदेशी रोम में भूमि का मालिक न हो सकेगा। इस प्रकार समाज की आर्थिक व्यवस्था को भी ठीक किया गया। लोगों पर ऋण की वृद्धि रोकने के लिए यह भी नियम बना दिया गया कि 'ऋण का सूद दस प्रतिशत से अधिक न होगा।'

शिक्षा के प्रथम काल में रोम के लोग अधिकतर युद्ध में व्यस्त रहे। लेकिन युद्ध में विजयी होने के लिए वे अपना संगठन भी करते गये। बारह नियमों के द्वारा उनका सामाजिक संगठन काफी अच्छा हो चला। इसके फलस्वरूप उनके स्वभाव में भी परिवर्तन हुआ। डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार ने 'रोम का इतिहास' में लिखा है—"रोमनों ने बहुत बड़ी बड़ी सड़कें बनाई थीं। उनकी बनाई हुई सड़कें ऐसी अच्छी और मजबूत होती थीं कि

बहुत सी सड़कें अब तक चली आती हैं। ...... युद्धों के समय रोम अपनी पूरी उन्नति और शक्ति पर न था, क्योंकि रोमन धन की दृष्टि से अभी तक समृद्ध न थे, अतः उन्हें बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। ...... रोम के सेनापति तथा राजनीतिज्ञ एक साधारण नागरिक की भाँति रहा करते थे। उनको यदि कोई उपहार भेजता तो वे उसे नहीं लेते थे।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम काल के लोग किस प्रकार युद्ध में लीन रहते थे और अपने को लोभ आदि से मुक्त रखने का प्रयास करते थे।

शिक्षा का उद्देश्य—रोमी शिक्षा के प्रथम काल का उद्देश्य (१) सैनिक दक्षता और दैनिक योग्यता प्रदान करना, और (२) युद्ध-प्रेम तथा देशभक्ति का विकास करना था। उस समय युद्ध करना पड़ता था। अतः सभी को युद्ध के योग्य बनाना शिक्षा का उद्देश्य था। रोमी लोगों की प्रवृत्ति व्यावहारिक थी। वे सभी बातों को उपयोगिता की दृष्टि से देखते थे। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य भी (३) उपयोगिता और व्यावहारिकता का विकास करना था। साथ ही राज्य की रक्षा और विस्तार के लिए यह भी आवश्यक था कि प्रत्येक व्यक्ति में राज्य-भक्ति हो। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य (४) राज्य-भक्ति का विकास भी करना था। पारिवारिक जीवन का महत्त्व भी था। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती थी कि वह एक योग्य, पिता, पति अथवा पुत्र होगा। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य (५) दैनिक जीवन की कुशलता प्रदान करना था। तात्पर्य यह है कि प्रथम काल के शिक्षा के उद्देश्य समाज के विकास, तथा संगठन में सहायक और बारह नियमों के अनुरूप होते थे।

शिक्षा का संगठन—प्रारम्भिक शिक्षा का केन्द्र घर था। पिता अपने पुत्र को शिक्षा देता था। पिता जहाँ भी जाता, जो भी काम करता, पुत्र उसे देखता और भली भाँति समझने का प्रयास करता था। इसके अतिरिक्त माता को भी बालक की शिक्षा में भाग लेना पड़ता था। आरम्भ में बालक का पालन-पोषण करते समय माता इस बात का ध्यान रखती कि बालक में अच्छी आदतों का विकास हो। इस प्रकार प्रथम काल के पूर्व भाग में शिक्षा का संगठन माता-पिता के ऊपर निर्भर था। लेकिन प्रथम काल के अंतिम भाग में ईसा से २७२ वर्ष पूर्व स्कूलों की प्रथा चल पड़ी। स्कूलों की स्थापना में यूनानी कैदी बड़े सहायक हुए। जब रोमी लोगों ने यूनान के टेरेंटम नगर पर अधिकार किया तो उन्होंने कई विद्वानों को कैदी बनाकर रोम बुलाया। इन विद्वानों ने आकर रोमी शिक्षा के संगठन में सुधार किया और स्कूलों की व्यवस्था की।

लेकिन फिर भी शिक्षा का संगठन प्रधान रूप से घर पर आधारित था और माता-पिता का उसमें विशेष स्थान था। जब रोम पर यूनानी प्रभाव पड़ा, तब संगठन में परिवर्त्तन शुरू हुआ। संगठन का परिवर्त्तित रूप रोमी शिक्षा के द्वितीय काल में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

शिक्षा के विषय—आरम्भ में बालकों की शिक्षा के विषय ऐसे थे जो उनके शारीरिक और नैतिक विकास में सहायक होते थे। माता ही प्रारम्भिक विषयों की शिक्षा प्रदान करती थी। इसके बाद जब बालक बड़ा होता था, तब वह अपने पिता के कार्यों को देखता और सीखता था। लड़कियों को गृह-विज्ञान तथा कताई-बुनाई की शिक्षा दी जाती थी। लिखने-पढ़ने की

शिक्षा भी बालक संभवतः अपने माता-पिता से प्राप्त करते थे। साथ ही उन्हें बारह नियमों तथा रोम के वीरों की कथाओं को भी कंठस्थ करना पड़ता था। व्यायाम और खेल-कूद भी शारीरिक विकास के लिए शिक्षा के आवश्यक विषय थे। जैसा कि हम जानते हैं, रोमी लोग प्रत्येक कार्य से किसी न किसी देवता का सम्बन्ध जोड़ देते थे। अतः शिक्षा में विभिन्न कार्यों के देवताओं की पूजा के विषय भी सम्मिलित किए गये। जहाँ तक कलात्मक विषयों का सम्बन्ध है, उसकी ओर ध्यान नहीं के बराबर था। इसका कारण रोमी लोगों का व्यावहारिक दृष्टिकोण है। उन्हें वही काम अच्छा लगता था, जिससे कि लाभ की आशा थी। अतः कलात्मक विषयों का शिक्षा में अभाव था।

शिक्षा की पद्धति—रोमी शिक्षा की पद्धति प्रधानतः 'करके सीखने' और 'अनुकरण' की थी। रोमी लोग कर्मशील होने के कारण किसी ऐसी पद्धति का शिक्षा में अनुसरण न कर सके जिसमें कल्पना की अधिकता हो। अतः उन्होंने शिक्षा की व्यावहारिक पद्धति को अपनाया। जो भी सीखो, करके सीखो। इसके अतिरिक्त 'अनुकरण' का भी प्रयोग पद्धति में किया गया। अतः विद्यार्थी अपने पिता और अन्य बड़े व्यक्तियों का अनुकरण करके चरित्र का विकास करता था। यह पद्धति एक प्रकार से अच्छी भी थी क्योंकि बालक के सामने एक जीवित आदर्श होता था। वह अपने 'आदर्श व्यक्ति' का भली-भाँति अध्ययन करता और अपने को उसी के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार शिक्षा की पद्धति व्यावहारिकता और अनुकरण पर आधारित थी, जो देश और काल के पूर्णतः अनुकूल थी।

समाज पर प्रभाव—प्रथम काल की शिक्षा का समाज पर

क्या प्रभाव पड़ा ? इस दृष्टि से जब हम सोचते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि शिक्षा अपने उद्देश्यों के अनुरूप समाज के लिए योग्य सदस्य और सैनिक तैयार कर सकी। शिक्षा के फलस्वरूप व्यक्तियों में अनुशासन और श्रद्धा-भाव विकसित हुआ। प्रत्येक व्यक्ति अपने से बड़ों, देवताओं और नियमों को आदर से देखता था और इनकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता था। इसके अतिरिक्त रोमी लोगों में वीरता, साहस और सैनिक दक्षता के विकास में भी शिक्षा सहायक हुई। पर इस शिक्षा में कुछ त्रुटियाँ भी थीं। लोगों में युद्ध-प्रेम इतना अधिक था कि वे विजयी होने के लिए बर्बर और निर्दयी भी हो जाते थे। शिक्षा में कलात्मक विषयों के अभाव के कारण रोमी लोगों में उच्च विचारों और आदर्शों की कमी थी। इस प्रकार प्रथम काल की रोमी शिक्षा एक सीमित समाज के संगठन में सहायक अवश्य हुई लेकिन वह उस शक्ति को उत्पन्न न कर सकी जो रोमी लोगों की संस्कृति को परिष्कृत करती। अतः जब रोमी साम्राज्य का विस्तार हुआ तब रोमी लोगों का पतन भी आरम्भ हुआ। इसका प्रधान कारण उच्च आदर्शों और विचारों का अभाव था।

रोमी शिक्षा का द्वितीय काल

परिवर्त्तन काल—रोमी शिक्षा का द्वितीय काल ईसा से लगभग २५० वर्ष पूर्व से लेकर ५० वर्ष पूर्व तक माना जाता है। इस काल में रोमी शिक्षा पर यूनानी प्रभाव पड़ना शुरू हुआ था। इसलिए इसे परिवर्त्तन काल भी कहते हैं। इस परिवर्त्तन काल में यूनानी विद्वानों ने बड़ा काम किया। जैसा कि हमें मालूम है, जब रोमी लोगों ने यूनानी नगरों पर अधिकार किया तब उस समय उन्होंने ऐसे यूनानी कैदी भी बनाये जो बड़े विद्वान् थे। अतः जब इन विद्वान् कैदियों को रोम लाया गया, तब इनसे शिक्षा में बड़ी सहायता मिली।

विचारों और आदर्शों पर प्रभाव—रोमी शिक्षा के द्वितीय काल में रोमी साम्राज्य का विस्तार हो रहा था। प्रथम काल की भाँति रोमी राज्य अब सीमित न था। अतः जब रोमी साम्राज्य का विस्तार आरम्भ हुआ, तब यह स्वाभाविक था कि नये वातावरण और नये लोगों के सम्पर्क का प्रभाव रोमी जीवन पर पड़े। इतना ही, साम्राज्य के हित की दृष्टि से यह भी आवश्यक था कि रोमी लोग सांस्कृतिक आदान-प्रदान करें। इस प्रकार रोमी लोगों ने यूनानी लोगों की संस्कृति, उनके आदर्शों और विचारों का अध्ययन किया और उस अध्ययन के फलस्वरूप अपने विचारों और आदर्शों को पहले से उन्नत बनाया। रोमी-शिक्षा के प्रथम काल में हमने देखा था कि रोमी लोगों में विचारों और आदर्शों की उच्चता का अभाव था। इसका कारण

उनका सीमित राज्य और सीमित दृष्टिकोण था। लेकिन द्वितीय काल में नये लोगों के सम्पर्क के कारण रोमी विचारों और आदर्शों में श्रेष्ठता आई।

साहित्यिक विकास—रोमी विचारों और आदर्शों को श्रेष्ठ बनाने में यूनानी साहित्य का बड़ा हाथ था। रोम में आए यूनानी विद्वानों ने अपना शरीर अवश्य रोमियों को सौंप दिया था, लेकिन उनका मन अब भी स्वतंत्र था और यह उनकी निश्चित धारणा थी कि रोम पर यूनान की सांस्कृतिक विजय अवश्य होगी। अतः यूनानी विद्वानों ने रोम पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त करने का प्रयास आरम्भ किया। लिवियस एंड्रोनिकस नामक यूनानी विद्वान ने होमर के प्रसिद्ध काव्य ओडेसी का लैटिन भाषा में अनुवाद किया। ओडेसी का अध्ययन यूनानी विद्यार्थी करते थे। अतः जब इस ग्रंथ का अनुवाद लैटिन में हो गया तब इसका अध्ययन रोमी विद्यार्थी भी करने लगे। ओडेसी के अतिरिक्त अन्य यूनानी साहित्यिक ग्रंथों का भी लैटिन भाषा में अनुवाद हुआ। इस प्रकार रोम में यूनानी साहित्य का प्रचार हुआ। रोमी लोग अनुकरण करने में सिद्धहस्त थे। उन लोगों ने यूनानी साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करके लैटिन साहित्य का विकास आरम्भ किया। इस प्रकार रोमी शिक्षा के द्वितीय काल में साहित्यिक विकास हुआ और इसका प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा।

भाषा-व्याकरण का अध्ययन—कोई भी व्यक्ति कितना योग्य और सुसंस्कृत है, इसे हम कई प्रकार से ज्ञात कर सकते हैं। लेकिन सबसे सरल और श्रेष्ठ उपाय यह है कि उस व्यक्ति का भाषा पर अधिकार देखा जाय। जो व्यक्ति जितनी कुशलता और सरलता से अपने भावों को व्यक्त कर सकता है, उसकी

संस्कृति उतनी ही विकसित है। इसी प्रकार किसी जाति का कितना सांस्कृतिक विकास हुआ है, इसे हम उस जाति की भाषा और साहित्य में देख सकते हैं। रोमी लोगों ने अपने सांस्कृतिक विकास के लिए भाषा पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास किया। यूनान में भाषण-कला और तर्कशास्त्र के अध्ययन में भाषा की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक शब्द के अर्थ भली भाँति निश्चित किए जाते थे और वाक्यों की रचना व्याकरण के आधार पर होती थी। रोमी लोगों ने, जो कि आरम्भ से ही ग्रामीण जीवन व्यतीत कर रहे थे, यूनानियों के सम्पर्क में आकर भाषा-व्याकरण सीखा। लीवियस एंड्रोनिकस जिसने ओडेसी का अनुवाद लैटिन में किया था, यूनानी और लैटिन भाषा पर समान अधिकार रखता था। उसने रोमी लोगों की भाषा-शिक्षा में बड़ी सहायता की। फलतः हम देखते हैं इस काल में व्याकरण-विद्यालयों की स्थापना होने लगी और इस प्रकार भाषा का अध्ययन आरम्भ हो गया।

भाषणकला की शिक्षा—रोमी शिक्षा के द्वितीय काल में यूनानी साहित्य का लैटिन अनुवाद और भाषा-व्याकरण का प्रचार बढ़ा। फलस्वरूप रोमी लोगों में भाषा के प्रयोग की कुशलता उत्पन्न हुई और वे अब भाषा का प्रयोग सामाजिक जीवन में सुंदरतापूर्वक करने लगे। लेकिन यूनानी भाषण-कला का जब उन लोगों ने अध्ययन किया, तब उन्हें वह भी बहुत प्रियकर प्रतीत हुई और उसका भी प्रचार आरम्भ हुआ। अतः रोमी नवयुवक भाषणकला सीखने में समय देने लगे। लेकिन पुराने विचार के रोमी लोगों को यह व्यर्थ का कार्य प्रतीत हुआ क्योंकि भाषण-कला में 'बात करना' था, काम करना नहीं। रोमी लोग कर्मशील थे। उन्हें वही अच्छा लगता था जिसमें कुछ करना

हो। इसलिए भाषण-कला के शिक्षकों और विद्यालयों का राज्य की ओर से ईसा से ९२ वर्ष पूर्व विरोध हुआ। इस प्रकार रोमी शिक्षा के द्वितीय काल में परिवर्त्तन आ रहा था।

शिक्षा का उद्देश्य—रोमी शिक्षा के द्वितीय काल में शिक्षा के उद्देश्य प्रथम काल के समान थे। लेकिन परिवर्त्तन का प्रभाव शिक्षा के उद्देश्यों पर पड़ना स्वाभाविक था। अतः प्रभाव पड़ा, लेकिन वह इस काल में स्पष्ट न हुआ। यह स्पष्ट रूप हमें रोमी शिक्षा के तृतीय काल में दिखाई पड़ता है।

शिक्षा का संगठन—शिक्षा के संगठन में घर अब भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। लेकिन यूनानी प्रभाव के फलस्वरूप प्रथम काल के अंतिम भाग में प्रारम्भिक पाठशालाओं (Ludus) का खुलना आरम्भ हो गया था और ये पाठशालायें इस काल में भी चल रही थीं। इसके अतिरिक्त व्याकरण-विद्यालयों, भाषण-कला-विद्यालयों और साहित्य-विद्यालयों की स्थापना का आरम्भ हो गया था। लेकिन रोमी लोग सरलतापूर्वक अपनी प्राचीन परम्परा को छोड़कर नवीन वस्तु ग्रहण करनेवाले नहीं थे। इसलिए इस प्रकार के विद्यालयों का सामूहिक स्वागत तो नहीं हुआ, पर धीरे धीरे रोमी लोगों के संकुचित दृष्टिकोण में सुधार अवश्य होने लगा और वे इन नये विद्यालयों की उपयोगिता से परिचित होने लगे।

शिक्षा के विषय—शिक्षा के विषयों में भाषा और साहित्य का महत्त्व इस काल में बढ़ा। प्रथम काल की शिक्षा के विषयों में साहित्यक और कलात्मक पक्ष का अभाव था। लेकिन अब यूनानी काव्य लैटिन भाषा में अनूदित होकर विद्यार्थियों को पढ़ाये जाने लगे। होमर की ओडेसी का लैटिन अनुवाद विद्यार्थियों की पाठ्य-

पुस्तक बन गया। इसके अतिरिक्त लैटिन साहित्य का भी विकास इस काल में हुआ और उसको भी शिक्षा के विषयों में सम्मिलित किया गया। प्रथम काल में भाषा-व्याकरण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। इस काल में शिक्षा के विषयों में व्याकरण को भी सम्मिलित किया गया। इस प्रकार द्वितीय काल की शिक्षा के विषयों में व्याकरण और साहित्य को बढ़ाया गया। इसका कारण यूनानी प्रभाव द्वारा उपस्थित परिवर्त्तन था।

शिक्षा की पद्धति—शिक्षण पद्धति अब भी प्रथम काल के अनुसार चल रही थी। 'अनुकरण' और 'करके सीखने' की पद्धति को अब भी प्रधानता प्राप्त थी। लेकिन भाषा-व्याकरण, साहित्य और भाषण-कला की शिक्षा आरम्भ हो जाने के कारण पद्धति में 'कल्पना' और आरम्भशक्ति (Initiative) को भी स्थान मिला। अब विद्यार्थी अपनी कल्पना के सहारे ऐसी बातों को समझने की कोशिश करता था जो पूर्णतः व्यावहारिक न थीं। इसके अतिरिक्त भाषाकला में आरम्भशक्ति के लिए स्थान था क्योंकि वक्ता अपना दृष्टिकोण स्पष्ट और स्वतंत्र रूप से रख सकता था। इस प्रकार शिक्षा की पद्धति में भी परिवर्त्तन हुआ, लेकिन यह परिवर्त्तन आरम्भिक अवस्था में था और प्रथम काल की शिक्षा-पद्धति को अब भी प्रमुख स्थान प्राप्त था।

समाज पर प्रभाव—द्वितीय काल में परिवर्त्तन यूनानी विद्वानों के सम्पर्क के कारण आया। इस सम्पर्क का रोमी शिक्षा और समाज पर प्रभाव पड़ा। शिक्षा पर जो प्रभाव पड़ा, उससे हम परिचित हुए। लेकिन समाज में जो परिवर्त्तन आया, उसकी ओर हमें ध्यान देना है। अतः इस दृष्टि से द्वितीय काल के समाज में हमें एक ओर परिवर्त्तन का स्वागत दिखाई पड़ता है और दूसरी

और विरोध भी। समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो परिवर्त्तन का स्वागत करते हैं और कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो पुरानी परम्परा की पूजा करते और प्रत्येक परिवर्त्तन का विरोध करते हैं। अतः द्वितीय काल में ये दोनों प्रवृत्तियाँ व्यक्त थीं और इनमें से कौन अधिक शक्तिशाली है, इसे आनेवाला समय ही बता सकता था। रोमी शिक्षा के तृतीय काल में हमें ज्ञात होगा कि समाज प्रगतिशील हुआ अथवा वह अपने पुराने स्थान पर बना रहा।

रोमी शिक्षा का तृतीय काल

रोमी शिक्षा के तृतीय काल का समय ईसा से एक सौ वर्ष से लेकर दूसरी शताब्दी तक मानते हैं। अतः तृतीय काल में रोमी शिक्षा के लगभग तीन सौ वर्षों पर दृष्टिपात करना है। ऐसा करते समय हम देखते हैं कि रोमी साम्राज्य की स्थापना हो गई है और यूनानी प्रभाव भी रोमी समाज पर व्याप्त हो चुका है। लेकिन यह कैसे हुआ, जानना आवश्यक है।

साम्राज्य में शिक्षा—रोमी साम्राज्य की स्थापना और दृढ़ता में रोमी शिक्षा का बड़ा हाथ था। जिस प्रदेश को रोमी लोग जीतते थे, उस प्रदेश में रोमी-शिक्षा की व्यवस्था कर देते थे। इस व्यवस्था के फलस्वरूप नये प्रदेशों में रोम के प्रति सद्भावना और भक्ति का विकास होता था। अतः रोमी शिक्षा के तृतीय काल के अंत तक पूरे रोमी साम्राज्य में शिक्षा का स्वागत हो रहा था क्योंकि स्थान स्थान पर शिक्षालय खुल गये थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमी शिक्षा तृतीय काल में सार्वजनीन हो गई थी और इसका प्रसार पूरे रोमी साम्राज्य में हो गया था। ऐसा इसलिए किया गया कि साम्राज्य के नये प्रदेशों में रोमी सभ्यता और संस्कृति का विकास हो।

साम्राज्य में एकता—रोमी शिक्षा के तृतीय काल की दूसरी विशेषता यह थी कि जिन भाषा-व्याकरण और भाषण-कला विद्यालयों का विकास द्वितीय काल में हुआ था, उनका अब प्रसार सम्पूर्ण रोमी साम्राज्य में हो गया। इसका प्रभाव यह

हुआ कि पूरे साम्राज्य में विचारों की एकता स्थापित हो गई। इतिहासकारों का मत है कि किसी देश के इतिहास में ऐसा कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता जिससे हमें यह ज्ञात हो सके कि एक बड़े भूभाग में और सैकड़ों वर्षों तक भाषा और विचारों की दृष्टि से किसी प्रकार वैषम्य न हो।

उच्च शिक्षा और सरकारी संरक्षण—रोमी शिक्षा के तृतीय काल की तीसरी विशेषता यह थी, इस समय प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षाओं के अतिरिक्त उच्च-शिक्षा की व्यवस्था हुई। विश्वविद्यालयों और पुस्तकालयों की स्थापना से उच्च-शिक्षा में सहायता मिली। यह कार्य रोमी शासकों की शिक्षा में अभिरुचि कारण हो सका। रोमी शासक अब यह भली भाँति समझ गये थे कि जब तक किसी देश के शरीर और मन को न जीत लिया जाय, तब तक जीत अधूरी है। अतः शिक्षा द्वारा रोमी संस्कृति का प्रचार करके रोमी साम्राज्य के देशों में एकता स्थापित करना शासकों का उद्देश्य था और इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त शिक्षा को सरकारी सहायता और संरक्षण मिलना स्वाभाविक था। अतः तृतीय काल में उच्च-शिक्षा का विकास हुआ और शिक्षा को सरकारी संरक्षण और सहायता प्राप्त हुई।

ईसाई शिक्षा का बीजारोपण—रोमी शिक्षा के तृतीय काल में चौथी उल्लेखनीय बात यह हुई कि ईसाई धर्म का प्रचार होने लगा था और इस प्रचार का प्रभाव उन रोमी लोगों पर पड़ा जो कि किसी वास्तविक धर्म अथवा ईश्वर को नहीं मानते थे। दूसरे शब्दों में, अब शिक्षा को एक धार्मिक भूमिका तैयार होने लगी थी और आनेवाले युग के लिए ईसाई शिक्षा का 'बीजारोपण' हो गया। बीजारोपण के बाद ईसाई शिक्षा के पौदे

के विकास में समय लगा। रोमी शिक्षा के चतुर्थ काल के बाद इस बीज के अंकुर फूटे और फिर समय के साथ यह पौदा बढ़ा। इसका हम उपयुक्त स्थान पर अध्ययन करेंगे। लेकिन इसके पूर्व कि हम तृतीय काल की शिक्षा का अध्ययन करें, यह स्मरणीय है कि यह काल लगभग तीन सौ वर्षों का है और जो विशेषतायें ऊपर लिखी गई हैं, वे एक साथ उत्पन्न नहीं हुईं, वरन् वे अपने समयानुसार प्रगट हुईं। यदि हम रोम का इतिहास देखें तो ज्ञात होगा कि किस प्रकार रोम के विभिन्न सम्राटों ने शिक्षा को संरक्षण दिया। अतः यह आवश्यक है कि काल के विस्तार का हम ध्यान रखें और फिर विशेषताओं को देखें।

शिक्षा का संगठन : 'लूडस'—रोमी शिक्षा के तृतीय काल में यूनानी प्रभाव पूर्ण रूप से व्याप्त हो गया था। इस प्रभाव के कारण रोमी साम्राज्य में तीन प्रकार के विद्यालयों की स्थापना हो चली थी। पहला विद्यालय प्रारम्भिक पाठशाला के समान था। इसे 'लूडस' (Ludus) कहते थे। 'लूडस' का प्रचार द्वितीय काल ही में हो गया था। लेकिन तृतीय काल में इसकी व्यवस्था में किसी प्रकार की त्रुटि न रही। पहले 'लूडस' में लिखना, पढ़ना, साधारण गणित की शिक्षा दी जाती थी और साथ ही बालकों को 'बारह नियम' रोम की पौराणिक कथायें तथा वीरों की कहानियाँ भी सुनाई जाती थीं। अब तृतीय काल में 'लूडस' में दी जानेवाली शिक्षा के विषयों में काव्य और साहित्य भी सम्मिलित किये गये। 'ओडेसी' के लैटिन अनुवाद ने बारह नियमों का स्थान ले लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'लूडस' की शिक्षा के विषयों में साहित्य और काव्य को पर्याप्त स्थान दिया गया।

'लूडस' की शिक्षा पद्धति—'लूडस' की शिक्षा पद्धति इस काल में भी 'अनुकरण' पर आधारित थी। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को 'रटना' भी पड़ता था। चाहे विद्यार्थी की रुचि हो या न हो, उसके लिए रटना आवश्यक था। अतः आरम्भ में बालक अक्षरज्ञान प्राप्त करता था, और फिर उसे विभिन्न संयुक्ताक्षरों का अध्ययन कराया जाता था। इस अध्ययन में बालकों की रुचि न होती थी क्योंकि जो कुछ वे पढ़ते थे उसका सम्बन्ध उनके जीवन और अनुभव से न था। साधारण गिनती सिखाने का भी तरीका नीरस था। इसलिए फिर क्यों विद्यार्थी अध्ययन में अभिरुचि रखें। उस समय शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षक नहीं जानते थे। इसलिए अध्ययन में रुचि उत्पन्न करने का उन्हें एक ही उपाय ज्ञात था और वह उपाय बालकों को मारना था। अतः प्रारम्भिक पाठशालाओं में बालकों को बड़ी मार पड़ती थी। मार खाने के कारण बालक शिक्षालयों से घबराते थे और उन्हें शिक्षकों से डर मालूम पड़ता था। समाज में भी लोग शिक्षकों को ऐसे नामों से सम्बोधित करने लगे जिनसे उनकी निर्दयता और कठोरता का आभास मिलता था। इस प्रकार तृतीय काल में प्रारम्भिक शिक्षा चल रही थी।

व्याकरण विद्यालय—तृतीय काल में यूनानी और लैटिन व्याकरण के विद्यालयों का पूर्ण विकास हुआ। इसका कारण शिक्षा के विषयों में साहित्य का समावेश था। साहित्य के लिए शुद्ध भाषा का अध्ययन आवश्यक था। रोमी शिक्षा के द्वितीय काल में ही व्याकरण विद्यालयों का आरम्भ हो गया था, लेकिन तृतीय काल में उनका कार्य पूर्ण रूप से चल रहा था। यद्यपि इन विद्यालयों की रूप-रेखा माध्यमिक विद्यालयों के समान थीं, मगर फिर भी इनका सम्बन्ध 'लूडस' अथवा

प्राचीन रोम का एक 'लूडस' विद्यालय

प्रारम्भिक पाठशालाओं से था क्योंकि उनमें भी व्याकरण की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इस प्रकार व्याकरण विद्यालयों की आरम्भिक कक्षायें 'लूडस' के समान थीं, लेकिन अन्य कक्षाओं में माध्यमिक योग्यता की शिक्षा प्रदान की जाती थी।

व्याकरण विद्यालय के विषय—जैसा कि हमें ज्ञात है, व्याकरण विद्यालय दो प्रकार के थे। एक तो यूनानी व्याकरण विद्यालय था और दूसरा लैटिन व्याकरण विद्यालय। यूनानी व्याकरण विद्यालय में रोमी विद्यार्थी पहले जाते थे और फिर लैटिन व्याकरण विद्यालय में। इसका कारण यह था कि लैटिन व्याकरण का विकास यूनानी व्याकरण से प्रभावित था। अतः लैटिन व्याकरण का अध्ययन यूनानी व्याकरण के ज्ञान के कारण सरल हो जाता था। इसके अतिरिक्त पाठ्य-विषय में भी समानता थी। शब्दों की उत्पत्ति तथा व्याकरण के अन्य अंगों के अध्ययन के अतिरिक्त छंद, कविताओं का अर्थ और शुद्ध भाषा के प्रयोग आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। इन व्याकरण विद्यालयों में साहित्य का अध्ययन होता था। इतना ही नहीं, विद्यार्थियों की साहित्यिक अभिरुचि का विकास करने के लिए प्रसिद्ध साहित्यकारों की रचनाओं के उत्कृष्ट अंश भी विद्यार्थी लिखते और उनकी आलोचना करते थे। तात्पर्य यह है कि व्याकरण विद्यालय केवल व्याकरण की ही शिक्षा नहीं देते थे, वरन् साहित्य के अध्ययन की ओर भी पर्याप्त ध्यान देते थे। जहाँ तक शिक्षा के अन्य विषयों का सम्बन्ध है, उन्हें भी व्याकरण विद्यालय में पढ़ाया जाता था। गणित, भूगोल, संगीत और व्यायाम की शिक्षा भी व्याकरण विद्यालयों में दी जाती थी, जिससे कि विद्यार्थी की शिक्षा इन्हीं विद्यालयों में पूरी हो और उसे अन्यत्र न जाना पड़े। लेकिन यह तो इन विद्यालयों के नाम से ही

स्पष्ट है कि इनमें व्याकरण की शिक्षा विशेष रूप से दी जाती थी।

उच्च-शिक्षा—यूनानी प्रभाव के फलस्वरूप रोम में भाषण-कला की शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया था। अतः आरम्भ में भाषण-कला और अलंकार (Rhetorics) की शिक्षा यूनानी भाषा में दी जाती थी। लेकिन रोमी शिक्षा के तृतीय काल में यह शिक्षा लैटिन भाषा के माध्यम से होने लगी। यह तृतीय काल की विशेषता थी कि भाषण-कला की शिक्षा में लैटिन भाषा का प्रयोग किया गया। दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि भाषण-कला में केवल सुंदर भाषा की ही आवश्यकता नहीं होती, वरन् विचारों की श्रेष्ठता भी आवश्यक है। कौन सी बात कैसे कही जाय, यह भी जानना आवश्यक है। अतः भाषण-कला की शिक्षा में भाषा के अलंकरण ही की ओर ध्यान न देकर तर्क, न्याय, इतिहास तथा अन्य सामाजिक विषयों को भी सम्मिलित किया जाता था। दूसरे शब्दों में भाषण-कला की शिक्षा द्वारा विद्यार्थी का मानसिक और नैतिक विकास किया जाता था। इस प्रकार रोम में भाषण-कला की शिक्षा द्वारा व्यक्ति में पर्याप्त सुधार किया गया। एफ० पी० ग्रेवज़् ने रोमी शिक्षाशास्त्री क्विटैलियन का एक उद्धरण दिया है, जिसे यहाँ भी देना अपेक्षित है क्योंकि इसके आधार पर हम उच्च रोमी शिक्षा की कल्पना सरलतापूर्वक कर सकेंगे:—

'कोई योग्य और कुशल भाषण-कर्त्ता बिना अच्छा मनुष्य हुए नहीं हो सकता; इसलिए हम उससे केवल अच्छे भाषण की ही आशा नहीं रखते, वरन् मन (Mind) की श्रेष्ठता और निर्मलता भी चाहते हैं। कुछ लोगों की भाँति मैं यह कभी नहीं मानता कि नैतिकता और चरित्र के सिद्धान्त केवल दार्शनिकों के लिए हैं।

जो व्यक्ति अपने नागरिक चरित्र को जानता है, जो समाज के शासन-कार्य के योग्य है, जो बुद्धि और विचार से राज-काज चला सकता है, न्याय से झगड़े का निपटारा कर सकता है, वह कुशल वक्ता (Orator) के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं हो सकता।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुशल वक्ता में कितने गुण अपेक्षित थे और उसका कितना सम्मान था। अतः भाषण-कला में सम्पूर्ण उच्च शिक्षा सम्मिलित थी क्योंकि विद्यार्थी को अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना पड़ता था और साथ ही अपने को समाज और शासन के उपयुक्त बनाना पड़ता था।

विश्वविद्यालयों की स्थापना—रोमी शिक्षा के तृतीय काल में विश्वविद्यालयों का भी संगठन हुआ। सिकन्दरिया और एथेन्स के विश्वविद्यालय अब भी चल रहे थे। अतः रोमी युवक उच्च शिक्षा के निमित्त इन विश्वविद्यालयों में अध्ययन के लिए जाते थे। इसके अतिरिक्त रोम तथा रोमी साम्राज्य के कुछ दूसरे प्रसिद्ध स्थानों में विश्वविद्यालय खोले गये। इस प्रकार तृतीय काल में कई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इनके लिए वे पुस्तकें बड़ी उपयोगी सिद्ध हुईं जो यूनान तथा अन्य पूर्वी देशों के विजय के समय प्राप्त हुई थीं। लेकिन जैसा कि रोमी स्वभाव था, उच्च शिक्षा में अब भी व्यावहारिकता की किसी न किसी रूप में प्रधानता थी। यूनानी दार्शनिकता रोमी व्यावहारिकता पर अधिकार न जमा सकी।

इस काल में जहाँ तक शिक्षा के उद्देश्य, पद्धति, आदि का सम्बन्ध है, वे द्वितीय काल के समान थीं। अतः उनका अलग वर्णन अपेक्षित नहीं है। लेकिन पूर्व इसके कि हम रोमी शिक्षा

के चतुर्थ और अंतिम काल का अध्ययन करें, यह याद रखना चाहिए कि यदि रोमी शिक्षा का कोई स्वर्ण-युग था, तो वह 'तृतीय काल' था ।

रोमी शिक्षा का अंतिम काल

रोमी शिक्षा के इतिहास के आरम्भ से लेकर उन्नति तक का अध्ययन हमने किया। अब हमें उन कारणों को देखना है जिनसे रोमी शिक्षा का पतन हुआ। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि जब किसी देश में प्रगतिशील शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं, तब उसी समय प्रतिक्रियावादी (Reactionary) प्रवृत्तियाँ भी समाज में जाग्रत होती हैं। यह समझना कि उन्नति-काल में केवल प्रगतिशील शक्तियाँ कार्य करती हैं, ग़लत है। रोमी शिक्षा के इतिहास में भी यही बात दिखाई पड़ती है। एक ओर रोम में विकास हो रहा था, और दूसरी ओर उसके अंत के बीज भी पड़ रहे थे। अतः हम देखते हैं कि रोम के विद्वान् टेसीटस (Tacitus) ने सन् ७९ ई० में ही रोमी-शिक्षा के ह्रास की ओर संकेत किया था। लेकिन जिस ह्रास की ओर टेसीटस ने संकेत किया था, वह नहीं के बराबर था। इसलिए उस ओर अधिक ध्यान नहीं गया क्योंकि उस समय क्विंटीलियन जैसा शिक्षाशास्त्री शिक्षा के प्रसार में लगा हुआ था और राज्य भी शिक्षा में अभि-रुचि रखने लगा था। लेकिन रोमी शिक्षा के तृतीय काल के बाद ईसा की तीसरी सदी के अंत और चौथी सदी के आरम्भ में रोमी-शिक्षा का पतन होने लगा। इस पतन का कारण रोमी-समाज था। अतः हमें रोमी समाज का अध्ययन करना चाहिए।

सामाजिक दशा—रोमी साम्राज्य के कई सम्राट शिक्षा और समाज में दिलचस्पी रखते थे। उनमें कुछ 'लोकतंत्र' की भावना का भी विकास हुआ। लेकिन इस लोकतंत्र की भावना में

सम्राट अपना ही हित सोचते थे। यदि जनता के लिए लोकतंत्र की व्यवस्था होती थी, तो उसके पीछे शोषण की भावना भी रहती थी। इस प्रकार लोकतंत्र के नाम पर सम्राट कारकल्ल (Caracalla) ने २१२ ई० में यह घोषित किया कि रोमी साम्राज्य के सभी नागरिक 'स्वतंत्र व्यक्ति' समझे जायेंगे। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि रोमी साम्राज्य में दास और ग़रीबों की अधिकता थी और केवल थोड़े से धनी और शासक वर्ग के लोग उच्च शिक्षा तथा अन्य सुविधाओं का उपभोग करते थे। लेकिन यूनानी प्रभाव के कारण रोमी साम्राज्य में लोकतंत्र की भावना का विकास हुआ और साथ ही ईसा मसीह के उपदेशों के कारण ऊँच-नीच का भेद-भाव कम होने लगा। ईश्वर के सामने सब बराबर थे, फिर सम्राट के सामने क्यों न हों। अतः रोमी साम्राज्य के सभी लोगों को (नागरिक) पद दिया गया और वे स्वतंत्र समझे जाने लगे। लेकिन इस 'स्वतंत्रता' की सुविधा को कम करने के लिए सम्राट ने यह अनिवार्य कर दिया कि हर एक नागरिक स्थानीय शासन (Municipal board) का व्यय दे। इस प्रकार नये कर का बोझ लोगों पर पड़ा। रोमी साम्राज्य में ग़रीब अधिक थे। वे इस नये व्यय के लिए कहाँ से धन लाते? इसलिए वे इस नवीन 'नागरिकता' से जान बचाने के लिए भागने लगे। जो लोग सरकारी काम में लग जाते थे, उनकी बचत हो जाती थी। बहुत से लोग सेना में भी भर्ती हुए। लेकिन सब के लिए सेना में स्थान कहाँ? कुछ लोग शिक्षक बने तो कुछ पादरी। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे लोग भी आए जिनके लिए शिक्षा पलायन (Escape) का एक साधन थी।

साम्राज्य में दुर्व्यवस्था—रोमी शिक्षा के पतन का दूसरा कारण शासन की दुर्व्यवस्था थी। सम्राट की इच्छा ही कानून

का काम करती। इसलिए एक प्रकार की तानाशाही स्थापित हो गई। राज्य के अधिकारीगण भी अपने को जनता से अलग समझने लगे और सेवा के बदले शासन करने लगे। इतना ही नहीं चारों ओर घूसखोरी का बाज़ार गर्म था। रोम में जिन बारह नियमों की मान्यता थी, उन्हें लोग भूल चले थे और न्यायाधीश तक घूस लेने लगे थे। जितने अधिकारी थे, वे किसी न किसी बहाने जनता को चूसने लगे थे। इस प्रकार पूरी शासन-व्यवस्था चौपट हो गई थी। यह किसी भी साम्राज्य के अंत के लिए पर्याप्त था। यह ऐतिहासिक सत्य है कि जब किसी शासन का अन्त होने लगता है, तब उसकी व्यवस्था बिगड़ जाती है। अतः रोम की शासन-व्यवस्था बहुत खराब हो चली और नैतिकता का कहीं नाम भी सुनाई न पड़ता था। इस प्रकार रोम की जनता का शोषण हुआ और रोमी साम्राज्य दुर्व्यवस्था से जर्जर हो गया। लेकिन शासक और धनीवर्ग फूलने-फलने लगा। इस वर्ग ने जी खोल कर गरीबों को लूटा और इनका लोभ इतना बढ़ गया कि किसी के पास कुछ न बचा। इस प्रकार शोषक वर्ग अपार धन एकत्रित कर रोमी जनता की छाती पर चढ़ बैठा, और चैन की बंशी बजाने लगा। अब इस वर्ग को रोमी-साम्राज्य की चिंता न थी। इसने सुख और आराम में दिन व्यतीत करना शुरू किया और समय काटने के लिए काव्य, कला और साहित्य से प्रेम किया।

नैतिक पतन—जिस समाज में शोषण और दुर्व्यवस्था का बोलबाला हो, उसके नैतिक पतन की गहराई का अंत कहाँ? शोषण करते समय ईमानदारी और सचाई का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार भी हो शोषण उचित है। इस प्रकार जो लोग गरीबों का खून चूस कर मोटे बने, उनके लिए नैतिकता

केवल मूर्खता की निशानी थी। इसलिए शोषक वर्ग दुराचार और व्यभिचार में लीन हो गया। प्राचीन रोम में जो भी नैतिकता थी, उसका भी अंत हो गया। इस प्रकार रोमी समाज में चारों ओर नैतिक पतन भी दिखाई पड़ने लगा। अतः ऐसे समाज में शिक्षा की ओर कौन ध्यान देता ? शिक्षा तो उसी समाज में उन्नति करती है जिसमें शोषण न हो और जहाँ नैतिकता हो। समाज के आर्थिक पतन के साथ नैतिक पतन का होना अनिवार्य है। इसलिए रोमी समाज का नैतिक पतन हुआ और साथ ही संसार के सबसे बड़े साम्राज्य की दीवारें भी गिरने लगीं। अब प्रतिक्रियावादी शक्तियों का जोर था। प्रगतिशील शक्ति दब गई थी, मगर फिर भी उभरने की कोशिश कर रही थी और इसे ईसाई धर्म के प्रचार द्वारा उठने में सहायता मिली।

शिक्षा का उद्देश्य—पतित-समाज में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति और समाज का हित कैसे हो सकता था ? अब तो शोषक वर्ग जिसमें थोड़े से लोग थे, उनके लिए शिक्षा थी। यह शोषक वर्ग अपने दिन चैन से व्यतीत करना चाहता था। अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तिवादी हो गया और व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में लग गया। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास केवल व्यक्ति के हित में था। समाज से शिक्षा का सम्बन्ध टूट गया।

शिक्षा का संगठन—अब शिक्षा केवल शोषक वर्ग के लिए थी। जनता के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी और जनता ग़रीबी के कारण शिक्षा प्राप्त भी कैसे करती ? इसलिए रोमी शिक्षा के अंतिम काल में शिक्षा का संगठन ऐसा हो चला

जो केवल धनी लोगों के बालकों को शिक्षा प्रदान कर सकता था। ग़रीबों के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी क्योंकि अब रोमी साम्राज्य में कुछ लोगों का बोलबाला था, और वे शासन को अपने हाथ में रखने के लिए जनता को निरक्षर रखना चाहते थे।

शिक्षा के विषय—शिक्षा के विषय अब व्यक्तिवादी और स्वार्थी प्रवृत्तियों को विकसित करते थे। कला, काव्य और साहित्य की शिक्षा सौंदर्यबोध और आत्म-विकास के लिए न होकर, वासना के लिए होती थी। इसके अतिरिक्त शिक्षा के ऐसे विषय भी न थे जो श्रद्धाभाव और धार्मिक विश्वास में सहायक होते। उस समय समाज में 'धर्म' का कोई महत्त्व न था। केवल वासना ही सब कुछ थी। इसलिए शिक्षा के जितने विषय थे, उनसे चरित्र-निर्माण में सहायता नहीं मिलती थी, वरन् वे सांसारिक सुखों के उपयोग की ओर अधिक ध्यान देते थे। शिक्षा के विषयों की उपयोगिता कम हो गई।

शिक्षा की पद्धति—शिक्षा की पद्धति में व्यावहारिकता का अभाव हो चला और इसके स्थान पर विद्यार्थियों को साहित्य की ओर आकृष्ट किया गया। साथ ही यूनानी सोफिस्टों की भाँति अब रोमी साम्राज्य में भी यात्री शिक्षक होने लगे। ये शिक्षक घूम घूम कर भाषण-कला की शिक्षा देते थे। इनकी शिक्षा में तत्त्व तो कुछ न था। लेकिन इनसे मनोरंजन अवश्य होता था। इस प्रकार अंतिम काल में शिक्षा की पद्धति कृत्रिम, निर्जीव और समाज के लिए अहितकर हो गई।

समाज पर प्रभाव—अंतिम काल में रोमी साम्राज्य की दीवारें गिर रही थीं। समाज में वासना और व्यभिचार इतना

बढ़ गया था कि शिक्षा भी कुछ न कर सकी। जिस शिक्षा ने रोमी साम्राज्य के प्रसार और दृढ़ता में सहायता पहुँचाई थी, वह शिक्षा अब बदल गई थी, क्योंकि अब वे शिक्षा के उद्देश्य न थे, संगठन न था, पद्धति न थी, विषय न थे। अतः ऐसी स्थिति में यह हुआ कि रोमी साम्राज्य का अंत और निकट आ गया और भविष्य में जब बर्बर जातियों का रोम पर हमला हुआ तो थोड़े से धनी और शोषक सामना न कर सके क्योंकि अब उन्हें जनता का सहयोग प्राप्त न था।

लेकिन अंतिम काल के इस अँधेरे में, ईसा मसीह की शिक्षा का प्रकाश भी फैलना शुरू हो गया था। जिस जनता को रोमी शोषकों ने निर्जीव कर दिया था, उसमें ईसा के उपदेशों ने जान डाल दी, और वह फिर उठने लगी। इसी के साथ यूरोप में एक नये इतिहास का आरम्भ होता है। एक के अंत में दूसरे का आरम्भ निहित है।

क्विंटीलियन और उसकी शिक्षा

इसके पूर्व कि हम रोमी शिक्षा के इतिहास को समाप्त करें, यह आवश्यक है कि रोम के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री क्विंटीलियन से परिचित हो लें। जिस प्रकार यूनानी शिक्षा में सुकरात, प्लैटो और अरस्तू का महत्त्व है, उसी प्रकार रोमी शिक्षा में सिसरो (Cicero) और क्विंटीलियन का महत्त्व है। सिसरो ने अपनी रचना 'ब्रूटस' (Brutus) और 'डि ओरेटोर' (De Oratore) में रोमी शिक्षा का सुंदर वर्णन किया है। सिसरो एक महान् लेखक था। उसकी गद्य-शैली का प्रभाव पश्चिमी देशों की गद्य-शैली में आज भी दिखाई देता है। लेकिन शिक्षा की दृष्टि से क्विंटीलियन (Quintilian) का महत्त्व सिसरो से अधिक है।

प्रारम्भिक जीवन—क्विंटीलियन का जन्म स्पेन के कैलागिरस नामक स्थान में सन् ३५ ई० के लगभग हुआ था। क्विंटीलियन आरम्भ से ही प्रतिभाशील था। उसका मन अध्ययन में लगता था और वह एक योग्य वक्ता (Orator) बनना चाहता था। अतः क्विंटीलियन ने रोम में आकर उच्च शिक्षा प्राप्त की। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद, क्विंटीलियन वैतनिक शिक्षक बना। उस समय रोम में वैतनिक शिक्षकों की प्रथा चल पड़ी थी और शिक्षण कार्य भी जीविका का एक साधन बन गया था।

शिक्षक और लेखक—क्विंटीलियन एक योग्य शिक्षक

था। उसने शिक्षण कार्य करते समय अपने अनुभव और निरीक्षण का प्रयोग किया। धीरे-धीरे उसने शिक्षा के सिद्धान्त और प्रयोग का पूर्ण अध्ययन किया। साथ ही कुशल वक्ता होने के नाते क्विंटीलियन का दर्शन, इतिहास, तर्क, आदि विषयों पर भी अधिकार था। इसलिए कुछ समय के बाद क्विंटीलियन ने अध्यापन कार्य छोड़ कर लेखन कार्य आरम्भ किया। इस समय उसकी अवस्था ५३ वर्ष की हो गई थी और वह पूर्ण अनुभवी बन चुका था। अतः जो कुछ क्विंटीलियन ने लिखा, उसमें तथ्य था। उसके विचार इतने मौलिक और श्रेष्ठ थे कि अट्ठारहवीं सदी तक, उनका प्राधान्य था। क्विंटीलियन का ग्रंथ 'इंस्टीट्यूट ऑफ ओरेटरी' (Institute of Oratory) बहुत प्रसिद्ध है। इसमें उसने शिक्षा सम्बन्धी अपने विचार भी व्यक्त किए हैं।

शिक्षा का उद्देश्य—क्विंटीलियन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास और चरित्र-निर्माण होना चाहिए। बिना अच्छे चरित्र के मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता। समाज की दृष्टि से व्यक्ति में मानव स्वभाव की परख होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में क्विंटीलियन व्यक्ति के व्यवहारों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के पक्ष में था। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्विंटीलियन ने चरित्र-निर्माण और मानव-स्वभाव के अध्ययन को शिक्षा के उद्देश्यों के रूप में स्वीकार किया। इसका कारण यह था कि उस समय लोग चरित्र की ओर कम ध्यान देते थे और साथ ही व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध की अवहेलना भी होती थी।

शिक्षा का संगठन—क्विंटीलियन के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा का उत्तरदायित्व माता-पिता पर था। बालक पर परम्परा और परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है। अतः यह आवश्यक था

कि आरम्भ ही से बालक की शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाय और उसमें अच्छी आदतें डाली जाँय। इसके अतिरिक्त क्विंटीलियन ने, साहित्यिक और वक्ता होने के नाते, शिक्षा का ऐसा संगठन किया जिसमें शारीरिक विकास की कम और मानसिक तथा नैतिक विकास की अधिक संभावना थी। क्विंटीलियन की बालकों के सम्बन्ध में यह धारणा थी कि उनमें बड़ी शक्ति होती है। अतः उनसे अधिक परिश्रम कराया जाय। इसलिए शिक्षा के संगठन में ऐसी व्यवस्था की गई कि बालकों को अधिक परिश्रम करना पड़े। लेकिन उसका यह कार्य अनुचित था।

शिक्षा के विषय—क्विंटीलियन कुशल वक्ता के लिए साहित्य, दर्शन, तर्क, इतिहास, गणित आदि का अध्ययन आवश्यक समझता था। इसलिए उसने अपनी शिक्षा योजना में भी इन विषयों को स्थान दिया। भाषा और व्याकरण का अध्ययन कुशल भाषण-कर्त्ता के लिए आवश्यक था। इसलिए क्विंटीलियन व्याकरण के अंतर्गत भाषा का शुद्ध प्रयोग और काव्य की आलोचना भी रखता था। काव्य की आलोचना के साथ-साथ लिखने-पढ़ने की भी व्यवस्था थी। इस प्रकार एक विद्यार्थी साहित्यालोचन की सहायता से अपने में विचार-शक्ति और तर्क-शक्ति उत्पन्न कर सकता था। विद्यार्थी को संगीत-शिक्षा भी दी जाती थी क्योंकि यह स्वर के चढ़ाव-उतार में सहायक होती थी। वक्ता के स्वर में यदि कोई दोष है तो वह कुशल वक्ता नहीं हो सकता। इसलिए संगीत की शिक्षा से स्वर की साधना होती थी। गणित के अध्ययन से तर्क-शक्ति का विकास और मनुष्य की विचार-प्रणाली में सुधार होता है। इसलिए गणित का अध्ययन भी आवश्यक है। तात्पर्य यह है

कि क्विंटीलियन ने शिक्षा में उन सभी विषयों को स्थान दिया जो एक कुशल वक्ता के लिए आवश्यक थे।

शिक्षा की पद्धति—शिक्षा की पद्धति की ओर क्विंटीलियन ने बड़ा ध्यान दिया। उसके अनुसार अध्यापक में सर्वप्रथम विद्यार्थी के लिए स्नेह और सहानुभूति होनी चाहिए। दूसरे शिक्षा की पद्धति मनोरंजक हो। तीसरे, बालक को शारीरिक दंड न दिया जाय। यह उल्लेखनीय है कि क्विंटीलियन के काल में शारीरिक दंड का प्रचार था और बालक बुरी तरह पीटे जाते थे। लेकिन क्विंटीलियन ने इसका विरोध किया और कहा कि बालक को मारने के बजाय प्यार से समझाना चाहिए और शिक्षण-पद्धति को मनोरंजक बनाना चाहिए। यहाँ हम देखते हैं कि क्विंटीलियन के ये विचार आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों से मिलते-जुलते हैं।

क्विंटीलियन की शिक्षा-पद्धति की दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि वह आरम्भ में बालकों की शिक्षा खेल द्वारा चाहता था। छोटे बच्चों को खेलना प्रिय होता है। इसलिए उनकी प्रारम्भिक शिक्षा की पद्धति में खेल की प्रधानता आवश्यक है। शिक्षा की आधुनिक योजनाओं में भी खेल की प्रधानता स्वीकार की गई है। शिक्षा-मनोविज्ञान में यदि हम 'खेल' का अध्ययन करें तो 'खेल द्वारा शिक्षा' स्पष्ट रूप से समझ जायेंगे। इस प्रकार किंटीलियन ने शिक्षा की पद्धति में ऐसे परिवर्त्तन किए जो आनेवाले समय के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुए।

समाज पर प्रभाव—किंटीलियन रोमी शिक्षा के स्वर्ण-युग का शिक्षा-शास्त्री था। अतः उसके शिक्षा-सिद्धान्तों का अनुसरण हुआ और फलस्वरूप नैतिकता की ओर भी ध्यान

दिया गया। लेकिन इसी काल में प्रतिक्रियावादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के बीज भी पड़ रहे थे। इसकी ओर किंटीलियन का ध्यान गया और उसने शिक्षा द्वारा मानव-स्वभाव के अध्ययन की आवश्यकता बताई। किंटीलियन बार-बार नैतिकता और चरित्र-निर्माण पर बल देता था। क्योंकि वह जानता था कि रोमी-साम्राज्य का अंत नैतिक पतन से होगा।

किंटीलियन दूरदर्शी था। वह आनेवाले युग की कल्पना कर सकता था। इसलिये उसके शिक्षा-सिद्धान्त ऐसे बने जो पंद्रह सौ वर्ष बाद भी उपयोगी समझे गये। यूरोपीय शिक्षा के इतिहास के पंद्रहवीं सदी से लेकर अठारहवीं सदी तक किंटी-लियन के विचारों का बोलबाला था। अतः इस काल में किंटी-लियन के शिक्षा-सिद्धान्तों के फलस्वरूप शिक्षा में बालक को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया और उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ हुआ। किंटीलियन एक साथ कई विषयों के अध्ययन क पक्ष में था। इसे भी पंद्रहवीं सदी के शिक्षा-शास्त्रियों ने स्वीकार किया, और आगे आनेवाले काल में किंटीलियन के विचारों के आधार पर शिक्षा की नई धारायें प्रवाहित हुईं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किंटीलियन ने न केवल अपने तत्कालीन समाज के नैतिक उत्थान की ही चेष्टा की, वरन् उसने ऐसे विचार प्रस्तुत किये जो भविष्य के समाज-निर्माण में बहुत ही सहायक हुए।

अन्धकार और प्रकाश

रोमी साम्राज्य के पतन के पश्चात् अंधकार छा गया था। इस अंधकार में यूरोपीय जनता भटकने लगी और प्रकाश ढूँढ़ने लगी। लेकिन जैसा कि हमें ज्ञात है, इस काल में ईसा मसीह के शिष्यों की संख्या बढ़ रही थी और वे 'प्रकाश' की ओर ले जाने का विश्वास दिला रहे थे। शोषित, पीड़ित, गरीब जनता को एक मसीह की आवश्यकता थी जो कि उसे गले लगाये, उसके आंसू पोछे और उठकर चलने के लिए कहे। अतः इन परिस्थितियों के बीच यीशू का उदय हुआ और उन्होंने अपने उपदेशों का प्रचार किया। ईसा मसीह का जीवन त्याग और बलिदान की कहानी है। वह संसार के एक महान् शिक्षक थे। उन्होंने पश्चिमी शिक्षा के इतिहास को एक नया जीवन दिया। लेकिन यह सब कैसे हुआ? किसने क्या किया? क्यों किया? इन सभी प्रश्नों पर विचार करने के लिए ईसा मसीह के जीवन की झलक प्राप्त करना आवश्यक है।

ईसा मसीह का जीवन—कहते हैं कि रोमी सम्राटों में प्रथम अगस्टस सीज़र (Augustus Caesar) के काल में ईसा का जन्म येरूशलम के एक गांव में हुआ था। उस समय यहूदियों का बोलबाला था और वे धनी भी थे। अतः ज्यों-ज्यों ईसा बढ़ते गये, उनके सामने धनी और निर्धन का अन्तर उभरता गया। उन्होंने देखा कि कुछ लोग दूसरे के परिश्रम का फल भोगते हैं और अपने आराम के लिए दूसरों को दुःख देते रहते हैं। यहूदियों की यह दशा देखकर ईसा को बड़ा दुःख हुआ और वे घर छोड़ कर वन में चले गये। चालीस दिनों तक भूखे-प्यासे जंगल में ईसा भटकते रहे और फिर उन्हें शांति

मिली। उनके अंधेरे मन में प्रकाश हुआ। वह प्रेम का प्रकाश था। ईसा वन से बस्ती में लौट आए और आकर उपदेश देने लगे,—'आपस में सब भाई भाई हैं क्योंकि सबका पिता ईश्वर है। ईश्वर के राज्य में कोई ऊँच और नीच नहीं है; सभी बराबर हैं। जो अच्छा काम करता है, उसे अच्छा फल मिलता है। जो दूसरों को दुःख देता है, वह स्वयं दुःखी होता है।'

ईसा के उपदेशों से पीड़ित जनता में जीवन आ गया। लोग ईसा को मसीह कहने लगे क्योंकि वे उनके दुःख-दर्द से सहानुभूति रखते थे। ईसा मसीह के इस बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर धनी यहूदी घबराये। उनके उस धर्म की दीवारें भी हिलने लगीं जो गरीबों के शोषण को क्षमा करता था और अत्याचारियों को शरण देता था। इसलिए ईसा मसीह के विरोधियों ने रोमी शासक से ईसा की शिकायत की। ईसा पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें शूली पर चढ़ा दिया गया। लेकिन ईसा मसीह मरकर भी अमर हो गये। उनके शिष्यों और भक्तों की संख्या दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ने लगी।

रोम में ईसाई धर्म का प्रचार—जैसा कि हम जानते हैं, रोमी साम्राज्य में धर्म का कुछ और ही रूप था। वहां धर्म का आंतरिक जीवन से उतना सम्बन्ध न था, जितना कि व्यावहारिक से। अतः निश्चित दिनों पर रोमी लोग मंदिरों में जाते थे। रोमी सम्राटों को भी देवता का पद प्राप्त था। अतः उनकी मूर्तियां भी मन्दिरों में शोभा पाती थी और रोमी साम्राज्य के प्रत्येक नागरिक से यह आशा की जाती थी कि वह सम्राट् के प्रति धार्मिक भाव रखेगा। इस प्रकार धर्म में शासक भी सम्मिलित हो गया। इसका प्रभाव यह हुआ कि धर्म भी एक व्यावहारिक वस्तु बन गया और उसका कोई सम्बन्ध आत्मा से न रहा।

ऐसे वातावरण में ईसा मसीह के शिष्य रोमी सम्राज्य की राजधानी रोम में आये और उन्होंने ईसा के उपदेशों का प्रचार किया। जब लोगों ने यह सुना कि संसार में जितने मनुष्य हैं, वे सभी एक दूसरे के भाई-बहिन हैं, तो उन्हें कुछ आश्चर्य-सा हुआ क्योंकि रोमी सामाजिक व्यवस्था असमानता पर बनी हुई थी और धर्म की आड़ में शोषण भी होता था। लेकिन ईसा के उपदेशों ने उन्हें एक नया दृष्टिकोण दिया और वे सभी वस्तुओं को एक नये प्रकाश में देखने लगे। रोमी पुरोहितों ने अनेक देवताओं की व्यवस्था की थी, लेकिन यहाँ एक ईश्वर था, जो सबका पिता था और सब उसके बेटे थे। इसका अर्थ यह था कि एक गरीब रोमी नागरिक और सम्राट् में कोई अन्तर नहीं क्योंकि दोनों ईश्वर के पुत्र थे। यह कोई साधारण बात न थी। जहाँ इस बात ने ग़रीबों को आशा दिलाई, वहीं रोमी सम्राट् के मन में आशंका भी उत्पन्न किया। वह रोमी सम्राट् जो कि देवता था, मनुष्य कैसे बनता ? ईसाइयों ने अपने प्रचार द्वारा एक बड़ी समस्या उत्पन्न कर दी।

साम्राज्य से संघर्ष—ईसा के शिष्यों के आदेश ही से लोग प्रभावित नहीं हुए, वरन् उनका जीवन भी लोगों के लिए प्रभावपूर्ण और आकर्षक था। ईसाई जो कुछ कहते, उसे करते भी थे। दैनिक जीवन में दासों और पशुओं के प्रति सहानुभूति का व्यवहार करना ईसाइयों का स्वभाव था। वे सभी के दुःख दूर करने की कोशिश करते। इस प्रकार लोगों पर ईसाइयों का प्रभाव बढ़ा और वे ईसाई बनने लगे। ईसाइयों की बढ़ती संख्या की व्यवस्था करने लिए एक पादरी (Bishop) का चुनाव हुआ। रोम के पादरी को लोग 'पापा' कहते थे और फिर कुछ दिनों के बाद वह पोप के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

धीरे-धीरे ईसाइयों की शक्ति बढ़ने लगी, क्योंकि ईसाइयों की संख्या पर्याप्त हो चली थी। अत: शोषित और पीड़ित लोगों के संघटन का केन्द्र गिरजाघर होने लगे। इस संघटन से लोगों में नया जीवन आया और उनकी शक्ति बढ़ने लगी। साथ ही इस नये दल को उन शक्तिशाली लोगों का सहयोग भी प्राप्त हुआ जो रोमी सम्राट् से किसी न किसी रूपमें असंतुष्ट थे। अत: ऐसे लोगों के लिए ईसाइयों का दल बड़ा सहायक हुआ। वे इस दल का नेतृत्व करने और रोमी साम्राज्य की शक्ति कम करने का उपाय सोचने लगे। उस समय रोमी सम्राट् की यह नीति थी कि सब शांतिपूर्वक अपने विश्वास के अनुसार कार्य करें और कोई किसी दूसरे के धार्मिक विश्वास में बाधक न हो। इस प्रकार रोमी साम्राज्य एक प्रकार से ईसाई धर्म के प्रति उदासीन था। लेकिन जब ईसाई दल में साम्राज्य से असंतुष्ट व्यक्ति सम्मिलित हुए तब इन लोगों ने धर्म के प्रचार के नाम पर ऐसी बातों को कहना शुरू किया जो अन्य धर्मावलम्बियों के विरूद्ध थी। फलत: साम्प्रदायिक दंगे हुए और ईसाइयों के विरुद्ध सरकारी कार्रवाई हुई। लेकिन ईसाई लोग डटे रहे और उन्होंने मुसीबतों को झेला। उन्हें किन-किन कठिनाइयों और क्रूरताओं का सामना करना पड़ा, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

साम्राज्य में ईसाई धर्म का सम्मान—जब इस प्रकार ईसाईयों का साम्राज्य से संघर्ष चल रहा था, उस समय रोम पर बर्बर जातियों के आक्रमण भी हो रहे थे। ईसाई पादरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार के निमित्त इन बर्बर जातियों के बीच जाना निश्चित किया। अत: कुछ पादरी इन बर्बर जातियों के लोगों से मिले और उन्हें ईसा मसीह के उपदेश सुनाये। इन उपदेशों का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने रोम को आदर की दृष्टि

देखना आरम्भ किया। रोमी सम्राट ने जब ईसाइयों के इस प्रभाव को देखा, तब वह चकित रह गया। जो सफलता युद्ध से प्राप्त नहीं की जा सकती थी, उसे पादरियों ने बात से पा ली। अब क्या था, रोमी सम्राज्य ने ईसाई पादरियों का सम्मान शुरू कर दिया और उन्हें हर प्रकार की सुविधायें मिलने लगीं। इस प्रकार रोमी साम्राज्य में ईसाई धर्म सम्मानित हुआ। लेकिन सबसे बड़ा सम्मान ईसाई धर्म को उस समय मिला, जब सम्राट कांसटैनटाइन ने ईसाई धर्म को स्वीकार किया। उसने यह धर्म क्यों स्वीकार किया, इसकी भी एक कथा है। कहा जाता है कि कांसटैनटाइन ने अपने जीवन में बहुत संघर्ष किया था। उसे कई बार असफलतायें मिली थीं। एक बार वह निराश हो गया और आशा के लिए ईसाइयों के ईश्वर की आराधना की। उसने कहा—'यदि मुझे एक बार सफलता मिली तो मैं भी इसाई हो जाऊँगा।' संयोगवश कांसटैनटाइन को सफलता मिली और वह ईसाई बन गया। सम्राट के ईसाई बन जाने से ईसाई धर्म को राज्य का आश्रय मिल गया और उसका प्रसार तीव्र गति से होने लगा। इस प्रकार रोमी साम्राज्य में ईसाई धर्म की स्थापना हो गई।

समाज पर प्रभाव—रोमी सम्राज्य में मंदिरों की संख्या दिन प्रति दिन कम होने लगी और सम्राट जस्टिनियन (Justinian) के समय में ईसाई धर्म का पूरा प्रभाव फैल गया। जस्टिनियन ने एथेन्स के उस दर्शन-विद्यालय को भी बंद कर दिया, जिसकी स्थापना प्लैटो ने की थी। इस प्रकार ईसाई धर्म का समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अब लोगों के सामने ईसाई धर्म के उपदेश थे और वे बिना किसी दुविधा के कार्य कर सकते थे। उन्हें यह भी ज्ञात था कि यदि वे अच्छा कार्य करेंगे तो उन्हें 'ईश्वर का राज्य' (Kingdom of God) प्राप्त होगा। दूसरे शब्दों में लोगों का

ध्यान 'दूसरी दुनिया' की ओर गया और वे जिस दुनिया में रहते थे, उसका महत्त्व कम हो गया। इस प्रकार रोमी साम्राज्य में एक नये दर्शन का प्रचार हुआ। इस नये दर्शन के फलस्वरूप यूनानी दर्शन का प्रभाव कम हो गया। जैसा कि हम जानते हैं, यूनानी दर्शन सभी समस्याओं का हल व्यक्ति की बुद्धि के विकास में मानता था। प्लैटो और अरस्तू ने बौद्धिक तत्त्व को ही प्रधानता दी थी। इसका प्रभाव यह हुआ था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी चिंता करने लगा और समाज में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का विकास हुआ। इसके विपरीत ईसाई दर्शन ने प्रत्येक मनुष्य को नैतिक माना और कहा कि यह गुण सभी लोगों में है। इस प्रकार यह नवीन दर्शन पूरे समाज में व्याप्त हुआ। इसका यह फल हुआ कि लोग अपनी नैतिकता की अभिव्यक्ति के लिए सहानुभूति, दया और प्रेम का प्रदर्शन करने लगे। अतः जहाँ समाज नैतिक पतन से पीड़ित था, वहाँ अब उसे ईसाई दर्शन से आशा मिली और लोगों में नैतिकता का विकास होने लगा। लेकिन ईसाई दर्शन सभी दृष्टियों से पूर्ण नहीं था। अतः उसे यूनानी दर्शन तथा रोमी संस्कृति से भी कुछ बातें ग्रहण करनी पड़ीं। उदाहरण के लिए यूनानी दर्शन और संस्कृति में सौन्दर्य-बोध की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। लेकिन ईसाइयों ने आरम्भ में सौन्दर्य-बोध को नहीं अपनाया। अतः दोनों विचार-धाराओं में एक प्रकार का संघर्ष हुआ। यूनानी प्रभाव परिष्कृत और सौन्दर्यपूर्ण तो था, लेकिन वह जन-जीवन में स्थान नहीं पा सका था। इसके विपरीत ईसाई धर्म की यह विशेषता थी कि उसमें जन-सामान्य के लिए विशेष आकर्षण था। जिनकी अवहेलना यूनानी संस्कृति ने की, उन्हें ईसाई संस्कृति ने गले लगाया।

संस्कृतियों का संघर्ष—लेकिन जब दो संस्कृतियों का संघर्ष होता है, तब उनमें से एक संस्कृति रह जाती है और दूसरी

दुर्बल होकर समाप्त हो जाती है। मगर मिटती हुई संस्कृति भी अपना प्रभाव छोड़ जाती है। यही ईसाई और यूनानी विचार धाराओं के संघर्ष में भी हुआ। यूनानी विचार-प्रणाली और अध्ययन-पद्धति वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण थी। ईसाई विचारधारा ने इस प्रणाली और पद्धति को अपनाया। शिक्षा के क्षेत्र में भी यूनानी शिक्षा पद्धति ईसाइयों को पसन्द आई और उन्होंने इसे स्वीकार किया। तात्पर्य यह है कि ईसाइयों ने यूनानी संस्कृति और विचारधारा के उपयोगी तत्त्वों को बिना किसी हिचक के अपनाया।

ईसाई धर्म, दर्शन और विचारधारा पर रोमी प्रभाव भी पड़ा। रोमी संस्कृति में कर्त्तव्य की भावना का प्रथम स्थान था। प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्य निश्चित थे और वह कर्त्तव्य-पूर्ति को एक बड़े गुण के रूप में मानता था। यह विचार ईसाइयों को अच्छा लगा और उन्होंने इसे अपनाया। इस प्रकार रोमी विचारधारा के फलस्वरूप ईसाई विचारधारा में कर्त्तव्य की भावना, गुण का विकास और सबके प्रति सहानुभूति की भावना विकसित हुई। लेकिन जैसा कि हम जानने हैं, ईसाई 'दूसरी दुनिया' या 'परलोक' की बातें करते थे। यदि व्यक्ति इस लोक में अच्छा काम करता है तो उसका फल परलोक में मिलता है। इसका उन लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा, जो निराश हो चुके थे। अतः वे पुनः कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर हुए और तात्कालिक फल की आशा छोड़ कर कर्म में लग गये। लेकिन रोमी विश्वास यह था 'बुद्धिमान ही अच्छे कर्म कर सकते हैं और वह भी दंड के डर से नहीं, वरन् न्याय और मंगल में विश्वास के कारण।' इस विश्वास के पीछे यूनानी दार्शनिक जेनों के 'स्टोइक दर्शन' का प्रभाव था। लेकिन स्टोइक दर्शन से ईसाई दर्शन क्यों बढ़ गया, इसकी ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

दार्शनिक प्रभाव—पाल मनरो ने स्टोइक दर्शन और ईसाई धर्म की तुलना करते समय कई बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। सर्व प्रथम समानता की दृष्टि से जब विचार करते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि दोनों ने गुण (Virtue) को महत्व प्रदान किया। रोमी जीवन में कर्त्तव्य और नीति की प्रधानता थी। इसलिए 'गुण' को स्टोइकवाद के साथ स्वीकार किया गया। ईसाईधर्म भी मनुष्य को नैसर्गिक रूप से गुणी (Virtuoue) मानता था। इस प्रकार 'गुण' की दृष्टि से दोनों में समानता थी। लेकिन इनमें अंतर भी था। स्टोइकवाद का 'गुण' ज्ञान पर आधारित था। बिना ज्ञान प्राप्त किए मनुष्य गुणी नहीं हो सकता। स्पष्ट है इस विचार के पीछे यूनानी दर्शन का प्रभाव है। लेकिन इसके विपरीत ईसाईधर्म ने 'गुण' को भक्तिभाव के आधार पर माना। जो सच्चे मन और प्रेम से गुण को प्राप्त करना चाहेगा, उसे गुण प्राप्त होगा। इस विचार के फलस्वरूप ईसाईधर्म का 'गुण' सबके लिए सुलभ था। लेकिन स्टोइकवाद का 'गुण' केवल ज्ञानियों के लिए था और ज्ञानियों की संख्या बहुत कम होती थी। इसलिए ईसाई धर्म द्वारा प्राप्त प्रस्तुत गुण प्राप्त करने का साधन सबको पसन्द आया और सबने भक्तिभाव, सहानुभूति, प्रेम, और अपने में ईश्वरीय सत्ता के बोध को स्वीकार करके गुणी होना चाहा। स्पष्ट है कि ईसाई धर्म के इस दर्शन का सामान्य जीवन के हृदय से सम्बन्ध था। इसलिए इसका प्रसार बुद्धिवादी स्टोइकवाद से अधिक हुआ। स्टोइकवाद तथा अन्य प्राचीन दर्शनों की सीमा बुद्धिवाद में थीं। जब कि सामान्य जनता पीड़ित और दुःखित हो, उस समय बुद्धिवाद की बातें करना और हृदय को सांत्वना न देना, किसी दर्शन को सीमित बना सकता है। यही कारण है कि ईसाई दर्शन ने हृदय पक्ष को लेकर जन-सामान्य से सम्पर्क स्थापित किया और

वह सबसे आगे बढ़ गया। दूसरे शब्दों में ईसाई दर्शन ने पूरे समाज को प्रभावित किया और उसका नैतिक उत्थान करना चाहा।

ईसाई धर्म की देन—'अंधकार और प्रकाश' के अंतर्गत हम दार्शनिक भूमि पर विचार कर रहे थे। इस विचार के फल-स्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ईसाई धर्म का दर्शन और विचारधारा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सबसे बड़ा प्रभाव तो यह पड़ा कि राज्य से धर्म अलग हो गया। पहले सम्राट् भी एक देवता होता था और लोग उसकी पूजा करते थे। लेकिन ईसाई धर्म ने कहा सम्राट् और एक नागरिक में कोई अंतर नहीं है। सभी ईश्वर की संतान हैं। इस प्रकार ईसाई धर्म ने सम्राट् के राज्य के स्थान पर 'ईश्वर के राज्य' (Kingdom of God) की स्थापना की। ईसाई धर्म की दूसरी देन 'समानता' थी। अमीर और गरीब ईसाई धर्म में समान पद पाते थे। ईसाई धर्म की तीसरी देन सर्व सुलभ नैतिकता थी। पहले नैतिकता दार्शनिक अध्ययन से प्राप्त होती थी। लेकिन अब उसका दर्शन से सम्बन्ध तोड़ दिया गया और यह कहा गया कि सत्य, सहानुभूति, प्रेम और भक्ति से सभी लोग नैतिक बन सकते थे। इसका प्रभाव यह हुआ कि पूरे समाज में नैतिक जागरण हुआ और धनी वर्ग का प्रभाव कम होने लगा। दूसरे शब्दों में ईसाई धर्म के फल-स्वरूप अब धर्म अभिजात वर्ग की संस्कृति से अलग हो गया और दर्शन तथा नीति पर केवल कुछ लोगों का आधिपत्य भी समाप्त हो गया। बुर्जुवा समाज में संस्कृति और साहित्य को जन-जीवन से अलग रखा जाता है। यूनानी और रोमी समाज में संस्कृति, दर्शन, धर्म, नीति, साहित्य पर केवल अभिजात वर्ग का अधिकार था। लेकिन ईसाई धर्म ने आकर पूरे समाज में एक नया जीवन डाल दिया और सदियों के अंधकार को एक नये प्रकाश से मिटा दिया।

ईसाई शिक्षा का आरम्भ

सामाजिक समानता—ईसाई शिक्षा का आरम्भ एक ऐसे समाज में हुआ था जिसका नैतिक पतन हो चुका था। यह नैतिक पतन किस सीमा तक हुआ था, इससे हम परिचित हैं। लेकिन यहाँ एक दो बातें स्मरणीय हैं। सर्वप्रथम यह कि रोमी समाज में नैतिक उत्थान के लिए ईसाई शिक्षा को अथक परिश्रम करना था। इसके लिए ईसाई शिक्षा में असीम नैतिक शक्ति की आवश्यकता थी। बिना इसके समाज का नैतिक उत्थान असंभव था। इसलिये ईसाई शिक्षा में सार्वजनिक नैतिकता को स्थान दिया गया और उसका आधार बुद्धिवादी न होकर हृदयवादी हुआ। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ईसाई शिक्षा के पूर्व की शिक्षा में बुद्धिवादी तत्त्व अधिक थे और बुद्धि के विकास की ओर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि बुद्धि-विकास की अधिकता हुई और साधारण नैतिकता की अवहेलना इस सीमा तक हुई कि सम्पूर्ण समाज का नैतिक पतन हो गया। और यह तो हम जानते ही हैं कि ईसाई शिक्षा के पूर्व की शिक्षा केवल धनी, अभिजात, और शोषक वर्ग के लिए थी। उसका सामान्य जनता से कोई सम्बन्ध न था। लेकिन ईसाई शिक्षा का आधार ही जन-जीवन था। यह सबके लिए थी और सबकी उन्नति चाहती थी। पश्चिमी इतिहास में जन-जागरण और जनता के उत्थान का यह पहला उदाहरण है। ऐसा इसलिए हुआ कि ईसाई शिक्षा में बुद्धिवादी पर्दे से काम नहीं लिया गया। इसका सीधा सम्बन्ध जनता के

हृदय से था और यह सबके लिए समान अवसर प्रदान करती थी। दूसरे शब्दों में धर्म के नाम 'ईश्वर के राज्य' में समाजवादी व्यवस्था थी।

धर्म और जीवन में एकता—ईसाई धर्म और शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन से था। इसलिए जो व्यक्ति ईसाई बनता था, उससे एक निश्चित प्रकार के व्यवहार की आशा की जाती थी। दूसरे शब्दों में उसे ईसाई धर्म के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता था। सत्य, सहानुभूति, प्रेम और नैतिक जीवन ईसाई व्यक्ति का आदर्श था। जो इस आदर्श को प्राप्त करता, वही ईसाई माना जाता था। इस प्रकार ईसाई धर्म सम्पूर्ण जीवन की शिक्षा प्रदान करता था। इसके पूर्व लोग कहते कुछ और करते कुछ और थे। लेकिन ईसाई धर्म ने कहा—'जो कहो उसे करो'। कहने और करने में एकता होनी चाहिए। नैतिकता की दृष्टि से समाज के लिए यह शुभचिन्ह था। अतः इसका परिणाम यह हुआ कि जो व्यक्ति ईसाई बनना चाहता था। उसे ईसाई धर्म के अनुसार रहकर यह सिद्ध करना पड़ता था कि वह एक सच्चा ईसाई है। जब यह सिद्ध हो जाता, तब वह ईसाई समाज में सम्मिलित कर लिया जाता था। यदि किसी ईसाई व्यक्ति के चरित्र में कोई कमी दिखाई पड़ती, तो उसे ईसाई समाज से निकल जाना पड़ता था। इस प्रकार जो लोग ईसाई बनते, वे नैतिक जीवन व्यतीत करते थे। इसका समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा और लोगों की दृष्टि में ईसाई धर्म और समाज ऊँचा उठ गया।

दीक्षा के पूर्व शिक्षा—उन दिनों यह एक नियम था कि जब तक व्यक्ति में ईसाई धर्म को समझने की बुद्धि न आ जाय, तब तक उसे ईसाई समाज में सम्मिलित न किया जाय। अतः

दीक्षा (Baptism) के पूर्व ऐसी शिक्षा दी जाती थी, जो ईसाई धर्म को समझाने और उसके अनुसार जीवन व्यतीत करने में सहायक होती थी। लेकिन इस प्रकार की शिक्षा के पूर्व यह भी देख लिया जाता था कि जो व्यक्ति ईसाई बनना चाहता है, वह कैसा है। यदि उसमें ईसाई धर्म के प्रति वास्तविक श्रद्धा है, तो पादरी लोग उसे विशेष रूप से ईसाई समाज में स्वीकार करते थे। लेकिन यदि व्यक्ति ने केवल ईसाई बनने की इच्छा प्रगट की है, और उसके हृदय में ईसाई धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा नहीं है, तो उसे शिक्षा दी जाती और ईसाई धर्म के योग्य बनाया जाता था। इस शिक्षा की अवधि निश्चित न थी। इसलिए कभी कभी ईसाई बनने की इच्छा प्रगट करने वालों की यह शिक्षा बहुत दिनों तक चला करती। यह एक प्रकार से ठीक भी था क्योंकि जब तक यह विश्वास न हो जाय कि शिक्षा प्राप्त करनेवाले में ईसाई धर्म, नीति और अनुशासन पालन करने की क्षमता उत्पन्न हो गई है, तब तक उसे ईसाई समाज में सम्मिलित करना ठीक न था।

शिक्षा का उद्देश्य—ईसाई शिक्षा के आरम्भ में शिक्षा का उद्देश्य ईसाई धर्म और अनुशासन की शिक्षा प्रदान करना था। ऊपर दिये गये विवरण से यह स्पष्ट है कि ईसाई धर्म के प्रचार के लिए शिक्षा का यह उद्देश्य होना स्वाभाविक था। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ईसाई शिक्षा के आरम्भ में शिक्षा धर्म के प्रचार का केवल माध्यम थी। ईसाई शिक्षा इसलिए दी जाती थी कि योग्य और नैतिक ईसाई तैयार हो सकें। इसलिए उस समय शिक्षा का उद्देश्य अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता था, वरन्, उसका सम्बन्ध ईसाई धर्म से था और वह ईसाई धर्म के प्रचार के लिए थी। यदि ईसाई धर्म का प्रचार करना, और लोगों को ईसाई समाज के योग्य बनाना न होता तो संभवतः शिक्षा की ओर

ध्यान भी न दिया जाता। अतः यह स्पष्ट है कि उस समय शिक्षा ईसाई धर्म के लिए थी और उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व न था। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य ईसाई धर्म, नीति और अनुशासन के योग्य व्यक्तियों को बनाना था।

शिक्षा के विषय—शिक्षा के विषयों में से कुछ ऐसे थे जो व्यक्ति को अनुशासन के योग्य बनाते थे। उदाहरण के लिए ईसा मसीह के उपदेशों की शिक्षा इस प्रकार दी जाती थी कि व्यक्ति में अनुशासन और नैतिकता का विकास हो। शारीरिक विकास की दृष्टि से शिक्षा में व्यायाम को स्थान नहीं दिया गया, क्योंकि उस समय शिक्षा का उद्देश्य योग्य ईसाई बनाना था, न कि सैनिक। इस लिए व्यायाम का अभाव था। मानसिक विकास की दृष्टि से शिक्षा में संगीत का प्रमुख स्थान था। जैसा कि हम जानते हैं ईसाई धर्म में हृदय पक्ष की प्रधानता थी। अतः भावपूर्ण संगीत द्वारा हृदय में प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न करने की कोशिश की जाती थी। दूसरे शब्दों में संगीत द्वारा हृदय को शुद्ध करके व्यक्ति को नैतिक बनाने का प्रयास किया जाता था। जहाँ तक बौद्धिक विकास का प्रश्न है, इस दृष्टि से आरम्भ में शिक्षा के विषयों का अभाव था। लेकिन कुछ दिनों के बाद यूनानी प्रभाव के फलस्वरूप तर्क-शास्त्र, दर्शन, इतिहास और नक्षत्र-विज्ञान की शिक्षा भी दी जाने लगी। ऐसा इसलिए हुआ कि ईसाई पादरियों को उन लोगों को ईसाई धर्म समझाने में कठिनाई पड़ती थी, जो यूनानी दर्शन और तर्क-शास्त्र से भली भाँति परिचित थे। ऐसे लोगों को केवल भावना से प्रभावित नहीं किया जा सकता था। इसलिए ईसाई शिक्षा में ऐसे विषयों की आवश्यकता हुई जो विचार-शक्ति उत्पन्न कर सकें। फलतः ईसाई शिक्षा में वे विषय भी सम्मिलित हुए जो यूनानी

शिक्षा में प्रधान स्थान रखते थे। यदि ऐसा न होता तो ईसाई धर्म का प्रचार यूनानियों के बीच न हो पाता।

शिक्षा की पद्धति—ईसाई शिक्षा के आरम्भ में शिक्षा की पद्धति में कोई नवीनता नहीं आई। यूनानी और रोमी प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षा की जिस पद्धति का विकास हुआ था, वही अब भी प्रचलित थी। ऐसा इसलिए हुआ कि ईसाई शिक्षा ईसाई धर्म के लिए थी। अतः धर्म के प्रचार में शिक्षा से सहायता ली जाती थी और उसकी ओर विशेष रूप से ध्यान नहीं दिया जाता था। यदि केवल शिक्षा द्वारा समाज की उन्नति का प्रयास किया जाता तो यह संभव था कि शिक्षा की पद्धति में भी विकास होता। लेकिन उस समय तो धर्म का प्रचार करना था और उसे सर्वसुलभ बनाना था। इसलिए शिक्षा की वर्तमान पद्धतियों का ही उपयोग किया गया। हाँ, ऐसे करते समय यह ध्यान में अवश्य रखा गया कि किसी प्रकार से मानव स्वभाव और सम्मान के विरुद्ध कोई कार्य न हो।

शिक्षा का संगठन—ईसाई शिक्षा के आरम्भ में शिक्षा का महत्त्व न होने के कारण शिक्षा के संगठन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। जो लोग ईसाई बनना चाहते थे, उनमें बड़े-बूढ़े, नवयुवक, बालक सभी होते थे। इसलिए आरम्भ में बिना किसी प्रकार के वर्गीकरण के सभी को सप्ताह में कुछ निश्चित समय पर गिरजाघर के बरामदे में दीक्षा के पूर्व की शिक्षा के लिए एकत्रित होना पड़ता था। अतः इस प्रकार के विद्यालयों को कैटेक्यूमिनल स्कूल या पूर्व-दीक्षा विद्यालय (Catechumenal Schools) कहा जाता था। इन विद्यालयों का संगठन लोगों को ईसाई दीक्षा के योग्य बनाने के लिए किया गया था। अतः इन विद्यालयों में सभी को आने की अनुमति थी। जहाँ तक ईसाई बालकों का सम्बन्ध है, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध

घर पर ही हो जाता था। लेकिन जिन बालकों के माता पिता ईसाई नहीं थे, वे खुशी से पूर्व-दीक्षा विद्यालयों में आ सकते थे। जैसा कि हम जानते हैं, इन विद्यालयों में केवल दीक्षा की तैयारी की शिक्षा दी जाती थी और उसका ध्यान बौद्धिक विकास की ओर न था। लेकिन बाद में बौद्धिक विकास की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसके लिये प्रश्नोत्तरी विद्यालयों (Catechetical Schools) का संगठन हुआ।

कैटेकेटिकल स्कूल—कैटेकेटिकल स्कूल या प्रश्नोत्तरी विद्यालय जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, प्रश्न तथा उत्तर की प्रणाली से शिक्षा प्रदान करते थे। दूसरे शब्दों में, विद्यार्थी अपनी शंकाओं का समाधान इन विद्यालयों में करता था। यह इसलिए आवश्यक था कि यूनानी लोगों को ईसाई धर्म का बातें समझाना था और उनके द्वारा उठाई गई शंकाओं का अपने लिए तथा उनके लिए भी समाधान करना था। अतः हम देखते हैं कि ईसाई धर्म में अब विचार अथवा ज्ञान को भी स्थान दिया गया। जहाँ पहले भक्ति-भाव पर बल दिया जाता था, वहीं अब भक्ति के साथ ज्ञान अथवा दर्शन का अध्ययन आवश्यक था। इस कार्य में उन लोगों से बड़ी सहायता मिली जिन्होंने यूनानी दर्शन के अध्ययन के पश्चात् ईसाई धर्म स्वीकार किया था। ऐसे लोगों में पैंटेनस (Pantaenus) का नाम उल्लेखनीय है। पैण्टेनस स्टोइक दर्शन का विद्वान् था और इसने बाद में ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। अतः पैंटेनस की अध्यक्षता में सिकंदरिया का प्रश्नोत्तरी विद्यालय चला। पैंटेनस ने इस विद्यालय में यूनानी शिक्षा के सभी विषयों को स्थान दिया और यूनानी दर्शन का ईसाई धर्म से सामंजस्य स्थापित किया। लेकिन इसका विकास पैंटेनस के बाद होनेवाले अध्यक्षों क्लीमेंट और ऑरीजेन (Clement &

Origen) नामक पादरियों के समय में भलीभाँति हुआ। इन लोगों ने ईसाई धर्म की दार्शनिक भूमि को दृढ़ बनाया और एक प्रकार से ईसाई विश्वास की सभी त्रुटियों को पूरा किया। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के प्रश्नोत्तरी विद्यालयों की संख्या बहुत कम थी। ऐसे विद्यालय सिकंदरिया तथा एशिया के पूर्वी भाग में एक दो महत्त्वपूर्ण स्थान में खोले गये थे। वास्तव में इन विद्यालयों में उच्च श्रेणी के पादरियों की शिक्षा होती थी और इनकी सबके लिए आश्यकता भी न थी। लेकिन जो लोग दर्शन, तर्कशास्त्र आदि विषयों का अध्ययन करना चाहते थे, वे इन विद्यालयों में अवश्य सम्मिलित होते थे। पर शिक्षा के संगठन की दृष्टि से इन्हें वास्तविक विद्यालय नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि इनका स्थान अध्यापक का घर था और इनकी व्यवस्था और प्रणाली का कोई स्पष्ट रूप न था। व्यवस्था और प्रणाली की दृष्टि से स्पष्ट रूप रखनेवाले विद्यालय कुछ समय बाद में खोले गये इन्हें एपिसकोपल और कैथेड्रल स्कूल (Episcopal and Cathedral Schools) कहते थे।

एपिसकोपल और कैथेड्रल स्कूल—इन स्कूलों का संचालन पादरियों द्वारा गिरजा घरों के समीप होता था, और इसमें छोटे बालक शिक्षा पाते थे। ऐसा इसलिए किया गया कि आरम्भ ही से बालकों को ईसाई धर्म की शिक्षा देकर उन्हें योग्य पादरी बनाया जाय। अतः इस शिक्षा का संगठन पादरियों द्वारा उन्हीं के स्थानों पर हुआ। यहाँ बालकों को विधिवत् शिक्षा दी जाती थी। उन्हें पढ़ना, लिखना, संगीत और ईसाई धर्म की बातों का ज्ञान कराया जाता था। इतना ही नहीं पादरियों के पदों की उन्नति में भी इन स्कूलों की शिक्षा का महत्त्व था। इसलिए एपिसकोपल अर्थात् पादरियों और कैथेड्रल अर्थात् प्रधान पादरी (Bishop)

द्वारा संचालित स्कूलों का बड़ा महत्त्व था और यह महत्त्व पांचवी-छठी सदी में इतना बढ़ा कि एक कानून बना कर भावी पादरियों के लिए इन स्कूलों की शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। इस प्रकार धीरे-धीरे एपिसकोपल स्कूलों के भवन बने, इनके सञ्चालन के लिए संपत्ति की व्यवस्था की गई और यूरोपीय देशों में ईसाई धर्म के प्रचार के साथ इनकी संख्या बढ़ती गई तथा जिन स्थानों में कैथेड्रल बने, वहां विशप या प्रधान पादरी की देखरेख में कैथेड्रल स्कूल भी चलने लगे। इन स्कूलों के प्रसार का अवसर उस समय उपस्थित हुआ जब रोमी संस्कृति को बर्बर जातियों के आक्रमण ने नष्ट कर दिया। इस प्रकार यूरोप में शिक्षा का केवल यह संगठन लगभग बारहवीं सदी तक चलता रहा। इसके साथ साथ मठीय शिक्षा (Monastic Education) का भी आरम्भ हो गया था। लेकिन अनुशासन की कठोरता और संकुचित दृष्टिकोण के कारण मठीय शिक्षा का प्रसार नहीं हो पाया और एपिसकोपल और कैथेड्रल स्कूलों को इनके उदार दृष्टिकोण के कारण प्रसार का अवसर मिला।

समाज पर प्रभाव—ईसाई शिक्षा के आरम्भ काल से लेकर ६ठीं शताब्दी तक की शिक्षा का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा, इस पर जब विचार करते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि ईसाई धर्म के प्रचार से समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। जनता को उन्नति करने का अवसर मिला और ईसाई धर्म का प्रभाव बढ़ा। रोमी सम्राट कांसटैंटाइन ने जब ईसाई धर्म स्वीकार किया, उस समय से ईसाई धर्म को राज्याश्रय मिला। इतना ही नहीं, बिशप को शासन और न्याय के अधिकार भी मिले। लेकिन सम्राट कांसटैटाइन के पहले ईसाई धर्म और शिक्षा का विकास किस प्रकार हुआ, इसपर गिबन (Gibbon) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक

'द डिक्लाइन एंड फाल ऑफ द रोमन एम्पायर' में पर्याप्त प्रकाश डाला है। गिबन ने ईसाई धर्म और शिक्षा के विकास के पांच कारण बताये हैं:—

(१) ईसाइयों में अदम्य उत्साह······। (२) 'परलोकवाद' का लोगों को कार्य करने की शक्ति प्रदान करना। (३) प्रारम्भिक गिरजाघरों के चमत्कारपूर्ण शक्ति में लोगों का विश्वास (४) ईसाइयों के सात्विक और नैतिक जीवन का समाज पर प्रभाव। और (५) ईसाई व्यवस्था और संगठन के फलस्वरूप रोमी साम्राज्य में 'स्वतंत्र ईसाई राज्य' का प्रादुर्भाव।[1]

इन पाँच कारणों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि हमने इस अध्याय के आरम्भ में देखा अदम्य उत्साह के फल-स्वरूप ईसाई धर्म और शिक्षा का प्रसार हुआ। लेकिन ईसाइयों के इस अदम्य उत्साह के पीछे उनकी अन्य धर्मों के प्रति, विशेष कर बहुदेववादी धर्म (Pagan Religion) के विरोध की भावना थी। इस प्रकार जहाँ एक ओर उत्साह था, उसी के साथ विरोध की भावना भी थी और यह विरोध समाज के बड़े समूह द्वारा ईसाई धर्म के प्रति उत्साह के रूप में प्रगट हुआ। इस प्रकार आरम्भ में पीड़ित और शोषित जनता को ईसाई धर्म ने उत्साह दिलाया और इस कार्य में ईसाई शिक्षा साधन के रूप में व्यवहित हुई।

इसके अतिरिक्त ईसाई शिक्षा का समाज पर सब से बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि सभी वर्गों में जीवन और आशा का संचार हुआ। ईसाई शिक्षा शोषण और उत्पीड़न को आश्रय नहीं देती थी। इसलिए जन-सामान्य को उन्नति का अवसर मिला। लेकिन जैसा

---

1. History of Western Philosophy by B. Russell Pages 349-350.

कि हम जानते हैं, कुछ समय के बाद अच्छे सिद्धांतों का दुरुपयोग भी किया जाता है। समाज में ईसाई धर्म के प्रति जो निष्ठा और भक्ति थी उसके द्वारा मठीय शासन को शक्ति मिली। इस शक्ति से समाज का क्या लाभ हुआ और क्या हानि हुई, इसे हम इस इतिहास के अध्ययन द्वारा स्पष्ट रूप से ज्ञात कर सकेंगे।

मठीय-शिक्षा

विरोध की भावना—ईसाई शिक्षा के आरंभ में जिस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था थी, उसका एक मात्र उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था। ईसाई धर्म के सिद्धांतों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की शिक्षा ही प्रधान थी। यूनानी और रोमी शिक्षा, संस्कृति, तथा दर्शन का ईसाई शिक्षा पर प्रभाव पड़ा और उस प्रभाव के फलस्वरूप ऐसे विद्यालयों का संगठन किया गया जिनमें प्रश्नोत्तर के द्वारा शंका का समाधान किया जाता था। लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी ईसाई पादरियों ने यह अनुभव किया कि ईसाई संस्कृत को यूनानी और रोमी संस्कृतियों के प्रभाव से मुक्त करना होगा। यदि ऐसा न किया गया तो यूनानी और रोमी संस्कृतियों के प्रभाव से ईसाई संस्कृति समाप्त हो जायगी। इस प्रकार की भावना के उदय के कई कारण थे। सर्व प्रथम कारण यह था कि यूनानी और रोमी संस्कृति में 'लोक-भावना' अधिक थी। इसके विपरीत ईसाई धर्म में 'परलोक की भावना' प्रधान थी। यदि ईसाई लोग यूनानी-रोमी दर्शन का अध्ययन करते तो उनमें लोक-भावना अथवा संसारिकता का प्रभाव होता। अतः ईसाइयों को सांसारिक माया-मोह से बचाने के लिए यूनानी-रोमी संस्कृतियों के प्रभाव से मुक्त रखा जाय। इसके अतिरिक्त ईसाइयों में यह भावना भी व्याप्त हो गई थी कि वे लोग जो ईसाई धर्म का विरोध करते रहे और जिन्होंने चरित्र की सीमाओं का निर्लज्जतापूर्वक उल्लंघन किया था, उन्हें ईसाई धर्म में सम्मिलित करना, ईसाई धर्म को दुर्बल बनना होगा। इस प्रकार ईसाईयों में विरोध की भावना का प्रसार हुआ।

यूनानी-रोमी प्रभाव—लेकिन संस्कृति किसी के संकेत पर विकसित नहीं होती। उसका समाज के जीवन में आत्मा के समान स्थान है। वह स्वाभाविक गति से विकसित होती है। इसलिए ईसाइयों का यह प्रयास कि उन पर यूनानी-रोमी संस्कृति का प्रभाव किसी प्रकार न पड़े, असफल रहा। ईसाई संस्कृति यूनानी-रोमी संस्कृति से प्रभावित हुई। यूनानी विचारधारा और रोमी संगठन से ईसाई संस्कृति अछूती न रह सकी। यूनानी संस्कृति में वैभव-प्रदर्शन और सामूहिक उत्सवों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन्हें ईसाई धर्म ने अपने ग्रंथों को पवित्र मान कर और सामूहिक पूजा के रूप में अपनाया। इसके अतिरिक्त रोमी संगठन को गिरजाघरों के प्रबंध में स्थान दिया। जिस प्रकार रोमी लोगों ने जिलों और प्रांतों का संगठन किया, उसी प्रकार ईसाइयों ने विभिन्न जिलों और प्रांतों में गिरजाघरों काप्र बंध किया। इतना ही नहीं, उन्हें रोमी सम्राट् का सर्वोच्च स्थान भी प्रिय था। इसलिए उन्होंने रोम के प्रधान पादरी (Bishop) को ईसाई धर्म का सर्वोच्च व्यक्ति माना जो रोमी सम्राट के समान शक्तिमान था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईसाई संस्कृति अपने को यूनानी-रोमी संस्कृति से मुक्त न रख सकी और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। लेकिन ईसाइयों में यूनानी-रोमी प्रभाव के प्रति विरोध की भावना उत्पन्न हो चुकी थी। इसलिए वे एक नया मार्ग निकालना चाहते थे, और इस प्रयत्न के फलस्वरूप मठवाद (Monasticism) पर बल दिया गया।

मठवाद—मठवाद का सम्बंध मठीय जीवन से था। मठों में रहनेवाले संत त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। जैसा कि हम जानते हैं, ईसाई धर्म के मूल में परलोक और त्याग की भावना निहित थी। जब ईसाई धर्म का आरम्भ हुआ, तब उसके

सामने अनेक कठिनाइयाँ थीं। जो लोग ईसाई धर्म स्वीकार करते थे, उन्हें अपना सर्वस्व त्याग देना पड़ता था। कितने ईसाइयों ने धर्म के लिए जीवन की बलि भी दे दी थी। समय के साथ जीवन में त्याग की प्रधानता होती गई। इतिहास से ज्ञात होता है कि तीसरी शताब्दी के मध्य में कितने ही ऐसे लोग हुए जिन्होंने अपना सर्वस्व धर्म के लिए दान कर दिया और आजीवन अविवाहित रह कर शरीर की इच्छाओं पर विजय प्राप्त करना चाहा। वास्तव में जहाँ आरम्भ से शरीर की रक्षा और विकास की ओर ध्यान दिया जाता था, वहीं अब मठवाद के फलस्वरूप शरीर की इच्छाओं का त्याग आरम्भ हो गया। शरीर को अनेक प्रकार के कष्ट देना मठवाद की साधना का अंग था। इस प्रकार के साधनों में 'पाल दी हरमिट' और सेंट एंथानी का नाम उल्लेखनीय है। इन दोनों के प्रभाव से मठवाद का पर्याप्त प्रचार हुआ। लेकिन मठवाद के प्रसार में तीव्रता उस समय आई जब चौथी शती में चारों ओर मठों की स्थापना होने लगी। मठों की स्थापना के फलस्वरूप समाज में यह विचार उत्पन्न हुआ कि आत्मा के विकास के लिए शरीर को कष्ट देना आवश्यक है। शरीर को सुख देकर आत्मा को सुखी नहीं बनाया जा सकता।

मठवाद के आधार—लेकिन इस भावना के पीछे प्रधान सत्य यह था कि मनुष्य को अपने पापों का फल अवश्य भोगना चाहिए। ईश्वर मनुष्य के पापों के लिए उत्तरदायी नहीं है। अतः मनुष्य को उस मार्ग का त्याग करना चाहिए जो उसे पाप की ओर ले जाते हैं। दूसरे शब्दों में मनुष्य को शरीर के सुख की चिंता नहीं करनी चाहिए। उसे आत्मा के सुख के लिए शारीरिक सुखों का त्याग करना चाहिए। समाज में इस विचारधारा की प्रधानता मठवाद के प्रसार में सहायक हुई। इसके अतिरिक्त

मठवाद के प्रसार में तीव्रता उस समय आई जब पूरे समाज में ईसाई धर्म का प्रचार हो गया और यह ज्ञात करना कि कौन ईसाई है और कौन नहीं कठिन प्रतीत होने लगा, तब पादरियों ने सामान्य जन से अपने को अलग रखने का प्रयास किया। पादरियों ने अपने रहन-सहन में त्याग और तपस्या को प्रधानता दी, तथा सांसारिक सुखों से मुँह मोड़ दिया। इस प्रकार वे जन-सामान्य के जीवन से भिन्न जीवन व्यतीत करने लगे। उनका इस प्रकार का जीवन मठवाद के प्रचार तथा प्रसार में सहायक हुआ। समाज में त्याग और तपस्या के जीवन का आदर हुआ। लोगों में सांसारिक सुखों की चाह कम हुई और यह विश्वास उस समय और अधिक बढ़ा जब कि ईसाइयों को ईसा मसीह के 'पुनरागमन' के विषय में ज्ञात हुआ। ईसाइयों की यह धारणा थी कि ईसा मसीह संसार का कल्याण करने के निमित्त पुनः आयेंगे और उनके आने का दिन निकट था। ऐसी दशा में अध्यात्मिक विकास के लिए सांसारिक सुखों का त्याग करना वांछनीय और आवश्यक था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मठवाद के प्रचार और प्रसार में निम्नलिखित आधारों का उल्लेखनीय स्थान था :—

(१) ईसाई संस्कृति के स्वतंत्र विकास की भावना।

(२) ईसाइयों का ईसाई धर्म में विश्वास रखने के कारण आरम्भ में यातनाओं का सहन।

(३) ईसाई धर्म में परलोक का अधिक महत्व और सांसारिक सुखों की अवहेलना।

(४) आत्मा के विकास के लिए शारीरिक सुखों का त्याग।

(५) पाप के प्रायश्चित के लिए शारीरिक कष्टों का स्वागत।

(६) जन-सामान्य से पादरियों का अलग रहने की चेष्टा और इसके लिए उनका त्याग और तपस्या का जीवन अपनाना।

(७) ईसा मसीह के पुनरागमन में ईसाइयों का विश्वास, और इसके निमित्त सांसारिक सुखों का आध्यात्मिक विकास के लिए त्याग।

मठवाद का प्रसार—मठवाद के विकास में ऊपर दिये गये सात कारणों का प्रमुख स्थान था। लेकिन उसकी त्याग और तपस्या की भावना मिश्र जैसे देश में ही विकसित हो सकती थी। मिश्र का गरम जलवायु शारीरिक यातनाओं को सहन करने में सहायक होता था। अतः चौथी सदी के आरम्भ में सेंट एंथानी (Anthony) ने रोमी अत्याचारों से बचने के लिए भाग कर लालसागर के किनारे की मरुभूमि में शरण ली। यहाँ उन्होंने अनेक प्रकार से अपने शरीर को तपाया। इसका प्रभाव अन्य ईसाइयों पर पड़ा और ऐंथानी के एक प्रमुख शिष्य पकोमियस (Pachomius) की अधीनता में लगभग चौदह सौ ईसाइयों ने त्याग और तपस्या को अपनाया। आत्मा की उन्नति के लिए शरीर को सुख से वंचित रखने की इच्छा ईसाई समाज में फैल गई।[1] लेकिन यूरोप की जलवायु और यूनानी-रोमी संस्कृति के प्रभाव के कारण जीवन की शैली ऐसी न थी जो मठवाद के विकास में सहायक होती। मठवाद का प्रचार जिन कारणों से हुआ था, वे अधिक समय तक टिक न सके। इस सम्बन्ध में हमें आगे चल कर ज्ञात होगा। लेकिन यहाँ इतना तो स्पष्ट ही है कि मठवाद का प्रचार और प्रसार उस समय के समाज की एक प्रकार से आवश्यकता थी और सांस्कृतिक तथा दार्शनिक विकास की दृष्टि से शरीर से आत्मा की ओर जाना स्वाभाविक था। जैसा कि इतिहास से ज्ञात है कि आरम्भ में शारीरिक सुखों की

---

1. A Text-Book in the History of Education by P. Monroe. Page 247.

ओर अधिक ध्यान दिया गया। इसके बाद शरीर के सुख का त्याग और आत्मा की उन्नति का प्रयास आता है, जो मठवाद का केंद्र-बिंदु है।

मठीय जीवन—मठीय जीवन और शिक्षा मठवाद से पूर्णतः प्रभावित हैं। जैसा कि हमें ज्ञात है, मठवाद का उदय सांसारिक सुखों को त्याग कर आत्म-विकास के लिए हुआ था और इसके लिए अनेक मठों की स्थापना भी हुई थी। इन मठों में यति (Monk) रहते थे। यतियों का जीवन त्याग और तपस्या का था। लेकिन मठों में एक प्रकार से वे सामाजिक जीवन भी व्यतीत करते थे। प्रार्थना भोजन, तथा विचार-विनिमय के अवसरों पर एक दूसरे से मिलना स्वाभाविक था। इस प्रकार मठीय-जीवन में किसी न किसी रूप में सहयोग की आवश्यकता होती थी और यूरोप के मठों में तो एक प्रकार का कार्यक्रम स्वीकार किया गया। यह कार्यक्रम सेंट बेनिडिक्ट (St. Benedict) ने ५२९ ई० में अपने मठ के लिए बनाया था, जो अपनी अच्छाई के कारण अन्य मठों द्वारा भी स्वीकृत कर लिया गया। इस प्रकार यूरोप के मठों में एक ही तरह के नियमों का पालन होने लगा। इन नियमों के अनुसार यतियों को प्रतिदिन सात घण्टे शारीरिक श्रम और दो घण्टे अध्ययन करना पड़ता था।[1]

मठों में अध्ययन—मठों में अध्ययन का रूप धार्मिक था। धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन और उन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार करना प्रधान कार्य था। उन दिनों मुद्रण यंत्र तो थे नहीं। इसलिए प्रत्येक मठ में लेखन-कोष्ठ (Writing Room) होते थे। मठों में यतियों द्वारा कुछ मौलिक ग्रन्थों की भी रचना हुई। इनमें से

1 A student's History of Education by F.P.Graves. Pages 72-73

ईसाई धर्म, गिरजाघरों, और मठों के इतिहास पर प्रकाश डाला गया। इतना ही नहीं सामयिक धार्मिक विषयों पर जो चर्चा होती थी, उन पर भी कुछ विद्वान् यतियों ने अपने विचार व्यक्त किये। इस प्रकार मठों में अध्ययन का विकास हुआ।

मठीय-शिक्षा का उद्देश्य—मठों में इस अध्ययन के फलस्वरूप शिक्षा का विकास हुआ। यति जीवन में प्रवेश पाने के लिए नौ-दस वर्ष के बालक मठों में आते थे और वे लगभग दस वर्षों तक अध्ययन करके अठारह वर्ष की अवस्था में यति बनते थे। इस प्रकार मठीय-शिक्षा का उद्देश्य कुछ बालकों को यति जीवन के अनुकूल बनाना था। यति-जीवन में सांसारिक सुखों का त्याग, विनय, नम्रता, आत्म-विकास, शारीरिक-श्रम तथा अध्ययन की प्रधानता थी। मठीय-शिक्षा का उद्देश्य इन्हीं 'गुणों' का विकास करना न कि शिक्षा का प्रचार करना था।

मठीय-शिक्षा के विषय—मठीय-शिक्षा के उद्देश्यों के अनुकूल शिक्षा के विषय भी थे। मठों में धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने के लिए पढ़ना सिखाना, ग्रन्थों की प्रतिलिपियां तैयार करने के लिए लिखना सिखाना और मठों में होने वाले व्यय का हिसाब रखने के लिए साधारण गणित ही मठीय-शिक्षा के विषय थे। शिक्षा के ये विषय यूनानी और रोमी शिक्षा में भी मिलते हैं। अन्तर केवल उद्देश्य की दृष्टि से उत्पन्न होता है। जहाँ प्राचीन-शिक्षा में लोक की प्रधानता थी, वहीं अब मठीय शिक्षा में परलोक का महत्व अधिक था। परलोक में अधिक अभिरुचि होने के कारण शिक्षा के विषयों का वह रूप नहीं था. जो सांसारिक सफलता में सहायक होता। लेकिन मनुष्य न तो रोटी खाकर ही जीवित रहता है और न तो धर्म के नाम पर संसार से सब नाता ही तोड़ सकता है। जीवन की यह नैसर्गिक

आवश्यकता है कि मनुष्य तन और मन दोनों का ध्यान रखे। यद्यपि मठीय शिक्षा में त्याग और तपस्या की प्रधानता थी, लेकिन बुद्धि और मन के विकास के निमित्त भी आदर्श ग्रंथों (Classics) को भी पाठ्य-विषय में सम्मिलित किया गया, जो यूनानी और रोमी शिक्षा के विषयों से सम्बन्ध रखते थे। लेकिन मठीय-शिक्षा के विषयों में क्रांतिकारी परिवर्तन उस समय उपस्थित हुआ, जब सात उदार कलाओं (Liberal arts) को सम्मिलित किया गया।

सात उदार कलायें—मठीय शिक्षा के विषयों में जिन सात उदार कलाओं को सम्मिलित किया गया, उनके नाम इस प्रकार हैं:—व्याकरण, भाषण-कला, संगीत, अंकगणित, रेखागणित, तर्कशास्त्र और खगोल-विद्या। शिक्षा के ये विषय रोमी शिक्षा के विषयों के समान थे। इस प्रकार मठीय शिक्षा पर रोमी शिक्षा का प्रभाव उस समय पड़ा, जब मठीय शिक्षा के विषयों में सात उदार कलाओं को सम्मिलित किया गया। इन सात उदार कलाओं की विशेषता और उपयोगिता इतनी थी कि मध्यकालीन यूरोपीय शिक्षा में इनका प्रधान स्थान था। लेकिन मठीय शिक्षा के विषयों में धार्मिक दृष्टिकोण आवश्यक था। इसलिए मठीय शिक्षा में इन उदार कलाओं का इतना महत्व नहीं था, कि वे धार्मिक दृष्टिकोण को दबा देतीं। हाँ, इन कलाओं का उसी सीमा तक स्वागत था, जहाँ इनके द्वारा मठीय विश्वासों का विरोध न होता था।

मठीय-शिक्षा पद्धति—मठीय-शिक्षा पद्धति मुख्यतः प्रश्नोत्तर-शैली पर आधारित थी। पढ़ना सिखाने की पद्धति यह थी कि शिक्षक कोई अंश पढ़कर सुनाता और साथ ही उसका अर्थ भी स्पष्ट करता था। ऐसा करने का कारण यह था कि प्रत्येक विद्यार्थी के पास पुस्तक नहीं होती थीं। अतः एक ही पुस्तक से कई विद्यार्थी कोई

अंश सुनकर लिख लेते और पढ़ना सीखते थे। इसी अंश को लिखने में उन्हें लेखन-कार्य की भी शिक्षा मिल जाती थी। इतना ही नहीं, इस लिखित अंश को विद्यार्थी कंठस्थ कर लेते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे पूरी पुस्तक विद्यार्थियों को कंठस्थ हो जाती थी। इसके अतिरिक्त व्याकरण की शिक्षा पद्धति ऐसी थी कि विद्यार्थियों को इसका पूरा अभ्यास हो जाता था। भाषा के अध्ययन में व्याकरण का प्रधान स्थान था। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, उसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता था क्योंकि इसके द्वारा सांसारिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल सकता था। शिक्षा-पद्धति प्रश्नोत्तर शैली पर चलती थी, इसलिए तर्कशास्त्र का विशेष सम्मान था। इसके अतिरिक्त धार्मिक विचार-विनिमय और वाद-विवाद में तर्कशास्त्र से सहायता मिलती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मठीय-शिक्षा-पद्धति सुकराती पद्धति तथा कैटेकेटिकल पद्धति के समान थी, और ऐसा होना स्वाभाविक था क्योंकि उस समय नवीन-विचारधारा के प्रसार के लिए प्रश्नोत्तर शैली अधिक उपयुक्त थी।

मठीय-शिक्षा संगठन—मठीय शिक्षा के संगठन में मठ का लेखन-कार्य महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मठीय जीवन में अध्ययन और धार्मिक तथा अन्य ग्रंथों की प्रतिलिपियों का लेखन कार्य ऐसा था, जिसके लिए एक विशेष प्रकार की शिक्षा आवश्यक थी। इसलिए मठों के भीतर ही शिक्षालय बनाया गया और इसमें नौ-दस वर्ष के बालक भर्ती किये गये। इन बालकों को मठीय जीवन के योग्य बनाने के लिए लगभग आठ-नौ वर्ष तक शिक्षा दी जाती थी। अठारह वर्ष की आयु के पूर्व कोई यति नहीं बन सकता था। इस प्रकार मठीय शिक्षा संगठन में शिक्षा की अवधि लगभग आठ-नौ वर्षों की थी और शिक्षालय मठ में ही स्थित होता था। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि मठीय-शिक्षालय का द्वार उन्हीं बालकों

के लिए खुला था जो मठीय-जीवन अपनाना चाहते थे। ऐसे बालकों को आबलट (Oblati) कहते थे।

लेकिन कालांतर में मठीय-शिक्षालयों में उन बालकों का भी प्रवेश होने लगा जो मठीय जीवन अपनाना नहीं चाहते थे। ऐसे बालकों को 'एक्सटर्नी' (Externi) कहते थे। इसके अतिरिक्त उन बालिकाओं की शिक्षा का भी प्रबंध था, जो 'नन' (nun) बनना चाहती थीं। बालिकाओं के लिए मठीय-शिक्षा का संगठन करने का श्रेय सेंट बेनेडिक्ट की बहन को है।

अनुशासन—मठीय विद्यालयों का अध्यक्ष यति (Monk) प्रिंसपल अथवा प्रधानाध्यापक कहा जाता था। आरम्भ में जब विद्यार्थियों की संख्या कम थी, तब केवल एक ही अध्यापक द्वारा शिक्षण-कार्य होता था। लेकिन बाद में जब विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होने लगी, तब सहायक अध्यापकों की भी नियुक्ति की गई, और अनुशासन में भी किसी भी प्रकार की कमी नहीं की गई। 'आबलट' विद्यार्थियों पर कड़े अनुशासन की व्यवस्था थी। उन्हें कभी खेलने-कूदने का अवसर भी न दिया जाता था। मौन का अभ्यास उनके लिए अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त मठीय शिक्षालयों के दंड-विधान में छड़ी से मारना, बाध्य उपवास, और कमरे में बंद करने का विशेष स्थान था।

लेकिन इतने कड़े अनुशासन के मध्य में भी मठीय विद्यार्थियों की खुशी का एक दिन प्रतिवर्ष २८ दिसम्बर को 'चिल्डरमस' (Childermas) अथवा 'होली इनोसेंट्सडे' Holy Inno cents' Day) के रूप में आता था। इस दिन बालकों को पूरी स्वतंत्रता होती थी और वे अपने अध्यापकों की तनिक भी परवाह नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को रविवार तथा अन्य उत्सवों के अवसर पर भी छुट्टियाँ मिलती थीं। लेकिन जैसी

स्वतंत्रता उन्हें 'चिल्डरमस' के दिन मिलती थी, वह और किसी दिन प्राप्त न होती।

मठीय-शिक्षा संगठन की दूसरी विशेषता यह थी, कि प्रत्येक विद्यार्थी को लैटिन भाषा में बातचीत करना पड़ता था। ऐसा इसलिए था कि सर्वत्र प्रायः एक ही प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था थी। अतः पश्चिमी यूरोप के उन प्रदेशों में भी जहाँ लैटिन भाषा का प्रयोग नहीं होता था, मठीय शिक्षा के विद्यार्थियों को आरंभ से ही लैटिन भाषा सीखनी पड़ती थी।

प्रारम्भिक शिक्षा—इस प्रकार प्रारम्भिक मठीय शिक्षा के विद्यार्थियों को लैटिन भाषा, और उसकी व्याकरण की शिक्षा ग्रहण करना पड़ता था। लेकिन साथ ही, उनकी मातृभाषा के माध्यम से भी साधारण शब्दों और वाक्यों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक शिक्षा में ईसप (Aesop) की कहानियों तथा कैटो (Cato) रचित नैतिक वाक्यों के लिए भी स्थान था। कैटो के ये वाक्य 'डिस्टिक्स ऑफ कैटो' (Distics of Cato) कहलाते थे। कैटो की कहावत में दो भाग ऐसे होते जो पद्यात्मक प्रतीत होते थे। ऐसे एक वाक्य की तुलना हम हिंदी भाषा में प्रचलित कथन से कर सकते हैं:—'मन जो चंगा, कठौती में गंगा'। दूसरे शब्दों में, कैटो की कहावतें दोहों के समान थीं। अतः पद्यात्मक होने के कारण विद्यार्थी कैटो की कहावतों को सरलतापूर्वक याद कर लेते थे। ईसप की कहानियाँ भी बालकों को मनोरंजक प्रतीत होती थीं। अतः उन्हें भी स्मरण रखने में विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं होता था।

माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा—प्रारम्भिक शिक्षा के बाद 'रिटारिक' (Rhetoric) तथा प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का अध्ययन होता था। मठीय शिक्षा में 'रिटारिक' का वह रूप न था,

जैसा कि यूनानी और रोमी शिक्षा में होता था। मठीय जीवन की आवश्यकतानुसार 'रिटारिक' के अंतर्गत मठ का विवरण रखना, पत्र लिखना, तथा अन्य आवश्यक पत्रों की देखभाल करना वांछनीय था। पत्रादि लिखने का कार्य करनेवाले को 'क्लार्क' अथवा 'क्लर्जी मैन' कहते थे। क्लार्क और 'क्लर्जी मैन' का वर्तमान अर्थ प्राचीन अर्थ से कितना भिन्न है। उस समय क्लार्क का बड़ा सम्मान होता था और उन्हें कुछ 'सुविधायें' (Benefit of clergy) भी प्राप्त होती थीं। अतः माध्यमिक शिक्षा द्वारा विद्यार्थियों को क्लर्जी जीवन के उपयुक्त बनाने की चेष्टा की जाती थी। साथ ही कानूनी कार्रवाई की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जाता था। कानूनी कार्रवाई की योग्यता को 'डिक्टामैन' कहते थे। अतः डिक्टामैन भी रिटारिक के अंतर्गत सम्मानीय विषय था। इसके अतिरिक्त मठीय शिक्षा के संगठन ने तर्कशास्त्र जैसे विषय को भी अपनाया। पश्चिमी शिक्षा में तर्कशास्त्र की अपनी एक परम्परा है। वह किसी न किसी रूप में पश्चिमी शिक्षा के सभी कालों में अपनाया गया है। मठीय शिक्षा, जो सांसारिक सुखों के त्याग पर निर्भर थी, तर्कशास्त्र के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। विचार की स्पष्टता के लिए माध्यमिक और उच्च शिक्षा में तर्कशास्त्र को सम्मिलित करना आवश्यक था। इस प्रकार शिक्षा के ये तीन विषय मठीय-शिक्षा संगठन में ट्रिवियम (Trivium) के नाम से प्रसिद्ध थे। ट्रिवियम की योग्यता प्राप्त करना सभी विद्यार्थियों के लिए संभव न था। अतः ऐसे विद्यार्थी कम होते थे जो ट्रिवियम का अध्ययन भली भाँति कर लेते थे। लेकिन जो विद्यार्थी ट्रिवियम की योग्यता प्राप्त कर लेते थे, उन्हें क्वाड्रि-वियम के (Quadrivium) का अध्ययन करके की सुविधा प्रदान की जाती थी। क्वाड्रिवियम के अंतर्गत, गणित, रेखागणित,

नक्षत्रशास्त्र तथा संगीत के विषय थे। ॐ इन विषयों की उपयोगिता उस काल में इसलिए थी कि विभिन्न प्रकार के उत्सवों का आयोजन करने के निमित्त उनकी तिथियों के निर्णय की आवश्यकता होती थी। रेखागणित के अध्ययन पर भूगोल का प्रभाव अधिक था। अतः उसमें भूगोल सम्बन्धी बातें अधिक थीं। गणित का रूप यूनानी और रोमी गणित के समान ही था। हाँ नक्षत्रशास्त्र के अंतर्गत टाल्मी (Ptolemy) के प्रभाव के कारण वायुमंडल सम्बन्धी बातों का भी समावेश किया गया। टाल्मी उस समय खगोल शास्त्र का प्रसिद्ध और योग्य विद्वान् था। उसने अनेक नई बातों का पता लगाया और उसका खोजों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

समाज पर प्रभाव—मठीय शिक्षा का समाज पर प्रभाव इस रूप में स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य शिक्षा का प्रसार करना नहीं था, वरन् उसके द्वारा मठवाद और मठीय जीवन को शक्तिशाली बनाना था। अतः हम देखते हैं कि मठीय शिक्षा में जितनी बातें हैं, उनके द्वारा मठवाद का प्रचार और प्रसार होता है। फलस्वरूप समाज में बौद्धिकता की अवहेलना और धार्मिक विश्वासों का आदर स्वाभाविक है। लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से मठीय शिक्षा का महत्व इसलिए है, कि इसके द्वारा मध्ययुगीन यूरोप के सम्बन्ध में ज्ञान होता है। मठों में लेखन-कार्य तथा तत्कालीन विवरणों को एकत्र करने की व्यवस्था होने के कारण ऐतिहासिक खोजों के लिए ऐसी सामग्री उपलब्ध हुई, जिनके द्वारा मध्ययुग के जीवन और शिक्षा पर पूरा प्रकाश पड़ता है।

मठीय शिक्षा का समाज पर प्रभाव इस रूप में भी पड़ा कि साहित्य कला और दर्शन जैसे विषयों का महत्व कम हो गया।

---

1. A History of Western Education by H.G.Good. Page 71.

सांसारिक सुखों को महत्व प्रदान तथा संसार की ओर आकर्षित करने वाले दर्शन का मठवादी समाज में कोई प्रयोजन नहीं था। लेकिन समाज में यह प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से विकसित न हो सकी। यूरोपीय समाज मठवाद के शुद्ध रूप को अपनाने के लिए प्रस्तुत न था क्योंकि वहाँ का वातावरण मठवादी जीवन की कठोरताओं को सहन करने में सहायक नहीं होता था। फलतः मठवाद की विचारधारा में परिवर्तन हुआ और धीरे-धीरे स्वाभाविक जीवन की ओर मुड़ने लगा। लेकिन समाज की यह प्रवृत्ति अभी स्पष्ट न थी क्योंकि उस पर मठवाद का अधिकार था। समाज मठवाद की मुट्ठी से किस प्रकार निकला, इसे हम 'मठीय शिक्षा के बाद' उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों का अध्ययन कर के जान सकेंगे।

मध्ययुगीन शिक्षा की प्रगति

मठीय-शिक्षा का ह्रास—मध्ययुग के पूर्व में शिक्षा मठवाद से प्रभावित थी, और मठीय शिक्षा का विकास जिस रूप में हुआ, उसका अध्ययन हम कर चुके हैं। अब हमें मध्ययुगीन शिक्षा की प्रगति पर विचार करना है।

मध्ययुगीन शिक्षा आरंभ में मठवाद से प्रभावित थी। लेकिन यूरोप का वातावरण मठवाद और मठीय-शिक्षा के अनुकूल न था। अतः लगभग सातवीं और आठवीं सदी में मध्ययुगीन शिक्षा में उन बातों का अभाव दिखाई देने लगा, जिन्हें मठीय-शिक्षा महत्व प्रदान करती थी। मठीय शिक्षा का संगठन जर्जर हो चला। मठों में रहनेवाले साधु (Monks) तथा पादरी आदि जो शिक्षण कार्य करते थे, उनमें भी शिक्षा का अभाव हो चला; क्योंकि अब वे अध्ययन की ओर ध्यान नहीं देते थे। इसके अतिरिक्त मठों में लेखन-कार्य का जो महत्वपूर्ण स्थान था, वह अब नहीं रहा। अब लेखन-कार्य कम होता था। इस प्रकार मठीय-शिक्षा की अवनति होने लगी। इसका कारण यदि ढूढ़ें तो हमें ज्ञात होगा कि मठीय-शिक्षा जीवन के स्वाभाविक गति के विरुद्ध थी और लोग उसके कड़े अनुशासन के अनुकूल चल नहीं पाते थे। इसलिए कालांतर में मठीय-शिक्षा का ह्रास स्वाभाविक था।

चार्ल्स महान्—लेकिन जहाँ एक ओर नाश होता है, वहीं दूसरी ओर निर्माण कार्य आरम्भ हो जाता है। इस दृष्टि से मध्य-युगीन शिक्षा का उन्नति-श्रेय चार्ल्स महान् को है। चार्ल्स महान् का यूरोप के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इसने अपने जीवन

(७४२—८१४ ई०) में यूरोप की उन्नति के लिए अनेक कार्य किये। इसके कई कारण थे। एक तो चार्ल्स के पितामह ने यूरोप में मुसलमानों के हमलों को रोका। इससे यूरोप में इस्लाम धर्म का प्रचार रुक गया और ईसाई धर्म के लिए सुविधायें मिलती रहीं। यदि यूरोप पर मुसलमानों का अधिकार हो जाता, तो यूरोपीय संस्कृति और विशेष कर शिक्षा का दूसरा ही रूप होता।

चार्ल्स महान् सन् ७६८ ई० में गद्दी पर बैठा। उस समय यूरोप में उन्नति के अनुकूल परिस्थितियाँ थीं। आवश्यकता केवल इसकी थी कि कोई योग्य शासक उन परिस्थितियों से लाभ उठावे। चार्ल्स महान् गद्दी पर जब बैठा, तब उसने इस ओर ध्यान दिया। अतः उसने विद्वानों को आमंत्रित किया और उनसे विचारविनिमय करने लगा। यद्यपि चार्ल्स स्वयं साक्षर न था, लेकिन अकबर-बादशाह की भाँति वह गूढ़ से गूढ़ विचारों को समझ सकता था। इसलिए चार्ल्स विद्वानों का आदर करता और उनसे देश की उन्नति के सम्बंध में बातें करता था। वह यह भी जानता था कि बिना समुचित शिक्षा के उन्नति असंभव है। इसलिए उसने शिक्षा के स्वरूप पर विचार किया। और उसके इस कार्य में इटली के तीन शिक्षाशास्त्री, और दक्षिणी फ्रांस अथवा स्पेन के शिक्षाशास्त्री थियोडल्फ (Theodulf) ने बड़ी सहायता की। लेकिन इन सबसे अधिक कार्य किया अलक्विन (Alquin) ने। अलक्विन चार्ल्स महान् का प्रधान शिक्षा-सलाहकार था।

अलक्विन की नियुक्ति—चार्ल्स महान् ने अलक्विन को अपना प्रधान शिक्षा-सलाहकार कई कारणों से नियुक्त किया था। सर्व प्रथम कारण यह था कि अलक्विन ने रोमी चर्च में परम्परा के अनुसार शिक्षा पाई थी। चार्ल्स इस शिक्षा को महत्व प्रदान करता था। इसके अतिरिक्त अलक्विन एक कवि भी था। उसकी कविता मनोरंजक होती जो चार्ल्स को बहुत पसंद आती थी। और

एक बड़ा कारण यह भी था कि अलक्विन दरबारी-कला में प्रवीण था। वह जानता था कि शासकों को कैसे प्रसन्न किया जाता है। यद्यपि अलक्विन में विशेष बुद्धि न थी और न वह प्रतिभाशील ही था, मगर वह व्यवहार कुशल होने के कारण चार्ल्स महान् को प्रभावित कर सका। इन्हीं सब कारणों से चार्ल्स महान् ने अलक्विन को सन् ७८१ ई० में राजभवन-विद्यालय (Palace School) का प्रधान नियुक्त किया।

राजभवन-विद्यालय—चार्ल्स ने राजभवन-विद्यालय की स्थापना इसलिए की थी कि राज-घराने के राजकुमार और राजकुमारियों की शिक्षा का सुंदर प्रबन्ध हो। इस विद्यालय में अभिजात वर्ग के बालकों को भी शिक्षा दी जाती थी। लेकिन इस विद्यालय का महत्व इस दृष्टि से अधिक है कि यह चार्ल्स महान् की शिक्षा-प्रयोगशाला थी। चार्ल्स जिस प्रकार की शिक्षा चाहता था, उसका प्रयोग उसने राजभवन-विद्यालय में किया।

चार्ल्स की शिक्षा का उद्देश्य—चार्ल्स महान् ने राजभवन-विद्यालय जिस उद्देश्य से स्थापित किया था वह एक प्रकार से उस समय की शिक्षा का उद्देश्य माना जा सकता है। चार्ल्स ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहता था जिसके द्वारा समाज का संगठन दृढ़ हो। उस समय ट्यूटन, रोमी, और फ्रैंक आदि जातियों में सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से एकता अवश्य थी। लेकिन उनमें आंतरिक सहयोग और एकता का अभाव था। चार्ल्स की इच्छा थी कि शिक्षा द्वारा समाज की आंतरिक दुर्बलता को दूर किया जाय और यह कार्य तभी संभव हो सकता है जब कि समाज में सांस्कृतिक एकता हो, एक प्रकार की विचारधारा हो और एक भाषा का प्रयोग हो[1]।

---

1. A Textbook in the History of Education by P. Monrae, Page 274.

चार्ल्स की शिक्षा का संगठन—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए चार्ल्स की शिक्षा के संगठन का आधार मठीय-विद्यालय थे। चार्ल्स ने मठीय-शिद्यालयों का संगठन किया। इसके अतिरिक्त उसका राजभवन-विद्यालय अलक्विन की अध्यक्षता में एक आदर्श विद्यालय के समान था। इस राजभवन-विद्यालय से शिक्षा प्राप्त करने के बाद कितने ही विद्यार्थियों को राज्य के शासन में ऊँचे स्थान मिलते थे। चार्ल्स चाहता था कि उसका अधिकारी-वर्ग योग्य हो। इसलिए राजभवन-विद्यालय का संगठन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण था।

शिक्षा के संगठन के लिए चार्ल्स महान् ने कई आज्ञायें निकालीं। एक आज्ञा द्वारा चार्ल्स ने पादरियों और मठों में रहने-वाले साधुओं के लिए शिक्षा अनिवार्य कर दी थी; क्योंकि उस समय के पादरी निरक्षर हो चले थे। दूसरी आज्ञा द्वारा चार्ल्स ने शिक्षालयों के निरीक्षण का प्रबंध किया। राज्य के अधिकारियों को यह आदेश दिया गया कि वे प्रत्येक शिक्षालय का निरीक्षण और उचित शिक्षा का प्रबन्ध करें। शिक्षा-प्रसार के निमित्त चार्ल्स ने प्रत्येक गिरजाघर और मठ में एक स्कूल का होना अनिवार्य कर दिया था। इस प्रकार चार्ल्स महान् ने शिक्षा का ऐसा संगठन किया जिसके द्वारा शिक्षा का प्रसार पर्याप्त मात्रा में हो सका।

चार्ल्स की शिक्षा के विषय—विभिन्न संस्कृतियों के लोगों को एक सूत्र में बाँधने के निमित्त चार्ल्स ने लैटिन-भाषा की शिक्षा अनिवार्य कर दी थी। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को संगीत, धार्मिक गीत, (Psalms) व्याकरण और गणित की शिक्षा भी दी जाती थी। शिक्षा के ये विषय नवीन न थे। लेकिन इतना अवश्य था कि चार्ल्स इन विषयों के शुद्ध रूप पर अधिक बल देता था। पाठ्यपुस्तकों के अभाव में एक विषय में कई बातें

ऐसी आ गई थीं, जिनसे भ्रम उत्पन्न होता था। इसलिए चार्ल्स ने शुद्ध पाठ्यपुस्तकों की रचना कराई और उन्हीं के अनुसार विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। चार्ल्स की शिक्षा के विषयों में सात उदार कलाओं का भी समावेश था।

शिक्षा-पद्धति—जहाँ तक शिक्षा-पद्धति का प्रश्न है, उसमें प्रश्नोत्तर शैली की प्रधानता थी; क्योंकि अलक्विन ने व्याकरण, सात उदार कलाओं और भाषणकला आदि विषयों की जो पाठ्य-पुस्तकें लिखीं थीं, उनमें प्रश्नोत्तर शैली का अनुसरण किया था। अतः अलक्विन की देख-रेख में होनेवाली शिक्षा में प्रश्नोत्तर पद्धति की प्रधानता होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त प्रश्नोत्तर शैली ईसाई-शिक्षा में आरंभ से पाई जाती थी और उसकी उपयोगिता में किसी को संदेह न था। इसलिए चार्ल्स की शिक्षा-पद्धति में भी प्रश्नोत्तर शैली का स्वागत किया गया।

समाज पर प्रभाव—चार्ल्स की शिक्षा का समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा, और यह विशेष रूप से उस समय अधिक स्पष्ट होता है, जब हम शिक्षाशास्त्री अलक्विन और उसके शिष्यों द्वारा किये गये कार्यों से परिचित होते हैं। अलक्विन ने चार्ल्स महान् के राजभवन-विद्यालय से छुट्टी लेकर अपने जीवन के अंतिम दिनों को फ्रांस के एक प्रसिद्ध मठ जो कि टूअर्स (Tours) नामक स्थान में स्थित था, व्यतीत करना निश्चित किया। यह मठ बहुत सम्पन्न था। अतः अलक्विन को हर बात की सुविधा थी। इस मठ में अलक्विन ने शिक्षा का ऐसा प्रबंध किया जो कि यूरोप भर के लिए एक आदर्श के समान था। टूअर्स के मठीय विद्यालय का प्रभाव समाज पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा। इस विद्यालय से शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की नियुक्ति दूर दूर के मठों में होती थी, और इनके द्वारा अलक्विन की शिक्षा और उसके विचारों का प्रसार होता था।

लेकिन जहाँ अलक्विन की शिक्षा-व्यवस्था द्वारा समाज में जाग्रति हुई, वहीं, उसके द्वारा कुछ संकीर्णता का भी प्रचार हुआ। अलक्विन के शिक्षा सिद्धांत मठवाद से प्रभावित थे। वह कला और साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहित नहीं करता था। अतः अध्ययन में धार्मिक ग्रंथों की प्रधानता थी। लेकिन तत्कालीन प्रचलित 'उदार कलाओं' का बहिष्कार अलक्विन ने नहीं किया और उनका अध्ययन सीमित रूप में चलता रहा। इस प्रकार अलक्विन ने शिक्षा-प्रसार द्वारा समाज में जागरण और एकता उत्पन्न किया, पर साथ ही मठवाद के प्रभाव के कारण वह, व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करनेवाले विषय कला, साहित्य और दर्शन जैसे विषयों की शिक्षा की ओर कम ध्यान देता था। उसका विश्वास था कि दर्शन और कला धार्मिक अध्ययन की पूर्णता के लिए है।

समाज की दृष्टि से दूसरा उपयोगी कार्य था पुस्तकालयों का विस्तार। उस समय पुस्तकों को कमी थी। इसलिए अलक्विन ने प्रसिद्ध पुस्तकों की कई प्रतिलिपियाँ कराईं और उन प्रतिलिपियों को प्रमुख पुस्तकालयों में भेज दिया। इस प्रकार लोगों में शिक्षा प्रसार हो सका। ऐतिहासिक दृष्टि से अलक्विन का यह कार्य इसलिए महत्वपूर्ण है कि मठों और गिरजाघरों ने शिक्षा-प्रसार द्वारा सामाजिक जीवन की उन्नति की। समाज में जो अवरोध उत्पन्न हो गया था और जिसके कारण प्रगति रुक गई थी, उसे दूर करने का श्रेय चार्ल्स और अलक्विन को दिया जा सकता है।

जॉन दि स्कॉट—अलक्विन के अतिरिक्त समाज को प्रभावित करनेवाले जॉन दि स्कॉट (John the Scot) और रबनस मॉरस (Rabanus Maurus) थे। अलक्विन के बाद राजभवन-विद्यालय के प्रधान के रूप में स्कॉट ने यूनानी भाषा और दर्शन के अध्ययन की ओर ध्यान दिया। जिस मठवाद ने समाज

से यूनानी और रोमी संस्कृतियों को निकालना चाहा वह सफल नहीं हुआ; क्योंकि यूनानी और रोमी संस्कृतियाँ यूरोप की नींव में थीं और किसी यूरोपीय दर्शन का विकास उनके बिना नहीं हो सकता था। इसलिए जब कभी किसी शिक्षाशास्त्री ने धार्मिक संकीर्णता का त्याग करना चाहा, तब उनकी दृष्टि यूनानी दर्शन की ओर जाती थी। फलतः स्कॉट ने भी यूनानी दर्शन के अध्ययन को अपनाया, क्योंकि वह स्वतंत्र विचारवाला और अलकिन से श्रेष्ठ विद्वान् था। इसके अतिरिक्त उसमें धार्मिक संकीर्णता का अभाव था और वह उदारता से प्रत्येक प्रश्न पर विचार करता था। यही कारण है कि आनेवाले युग में पुनः विद्या, बुद्धि और विचार का स्वागत होता है।

रबनस मॉरस—अलकिन का प्रधान शिष्य मॉरस, जर्मनी का प्रथम शिक्षक माना जाता था; क्योंकि उसने अपने अध्ययन और अध्यापन द्वारा शिक्षा का बहुत प्रचार किया। रबनस मॉरस स्कॉट से आयु में बड़ा था। अतः यह स्वाभाविक था कि स्कॉट मॉरस के विचारों से लाभ उठाता। मॉरस के उच्च दार्शनिक विचारों का जर्मनी पर विशेष रूप से और यूरोप पर साधारण रूप से प्रभाव पड़ा। उसने शिक्षा पर एक ऐसी पुस्तक लिखी जो उस काल की शिक्षा-समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। इस पुस्तक का नाम 'दि एजूकेशन ऑफ दि क्लर्जी' (The Education of the Clergy) था। रबनस मॉरस की यह पुस्तक मध्ययुगीन शिक्षा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है।

इस प्रकार चार्ल्स महान् के उद्योग और अलकिन के परिश्रम से मध्ययुगीन शिक्षा की पर्याप्त प्रगति हुई।

मुसलिम शिक्षा का प्रादुर्भाव

चार्ल्स महान्, अलकिन और उसके शिष्यों द्वारा मध्ययुग में शिक्षा की प्रगति हुई थी। लेकिन यह प्रगति इस सीमा तक न हुई थी कि कला, साहित्य, दर्शन जैसे मानवीय और दृष्टिकोण को विस्तृत करने वाले विषयों का पूर्ण स्वागत करती। जैसा कि हमें ज्ञात है, अलकिन उदार कलाओं और काव्य का पक्षपाती था; क्योंकि उसने इन विषयों की पाठ्यपुस्तकें बनाई थीं, लेकिन बाद में अपने अनुदार स्वभाव के कारण उदार कलाओं के सम्बन्ध में अपने विचार बदल दिये। उसे भय हो गया कि उदार कलाओं के अध्ययन से अनुशासन और चरित्र का अभाव होगा। लेकिन अलकिन के शिष्यगण उसके इस विचार से सहमत नहीं थे। उन्हें अलकिन की उस शिक्षा पर विश्वास था जिसे उन्होंने उस समय प्राप्त की थी जब वह युवा और प्रौढ़ था। फलतः रबनस मॉरस ने उदार कलाओं, साहित्य और दर्शन के अध्ययन पर बल दिया। इस प्रकार मध्ययुगीन यूरोपीय शिक्षा में जागरुकता उत्पन्न हुई।

इस्लाम-धर्म—लेकिन इसी समय यूरोप एक दूसरा प्रबल प्रभाव कार्य कर रहा था। यह प्रभाव नवीन धर्म इस्लाम के कारण उत्पन्न हुआ था। इस्लाम-धर्म के प्रवर्तक मोहम्मद स्वयं शिक्षित नहीं थे। उनके ज्ञान का आधार जन-श्रुति थी। उस समय प्रचलित धर्मों और दर्शनों के सम्बन्ध में भी मोहम्मद साहब ने दूसरों से ज्ञान प्राप्त किया था। इसलिए इस्लाम-धर्म में प्रायः सभी धर्मों का मिश्रण मिलता है। मोहम्मद साहब ने इस्लाम की शिक्षा अशिक्षित

तथा ग्राम्य अरब लोगों को दी। अरब लोग मोटी मोटी बातों को समझ सकते थे। इसलिए मोहम्मद साहब ने इस्लाम धर्म का स्वरूप ऐसा रखा जो अशिक्षित व्यक्ति की भी समझ में आ जाय। इस प्रकार इस्लाम-धर्म अरब लोगों में फैला। लेकिन जब वह पश्चिम की ओर सीरिया और यूनान की ओर बढ़ा, तब उसे ऐसे लोग मिले जो स्थूल के बजाय सूक्ष्म विचारों और दर्शन का स्वागत करते थे। इसलिए इस्लाम-धर्म के प्रचारकों ने यूनानी दर्शन को अपनाने की कोशिश की और यहीं इस्लाम-धर्म पर यूनानी प्रभाव पड़ता है।

इस्लाम पर यूनानी प्रभाव--यूनानी प्रभाव के फलस्वरूप मुसलिम विद्वानों ने यूनानी दर्शन, काव्य तथा अन्य विषयों का अनुवाद आरंभ किया। इस कार्य के लिए सीरिया देश अधिक प्रसिद्ध हुआ। सीरिया के मुसलिम नगर अनुवाद और अध्ययन के केंद्र बन गये। इस अध्ययन का फल यह हुआ कि इस्लाम-धर्म और यूनानी दर्शन में एक सामंजस्य उत्पन्न हुआ और इस सामंजस्य के समर्थक विद्वानों ने एक संस्था बनाई जिसका नाम उन्होंने 'ब्रदर्स ऑफ सिंसयर्टी'—सचाई का भाईचारा--रखा।[1] जैसा कि इस संस्था के नाम से स्पष्ट है, इसके सदस्य सचाई और ईमानदारी के समर्थक थे। वे यूनानी दर्शन अथवा इस्लाम धर्म की कोई भी ऐसी बात मानना नहीं चाहते थे जिसकी बुनियाद सचाई पर न हो। इसका परिणाम यह हुआ कि एक नये प्रकार का यूनानी इस्लाम धर्म फैला जिसने यूरोपीय शिक्षा को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया। लेकिन यूनानी दर्शन से प्रभावित इस्लाम

1. A Student's History of Education by F. P. Graves, Page 82.

का स्वागत मुसलिम समाज ने नहीं किया और उसकी धार्मिक संकीर्णता ने उन लोगों का बहिष्कार किया जो यूनानी दर्शन और इस्लाम धर्म में सामंजस्य चाहते थे। अतः सामंजस्य चाहनेवाले मुसलिम सीरिया तथा अन्य पूर्वी स्थानों को छोड़कर पश्चिम की ओर बढ़े और उन्होंने स्पेन तथा उत्तरी अफ्रीका को अपना निवास स्थान बनाया। इन नये प्रदेशों में इन लोगों का नाम मूर (Moor) पड़ा। मूर लोग अपने विश्वास के पक्के थे। अतः उन्होंने नये प्रदेशों में अपना कार्य जारी रखा। उनके इस कार्य का मध्ययुगीन शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान है।

मूर-शिक्षा का महत्व—मूर-शिक्षा ने यूनानी संस्कृति और दर्शन का पुनः उद्धार किया। ईसाई-शिक्षा और मठीय-शिक्षा द्वारा यूनानी संस्कृति का जो बहिष्कार किया गया था, उसे मूर-विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया। उनका विश्वास था कि जो सत्य है वह ग्राह्य है। अतः उन्होंने सत्य को जहाँ पाया, अपनाया। इसी के फलस्वरूप स्पेन में ऐसे मूर विद्वान् हुए जिन्होंने यूनानी दार्शनिकों के विचारों की सुंदर टीका की। अरस्तू के दर्शन का स्पष्टीकरण जैसा एवरोज़ (Averroes) ने किया, वैसा उस समय के किसी दूसरे विद्वान् ने नहीं किया। इसके अतिरिक्त मूर विद्वान् अपने विचारों का प्रचार तथा प्रसार भी करना चाहते थे। अतः उन्होंने उच्च-शिक्षा के लिए विद्यालय भी खोले। विद्वानों का विचार है कि जब यूरोप में ईसाई शिक्षालयों की दशा गिर रही थी, तब मूर लोगों ने कालेज खोले और उनमें गणित, विज्ञान, चिकित्सा और दर्शन सम्बन्धी शिक्षा का उत्तम प्रबंध किया।

मूर-शिक्षा का प्रभाव—मूर कालेजों की शिक्षापद्धति ऐसी थी जो विद्यार्थियों में अन्वेषण की प्रवृत्ति का समुचित विकास करती थी। इस प्रवृत्ति के कारण मूर विद्वानों ने अनेक नई बातों

का पता लगाया। उनके अन्वेषण के फलस्वरूप ऐसी बातों का ज्ञान हुआ जिनका भविष्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जहाँ तक तात्कालिक प्रभाव का प्रश्न है, वह हमें ईसाई-शिक्षा में हुए परिवर्तन में दिखाई पड़ेगा। मूर लोगों की उत्तम-शिक्षा को देखकर उनके द्वारा प्रस्तुत ग्रंथों का अध्ययन कर, ईसाई पादरियों और विद्वानों ने मूर लोगों के अनुभव और अध्ययन से लाभ उठाना चाहा। फलतः टोलेडो के आर्कविशप (Archbishop of Toledo) ने मूर विद्वानों द्वारा प्रस्तुत अरबी ग्रंथों का अनुभव कराया। इन अनुवादों के विषय में यह विचार है कि इनका रूप मूल ग्रंथ से कई दृष्टियों से भिन्न हो गया। इसका सर्व प्रधान कारण यह था कि इन ग्रंथों का अनुवाद अनुवादित ग्रंथों के अधार पर हुआ था। सब से पहले ग्रंथों की भाषा यूनानी थी और फिर सिरियक, अरबी और कैस्टिलियन भाषाओं में इनका अनुवाद हुआ। इस प्रकार इन ग्रंथों का मूलरूप पर्याप्त मात्रा में बदल गया। लेकिन जब ईसाई विद्वानों ने इन ग्रंथों का अनुवाद करना चाहा, तब उन्होंने मूल ग्रंथों की खोज की और फलस्वरूप अरस्तू के ग्रंथों की मूल प्रतियाँ मिलीं और उनके आधार पर प्रामाणिक अनुवाद लैटिन भाषा में हुए।[१] अरस्तू के ग्रंथों का लैटिन अनुवाद मध्ययुगीन शिक्षा के उत्तरार्द्ध की महत्त्वपूर्णघटना है; क्योंकि इस अनुवाद के फलस्वरूप यूरोप में पुनः दार्शनिक जाग्रति हुई और इस जाग्रति का परिणाम शिक्षा में विद्वद्वाद के रूप में दिखाई पड़ता है।

---

1. A Student's History of Education by F. P. Graves, Pages 82-83.

शिक्षा में विद्वद्वाद

विद्वद्वाद का विकास—शिक्षा में विद्वद्वाद (Scholasticism) का विकास क्यों हुआ, यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि मूर-शिक्षा के फलस्वरूप अरस्तू के दार्शनिक ग्रंथों तथा तर्कशास्त्र में विद्वानों की अभिरुचि उत्पन्न हुई। ईसाई धर्म के विकास और प्रचार में भक्ति और विश्वास की प्रधानता थी। ज्ञान और विवेक की ओर समाज का ध्यान न था। लेकिन यह ऐतिहासिक सत्य है कि कभी विवेक की प्रधानता होती है तो कभी विश्वास की। इसी प्रकार कभी व्यक्ति का महत्व होता है तो कभी समाज का। यूनानी शिक्षा में विवेक और व्यक्ति की प्रधानता थी। ईसाई शिक्षा में विश्वास और जन-समूह का महत्त्व था। और फिर इसके बाद ऐतिहासिक चक्र ने पुनः विवेक और व्यक्ति को प्रधानता देनी चाही। व्यक्ति का महत्व उसकी विचार शक्ति, विवेक और तर्क में है। यदि मनुष्य सोचना बंद कर दे, तो वह मनुष्य न रह जाय। यही कारण है कि ईसाई शिक्षा और मठीय शिक्षा द्वारा प्रसारित विश्वास अथवा अंध-विश्वास अधिक दिनों तक न टिक सका और उसे व्यक्ति के विवेक का आधार ढूँढ़ना पड़ा। विद्वद्वाद ने इसी आवश्यकता की पूर्ति की और उसके विश्वास को विवेक का आधार दिया।

विद्वद्वाद की परिभाषा—मध्ययुग की ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी के लगभग ईसाई धार्मिक विश्वास अव्यवस्थित हो चला था। आरम्भ में ईसाई धर्म की बातें साधारण और संक्षिप्त थीं। लेकिन कालांतर में ईसाई धर्म में अनेक ऐसी बातें आ गईं

जो अंध-विश्वास को प्रोत्साहित करती थीं। इस अंध-विश्वास तथा अवैज्ञानिक विचारधारा का परिष्कार विद्वद्वाद ने किया। इस लिए विद्वद्वाद की परिभाषा करते समय कह सकते हैं कि यह (विद्वद्वाद) विवेक द्वारा विश्वास की पहिचान है। विश्वास क्या है, इस पर विचार करना विद्वद्वाद है। विश्वास का आधार क्या है, इसे ज्ञात करना विद्वद्वाद है। वास्तव में विद्वद्वाद विचार की शैली है। इसका प्रधान उद्देश्य विवेक के आधार पर सत्य की खोज है। लेकिन विद्वद्वाद का स्वरूप उस समय अधिक स्पष्ट होता है जब हम उसके उद्देश्य पर विचार करते हैं।

विद्वद्वाद का उद्देश्य—विद्वद्वाद का प्रधान उद्देश्य सत्य की खोज है। सत्य की खोज के पीछे भावना यह है कि धार्मिक विश्वासों पर इस प्रकार विचार किया जाय कि उनमें शंका और संदेह न उत्पन्न हों। दूसरे शब्दों में धार्मिक विश्वासों की सचाई तर्क द्वारा प्रमाणित की जाय। इस प्रकार विद्वद्वाद की विचारशैली विश्वासों को दृढ़ बनाने का प्रयास करती है। पहले जहाँ बिना शंका और संदेह के विश्वास कर लेना उचित समझा था, वहीं अब अरस्तू के दार्शनिक ग्रंथों के फलस्वरूप धार्मिक विश्वासों के लिए तार्किक आधार आवश्यक था। सच तो यह है कि विद्वद्वाद के कारण ईसाई विश्वासों में दृढ़ता आई और ईसाई-दर्शन का विकास हो सका। लेकिन साथ ही साथ ईसाई विद्वान् यह भी कहते थे कि विवेक से बढ़कर विश्वास है। उस समय के विद्वान् एन्सेल्म (Anselm) का यह कथन प्रसिद्ध था—मैं जानने के लिए विश्वास करता हूँ।[1] दूसरे शब्दों में इस कथन का अर्थ यह है कि विश्वास द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार

---

1. I believe in order that I may understand.

एन्सेल्म विश्वास को अधिक महत्व प्रदान करता था। लेकिन समय के साथ विद्वानों की समझ में यह बात भी आ गई कि विश्वास और विवेक में विरोध नहीं है। वरन् विवेक की सहायता से विश्वास दृढ होता है। इस प्रकार विद्वद्वाद का यह उद्देश्य था कि विवेक और विश्वास में सामंजस्य स्थापित किया जाय और समाज में फैले अंधविश्वास को दूर किया जाय। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त धार्मिक विश्वासों को तर्क का आधार दिया गया और विचार के अनुसार उनका क्रम निर्धारित किया गया। ऐतिहासिक दृष्टि से विद्वद्वाद का यह कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे वैज्ञानिक विचारों को प्रोत्साहन मिला और उस समय विचार-क्षेत्र में फैली हुई अव्यवस्था का अंत हुआ।

विद्वद्वादी शिक्षा का उद्देश्य—शिक्षा में विद्वद्वाद का प्रभाव उद्देश्यों में हुए परिवर्तन में दिखाई पड़ता है। विद्वद्वाद के प्रभाव के कारण शिक्षा का उद्देश्य था विचार-शक्ति का विकास इस प्रकार करना कि धार्मिक विश्वासों के प्रति संदेह उत्पन्न न हो। दूसरे शब्दों में, विद्वद्वादी शिक्षा का उद्देश्य यह था कि बालकों में ऐसा विवेक उत्पन्न न हो कि वे धार्मिक विश्वासों में कोई संदेह न करें। विद्वद्वादी शिक्षा का दूसरा उद्देश्य यह था कि बालकों में ऐसा विवेक न उत्पन्न हो जो उन्हें विद्रोह की भावना उत्पन्न करे विद्वद्वादी शिक्षा ऐसी विचार शक्ति उत्पन्न करना चाहती थी जो प्रचलित विश्वासों के अनुकूल हो। इस प्रकार विद्वद्वादी शिक्षा का एक उद्देश्य था धार्मिक विश्वासों को विवेक का आधार प्रदान करना और दूसरा उद्देश्य था ऐसे विवेक को उत्पन्न न होने देना जिसके द्वारा प्रचलित और प्रतिष्ठित विश्वासों में शंका उत्पन्न हो। इसीके साथ साथ विद्वद्वादी शिक्षा का तीसरा उद्देश्य था प्रचलित विश्वासों को तर्क के आधार पर क्रम बद्ध करना जिससे

अध्ययन और मनन में सहायता मिले। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्वद्वादी शिक्षा के उद्देश्य तीन थे:—

(१) धार्मिक विश्वासों को विवेक का आधार प्रदान करना।
(२) धार्मिक विश्वासों के प्रति संदेह उत्पन्न न होने देना।
(३) धार्मिक विश्वासों का तर्क पूर्ण क्रम के अनुसार अध्ययन और मनन कराना।

शिक्षा के विषय—विद्वद्वादी शिक्षा के इन उद्देश्यों के प्रकाश में जब हम शिक्षा के विषय को देखते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि उनमें धार्मिक तथा दार्शनिक स्थापना करने की कोशिश की गई है। धार्मिक विश्वासों को तार्किक आधार पर सँवार कर विद्वद्वादी शिक्षा के विषयों में सम्मिलित किया गया। वैसे आरम्भ में बालक को व्याकरण का इतना अध्ययन करना पड़ता था कि उसका भाषा पर अधिकार हो जाय। इसके बाद उसे तर्कशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। तर्कशास्त्र की शिक्षा के बाद विद्यार्थी धार्मिक विश्वासों का अध्ययन तर्क के आधार पर करता था। इस अध्ययन के फलस्वरूप विद्यार्थी की आस्था धार्मिक विश्वासों में बढ़ती थी और वह उन विश्वासों की श्रेष्ठता, तर्क और विवेक के साथ सिद्ध कर सकता था। तात्पर्य यह है कि विद्वद्वादी शिक्षा के विषय ऐसे होते थे जो विद्वद्वाद के प्रसार में सहायता प्रदान करते थे। इस लिए शिक्षा के विषय में व्याकरण, तर्कशास्त्र, तथा धार्मिक विश्वासों की तर्क पूर्ण व्याख्या प्रधान थे। इन विषयों की शिक्षा के लिए उस समय के दो विद्वानों, पीटर दि लोम्बर्ड (Peter The Lombard) और टामस एकिनस (Thomas Aquinas) ने ऐसी पुस्तकों को लिखा जो विद्यार्थियों के लिए पाठ्यपुस्तक के रूप में थीं। पीटर दि लोम्बर्ड रचित पुस्तक 'दि सेंटेंशिया' (The Sententiae) का बहुत प्रचार था क्योंकि इसमें विद्वद्वाद की

व्याख्या स्पष्ट रूप से की गई थी। इसलिए पीटर का यह ग्रंथ उस समय पाठ्यपुस्तक के रूप में पढ़ा जाता था। इसके अतिरिक्त टामस एक्विनस रचित ग्रंथ 'सम्मा थियोलोजिया' (Summa Theologiae) भी बहुत लोकप्रिय था क्योंकि इसमें 'धार्मिक दर्शन' की सुंदर व्याख्या थी। धार्मिक विश्वासों की दार्शनिक भूमि का वर्णन टामस एक्विनस ने इस सुंदरता से किया कि उसकी यह पुस्तक कई सदियों तक पादरियों और विशप के अधिकारिक विचारों को व्यक्त करती रही। रोमन कैथोलिक चर्च ने 'सम्मा थियोलाजिया' का अध्ययन अपने अनुयायियों के लिए अनिवार्य कर दिया। इस प्रकार विद्वद्वादी शिक्षा के विषयों का विकास हुआ और इनसे उच्च शिक्षा विशेष कर विश्वविद्यालयों की शिक्षा में बड़ी सहायता मिली।

शिक्षा की पद्धति—विद्वद्वादी शिक्षा की पद्धति शिक्षा के विषय के तर्कपूर्ण विकास के अनुरूप होती थी। विषय के विकास को ध्यान में रख कर शिक्षा-पद्धति चलती थी। आरम्भ में व्याकरण की शिक्षा बालक को इस प्रकार दी जाती थी कि उसकी समझ में व्याकरण का स्वाभाविक विकास भी आ जाय। यह कार्य प्रश्नोत्तर की शैली में होता था। उन दिनों कैटेकेटिकल स्कूलों की शिक्षा-पद्धति का भी प्रभाव था। इस लिए वाद-विवाद और प्रश्नोत्तर के द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती थी। लेकिन ज्यों ज्यों शिक्षा के विषयों का तर्कपूर्ण संगठन हुआ, त्यों त्यों प्रश्नोत्तर शैली में भी सुधार होता गया। विषयों के तर्कपूर्ण संगठन के कारण शिक्षा-पद्धति में प्रश्नों के क्रम और महत्त्व पर भी विचार किया गया। इस प्रकार विद्वद्वादी शिक्षा-पद्धति भी तर्कपूर्ण थी और उसमें प्रश्न इस प्रकार किये जाते थे जो विषय के स्वाभाविक विकास को स्पष्ट करने में सहायक होते थे। इस पद्धति को ही ध्यान में रखते हुए

प्रसिद्ध विद्वान् एक्किनस ने अपने ग्रंथ 'सम्मा थियोलाजिया' की रचना की। इस ग्रंथ में एक्किनस ने धार्मिक विश्वासों सम्बन्धी प्रश्नों का तर्कपूर्ण उत्तर दिया है। इसके अतिरिक्त उसने क्रमानुसार उन सभी शंकाओं का समाधान किया है जो प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार एक्किनस ने अपने ग्रंथ में ऐसी शिक्षा-पद्धति का समावेश किया जो तर्कपूर्ण न्यायसंगत और विश्वास दिलानेवाली थी। संक्षेप में एक्किनस विषय का तर्कपूर्ण विभाजन करता था और फिर प्रत्येक भाग के उपभाग कर सत्य की ओर बढ़ता था। उसकी यह पद्धति 'तर्कपूर्ण विश्लेषण' के आधार पर होती थी जो सभी संदेहों और शंकाओं को निर्मूल करने में सहायक होती थी। विद्वद्वादी शिक्षा में इस पद्धति का उच्च स्थान था।

तर्कपूर्ण विश्लेषण पद्धति के साथ साथ एक दूसरी पद्धति भी प्रचलित थी। इस पद्धति में सर्व प्रथम समस्या अथवा कथन उपस्थित किया जाता था। फिर उस समस्या अथवा कथन के जितने भी हल या अर्थ हो सकते थे, उन्हें बताया जाता था। इन सभी सुझावों और अर्थों में जो सबसे अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता था, उसे ग्रहण किया जाता था; और फिर अंत में जो अर्थ स्वीकृत किया जाता था, उस पर अनेक प्रश्न किए जाते थे। जब उन सभी शंकाओं का समाधान हो जाता था, तभी उस अर्थ को स्वीकार किया जाता था। विद्वद्वादी शिक्षा की इस पद्धति में पहली पद्धति की अपेक्षा विचार की स्वतंत्रता अधिक थी। अतः इस पद्धति के द्वारा स्वतंत्र विचारकों को बड़ा प्रोत्साहन मिलता था। लेकिन उस समय शिक्षा का तर्कपूर्ण तथा न्यायसंगत संगठन हो रहा था। इसलिए अव्यवस्था उत्पन्न हो जाने के भय से दूसरी पद्धति को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। इस प्रकार विद्वद्वादी शिक्षा-पद्धति

प्रधानत: 'तर्क पूर्ण विश्लेषण' (logical analysis) पर आधारित थी जो बालकों की अपेक्षा प्रौढ़ विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयुक्त थी।

शिक्षा का संगठन—विद्वद्वादी शिक्षा के संगठन में मठीय विद्यालयों तथा एपिसकोपल स्कूल थे जिनमें प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था थी। उच्च-शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों की स्थापना होने लगी थी। मठीय विद्यालय तथा चार्ल्स महान् की शिक्षा-संगठन के अनुरूप विद्वद्वादी शिक्षा-संगठन भी था। अध्यापकों की नियुक्ति और विद्यार्थियों के प्रति उनका व्यवहार पुराने तरीके का था। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्वद्वादी शिक्षा संगठन में सभी बातें पुरानी थीं। नवीनता केवल इस दृष्टि से थी कि उच्च-शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। उच्च बौद्धिक शिक्षा का संगठन विद्वद्वाद की विशेषता है।

समाज पर प्रभाव—विद्वद्वादी शिक्षा का समाज पर प्रभाव हम विद्वद्वाद के विकास के साथ देख सकते हैं। विद्वद्वाद के विकास से समाज में अंध-विश्वासों की कमी हुई और धार्मिक मान्यताओं तथा दर्शन में सामंजस्य स्थापित किया गया। पहले जहाँ विश्वास ही सब कुछ था, वहाँ अब विवेक तथा विचार को भी अपनाया गया। विद्वद्वादी शिक्षा के फलस्वरूप यूनानी दर्शन और ईसाई धर्म में सुंदर समन्वय हुआ और इस कार्य को करने वाले विशेष रूप से वे लोग थे जिन्हें 'स्कूलमेन' कहा जाता था। एकिनस (१२२५-१२७४) तथा विलियम ऑफ ओकम (William of Occam : १२८०-१३४९) तथा अन्य प्रसिद्ध 'स्कूलमेन' ने यूनानी दर्शन और ईसाई धर्म में समन्वय स्थापित करने की कोशिश की। इस समन्वय के प्रयास में, सर्व प्रथम यह स्पष्ट किया गया

कि ईसाई धर्म की मान्यतायें न्यायसंगत और तर्क पूर्ण हैं। लेकिन ऐसा करते समय एंसेल्म जैसे अनेक विद्वान् थे जो विश्वास को विवेक से बढ़ कर मानते थे क्योंकि कई बातें ऐसी थीं जिन्हें विवेक और विचार से जाना नहीं जा सकता था। अतः ऐसी दशा में विश्वास का आधार उचित था। लेकिन कालांतर में विद्वानों का यह विचार हुआ कि किसी तथ्य की सचाई इस बात में है कि वह विवेक और तर्क की कसौटी पर खरा उतरे। जो बात तर्कपूर्ण तथा न्यायसंगत नहीं है, वह सच नहीं हो सकती। इस मत को माननेवाला प्रसिद्ध विद्वान् अबेलार्ड (Abelard) था।

दार्शनिक प्रभाव—विद्वद्वाद का समाज पर प्रभाव दार्शनिक दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। विद्वद्वादी शिक्षा ने प्लैटो और अरस्तू के दार्शनिक विचारों के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन विद्वानों को प्लैटो के दार्शनिक विचार न्यायसंगत प्रतीत हुए वे यथार्थवादी हो गये और जिन्हें अरस्तू के विचार पसंद आये, वे नाममात्रवादी (Nominalist) बन गये। इस प्रकार यथार्थवाद (Realism) और नाममात्रवाद (Nominalism) दो दार्शनिक विचारधारायें प्रवाहित हुईं।

प्लैटो के यथार्थवाद के अनुयायी विद्वद्वाद के सम्बन्ध में यह विचार रखते थे कि यह विवेक द्वारा विश्वासों को दृढ़ बनाना है। स्थापित मान्यताओं में किसी प्रकार का संदेह न उत्पन्न होने देना, विद्वद्वाद का प्रधान कार्य था। दूसरे शब्दों में यथार्थवादी विद्वद्वाद को धर्म तथा दर्शन का सामंजस्य मानते थे। लेकिन नाममात्रवादी विद्वद्वाद को धार्मिक मान्यताओं का विवेक द्वारा विरोध करनेवाला मानते थे। इनका विश्वास था कि विद्वद्वाद का प्रधान कार्य विवेक और विचार द्वारा धार्मिक मान्यताओं

(Athority) का उन्मूलन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दो दार्शनिक विचार-धाराओं के लोग विद्वद्वाद के सम्बन्ध में दो विचार रखते थे और इस कारण उस समय साधारण शिक्षितों को कठिनाई पड़ती थी। लेकिन कालांतर में नाममात्रवादी विचारकों की बात ठीक मालूम पड़ने लगी क्योंकि ये विवेक और विचार पर अधिक बल देते थे। इस प्रकार विद्वद्वाद द्वारा दार्शनिक प्रभाव भी उत्पन्न हुआ जो बौद्धिक जागरण में बड़ा सहायक हुआ।

मनरो की आलोचना—पॉल मनरो ने विद्वद्वादी शिक्षा के गुण-दोष का सुंदर विवेचन किया है। अतः उनके विचारों से अवगत होना आवश्यक है। मनरो के अनुसार विद्व-द्वादी शिक्षा का प्रथम दोष यह था कि इसमें किसी तथ्य को तब तक स्वीकार नहीं किया जाता था, जब तक कि उसके सम्बन्ध की सभी बातों का पूरा पता न लग जाय। अतः किसी तथ्य के सम्बन्ध की सभी बातों के ज्ञान का हठ विद्वद्वादी शिक्षा की एक बड़ी कमी थी।

विद्वद्वदी शिक्षा का दूसरा दोष यह था कि इसमें सूक्ष्म वस्तुओं की प्रधानता थी। दार्शनिक तथ्यों का सूक्ष्म वर्णन कठिन होता है और सबकी समझ में भी बात नहीं आती। अतः स्पष्टी-करण के लिए यह आवश्यक था कि यथार्थ वस्तुओं और उदाहरणों की सहायता की जाय। इस ओर विद्वद्वादी शिक्षा ने ध्यान नहीं दिया।

मनरो के अनुसार विद्वद्वादी शिक्षा में तीसरी कमी यह थी कि इसका सम्बन्ध विचार-जगत् से अधिक था और व्यवहार जगत् से कम। समाज में केवल विचारों से काम नहीं चलता।

विचार के साथ व्यवहार भी होना आवश्यक है। इस ओर विद्वद्वादी शिक्षा ने ध्यान नहीं दिया।

जहाँ तक विद्वद्वादी शिक्षा के गुणों का प्रश्न है, हमें वह बौद्धिक जीवन में दिखाई पड़ते हैं। विद्वद्वादी शिक्षा ने समाज में बौद्धिक जागरण किया और इसके लिए उच्च-शिक्षा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया।

विद्वद्वादी शिक्षा का दूसरा प्रशंसनीय कार्य था विभिन्न विषयों के ज्ञान को क्रम से सँजोना। तर्कपूर्ण विश्लेषण द्वारा प्रत्येक विषय की न्यायसंगत रूप रेखा तैयार कर के विद्वद्वादी शिक्षा ने समाज का बड़ा कल्याण किया।

इस प्रकार शिक्षा में विद्वद्वाद का प्रादुर्भाव यूरोपीय समाज से अंधविश्वास हटाने और दार्शनिक विचारों का प्रचार करने में बड़ा सहायक हुआ।

विश्वविद्यालयों की शिक्षा

सामाजिक भूमिका—यूरोपीय शिक्षा में विद्वद्वाद के फलस्वरूप जो बौद्धिक जागरण उत्पन्न हुआ था, वह विश्वविद्यालयों की स्थापना में बड़ा सहायक हुआ। लेकिन इस जागरण के अतिरिक्त अन्य प्रभाव और परिवर्तन थे जो विश्वविद्यालयों की स्थापना में सहायक हुए।

यूरोप के मध्ययुग में सामाजिक शांति उत्पन्न होने लगी थी। ईसाई धर्म के पादरियों का अधिकार भी कम हो चला। अब समाज में यह भावना उत्पन्न होने लगी कि धर्म का लौकिक जीवन (Secular life) से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपने विश्वासों के अनुकूल धार्मिक जीवन व्यतीत करे। लेकिन लौकिक जीवन में किसी प्रकार का धार्मिक बंधन न होगा और विभिन्न धार्मिक विश्वासों के व्यक्ति सहयोगपूर्वक लौकिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

नागरिक स्वतंत्रता—यूरोपीय समाज में उपर्युक्त विचार-धारा का उदय बौद्धिक जागरण के फलस्वरूप हुआ, साथ ही उस समय ईसाई धर्म द्वारा प्रचारित 'पारलौकिक जीवन' के विरुद्ध समाज में भावना उत्पन्न हो गई थी। नगरों में जीवन की सुविधायें उपलब्ध होने लगी थीं और उन सुविधाओं का बहिष्कार व्यर्थ प्रतीत होने लगा था। इस प्रकार यूरोपीय समाज में मठवाद का प्रभाव कम हुआ आर विद्वानों की सम्पूर्ण शक्ति सांसारिक जीवन को सुखी बनाने में लग गई। फलतः नये नगरों का निर्माण,

व्यापार में वृद्धि और नागरिक जीवन को सुखी बनाने के लिए प्रयत्न होने लगे। इटली में विदेशियों के आक्रमण से बचने के लिए सुरक्षित नगरों का निर्माण किया गया क्योंकि उस समय मग्यार जाति (Magyars) के हमले होते थे। मग्यार लोग बर्बर थे और लूटपाट करना उनका काम था। अतः मग्यारी हमलों से बचने के लिए मध्य यूरोप तथा इटली में सुरक्षित नगरों का निर्माण किया गया। सुरक्षित नगरों में लोग निर्भयता से रहने लगे और उन्हें अध्ययन-मनन के अवसर भी उपलब्ध हुए। वास्तव में इन्हीं सुरक्षित नगरों ने यूरोप में विश्वविद्यालयों को जन्म दिया, क्योंकि इनकी अपनी एक स्वतंत्र सत्ता थी और वे अपने नगरों का विकास इच्छानुकूल कर सकते थे। इस प्रकार नागरिक स्वतंत्रता ने शिक्षा की ओर, और विशेष रूप से उच्च-शिक्षा की ओर ध्यान दिया।

शिक्षा में जनता की अभिरुचि—इन सुरक्षित नगरों में शिक्षा की जो व्यवस्था की गई, उसमें किसी प्रकार की नवीनता नहीं थी, क्योंकि स्कूलों का संगठन, उनमें प्रचलित पाठ्यक्रम और शिक्षाप्रणाली पुरानी थी। इस प्रकार शिक्षा पुराने रास्ते पर चल रही थी। लेकिन इस समय एक नवीनता भी दिखाई पड़ती है। पहले शिक्षा पर चर्च का अधिकार था। पादरी लोग शिक्षा की व्यवस्था करना अपना कर्त्तव्य मानते थे और जनता भी शिक्षा की ओर ध्यान इसलिए नहीं देती थी कि यह चर्च का कार्य था। लेकिन जब लोगों में नागरिक स्वतंत्रता के भाव उत्पन्न हुए और उन्होंने शिक्षा को जीवन की सफलता के लिए आवश्यक समझा, तब उन्होंने शिक्षा की ओर ध्यान दिया। फलस्वरूप जनता ने शिक्षा में अपनी अभिरुचि दिखाई। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा धर्माधिकारियों से मुक्ति पाकर लोक-जीवन में

आई। इस प्रकार मध्ययुग में शिक्षा लौकिक (Secular) बनने लगी।

लौकिक शिक्षा ने धार्मिक बंधनों को तोड़ना शुरू किया और लोगों में धर्म के स्थान पर दर्शन में अभिरुचि उत्पन्न हुई। दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप लोगों के दृष्टिकोण में विस्तार होने लगा। वे अब मानव जीवन को देश, धर्म की सीमा से बाहर जगत् की पृष्ठभूमि में देखने लगे। लेकिन लोगों की यह प्रवृत्ति अभी विकास की अवस्था में थी। अतः उसका स्पष्ट तथा प्रभावपूर्ण रूप तो दिखाई नहीं पड़ता था। लेकिन इतना तो सत्य है कि भविष्य में जो मानववाद आया, उसे इस विचारधारा तथा विश्वविद्यालयों की स्थापना ही से बड़ी सहायता मिली।

विश्वविद्यालयों का उदय—यूरोप विश्वविद्यालयों के उदय की भूमिका से परिचित हो जाने के बाद हम इस स्थिति में हैं कि विश्वविद्यालयों की स्थापना का अध्ययन कर सकें। विश्वविद्यालयों की स्थापना में मुसलिम शिक्षा का प्रभाव, मूर-शिक्षालयों का संगठन, यूनानी विज्ञान तथा दर्शन में अभिरुचि, तथा विद्वद्‌वाद के विकास से बड़ी सहायता मिली। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं विश्वविद्यालयों की स्थापना में नागरिक स्वतंत्रता का भी बड़ा हाथ था। इसलिए विभिन्न स्थानों में जब विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, तब स्थानीय विशेषताओं का भी उनपर प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव हमें विश्वविद्यालयों के विभिन्न स्वरूपों में दिखाई पड़ता है। यद्यपि विश्वविद्यालयों की स्थापना के मूल में समान तथ्य थे, लेकिन स्थानीय प्रभावों के कारण उनका स्वरूप भिन्न हो गया और ऐसा होना स्वाभाविक भी था।

यूनिवर्सिटस का संगठन—विश्वविद्यालयों के उदयकाल में अध्ययन-गोष्ठियाँ थीं। इन अध्ययन गोष्ठियों में उच्चकोटि का

विचार-विनिमय होता था। कालांतर में इन अध्ययन गोष्ठियों का संगठन हुआ और जो नई संस्थायें बनी उन्हें 'यूनिवर्सिटस' कहा गया। यूनिवर्सिटस का संगठन समय के साथ दृढ़ होता गया और इन्होंने यूनिवर्सिटी अथवा विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया।

सलेर्नो चिकित्सा विद्यालय—यूरोप में सबसे पहले सलेर्नो (Salerno) विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। सलेर्नो इटली देश के नगर नेपुल्स के निकट स्थित था। यहाँ चिकित्सा-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् रहते थे। अतः जिन लोगों को चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करना होता था, वह सलेर्नो जाते थे। सलेर्नो में यूनानी चिकित्साशास्त्र के भी विशेषज्ञ थे। कालांतर में सलेर्नो में अनेक अरबी और यहूदी चिकित्सक एकत्रित हो गये। इन विद्वानों के साथ अफ्रीका का कॉनस्टैंटाइन भी था। कॉनस्टैंटाइन ने चिकित्सा-सम्बन्धी अनेक ग्रंथों की रचना की। उसके ग्रंथ चिकित्साशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से बड़े उपयोगी थे। इसके अतिरिक्त सलेर्नो का मठ भी चिकित्साशास्त्र के अध्ययन का केंद्र बन गया। लेकिन सलेर्नो में स्थित चिकित्साशास्त्र के अध्ययन का यह केंद्र वास्तव में विश्वविद्यालय न था। इसे फ्रेड्रिक द्वितीय ने नेपुल्स विश्वविद्यालय का चिकित्सा-विभाग (Faculty of medicine) सन् १२३१ ई० में स्वीकार कर लिया था।

नेपुल्स-विश्वविद्यालय—नेपुल्स विश्वविद्यालय की स्थापना १२२४ ई० में हुई। इस विश्वविद्यालय की स्थापना फ्रेड्रिक द्वितीय ने की जो यूरोप में विश्वविद्यालयों के विकास में महत्त्वपूर्ण घटना थी। नेपुल्स विश्वविद्यालय की स्थापना में एक शासक की दिल-चस्पी का केवल एक ही कारण हो सकता था, और वह कारण राजनीतिक था। फ्रेड्रिक द्वितीय उत्तरी यूरोपीय भाग में अपने

प्रदेश के विद्वानों को नहीं भेजता था। वह चाहता था कि उसके प्रदेश में उन्नति अधिक हो और दूसरे प्रदेश उससे पीछे रहें। इसलिए फ्रेड्रिक द्वितीय ने नेपुल्स विश्वविद्यालय में ऐसी व्यवस्था की कि उसके प्रदेश के विद्वान् नेपुल्स से बाहर नहीं जा पाते थे। इस प्रकार नेपुल्स विश्वविद्यालय एक शासक के नियंत्रण में पंद्रहवीं सदी तक चलता रहा और स्वतंत्र विकास के अवसरों के अभाव के कारण भविष्य में उसकी उन्नति न हो सकी।

रोम विश्वविद्यालय—इटली का रोम विश्वविद्यालय भी महत्वपूर्ण है। रोम के पोप ने उच्च-शिक्षा और अध्ययन के लिए सन् १२४५ ई० में रोम विश्वविद्यालय की स्थापना की। पोप के प्रभाव के कारण रोम-विश्वविद्यालय में आध्यात्मिक ग्रंथों के अध्ययन की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। इसके अतिरिक्त उस समय रोम में नागरिक अधिकारों की बड़ी चर्चा थी क्योंकि उस समय रोमी लोग अपने नगरों की स्वतंत्रता बनाये रखने के लिए रोमी कानून (Roman Law) का गहरा अध्ययन करते थे जिससे कि कानून की सहायता से नागरिक अधिकारों की रक्षा कर सकें। फलतः उस समय रोमी कानून और नागरिकशास्त्र भी रोम विश्वविद्यालय में शिक्षा के विषय थे।

बोलोना विश्वविद्यालय—यूरोप में विश्वविद्यालयों की स्थापना में बोलोना (Bologna) विश्वविद्यालय का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि बोलोना विश्वविद्यालय यूरोप के उन तीन विश्वविद्यालयों में से था, जिनसे दूसरे सभी विश्वविद्यालयों ने प्रेरणा प्राप्त की है।

बोलोना उत्तरी इटली के उन कई केंद्रों में से एक था, जहाँ रोमी कानून का विशेष अध्ययन किया जाता था। बारहवीं सदी में बोलोना बहुत प्रसिद्ध हो चला था क्योंकि वहाँ इर्नीरियस

(Irnerius) नामक विद्वान् के रोमी नागरिक नियमों पर भाषण होते थे। इर्नीरियस के भाषण ज्ञान-वर्धक होते थे, इसलिए दूर-दूर के लोग बोलोना में एकत्रित होते थे। इर्नीरियस अपने भाषणों में 'कारपस जूरिस सिविलिस' (Corpus Juris Civilis) की सुंदर आलोचना करता था। 'कारपस जूरिस सिविलिस' रोमी कानून का वह ग्रंथ था जिसे प्रसिद्ध न्यायाधीशों ने सम्राट जस्टिनियन के आदेश से छठी सदी में रचा था। इस ग्रंथ में रोम की सभी कानूनी बातें बड़ी कुशलता से एकत्रित की गई थीं। अतः इस ग्रंथ का बड़ा अध्ययन होता था और अन्य विद्वानों को कानूनी ग्रंथों की रचना के लिए प्रेरणा भी मिलती थी।[1] फलतः बोलोना के ग्रेशियन (Gratian) नामक एक यती (Monk) ने उन सभी आदेशों और निर्णयों को एकत्रित किया जिन्हें पोप तथा नगर-समिति (Council) ने दिया था। ग्रेशियन का यह ग्रंथ बहुत लोक-प्रिय था क्योंकि यह ऐसी शैली में लिखा गया था कि सब की समझ में सरलता से आ जाता था। अतः ग्रेशियन का यह ग्रंथ जो 'डिक्री ऑफ ग्रेशियन' (Decree of Gratian) के नाम से प्रसिद्ध था, कानूनी अध्ययन के लिए पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकार किया गया। इस प्रकार बोलोना में न्याय-नियम का विशेष अध्ययन हुआ और इसकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। फलतः फ्रेड्रिक बारबरोसा (Frederick Barbarossa) ने बोलोना विश्वविद्यालय की स्थापना ११५८ ई० में की। विद्वानों का विचार है कि फ्रेड्रिक बारबरोसा ने बोलोना विश्वविद्यालय की स्थापना इसलिए की कि यहाँ के विद्वानों ने रोमी कानून तथा न्याय-नियम के लिए अद्भुत तथा अनुपम कार्य किया। बोलोना के विद्वानों के सहयोग से यहाँ का विश्वविद्यालय अत्यंत लोकप्रिय और

1. A Student's History of Education by Graves. Page 88.

प्रसिद्ध हो गया। इस विश्वविद्यालय में कला, धर्म और चिकित्सा विभागों का संगठन किया। जहाँ तक इस विश्वविद्यालय के प्रबंध का प्रश्न है, वह यहाँ के विद्यार्थियों के हाथ में था। बोलोना विश्वविद्यालय के विद्यार्थी सारा प्रबन्ध अच्छी तरह करते थे। अध्यापकों की नियुक्ति, अर्थ व्यवस्था, पाठ्यक्रम और अध्ययन का काल इत्यादि का निर्णय विद्यार्थियों की समिति करती थी। इसका कारण यह था कि बोलोना विश्वविद्यालय के विद्यार्थी अधिकतर वयस्क और प्रौढ़ होते थे। उन्हें व्यवस्था और प्रबन्ध का पर्याप्त अनुभव होता था। इसलिए बोलोना विश्वविद्यालय का प्रबन्ध विद्यार्थियों के हाथ में था और इसी कारण दक्षिणी भाग में जितने भी विद्यविद्यालयों की स्थापना हुई उनका प्रबन्ध विद्यार्थियों के हाथ में होता था। फलतः ऐसे विश्वविद्यालयों को लोग 'विद्यार्थी-विश्वविद्यालय' भी कहा करते थे।

पेरिस विश्वविद्यालय—यूरोप में विश्वविद्यालयों की स्थापना में बोलोना विश्वविद्यालय से बड़ी सहायता मिली। बोलोना के बाद पेरिस में भी विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। पेरिस विश्वविद्यालय उत्तरी यूरोप में सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण था। इस विश्वविद्यालय का विकास फ्रांस के प्रसिद्ध स्थान नात्रेदेम में स्थित कैथेड्रल स्कूल से हुआ। नात्रेदेम (Natre Dame) का कैथेड्रल स्कूल बहुत प्रसिद्ध था क्योंकि यहाँ विलियम ऑफ चैम्पो (William of Champeaux) अबेलार्ड तथा लोम्बार्ड जैसे विद्वान् शिक्षकों ने अपने परिश्रम और अध्ययन से इस स्कूल की प्रतिष्ठा बढ़ाई थी। इस प्रकार नात्रेदेम का कैथेड्रल स्कूल कालांतर में शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया; और जब विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रश्न आया तो ११८० ई० में लुई सप्तम ने राजपत्र दिया। लेकिन फिलिप अगस्टस ने १२०० ई०

में एक घोषणापत्र द्वारा पेरिस विश्वविद्यालय को पूर्णता प्रदान की।

पेरिस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी बोलोना विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के समान प्रौढ़ और वयस्क नहीं थे। इसलिए इस विश्वविद्यालय का प्रबन्ध अध्यापकों द्वारा होता था और इसीलिए पेरिस विश्वविद्यालय को 'मास्टर यूनीवर्सिटी' भी कहते थे। उत्तरी यूरोप में जितने और भी विश्वविद्यालय स्थापित हुए उन सब का प्रबन्ध पेरिस विश्वविद्यालय की भाँति अध्यापकों द्वारा होता था। इस प्रकार उत्तरी यूरोप में 'मास्टर-यूनीवर्सिटीज़ और दक्षिणी भाग में 'स्टूडेन्ट-यूनीवर्सिटीज़' की प्रथा चल पड़ी।

शिक्षा की दृष्टि से पेरिस विश्वविद्यालय धर्मशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, कानून तथा उदार कलाओं के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध था। इन विषयों के शिक्षक अधिकारी विद्वान् थे और इन विद्वानों ने पेरिस विश्वविद्यालय में वह परम्परा स्थापित की जो आज भी हमें दिखाई पड़ती है। इस प्रकार यूरोप का दूसरा प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय स्थापित हुआ।

अन्य विश्वविद्यालय--यूरोप में विश्वविद्यालयों की स्थापना बारहवीं सदी में आरम्भ हुई थी। इसी काल में इंगलैंड के आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय भी स्थापित हुए थे। इसके बाद तेरहवीं और चौदहवीं सदी में नये विश्वविद्यालयों की बाढ़ सी आ गई। प्रत्येक प्रदेश के विद्वान्, पादरी तथा नागरिक अपने क्षेत्र में विश्वविद्यालय स्थापित करना चाहते थे। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप यूरोप में पुनरुत्थान काल के पूर्व अस्सी विश्वविद्या-लयोंकी स्थापना हो गई। लेकिन इन सभी विद्यविद्यालयों की नींव मजबूत न थी। इसलिए कालान्तर में तीस विश्वविद्यालय बन्द हो गये। जो विश्वविद्यालय बाकी बचे थे उन्होंने बन्द होनेवाले विश्वविद्यालयों की दुर्बलता को देखा और अपने को दृढ़ बनाने का

प्रयास किया। इस प्रयास के फलस्वरूप उन्हें समय के साथ चलना पड़ा और बदलते युग के साथ बदलना पड़ा। यही कारण है कि यूरोप में आज जो विश्वविद्यालय हैं, उनका रूप बिल्कुल बदल गया है। यदि इन विश्वविद्यालयों के रूप में परिवर्तन न किया गया होता, तो ये बदलते जमाने के धक्के से गिर जाते।

शिक्षा का उद्देश्य—अब हम विश्वविद्यालयों की शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, पद्धति तथा संगठन पर विचार करेंगे जिससे कि उसका रूप स्पष्ट हो जाय। अतः जब हम विश्वविद्यालयों की शिक्षा के उद्देश्य का अध्ययन करते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा का उद्देश्य था—विभिन्न विषयों के पूर्ण अध्ययन का प्रबन्ध स्वतंत्र वातावरण में करना। उद्देश्य की स्पष्टता के लिए यह स्मरणीय है कि विद्वद्वाद के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप विविध विषयों के अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः इसके लिए अनेक परिषदें स्थापित हुईं। साथ ही ईसाई शिक्षा और मठीय शिक्षा में स्वतंत्र विचार का जो अभाव था, उसे दूर करना भी विश्वविद्यालयों की शिक्षा का उद्देश्य था। इस प्रकार विश्वविद्यालयों की शिक्षा का उद्देश्य स्वतंत्रता के वातावरण में उच्च अध्ययन का प्रबन्ध करके श्रेष्ठ विद्वान्, उच्चकोटि के चिकित्सक, विचारक, और न्यायाधिकारी प्रस्तुत करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति कहाँ तक हुई, इसपर हम बाद में विचार करेंगे।

शिक्षा के विषय—विश्वविद्यालयों की शिक्षा के प्रधान विषय थे धर्मशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, कानून तथा उदार कलायें। शिक्षा के इन विषयों की ओर विद्वद्वादी शिक्षा ने पर्याप्त ध्यान दिया था और इन विषयों की उचित शिक्षा का प्रबन्ध उस समय हो सका, जब विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। विश्वविद्यालयों की

शिक्षा का पाठ्यक्रम पोप निर्धारित करता था। कुछ विश्वविद्यालयों में शिक्षा के विषय विश्वविद्यालय-समिति निर्धारित करती थी। इसके अतिरिक्त उदार कलाओं के विशेष अध्ययन का भी प्रबन्ध था। इनके अध्ययन के लिए छः वर्ष का समय निर्धारित था। इन छः वर्षों में विद्यार्थी कला के पूरे पाठ्यक्रम का अध्ययन कर लेता था। इस अध्ययन के फलस्वरूप वह अरस्तू के दार्शनिक विचारों तथा उदार कलाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता था। इस प्रकार विश्वविद्यालयों के कला-विभाग में शिक्षा के विषयों का अध्ययन होता था। कला-विभाग के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों में प्राय: चिकित्सा-विभाग, धर्मशास्त्र-विभाग तथा कानून-विभाग भी होते थे। चिकित्सा-विभाग के विद्यार्थी यूनानी चिकित्सा के विषयों का अध्ययन करते थे। इसके लिए उन्हें हिप्पोक्रेटीज़, गालेन (Galen), अविसिना (Avicenna) आदि चिकित्सकों के ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ता था। उस समय कुछ यहूदी और अरबी भी चिकित्सक थे। इन लोगों ने भी चिकित्सा-सम्बन्धी अनेक नई बातों का पता लगाया और इन बातों का अध्ययन चिकित्सा-शास्त्र के विद्यार्थियों को करना पड़ता था।

धर्म-विभाग में विद्वद्वादकालीन धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन विद्यार्थी करते थे। इन ग्रन्थों में लोम्बार्ड का प्रसिद्ध ग्रन्थ संटेशिया (Sententiae) भी था। लोम्बार्डरचित ग्रन्थ में धर्म-सम्बन्धी सभी बातें भलीभाँति वर्णित थीं। इसलिए पुस्तक बहुत लोकप्रिय थी। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म की पुस्तक 'बाइबिल' का भी अध्ययन होता था। लेकिन यह अध्ययन सामान्य था।

विश्वविद्यालयों के कानून विभाग में विद्यार्थियों को दो प्रकार के कानून पढ़ने पड़ते थे। इनमें से एक 'सिविल लॉ' कहलाता

था और दूसरा 'कैनन लॉ' (Canon law)। 'सिविल लॉ' के अध्ययन के निमित्त 'कारपस जूरिस सिविलिस' नामक ग्रन्थ पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकृत था। जैसा कि हमें ज्ञात है, इस ग्रन्थ की रचना सम्राट् जस्टिनियन के आदेश से छठी सदी में हुई थी। रोम के अनेक न्यायाधिकारियों ने बड़े परिश्रम से ऐसी कानून की सभी बातों को इस ग्रन्थ में संग्रहीत किया था। अतः 'कारपस जूरिस सिविलिस' 'सिविल लॉ' के लिए सर्वमान्य ग्रन्थ था। जहाँतक 'कैनन लॉ' या धार्मिक जीवन के नियमों का सम्बन्ध है, उसके लिए 'डिक्री ऑफ ग्रेशियन' का अध्ययन करना पड़ता था। इस ग्रन्थ में पोप के आदेशों तथा निर्णयों का संग्रह था। इस प्रकार विश्वविद्यालयों की शिक्षा के विषय चार विभागों के अन्तर्गत पढ़ाये जाते थे।

शिक्षा की पद्धति—विश्वविद्यालयों में शिक्षा की पद्धति का सरल रूप यह था कि सवप्रथम अध्यापक विद्यार्थियों के सम्मुख भाषण देते थे। इन भाषणों को सुनकर विद्यार्थी सम्बन्धित विषय का ज्ञान प्राप्त करते थे। भाषण देते समय अध्यापक सम्बन्धित विषय की पाठ्यपुस्तक से वांछित अंश पढ़ता था, उस अंश के अर्थ बताता था और फिर आलोचना करता था। आलोचना करते समय अध्यापक अन्य विद्वानों के कथन प्रस्तुत करता था और फिर अपने विचार व्यक्त करता था। इस प्रकार विद्यार्थी को किसी एक विषय का ज्ञान प्राप्त होता था। शिक्षा की इस पद्धति में विद्यार्थी मौन और शान्त श्रोता नहीं होते थे। भाषणों को सुन लेने के पश्चात् उन्हें उस विषय पर वादविवाद करना पड़ता था। इस वादविवाद की यह विशेषता थी कि विद्यार्थियों को अधिकारी विद्वानों का कथन प्रस्तुत करना पड़ता था। इतना ही नहीं, उन्हें अपने तर्क भी उपस्थित करने पड़ते थे। इस प्रकार

के वाद्विवाद से विद्यार्थियों को किसी भी विषय का अच्छा ज्ञान हो जाता था और वे उस परीक्षा के लिए तैयार हो जाते थे जो अध्ययन की समाप्ति के समय ली जाती थी। इस परीक्षा में सफलता उसी विद्यार्थी को मिलती थी जो वादविवाद, व्याख्या और वर्णन में सिद्धहस्त हो। इसलिए विद्यार्थी इन बातों की ओर विशेष ध्यान देते थे। जो विद्यार्थी सफल होते, उन्हें मास्टर, डाक्टर, या प्रोफेसर की डिग्री तथा अध्यापन-कार्य भी मिल जाता था। लेकिन कुछ समय के पश्चात् विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ शोभा और सम्मान की वस्तु बन गईं और उत्तीर्ण विद्यार्थियों के लिए अध्यापन कार्य आवश्यक न रहा।

शिक्षा का संगठन—संगठन की दृष्टि से, विश्वविद्यालयों का रूप बदलता रहा है। आरम्भ में 'विश्वविद्यालय' उस शिक्षण संस्था को कहते थे जिसका संगठन इस प्रकार हुआ हो कि उसमें सभी देश और जाति के विद्यार्थियों के लिए उच्च-शिक्षा के द्वार खुले हों। इसीलिए विश्वविद्यालयों का प्रारम्भ में नाम 'स्टडियम जनरल' (Studium general) भी था, जिसका अर्थ यह था कि यहाँ सभी देश के लोगों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध है। शिक्षा क्षेत्र में विभिन्न देशों और संस्कृतियों के लोगों का स्वागत विश्वविद्यालयों की शिक्षा-संगठन की प्रमुख विशेषता थी। लेकिन विभिन्न देशों और संस्कृतियों के विद्यार्थियों के लिए इस प्रकार की स्वतंत्रता एकाएक नहीं मिल गई। विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की सुविधा के पूर्व यह चलन थी कि एक प्रदेश के विद्यार्थी अपना एक संगठन बनाते थे और फिर वे अपने लिए सुविधायें प्राप्त करते थे लेकिन कालान्तर में उन्हें अनुभव हुआ कि यदि सभी प्रदेशों के विद्यार्थी मिलकर एक संगठन बनायें तो उन्हें अधिक सुविधाएँ मिल सकती हैं। इस प्रकार विद्यार्थियों की संस्था का

संगठन हुआ और विश्वविद्यालय की कौंसिल के लिए उनके द्वारा सदस्य चुने जाते जो उनके अधिकारों की रक्षा करते और उनके लिए सुविधायें प्राप्त करते। दूसरी ओर विश्वविद्यालय के अध्यापक भी संगठित हुए। अध्यापकों ने विश्वविद्यालय के चार विभागों (Faculties) का संगठन किया और फिर प्रत्येक विभाग के लिए एक अध्यक्ष (Dean) चुना जाता था जो अध्यापकों के अधिकारों की देखभाल करता। इसके बाद कौंसिल के सदस्य और विभागों के अध्यक्ष के सम्मिलित चुनाव से विश्वविद्यालय का कुलपति अथवा 'रेक्टर' चुना जाता था। इस प्रकार विश्वविद्यालयों का संगठन दृढ़ था और उसके विद्यार्थियों तथा अध्यापकों में पूरा सहयोग था। इस सहयोग के फलस्वरूप उन्हें जो सुविधायें प्राप्त हुईं, उनपर भी विचार करना आवश्यक है।

विश्वविद्यालयों के लिए सुविधायें—विश्वविद्यालयों के बढ़ते हुए महत्व को देखकर उस समय के शासकों और पोप ने अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए कई प्रकार की सुविधायें प्रदान कीं। विद्यार्थियों द्वारा जब कोई अपराध हो जाता था, तब उनके अपराधों की जाँच विशेष न्यायालयों द्वारा होती थी। इस प्रकार विद्यार्थियों को जनसामान्य से अलग रखा जाता था। इतना ही नहीं, विश्वविद्यालयों की अपनी स्वतंत्र सत्ता (Autonomy) होती थी। अतः विश्वविद्यालय की सीमा में कोई बाहरी व्यक्ति चाहे वह पुलिस अधिकारी ही क्यों न हो, बिना रेक्टर अथवा कुलपति की आज्ञा के प्रवेश नहीं कर सकता था।

इन सुविधाओं के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के लिए आर्थिक सुविधायें भी थीं। अतः विश्वविद्यालयों के अध्यापक, विद्यार्थी तथा अन्य कर्मचारी कर-मुक्त होते थे। कर-मुक्ति के फलस्वरूप उन्हें परोक्ष रूप से आर्थिक लाभ होता था। इसके अतिरिक्त विश्वविद्या-

लय के अध्यापकों के लिए यह भी सुविधा थी कि वे जहाँ चाहें, भाषण कर सकते हैं। इस प्रकार की सुविधा अन्य किसी व्यक्ति को प्राप्त न थी। इस प्रकार विश्वविद्यालयों को अनेक सुविधायें प्राप्त थीं। लेकिन कभी ऐसे अवसर भी आते थे, जब अध्यापकों और विद्यार्थियों को उनकी इच्छानुसार सुविधायें प्राप्त नहीं होती थीं। ऐसी दशा में विश्वविद्यालय के लोग चले जाने की धमकी देते थे। और यदि वे चले गये तो उनके साथ विश्वविद्यालय भी चला जाता था; क्योंकि उस समय विश्वविद्यालयों के लिए न तो भवन होते थे और न पाठ्य-सामग्री। इसलिए किसी भी विश्वविद्यालय का एक स्थान से दूसरे स्थान पर चला जाना सरल होता था। यदि किसी प्रदेश से कोई विश्वविद्यालय हट जाता तो उस प्रदेश की बड़ी निन्दा होती थी। इसलिए प्रदेश के लोग विश्वविद्यालयों के लिए यथाशक्ति सुविधायें प्रदान करते थे।

समाज पर प्रभाव—विश्वविद्यालयों की शिक्षा का यूरोपीय समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा, क्योंकि इसके द्वारा स्वतन्त्र विचार, उच्च अध्ययन तथा उन सभी बातों को प्रोत्साहन मिला जो लोकतन्त्र की स्थापना में सहायक होती हैं। विश्वविद्यालयों की शिक्षा के फल स्वरूप लोगों के व्यक्तित्व का विकास इस प्रकार हुआ कि वे किसी भी कार्य को सुचारु रूप से कर सकते थे। इतना ही नहीं, विश्वविद्यालयों की शिक्षा में लोगों का बड़ा विश्वास था। इसलिए समाज में उनलोगों का बड़ा आदर होता था जो कि विश्वविद्यालय के अध्यापक या विद्यार्थी होते थे। कभी-कभी तो विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को पंच का भी कार्य करना पड़ता था, क्योंकि लोगों को उनकी निष्पक्षता में विश्वास था।

जहाँ तक विश्वविद्यालयों के दूषित प्रभाव का सम्बन्ध है, वह हमें विद्यार्थियों के नैतिक पतन में दिखाई पड़ता है। क्योंकि

विद्यार्थियों ने प्राप्त सुविधाओं से अनुचित लाभ उठाना आरम्भ कर दिया। स्वतंत्रता के नाम पर आपस में लड़ना और झगड़ना उनके लिए सामान्य सी वस्तु हो गई। वे जहाँ चाहते जाते और व्यर्थ समय नष्ट करते। इसलिए लोग इन्हें घुमक्कड़ विद्यार्थी (Wandering Students) कहते थे। घुमक्कड़ विद्यार्थियों में यह भी प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई कि वे अधिक सुविधायें प्राप्त करने के निमित्त एक विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय में भर्ती हो जाते थे। इस प्रकार जो सुविधायें दी गईं उनका विद्यार्थियों द्वारा दुरुपयोग होने लगा। लेकिन फिर भी यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा ने भविष्य में लोकतंत्र की स्थापना के लिए मार्ग बनाया और उच्च-शिक्षा द्वारा लोगों को विचार शक्ति तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी प्रदान की।
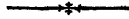
शौर्य-शिक्षा

सामाजिक भूमिका—मध्ययुगीन यूरोप में ईसाई धर्म के विकास के साथ धार्मिक, दार्शनिक तथा बौद्धिक क्षेत्र में मठवाद तथा विद्वद्वाद का प्रादुर्भाव हुआ। इन प्रवृत्तियों का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा, उसका हमने अध्ययन किया। लेकिन अब हमें यूरोपीय समाज के उस भाग की शिक्षा का अध्ययन करना है, जो सामंतशाही और अभिजातवर्ग का था। प्राचीनकाल से यूरोपीय समाज में सामंतों का प्रमुख स्थान रहा है। ईसाई धर्म के विकास के फलस्वरूप समाज पर उनका वह अधिकार न रहा, जो पहले था। इसलिए सामंतशाही वर्ग जन-जीवन से अधिक अलग हो गया और उसकी संस्कृति तथा शिक्षा जन-सामान्य से अलग हो चली।

सामंतों की शिक्षा में शौर्य (Chivalry) की प्रधानता थी। शौर्य अथवा 'शिवलरी' का एक आदर्श था। इस आदर्श के अनुसार एक शूर को सामंती समाज में प्रचलित नियमों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसमें सचाई, ईमानदारी, स्वामिभक्ति, नारी के प्रति सम्मान की भावना, आत्म सम्मान के लिए प्राण तक दे देना, जैसे गुणों का होना आवश्यक था। दूसरे शब्दों में, सामंती प्रथा का पोषक व्यक्ति शूर (Knight) कहलाता था। सामंती समाज में 'नाइट' अथवा शूर-वीर का बड़ा सम्मान होता था। इस सम्मान का एक सामाजिक कारण भी था जो सामंती समाज में शौर्य के उदय के साथ दिखाई देता है।

सामंती समाज— सामंती समाज में शौर्य का उदय लगभग

बारहवीं सदी में हुआ। लेकिन इसके पूर्व दसवीं सदी में शौर्य का कुछ और ही रूप था। दसवीं सदी में छोटे जमींदारों और जागीरदारों पर बड़े जागीरदारों का आधिपत्य हो गया। इसका कारण यह था कि इन्हें अपनी सुरक्षा के लिए बड़े जागीरदारों की शरण में जाना पड़ा। इसके अतिरिक्त छोटे जमीदारों के लिए अनेक कठिनाइयाँ थीं और उन कठिनाइयों का हल तभी हो सकता था, जब कि वे बड़े जागीरदारों का आधिपत्य स्वीकार करते। इस प्रकार दसवीं सदी में बड़े जागीरदारों की शरण में काफी लोग रहने लगे। फलस्वरूप इन बड़े जागीरदारों ने अपने को उनका शासक समझना शुरू किया और उनके परिश्रम से लाभ उठाया। दूसरे शब्दों में, सामंती वर्ग ने कृषक वर्ग का शोषण आरम्भ किया और अपने आराम और सुख के लिए बड़े-बड़े महल और किले बनवाये, और अपनी रक्षा के लिए युद्ध-कला का अभ्यास करने लगे। युद्ध-कला के इस अभ्यास में भाले और तलवार जैसे हथियारों से काम लिया जाता था। यह अभ्यास भली भांति होता था और इसीके फलस्वरूप शौर्य (Chivalry) का बीजारोपण हुआ।

शौर्य का स्वरूप—युद्ध-कला के अभ्यास से आरम्भ होकर शौर्य का स्वरूप बारहवीं सदी में निखर उठा। बारहवीं सदी में युद्ध के स्थान पर नम्रता (Courtesy) का महत्त्व बढ़ा। इस नम्रता के फलस्वरूप एक व्यक्ति दूसरे का सम्मान और आदर करता। यह सम्मान और आदर स्त्रियों के लिए विशेष रूप से प्रदर्शित किया जाता था। इसका कारण यह था कि बारहवीं सदी में सुरक्षा पर्याप्त मात्रा में थी और जीवन में ऐश्वर्य की प्रधानता थी। इसलिए सामंती समाज का नारी की ओर आकर्षण स्वाभाविक था। लेकिन इस आकर्षण, नम्रता आदि के कारण सामंती समाज से युद्ध-कला का अभ्यास उठ नहीं गया। अब भी वे युद्ध-कला

के अभ्यास के मुकाबिले (Tournament) करते थे। लेकिन इस अभ्यास में युद्ध-कला की श्रेष्ठता की ओर कम और मनोरंजन की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। स्पष्ट है कि जिस समाज पर किसी प्रकार का संकट न हो, वह क्योंकर मनोरंजन और आमोद-प्रमोद में समय व्यतीत न करेगा? लेकिन साथ ही सामंती समाज में एक ऐसी संस्कृति का उदय हुआ जो ईसाई धर्म से प्रभावित होते हुए भी अपनी एक सत्ता रखती थी। इस संस्कृति को जिसे हम शौर्य संस्कृति कह सकते हैं, ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण 'सेवा और अनुशासन' को अपना आदर्श मानती थी। इस आदर्श के अनुसार एक शूरवीर (Knight) को अपने जागीरदार मालिक (Lord) की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहना पड़ता था और समय पड़ने पर प्राणों की आहुति भी देनी पड़ती थी। शौर्य में नारी का सम्मान करना महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य था। इसलिए शूरवीर अपने मालिक से अधिक उनकी स्त्रियों का ध्यान रखते थे। इतना ही नहीं, उन स्त्रियों की प्रसन्नता के लिए उन्हें सब कुछ करना पड़ता था। इस प्रकार शौर्य की अभिव्यक्ति शूरवीर के कार्य में होती थी और इस कार्य का सामंती समाज में बड़ा सम्मान था।

शौर्य-शिक्षा का उद्देश्य—समाज में जिस कार्य का सम्मान होता है, उसकी ओर अधिक लोग आकर्षित होते हैं। फलतः शिक्षा में शौर्य का उदय हुआ। शिक्षा में शौर्य का उद्देश्य था बालक को धर्म, वीरता और सम्मान की शिक्षा देना।* दूसरे

---

* The aim of chivalric education was, therefore, to train the boy in "religion, honor and gallantry". A Student's History of Education, Page 96.

शब्दों में शौर्य शिक्षा का उद्देश्य सामंती संस्कृति के शौर्य का प्रचार करना। जैसा कि हम जानते हैं, सामंती संस्कृति में ऐश्वर्य की प्रधानता थी और उस समाज में धर्म का यह कार्य था कि वह सामंती शोपण का समर्थन करे। इस प्रकार सामंती समाज में धर्म के उस स्वरूप की शिक्षा दी जाती थी जो उसके शोषण को स्वाभाविक मानता था। जहाँ तक वीरता और सम्मान का सम्बन्ध है, वह सुरक्षा और सामंती समाज में स्थापित प्रथाओं के लिए आवश्यक थे। इन्हीं सब कारणों से शौर्य-शिक्षा का उद्देश्य धर्म, वीरता और मान-मर्यादा का विकास करना था।

शिक्षा का संगठन—शौर्य-शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा पूर्णत: व्यावहारिक थी। अत: जब बालक सात वर्ष का होता था, तब वह उस प्रतिष्ठित व्यक्ति के परिवार में भेज दिया जाता था, जिसका आधिपत्य उसके परिवार पर होता था। इस परिवार में बालक सात वर्ष तक रहकर शिक्षा प्राप्त करता था। इस काल में उसको पेज (Page) अथवा वैलेट (Valet) कहते थे। इसके बाद जब वह चौदह वर्ष का हो जाता था, तब उसे स्कायर (Squire) के नाम से सम्बोधित किया जाता था। स्कायर के रूप में उसे सात वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी और फिर जब वह इक्कीस वर्ष का हो जाता था, तब वह पूरा 'नाइट' (Knight) अथवा शूरवीर बन जाता। इस प्रकार शौर्य-शिक्षा के संगठन में तीन दशायें थीं। एक तो वैलेट अथवा पेज की जो सात वर्ष से चौदह वर्ष तक होती थी, दूसरी स्कायर की जो चौदह वर्ष से इक्कीस वर्ष तक चलती थी और फिर इक्कीस वर्ष से लेकर जीवन पर्यन्त शूरवीर की शिक्षा होती थी। शौर्य-शिक्षा के इस संगठन की विशेषता यह थी कि गृह ही शिक्षालय था और गृह कार्य में कुशलता प्राप्त करना प्रत्येक बालक के लिए आवश्यक था।

शिक्षा के विषय—शौर्य-शिक्षा के विषय व्यावहारिक और गृह-कार्य से सम्बन्धित थे। जब बालक पेज के रूप में किसी प्रतिष्ठित परिवार में शिक्षा ग्रहण करने के लिए आता था, तब उसे उस परिवार के अध्यक्ष लार्ड और उसकी पत्नी लेडी की सेवा करनी पड़ती थी। बालक एक सेवक और दास की भाँति लार्ड और लेडी के आदेशानुसार कार्य करता था। इस प्रकार वह लार्ड-लेडी के रहन-सहन के तरीके को सीखता था। लेकिन परिवार में अधिक समय व्यतीत करने के कारण उसका सम्पर्क लेडी से अधिक रहता था और लेडी ही उसे लिखना-पढ़ना, संगीत, शतरंज का खेल आदि की शिक्षा देती थी। इतना ही नहीं, लेडी उसे यह भी सिखाती थी कि प्रेम में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए और किसी के सम्मान के समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार पेज के रूप में बालक की प्रारम्भिक और कुछ सीमा तक माध्यमिक शिक्षा प्रतिष्ठित परिवार में हो जाती थी। जहाँ तक शारीरिक विकास का प्रश्न है, उसके लिए यह व्यवस्था थी कि 'पेज' गढ़ के बाहर जाकर खेले, कुश्ती लड़े, दौड़े और घुड़सवारी करें।

जब स्कायर की शिक्षा आरंभ होती थी, तब वह किसी शूरवीर के साथ अधिक रहता था। शूरवीर की सेवा, उसके हथियारों और घोड़े की देखभाल करना स्कायर का कार्य था। दूसरे शब्दों में स्कायर शूरवीर का सहायक होता था। शूरवीर जब युद्ध अथवा दूसरा कोई कार्य करता, तब स्कायर उसकी सहायता के लिए तैयार रहता। लेकिन स्कायर के रूप में शिक्षा ग्रहण करते समय भी विद्यार्थी का सम्बन्ध लार्ड और लेडी से बना रहता था। वह अब भी पारिवारिक जीवन में भाग लेता था। अंतर केवल इतना था कि अब उसका प्रधान कार्य शूरवीर की सेवा करना हो गया।

इस प्रकार स्कायर के रूप में वह नाइट जीवन की तैयारी करता और जब वह बीस-इक्कीस वर्ष का हो चलता तब उसमें यौवन की आकांक्षायें भी उत्पन्न हो जाती थीं। इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वह कविता लिखने का प्रयास करता और नृत्य सीखता। साथ ही इस समय उसके हृदय में किसी नारी के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। अतः वह अपनी प्रेमिका को प्रसन्न करने के लिए कवितायें लिखना सीखता। स्कायर की शिक्षा की पूर्ति में प्रेमिका को प्रसन्न करना भी आवश्यक था। इस प्रकार स्कायर २१ वर्ष की आयु पर नाइट अथवा शूरवीर का पद प्राप्त करने के योग्य बनता था। और शूरवीर का पद भी बड़े उत्सव के साथ प्रदान किया जाता था। इसके लिए उसे एक निश्चित अवधि तक बिना भोजन के रहना पड़ता था। इस प्रकार के व्रत से उसमें शक्ति की वृद्धि होती थी। इसके अतिरिक्त पूजा के लिए उसे चर्च में जाना पड़ता था। चर्च में जाने के पूर्व एक रात उसे चर्च की रखवाली में व्यतीत करना पड़ता था। रात के समय हथियारों से सुसज्जित होकर शूरवीर चर्च का पहरा देता और ऐसा करते समय वह प्रार्थना भी करता। प्रातःकाल चर्च के भीतर जाकर वह अपने अपराधों को स्वीकार करता और उनके लिए क्षमा-याचना करता। इसके बाद पादरी उससे प्रतिज्ञा करवाता कि वह चर्च, नारी और दीन की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहेगा। इस प्रतिज्ञा को ग्रहण करके शूरवीर अपने लार्ड के सामने घुटने टेकता और उससे शूरवीर का पद, और तलवार प्राप्त करता। इस प्रकार सात वर्ष का बालक चौदह वर्ष तक सतत् परिश्रम करके शूरवीर का पद प्राप्त करता।

शिक्षा की पद्धति—शिक्षा के संगठन और विषय से परिचित हो जाने के पश्चात् शिक्षा की पद्धति का सरलता से

अनुमान किया जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि शिक्षा पद्धति व्यावहारिक थी और उसमें करके सीखने की प्रधानता थी। इस सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि सामंती प्रभाव के कारण शिक्षार्थी के व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतंत्र वातावरण का अभाव था। इसलिए शौर्य-शिक्षा की पद्धति में विद्यार्थी को दूसरों की इच्छानुसार कार्य करना पड़ता था। यदि उसे इस बात का विश्वास न होता कि एक दिन वह भी नाइट बनेगा, तो वह शौर्य-शिक्षा की इस पद्धति का विरोध करता। लेकिन चूँकि शौर्य-शिक्षा द्वारा उसे ऐश्वर्य और सुख की प्राप्ति हो सकती थी, इसलिए वह दैनिक जीवन के कार्यों को बड़ी तत्परता से सीखता था। इसके अतिरिक्त शौर्य-शिक्षा पद्धति ऐसी न थी जो बालकों के नैतिक और आध्यात्मिक विकास में सहायक होती। इस प्रकार शौर्य-शिक्षा पूर्णतः लौकिक, व्यावहारिक और सामंती समाज के अनुकूल थी और इसके द्वारा ऐसी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता था जो समाज के हित में न थी।

समाज पर प्रभाव—शौर्य-शिक्षा का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा, जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तब देखते हैं कि शौर्य-शिक्षा सामंती समाज के लिए थी और इसका सामान्य समाज से कोई सम्बन्ध न था। लेकिन इस शिक्षा का समाज पर कुछ अच्छा प्रभाव भी पड़ा। और यह अच्छाई हमें समाज में बर्बरता की कमी में दिखाई देती है। जहाँ पहले लोगों में बर्बर प्रवृत्तियों का बाहुल्य था, वहाँ अब उनमें शिष्टता, सौम्यता और आत्म सम्मान की भावना जाग्रत हुई।

शौर्य-शिक्षा का दूसरा अच्छा प्रभाव यह पड़ा कि समाज में नारी का सम्मान बढ़ा। जहाँ पहले नारी की उपेक्षा होती थी, वहीं

अब शौर्य-शिक्षा के फलस्वरूप समाज में नारी को सम्मानित किया गया।

शौर्य-शिक्षा का तीसरा अच्छा प्रभाव समाज पर यह पड़ा कि मठवादी प्रवृत्ति का ह्रास हुआ। मठवादी प्रभाव के कारण समाज में सांसारिक सुखों के त्याग की भावना फैल गई थी। लोग इस लोक से अधिक परलोक की चिंता करते थे। लेकिन शौर्य-शिक्षा ने लोक-जीवन को प्रधानता दी और ऐसे आदर्शों को महत्त्व प्रदान किया जो जीवन में सुख और ऐश्वर्य के पोषक थे। यद्यपि शौर्य-शिक्षा एक समाज विशेष के लिए थी, मगर फिर भी उसका प्रभाव पड़ा और इतिहासकारों का मत है कि पुनरुत्थान काल में लोक-सुख को जो महत्त्व प्रदान किया गया, वह कुछ सीमा तक शौर्य-शिक्षा के कारण था।

और जब हम शौर्य-शिक्षा के अहितकर प्रभावों को देखते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि इसके प्रभाव के कारण सामंती समाज में ऐसे लोग उत्पन्न हुए जिनमें संतुलन का अभाव था। जब वे क्रोधित होते, तब उन्हें रोकना कठिन था और उनका आत्म सम्मान अहंकार का रूप धारण कर लेता। इसके अतिरिक्त उनमें अपने गुणों के प्रदर्शन की भावना भी जाग्रत हो गई थी। स्पष्ट है कि गुणों का प्रदर्शन स्वयं एक बहुत बड़ा दुर्गुण है। इसी प्रकार शौर्य के और भी जितने आदर्श थे उनका पालन इस सीमा तक किया जाता जो अनुचित और असंगत था। तात्पर्य यह है कि शूरवीरों में सही अनुमान और संतुलन का अभाव था। इस प्रकार शौर्य-शिक्षा के फलस्वरूप जहाँ समाज पर अच्छे प्रभाव पड़े, वहीं शूरवीरों में सूझ-बूझ की कमी के कारण कुछ दुर्गुणों को भी प्रश्रय मिला।

मध्ययुगीन शिक्षा के अन्य रूप

सामाजिक भूमिका—जब किसी युग का अंत समीप होता है, तब उस अंत ही में नवीन युग का बीजारोपण हो जाता है। यही सत्य हमें मध्य युग के अंत में भी दिखाई देता है। जब मध्य युग का अंत समीप आया, तब समाज में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होगईं जो परिवर्तन की द्योतक थीं। और इन परिवर्तनशील परिस्थितियों में आर्थिक परिस्थिति की प्रधानता थी। उन दिनों मध्ययुगीन यूरोप में वाणिज्य-व्यवसाय तथा उद्योग धंधों का विकास हो रहा था। इस विकास के फलस्वरूप समाज का आर्थिक ढाँचा बदल रहा था। जहाँ पहले बेकारी थी, वहाँ अव लोगों को काम मिल रहा था और वे मेहनत से धन कमाने लगे थे। इसका प्रभाव यूरोप के सामंती समाज पर पड़ा। सामंतों की अध्यक्षता में रहने वाले ग़रीब लोग उद्योग-धंधों की सहायता से धन कमाने लगे और वे अब सामंतों का कर चुकाने के लिए सेवा के स्थान पर धन देने लगे। सामंतों (Lords) ने सेवा के स्थान पर धन खुशी से स्वीकार किया क्यों कि उनके पास भी धन की कमी थी और वे इस प्रकार प्राप्त हुए धन के द्वारा उन वस्तुओं को खरीदने लगे जिन्हें यूरोप के लोग बनाते थे। यूरोप में वनने वाले सामानों में सूती और रेशमी कपड़े तथा शौक के अन्य समान भी थे। ये वस्तुएँ यूरोप के एक देश से दूसरे देश में आती-जाती थीं और इनका व्यापार भली भाँति होने लगा।

वाणिज्य-व्यवसाय का विकास—इसके अतिरिक्त यूरोप में पूर्वी देशों से भी सामान आता था। ऐसा इस लिए हुआ कि

समुद्री यात्रा के लिए अच्छे जहाज़ बनने लगे और अन्य प्रकार की सुविधायें उपलब्ध हुईं। फलस्वरूप भारत तथा अन्य पूर्वी देशों से मसाले, रेशमी और सूती कपड़े, अनेक प्रकार के सुगंधित पदार्थ, जवाहरात, इत्यादि यूरोपीय देशों में जाने लगे। यूरोप के लोग इन वस्तुओं को बड़ी खुशी से खरीदते थे। इस प्रकार मध्ययुग के अंत में वाणिज्य और व्यवसाय का विकास हुआ और इस विकास का प्रभाव समाज पर पड़ा। लोगों में व्यापार की इच्छा प्रबल हुई। जो लोग सूती और रेशमी कपड़े इत्यादि बनाते थे, उन्हों ने भी अपना संगठन किया। जहाजों से सामान ढोनेवाले लोगों ने भी अपना संगठन मजबूत बनाया। इस संगठन के फलस्वरूप कई ऐसी संस्थायें बनीं जिनका यूरोप के आर्थिक तथा राजनीतिक पक्षों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। और जब आर्थिक और राजनीतिक पक्षों में परिवर्तन होते हैं, तब संस्कृति भी बदलती है। अतः समाज में लेन-देन के लिए बैंकिंग का विकास हुआ, तथा उद्योग धंधों के विस्तार के लिए अनेक दक्ष व्यक्तियों की आवश्यकता अनुभव हुई। स्पष्ट है कि जब किसी कार्य में विशेष योग्यता को प्राप्त करने के लिए लोग प्रयत्नशील होते हैं। इसी प्रयत्न के कारण मध्ययुग में शिक्षा के अन्य रूप भी दिखाई देते हैं। मध्ययुगीन शिक्षा के अन्य रूपों में उन लोगों ने अधिक भाग लिया जिनका उद्योग-धंधों तथा वाणिज्य-व्यवसाय से सम्बन्ध था।

नये नगरों का निर्माण—वाणिज्य और व्यवसाय की वृद्धि के साथ नये नगरों का निर्माण आरम्भ हुआ। इसके पूर्व यूरोप में नगरों का अभाव था। लोगों की बस्तियाँ अलग-अलग थीं और वे अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्वयं तैयार कर लेते थे। इस प्रकार एक स्थान में रहने वाले दूसरे स्थान के रहने वालों

से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते थे। लेकिन वाणिज्य और व्यवसाय के विकास से लोगों का आपसी सम्बन्ध बढ़ा। इतना ही नहीं एक प्रकार का धंधा करने वाले एक साथ मिलकर रहने लगे। फलस्वरूप नई बस्तियाँ और नये नगरों की नींव पड़ी। लेन-देन और आने जाने की सुविधायें बढ़ते ही नगरों का महत्त्व बढ़ गया। इन नगरों में लोग बसने लगे और अपने सामंतों को धन देकर छुटकारा पाने लगे। जैसा कि हम जानते हैं, सामंत अथवा लार्ड के अंतर्गत गरीब किसान रहते थे। वे लार्ड के लिए मेहनत करते थे और लार्ड उनके परिश्रम का फल भोगता था। लेकिन औद्योगिक विकास के फलस्वरूप इन गरीब किसानों को धन कमाने का अवसर मिला और उन्हों ने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया। नये नगरों में बसने वाले लोगों ने अपने सामंतों को धन देकर पूरी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। सामंत भी धन पाकर खुश होते थे क्यों कि उन्हों ने धर्म-युद्ध में काफी धन व्यय कर दिया था। इस प्रकार नये नगरों में ऐसे लोग बसे जो पहले गरीब थे और अब व्यवसायी बन गये थे। इन नये नगरों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती गई और जहाँ भी उद्योग-धंधों की सुविधा होती, वहाँ लोग बसने लगते।

'गिल्ड' का संगठन—उद्योग-धंधों के विकास के फलस्वरूप समाज में जो नयी आर्थिक व्यवस्था स्थापित हुई, उससे सामंतवादी व्यवस्था को धक्का लगा। अब सामंतों को चिंता कोई न करता। इतना ही नहीं व्यवसायियों ने जो संगठन बनाये उनके द्वारा उन्हों ने अपनी सामाजिक दशा में सुधार भी किया। व्यवसायियों के संगठन जिन्हें 'गिल्ड' (Gild) कहते थे, अपना प्रबन्ध भली भाँति करते थे। 'गिल्ड' के संगठन से व्यापार की वृद्धि में सहायता मिलती थी और व्यवसायियों की उन्नति होती

थी। अतः कुछ दिनों के बाद व्यवसायी भी धनी हो गये और वे अपने आराम और सुख के लिए उन वस्तुओं की आवश्यकता अनुभव करने लगे जो अभिजात वर्ग के लिए थे। इस प्रकार व्यवसायी अभिजात वर्ग समाज में बड़े गौरव से रहने लगा और उसने अपनी शिक्षा के लिए चर्च और पादरी का मुँह देखना छोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्माधिकारी वर्ग और व्यवसायी अभिजात वर्ग में स्पर्धा उत्पन्न हो गई। लेकिन व्यवसायी वर्ग की उन्नति हो रही थी। उसका भाग्योदय हो रहा था। इस लिए उसका सम्मान शासक और समाज दोनों करने लगे। इस प्रकार यूरोपीय समाज में एक नई शक्ति का जन्म होता है जो यूरोपीय इतिहास की धारा में एक नवीनता को उत्पन्न करती है।

व्यावसायिक शिक्षा—व्यावसायिक उन्नति के लिए 'गिल्ड' को स्थापना हुई थी। अतः इस संगठन का ध्यान व्यवसाय की उन्नति के सभी अंगों की ओर गया। व्यावसाय के लिए एक विशेष प्रकार की शिक्षा की भी आवश्यकता होती है, इसे भी गिल्ड के सदस्यों ने अनुभव किया। फलतः व्यवसायिक शिक्षा का आरम्भ हुआ। इस शिक्षा का आरम्भ इस उद्देश्य से हुआ कि विभिन्न उद्योगों और व्यवसाय के लिए योग्य व्यक्ति उपलब्ध हों। इसलिए विभिन्न प्रकार के उद्योगों की शिक्षा के लिए अलग-अलग शिक्षण-संस्थायें स्थापित हुईं जिससे कि विशेष योग्यता प्राप्त की जा सके। ऐसा होना स्वाभाविक था क्यों कि हर एक उद्योग और धंधों का अपना अलग संगठन–'गिल्ड'–था और उस संगठन का यह कर्त्तव्य था कि अपने उद्योग और धंधे की शिक्षा की व्यवस्था करे। इस प्रकार प्रत्येक व्यबसाय के गिल्ड ने अपनी शिक्षा का प्रबन्ध किया। लेकिन व्यावसायिक शिक्षा के स्वरूप में स्पष्टीकरण के लिए इसके

उद्देश्यों, पद्धति, संगठन और विषय इत्यादि पर विचार करना आवश्यक है।

शिक्षा का उद्देश्य— वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योग-धंधों के विकास के फलस्वरूप समाज में व्यावसायिक योग्यता की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिए व्यावसायिक शिक्षा का उदय, व्यावसायिक उन्नति के लिए व्यावसायिक योग्यता प्रदान करने के उद्देश्य हुआ। दूसरे शब्दों में, व्यावसायिक शिक्षा का उद्देश्य समाज में व्यवसाय और उद्योग-धंधों का प्रसार करना था। इसके अतिरिक्त इस शिक्षा का उद्देश्य व्यावसायिक वर्ग की प्रधानता भी स्थापित करना था। जैसा कि हम जानते हैं, शिक्षा ईसाइयों और धर्माधिकारियों द्वारा प्रदान की जाती थी। इसके बाद शासकों ने शिक्षा की ओर ध्यान दिया और धर्माधिकारियों से शिक्षा के क्षेत्र में सहयोग किया। लेकिन वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योग-धंधों के फलस्वरूप जो नया वर्ग उत्पन्न हुआ, उसने अपनी शिक्षा की स्वयं ऐसी व्यवस्था की जिससे उसे दूसरों का मुँह न देखना पड़े। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य व्यावसायिक वर्ग की चतुर्मुखी उन्नति करना था।

शिक्षा के विषय—व्यावसायिक शिक्षा के विषयों में विभिन्न उद्योग-धंधों की प्रधानता थी। धातुकला, काष्ठकला, चमड़े का काम, कपड़ा बुनना, छपाई काम और अन्य उद्योग-धंधे तथा कुटीर-शिल्प (Cottage Industries) के विषयों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इसके अतिरिक्त व्यवसाय में साधारण गणित की भी शिक्षा दी जाती थी। चूँकि व्यवसाय में दर्शन और साहित्य की कोई आवश्यकता नहीं होती, अतः इन विषयों की शिक्षा की ओर ध्यान

देना अनावश्यक था। इस प्रकार शिक्षा के विषय व्यक्ति के लिए न होकर व्यवसाय की उन्नति के लिए थे।

शिक्षा की पद्धति—व्यावसायिक शिक्षा की पद्धति, व्यावहारिक थी क्यों कि शिक्षा का केंद्र-बिंदु व्यवसाय था। अतः करके सीखना ही शिक्षा की पद्धति के विपय में यह उल्लेखनीय है कि इसका ध्यान किसी कार्य में दक्षता प्रदान करना था। अतः इसमें उन सभी तरीकों का समावेश था, जिनके द्वारा व्यावसायिक योग्यता सरलता से प्रदान की जा सके। जहाँ तक वाद-विवाद, प्रश्नोत्तर तथा शिक्षा की अन्य पद्धतियों का प्रश्न है, उन सब से व्यावसायिक शिक्षा की पद्धति भिन्न थी। वास्तव में इस पद्धति का विद्यार्थी ऐसा शिष्य होता था जो अपने गुरु के साथ रहकर शिक्षा ग्रहण करता था। गुरु के आदेशों के अनुसार कार्य करना, गुरु की कार्य प्रणाली का निरीक्षण करना और फिर उसी प्रकार स्वयं कार्य करने अथवा वस्तु बनाने का प्रयास करना ही व्यावसायिक शिक्षा की पद्धति थी।

शिक्षा का संगठन—व्यावसायिक शिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करने में उसके संगठनों से बड़ी सहायता मिलती है। जैसा कि हम जानते हैं, विभिन्न उद्योगों के अलग-अलग गिल्ड या संगठन होते थे। इसके अतिरिक्त व्यापारियों का भी एक संगठन होता था। इस प्रकार एक ओर व्यापारी वर्ग था और दूसरी ओर कारीगर-वर्ग। इन दोनों वर्गों ने अपने संगठनों द्वारा व्यावसायिक और औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध किया। इस प्रबन्ध के फलस्वरूप केवल इसी व्यक्ति को व्यवसाय और उद्योग में भाग लेने का अधिकार था, जिसने गिल्ड द्वारा स्वीकृत शिक्षा को प्राप्त किया हो। इस प्रकार व्यावसायिक योग्यता के लिए मान्य शिक्षा अनिवार्य थी।

व्यावसायिक-शिक्षा के संगठन की दूसरी विशेषता 'उम्मेदवारी प्रथा' (Apprenticeship System) थी। इस प्रथा के अनुसार उम्मेदवार को अपने उस्ताद (Master) के घर पर जाकर कारीगरी सीखना पड़ता था। कारीगरी सीखने में पर्याप्त समय लग जाता था। कुछ काम ऐसे होते थे जिनमें सात वर्ष की शिक्षा आवश्यक थी, और कुछ ऐसे जिनके लिए दो ही वर्ष पर्याप्त होते थे। कोई-कोई हस्तकला ऐसी होती है, जिनमें बड़ी दक्षता की आवश्यकता होती है। स्वर्णकारी में उम्मेदवार को दस वर्ष का समय देना पड़ता था। इसी प्रकार काढ़ने के काम (Embroidery) के लिए आठ वर्ष की अवधि आवश्यक थी। बिना निश्चित अवधि को पूरा किये 'उम्मेदवारी' (Apprenticeship) पूरी नहीं होती थी। लेकिन जब उम्मेदवारी पूरी हो जाती थी, तब 'जर्नीमैन' (Journey-man) के रूप में कार्य करना पड़ता था। जर्नीमैन के कार्य की प्रणाली यह थी कि उसे किसी उस्ताद के सिवाय, अन्य लोगों के लिए काम करने की अनुमति न थी। इसलिए जर्नीमैन किसी 'मास्टर' द्वारा दिये गये काम को पूरा करके उससे मजदूरी पाता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जर्नीमैन के पूर्व उम्मेदवारी की दशा में किसी प्रकार के पारिश्रमिक की व्यवस्था न थी। लेकिन जब उम्मेदवार जर्नीमैन बन जाता था, तब वह किसी उस्ताद का काम करके पारिश्रमिक पा सकता था।

जर्नीमैन के पद के बाद 'मास्टर' या उस्ताद का पद मिलता था। इस पद को प्राप्त करने के लिए जर्नीमैन को किसी ऐसी वस्तु का निर्माण करना पड़ता था, जो उसकी दक्षता का उत्कृष्ट उदाहरण हो। अतः जर्नीमैन किसी उत्कृष्ट वस्तु को रचना करके 'गिल्ड' में परीक्षार्थ भेजता था। गिल्ड के परीक्षक उस वस्तु की उत्कृष्टता की परीक्षा करते थे और यदि वे उस वस्तु को उत्कृष्ट पाते तो जर्नीमैन

को 'मास्टर' का पद प्रदान करते थे। 'मास्टर' का पद प्राप्त कर लेने पर कारीगर स्वतन्त्र रूप से कार्य करके कमा सकता था और उम्मेद्वारों को शिक्षा प्रदान कर सकता था। लेकिन कालान्तर में गिल्ड संगठनों ने यह निश्चय किया कि एक मास्टर के अन्तर्गत केवल एक उम्मेद्वार ही शिक्षा प्राप्त करे। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि जर्नीमैन और मास्टरों की संख्या में इतनी अभिवृद्धि न हो जाय कि बेकारी फैल जाय। इतना ही नहीं गिल्ड संगठनों ने कार्य करने का समय भी निर्धारित कर दिया। निर्धारित समय में जितनी वस्तुएँ तैयार होती थीं, उनका हिसाब गिल्ड सरलता से रख सकता था। लेकिन कुछ मास्टर निर्धारित समय में अधिक वस्तुओं को तैयार करने की चेष्टा करने लगे। इसके कारण वस्तुओं की उत्कृष्टता में कमी होने लगी। इसे रोकने के लिए गिल्ड-संगठनों से बनी हुई वस्तुओं की जाँच करने लगे। जो चीजें अच्छी होतीं, उन्हें ही बाजार में बेचा जा सकता था, और जो वस्तुएँ अच्छी नहीं होती थीं, ऊन्हें गिल्ड जब्त कर लेता था। इस प्रकार गिल्डों ने एक ओर तो कारीगरों की संख्या पर नियंत्रण किया और दूसरी ओर वस्तुओं की उत्कृष्टता पर बल देकर उत्पादन पर नियंत्रण रखा। इस नियंत्रण का शिक्षा के संगठन पर भी प्रभाव पड़ा और वह उम्मेदवारी प्रथा, जर्नीमैन-व्यवस्था और मास्टर पद की प्राप्ति में व्यक्त है।

गिल्ड-स्कूलों का संगठन—व्यावसायिक उन्नति के लिए शिक्षा का जो संगठन हुआ, वह केवल व्यावहारिक शिक्षा ही तक सीमित नहीं रहा। उस समय ईसाइयों द्वारा संचालित शिक्षालय भी चल रहे थे। इन विद्यालयों की भाँति गिल्ड-संगठनों की ओर से भी शिक्षालय खोले गये, जो 'गिल्ड स्कूल' के नाम से प्रसिद्ध हुए। गिल्ड-स्कूलों का संगठन ईसाई शिक्षालयों (Ecclesiastieal

Schools) के आधार पर हुआ था, इसलिए इन स्कूलों में भी शिक्षा का वही रूप था जो ईसाई विद्यालयों में था। अन्तर केवल यह था कि गिल्ड-स्कूलों का संचालन व्यापारियों और व्यवसायियों द्वारा होता था। इन लोगों ने गिल्ड-स्कूलों के लिए धन की व्यवस्था भी कर दी जिससे कि उनके संचालन और प्रबन्ध में किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव न हो। इतना ही नहीं कोई-कोई धनी व्यक्ति अपनी ओर से गिल्ड स्कूल खोल देता था और उसके प्रबन्ध के लिए एक ट्रस्ट बना देता था। इस प्रकार ट्रस्ट की देखरेख में गिल्ड स्कूल चलने लगता। जहाँ तक धार्मिक शिक्षा और अध्यापकों का प्रश्न है, उसके लिए उन पादरियों से सहायता ली गई जो व्यावसायिक समुदाय के धार्मिक कार्यों को संपादित करते थे। इन पादरियों ने गिल्ड स्कूलों में शिक्षक का कार्य करना शुरू किया और इनके वेतन की व्यवस्था गिल्ड की ओर से हो जाती थी। धनी व्यक्ति भी दान दकर किसी पादरी को शिक्षण-कार्य के लिए नियुक्त करते थे। इस प्रकार गिल्ड-स्कूलों की स्थापना हुई।

बोर स्कूलों की स्थापना—व्यावसायिक विकास के साथ गिल्ड स्कूलों की स्थापना हुई थी, लेकिन जब सामाजिक जीवन का विस्तार और नये नगरों का निर्माण हुआ, तब अनेक प्रकार के ऐसे अवसर उपस्थित होने लगे, जिनसे लाभ उठाने की योग्यता गिल्ड-स्कूलों की शिक्षा पूर्णतः प्रदान नहीं करती थी। इसलिए ऐसे स्कूल खोले गये जिनमें बही-खाता, पत्र-लेखन कार्य और मुनीमी जैसे विषयों की ओर ध्यान दिया गया। दूसरे शब्दों में, ऐसे शिक्षालय खोले गये जिसमें 'कामर्स' या व्यापार-प्रणाली की प्रधानता थी। इन स्कूलों को लोग बोर स्कूल (Burgher) कहते थे। बोर स्कूलों और गिल्ड स्कूलों में समय के साथ सहयोग बढ़ा और फिर गिल्ड स्कूल बोर स्कूलों से इस प्रकार मिल गये कि

उन्हें उनसे अलग रखना कठिन था। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, अधिकतर बोर स्कूलों में लैटिन की प्रधानता थी। इसीलिए इन स्कूलों को लैटिन बोर स्कूल भी कहते थे।

शिक्षकों के स्कूल—लेकिन उस समय व्यावसायिक तथा व्यापार-प्रणाली शिक्षा की इतनी माँग थी कि संगठित स्कूलों द्वारा पूरी न हो पाती थी। फलस्वरूप कुछ शिक्षकों ने अपने स्कूल खोले। शिक्षकों द्वारा खोले गये स्कूल में कुछ ऐसे थे जिन्हें मान्यता (Recognition) प्राप्त थी और अधिकतर ऐसे थे जो बिना मान्यता के कार्य करते थे। इसके अतिरिक्त कुछ अध्यापक और अध्यापिकायें ऐसी भी थीं जो स्थान-स्थान पर जाकर शिक्षा प्रदान करते थे। इस प्रकार उस समय शिक्षा की बढ़ती माँग को पूरा करने में 'चलते-फिरते' अध्यापक और शिक्षकों के स्कूलों से बड़ी सहायता मिली।

चैंटरी स्कूलों का उदय—इन स्कूलों के अतिरिक्त एक और प्रकार के भी शिक्षालय खोले गये। इन शिक्षालयों की व्यवस्था उन लोगों ने की जो आत्मा की शांति के लिए मन्त्रों का जप ईसाई पादरियों द्वारा कराते थे। उन दिनों यह रिवाज था कि धनी व्यक्ति अपनी ओर से आत्मा की शांति के लिए मंत्रों का जप करने के निमित्त पादरियों को नियुक्त करता था। इस प्रकार का पुण्य-कार्य करनेवाले का समाज में बड़ा आदर होता था। इसलिए धनी व्यक्ति मंत्रोच्चारण के लिए पादरियों को नियुक्त करते थे। लेकिन आत्मा की शांति के लिए मन्त्रोच्चारण की आवश्यकता मृत्यु के समय होती थी। अतः मन्त्रोच्चारक पादरियों को सदा मन्त्रोच्चारण नहीं करना पड़ता था। फलतः इन पादरियों को शिक्षण कार्य दिया गया। और जिन स्कूलों में ये पादरी पढ़ाते थे, उन्हें

'चैंटरी स्कूल' कहने लगे। चैंटरी स्कूलों में व्याकरण और संगीत की शिक्षा का निःशुल्क प्रबन्ध होता था लेकिन सामाजिक विकास के फलस्वरूप चैंटरी स्कूल भी बोर स्कूल में सम्मिलित हो गये।

समाज पर प्रभाव—मध्ययुग में व्यावसायिक विकास के फलस्वरूप समाज में व्यापारी और व्यावसायिक वर्ग का उदय हुआ। इस वर्ग ने धन-शक्ति से समाज में सम्मान पाया और अपनी शिक्षा का प्रबन्ध स्वयं किया। चर्च और पादरियों ने इस प्रवृत्ति को पसन्द नहीं किया और उन्होंने इसका विरोध किया। लेकिन व्यावसायिक वर्ग ने अनेक पादरियों को शिक्षक नियुक्त करके इस विरोध को कम किया और साथ ही अपने वर्ग के हित के अनुसार शिक्षा का संगठन किया। शिक्षा के इतिहास की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि इस काल में शिक्षाधर्म के अधिकार से मुक्त होकर नागरिक और लौकिक शक्तियों द्वारा संचालित हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि धार्मिक प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न संकुचित दृष्टिकोण त्याग दिया गया और शिक्षा सामान्य रूप से उपलब्ध होने लगी। जो व्यक्ति योग्य होता था, वह पादरी न होते हुए भी शिक्षण कार्य कर सकता था।

नयी आर्थिक व्यवस्था—समाज पर प्रभाव देखते समय, हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मध्यकाल के अन्त में श्रम का मूल्य स्थापित हुआ और साथ ही श्रम के शोषकों का जन्म हुआ। जहाँ एक ओर सामन्तवाद का अंत हुआ वहीं पूँजीवाद का जन्म हुआ। इस प्रकार मध्ययुग के अंत में यूरोपीय समाज में एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्थापित हुई जो सामन्तवाद को समाप्त करने में सहायक हुई और उस समय एक प्रगतिशील शक्ति प्रतीत हुई। लेकिन कालान्तर में इसका रूप किस प्रकार पूँजीवादी प्रकट

हुआ, इसका अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे। पर जो भी हो, इतना तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि यूरोपीय समाज में इसके कारण एक नये जीवन का आरम्भ हुआ जो हमें पुनरुत्थान (Renaissance) के रूप में दिखाई पड़ता है। यूरोप में पुनरुत्थान काल की भूमिका प्रस्तुत करने के लिए इस नयी आर्थिक व्यवस्था ने बड़ा कार्य किया।
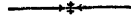
पुनरुत्थान काल

नयी चेतना— यूरोपीय इतिहास में मध्यकाल के पश्चात् पुनरुत्थान काल आता है। मध्यकाल की सभ्यता और संस्कृति ने उस काल की शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया था। साथ ही हमने यह भी देखा कि मध्यकाल में किस प्रकार मठवाद के बाद विद्वद्वाद का विकास हुआ। इस विकास और विस्तार के फलस्वरूप उस समय के यूरोपीय समाज में नयी चेतना उत्पन्न हुई। यह नवीन चेतना ही पुनरुत्थान काल की आत्मा है। बिना इस नवीन चेतना को समझे हुए, पुनरुत्थान काल को समझा नहीं जा सकता। अतः जब यूरोपीय इतिहास में पुनरुत्थान का उल्लेख होता है, तब उस चेतना की ओर संकेत किया जाता है जिसके कारण मध्ययुगीन संकीर्णता से निकलकर यूरोपीय समाज उदारता और मानवता की ओर अग्रसर होता है और ऐसे आदर्शों को अपनाता है जो देश, जाति, धर्म की सीमाओं से बाहर निकाल कर उस स्थल पर ले जाते हैं जहाँ एकता है। तात्पर्य यह है कि यूरोपीय पुनरुत्थान काल ने एक नये जीवन का संचार किया जिसके कारण समाज में प्रगतिशील शक्तियों को प्रोत्साहन मिला। लेकिन पुनरुत्थान कालीन प्रवृत्तियाँ सहसा प्रगट नहीं हुईं। उनके विकास की भी एक कहानी है।

लोकजीवन का महत्त्व—चौदहवीं सदी के अंतिम अंश में वाणिज्य-व्यवसाय के प्रसार के फलस्वरूप और इसके पूर्व यूनानी दर्शन के प्रभाव के कारण यूरोपीय समाज में धार्मिक सत्ता के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न होने लगी। लोग चर्च के अधिकार को अस्वीकार करने लगे और सामाजिक जीवन की

शैली को अपनी इच्छानुसार बदलने लगे। ईसाई धर्म और मठवाद ने जिस 'परलोक' को महत्त्व दिया था, उसको त्यागकर लोगों ने उस लोक की ओर ध्यान दिया जिसमें कि वे रहते थे। इस प्रकार लोगों ने लोक-जीवन की सत्ता स्वीकार किया और उसी के अनुसार सुख-शांति प्राप्त करने के लिए प्रयास करने लगे। दूसरे शब्दों में पुनरुत्थान काल में जीवन का मूल्य बदल गया।

बौद्धिक जागरण—पुनरुत्थान काल की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता बौद्धिक जागरूकता है। लोगों में उच्च-शिक्षा का प्रसार पर्याप्त मात्रा में हो रहा था। यूनानी-रोमी दर्शन और संस्कृति के अध्ययन के फलस्वरूप समाज में विचार-स्वातंत्र्य की स्थापना हुई। लोगों ने अंधविश्वास को छोड़कर बुद्धि और विवेक का सहारा लिया। इस प्रकार पुनरुत्थान काल में व्यक्ति ने विवेक को अपनाया।

अतीत में अभिरुचि—पुनरुत्थान काल की तीसरी विशेषता हमें 'अतीत की अभिरुचि' में दिखाई पड़ती है। विद्वानों, कलाकारों और साहित्यकारों ने अतीत की संस्कृति का अध्ययन किया और उसके सौंदर्य को समाज के सम्मुख उपस्थित किया। इस प्रकार यूरोपीय समाज में प्राचीन संस्कृति सम्मानित हुई और लोगों ने प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक समझा। फलस्वरूप प्राचीन दार्शनिक, तथा साहित्यिक ग्रन्थों की माँग बढ़ गई और उसे पूरा करने के लिए अनेक विद्वानों को कार्य करना पड़ा और मुद्रण-यन्त्र का आविष्कार भी इस काम आया। इस प्रकार पुस्तकें सबको सरलता से प्राप्त होने लगीं और लोगों में अतीत की अभिरुचि विशेष रूप से उत्पन्न हो गई।

इटैलियन पुनरुत्थान—यूरोपीय पुनरुत्थान में इटली का बड़ा योग था। वास्तव में यूरोपीय पुनरुत्थान का बीजारोपण इटली में हुआ। इसलिए इटैलियन पुनरुत्थान का स्पष्ट बोध आवश्यक है। इस दृष्टि से यह स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि इटली में ही सर्वप्रथम पुनरुत्थान क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर देते समय हमारा ध्यान इटली की भौगोलिक स्थिति की ओर जाता है और हम देखते हैं कि इटली के पूर्व की ओर यूनान और मिश्र जैसे देशों की सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव है। इस प्रभाव से इटली की सभ्यता और संस्कृति विकसित हुई। दूसरी ओर इटली के पश्चिम में वे प्रदेश हैं जो विद्वद्वादी संस्कृति, और वाणिज्य-व्यवसाय द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों से प्रभावित हैं। इटली के पश्चिम प्रदेशों ने इटली की संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त की। इटली के कवियों, चित्रकारों और कलाकारों की रचनाओं से यूरोप में अन्य देश प्रभावित होते रहे हैं। इसके अतिरिक्त पुनरुत्थान की भावनाओं और स्वतन्त्र विचारों के प्रसार के लिए इटली का वातावरण अत्यधिक उपयुक्त था। इसलिए इटली में पुनरुत्थान का आरम्भ होना स्वाभाविक था।

पुनरुत्थान का महत्त्व—इटली में होनेवाले पुनरुत्थान की दूसरी विशेषता यह थी कि इसका प्रभाव यूरोप पर पड़ा क्योंकि इसने विद्वद्वाद की नियमित और सीमित विचारधारा को बदल कर स्वतन्त्र और मौलिक विचारों को जन्म दिया। प्रसिद्ध दार्शनिक रसेल के अनुसार इटैलियन पुनरुत्थान का महत्व बौद्धिक मौलिकता प्रदान करने में था। इस प्रकार स्वतन्त्र विचारों का प्रादुर्भाव हुआ और समाज में नये जीवन का सञ्चार हुआ। इस कार्य में प्लैटो के दर्शन से बड़ी सहायता मिली। विद्वद्वाद ने अरस्तू के दार्शनिक विचारों को अपनाया था।

लेकिन पुनरुत्थान काल की मौलिक विचारधारा ने प्लैटो को अधिक उपयुक्त पाया।

धर्म पर प्रभाव—पुनरुत्थान के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इसका उदय एक जन-आन्दोलन के रूप में नहीं हुआ था। आरम्भ में कुछ साहित्यकारों और कलाकारों ने उदार विचारों के व्यक्तियों से प्रोत्साहित पुनरुत्थान की ओर ध्यान दिया। इतिहासकारों का यह विश्वास है कि मानवतावादी पोपगण ने यदि कलाकारों को प्रोत्साहित न किया होता तो इटली में पुनरुत्थान सम्भवतः न होता। लेकिन साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिये कि सभी पोप उदार न थे। अब भी चर्च का विरोध करना सरल न था। पुनरुत्थान में स्वतन्त्र विचार इतना शक्तिशाली न था कि वह स्पष्ट रूप से चर्च के विचारों का विरोध कर सकता। इसलिए आरम्भ में स्वतन्त्र विचारक पुराने विश्वासों को मानते थे। उनका विश्वास दैवीशक्ति में भी था। ज्योतिष-विद्या और नक्षत्रशास्त्र का अध्ययन भी नये ढंग से हुआ और विद्वान् उनमें अपने विचारों की पुष्टि पाते। इस प्रकार पुनरुत्थान में चर्च के प्रभाव से इतनी स्वतन्त्रता नहीं मिल गई थी कि मनुष्य स्वतन्त्र रूप से तर्क के आधार पर विचार कर सकता। वह तो प्राचीन में ही सब कुछ पाने का प्रयास करने लगा।*

नैतिकता का स्तर—पुनरुत्थान कालीन समाज में जहाँ एक ओर नये विचारों का स्वागत हो रहा था, वहीं हमें धर्म के

---

* The first effect of emancipation from the church was not to make men think rationally, but to open their minds to every sort of antique nonsense.—B. Russell.

क्षेत्र में यह भी दिखाई पड़ा कि अन्धविश्वासों का प्रभाव कम न हुआ था। धर्म के साथ ही समाज के नैतिक जीवन का चित्र उपस्थित होता है। नैतिक जीवन का यह चित्र कई दृष्टियों से निन्दनीय है। यद्यपि पुनरुत्थान के फलस्वरूप विचारों में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया था, मगर फिर भी इसका प्रभाव नैतिक जीवन पर कुछ न पड़ा। अब नैतिकता के सभी पुराने नियमों की अवहेलना होती थी। न्याय और सत्य के नाम पर अन्याय और झूठ का बोलबाला था। अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए किसी भी तरीके का इस्तेमाल न्यायसंगत था। इसलिए कई शासकों ने धोखे और बेईमानी से अपने प्रभुत्व को बढ़ाया और उसका विरोध नहीं हुआ। इसके साथ पोप तथा अन्य धर्माधिकारियों का भी नैतिक पतन हो चुका था और वे उन सभी कार्यों को करने लगे जिन्हें पाप कहा जाता है। रसेल का मत है कि पुनरुत्थान काल में इतना नैतिक पतन हो गया था कि प्राचीन ग्रन्थों को नष्ट करने के सिवाय सभी प्रकार के दुष्कर्म लोग प्रायः करते थे।†

पुनरुत्थान की देन—लेकिन इतना कुछ होते हुए भी पुनरुत्थान काल में जो सांस्कृतिक जागरण हुआ, उसे हम भूल नहीं सकते। अतः हम देखते हैं कि इस काल में कला और साहित्य के क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई। यूरोप के प्रसिद्ध कलाकार लियोनार्डो (Leonardo) तथा माइकेलैंगलो (Michelangelo) पुनरुत्थान काल में ही हुए थे और इनकी कृतियों का प्रभाव

---

† I cannot think of any crime, except the destruction of ancient manuscripts, of which the men of Renaissance were not frequently guilty. B. Russell in History of western Philosophy. Page 523.

आज भी है। दर्शन के क्षेत्र में इस कार्य के प्रसिद्ध विद्वान् और विचारक माकियावेली (Machiavelli) का नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार पुनरुत्थान काल में सांस्कृतिक जागरण हुआ। इस जागरण के फलस्वरूप अतीत में अतीव अभिरुचि उत्पन्न हुई और सभी प्राचीन वस्तुओं का नवीन मूल्याङ्कन होने लगा। प्रचीन विद्वानों के ग्रन्थों का नये दृष्टिकोण से अध्ययन हुआ और विद्वानों ने विभिन्न विचारों का स्वागत किया इतना ही नहीं, पुनरुत्थान काल में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिनके द्वारा यूनानी संस्कृति का बड़ा स्वागत हुआ और ऐसा प्रतीत होने लगा कि प्राचीन यूनानी सभ्यता और संस्कृति जीवित हो गई है। साथ ही स्वतन्त्र विचारधारा ने व्यक्ति को समाज से ऊँचा स्थान दिया। इस प्रकार व्यक्तिवाद का प्रभाव बढ़ा और इसी के साथ बौद्धिक प्रगति भी हुई।

पुनरुत्थान काल का जो संक्षिप्त वर्णन ऊपर प्रस्तुत किया गया, उससे यह स्पष्ट है कि जो कुछ भी हुआ वह बौद्धिक और सांस्कृतिक था और उसने व्यक्ति को विचारों की स्वतन्त्रता प्रदान की। इस स्वतन्त्रता के फलस्वरूप व्यक्ति ने समाज का ध्यान छोड़ दिया और समाज की व्यवस्था दुर्बल हो गई। प्रगति के लिए दृढ़ सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इस व्यवस्था का पुनरुत्थान काल में अभाव था। इसीलिए पुनरुत्थान कालीन समाज में जो कुछ परिवर्तन हुआ वह केवल विचारों से सम्बन्धित था। कार्य (action) को वह प्रभावित न कर सका।

पुनरुत्थानकालीन शिक्षा—शिक्षा के इतिहास की दृष्टि से पुनरुत्थान काल का महत्व है क्योंकि इसके कारण शिक्षा में मानवतावादी आदर्शों का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार मानवतावादी शिक्षा की धारा प्रवाहित हुई। इस धारा का अध्ययन हम

मानवतावादी-शिक्षा

मानवतावाद—पुनरुत्थान काल द्वारा उपस्थित परिवर्तनों में मानवतावाद (Humanism) का उदय महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मानवतावाद ने जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया और उससे शिक्षा भी प्रभावित हुई। इस प्रकार मानवतावादी-शिक्षा का विकास हुआ। लेकिन इस शिक्षा के स्वरूप के स्पष्ट बोध के निमित्त मानवतावाद का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए हमें पहले मानवतावाद को भली भाँति समझ लेना चाहिए। मानवतावाद जीवन की वह शैली है जो साहित्यिक संस्कृति से विकसित हुई। दूसरे शब्दों में मानवतावाद एक प्रकार की साहित्यिक संस्कृति (Literary Culture) है जो मानव को सर्वोपरि स्वीकार करता है। मानवतावाद मानव के स्वार्थों का पोषक है। इस प्रकार मानव की श्रेष्ठता स्थापित करना मानवतावाद है।

ऐतिहासिक दृष्टि से मानवतावाद का जन्म इटली के पुनरुत्थान के साथ होता है। पुनरुत्थानकाल में प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया गया। यूनानी और रोमी ग्रंथों की प्रामाणिक प्रतियों की खोज की गई और उनके अध्ययन में लोग लग गये। इस प्रकार यूनानी और रोमी ग्रंथों के अध्ययन का आंदोलन चल पड़ा। कालांतर में इस आंदोलन के लोग मानवतावादी कहलाये और प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन की प्रणाली मानवतावादी शिक्षा के नाम से प्रचलित हुई।

मानवतावाद का प्रसार—इटली में मानवतावादी आंदोलन का सर्व प्रथम विकास और प्रसार हुआ। इसके कई कारण थे। जैसा कि हम पुनरुत्थानकाल के अध्ययन में देख चुके हैं, इटली

का वातावरण साहित्यिक अध्ययन के लिए अधिक उपयुक्त था। यहाँ के लोगों में बौद्धिक चेतना अधिक थी। एफ० पी० ग्रेव्ज़ के अनुसार इटली के लोग अपने नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए अधिक प्रयत्नशील रहते थे। इटली में राजनीतिक उथल-पुथल की संभावना भी अधिक रहती थी। इसके अतिरिक्त इटली वाणिज्य और व्यवसाय का केन्द्र भी था। इसलिए इटली के लोगों की बौद्धिक चेतना तीव्र थी और उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था। यही कारण था कि यहाँ के लोगों की प्राचीन ग्रंथों (Classics) में बड़ी अभिरुचि थी और वे लैटिन भाषा का अच्छा ज्ञान रखते थे। इस प्रकार जब पुनरुत्थान की आत्मा जागी और प्राचीन साहित्य के अध्ययन की ओर लोग बढ़े तो इटली इस आंदोलन का अग्रणी बना। इस साहित्यिक संस्कृति अथवा मानवतावाद का प्रसार इटली और पश्चिमी यूरोप में भी हुआ। लेकिन इटली में इसका प्रभाव अधिक था। इस प्रभाव को उत्पन्न करने वालों में पेट्रार्क (Petrarch) और क्राइसोलोरस (Chrysoloras) प्रधान थे। अतः इन दोनों मानवतावादी विद्वानों के विचारों का अध्ययन अपेक्षित है क्योंकि इन्होंने मानवतावादी शिक्षा की रूप-रेखा निश्चित करने में बड़ी सहायता प्रदान की है।

पेट्रार्क के विचार—फ्रैंसेस्को पेट्रार्क के जीवन और दर्शन में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि वह बचपन से ही उदारता और मानवता की ओर आकर्षित था। एक गरीब परिवार में जन्म लेकर भी पेट्रार्क ने अपने अध्यवसाय और अध्ययन से ऊँचा पद प्राप्त किया। उस पर रोम की सभ्यता और संस्कृति का बड़ा प्रभाव पड़ा था और वह प्राचीन रोम के प्रसिद्ध वक्ता तथा विद्वान् सिसरो (Cicero) का बड़ा भक्त था। इस प्रकार पेट्रार्क में

प्राचीन रोम का गौरव दिखाई पड़ता है। इतना ही नहीं, उसने यूनानी साहित्य का भी अध्ययन किया था और उसीके फलस्वरूप उसमें उदार-शिक्षा (Liberal Education) की भावना उत्पन्न हुई थी। विद्वानों का विचार है कि पेट्रार्क में तीन विचार-धाराओं का प्रवाह था। एक विचारधारा तो व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए उदार-शिक्षा का आदर्श उपस्थित करती थी। इस धारा का स्रोत पेट्रार्क का प्राचीन यूनान और रोम का प्रेम था। प्लेटो की भाँति पेट्रार्क का विश्वास था कि उदार-शिक्षा वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जिसके पास अवकाश हो। अवकाश में व्यक्ति पूर्ण अध्ययन कर सकता है। लेकिन जिन्हें अवकाश नहीं है, वे अध्ययन के द्वारा सत्य की खोज नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी दृष्टि जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर रहती है। पेट्रार्क के अनुसार जिस प्रकार एक चिकित्सक का ध्यान रोगी को स्वस्थ करने में लीन होता है। उसी प्रकार जितने भी व्यावहारिक कार्य हैं उनका उद्देश्य भी व्यावहारिक होता है और उनमें किसी आदर्श (I ieal) की संभावना नहीं होती।

पेट्रार्क की विचारधारा का दूसरा स्रोत संसार के त्याग में दिखाई पड़ता है। पेट्रार्क का एक भाई मोंक था और पेट्रार्क को एकांत जीवन पसंद था। इसीलिए वह संसार को छोड़ कर एकांत पसंद करता था। उसका विचार था कि संसार के माया-मोह में सत्य नहीं मिल सकता। सत्य की खोज के लिए एकांत आवश्यक है। इस प्रकार पेट्रार्क सामूहिक जीवन के पक्ष में न था। उसकी इस विचारधारा ने व्यक्तिवाद की वृद्धि की।

पेट्रार्क की विचारधारा का तीसरा आधार प्राचीन दार्शनिकों और साहित्यकारों के विचारों का अध्ययन था। उसने प्राचीन साहित्य का गहन अध्ययन किया और उस अध्ययन के आधार

पर कहा कि सत्य और सौंदर्य का दर्शन विचारों के अध्ययन में होता है। पेट्रार्क के इन विचारों ने मानवतावाद को बड़ा प्रभावित कया और इन्हीं के कारण हम मानवतावाद को सामूहिक जीवन से अलग पाते हैं।

पेट्रार्क का प्रभाव—पेट्रार्क के इन विचारों के फलस्वरूप लैटिन-साहित्य का अध्ययन नये उत्साह से होने लगा। पेट्रार्क ने स्वयं यात्रायें करके अनेक प्राचीन ग्रंथों को ढूँढ़ निकाला। इस प्रकार लैटिन ग्रन्थों के अध्ययन की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा और लैटिन ग्रथों के विद्यार्थियों की संख्या प्रति दिन बढ़ने लगी। इन विद्यार्थियों में प्रसिद्ध कवि बोकेशियो (Boccaccio) भी था। बोकेशियो पेट्रार्क के काव्य और दर्शन से पूर्णतः प्रभावित था। इसलिए उसने भी पेट्रार्क की भांति प्राचीन ग्रंथों की खोज और उनके अध्ययन की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया।

यूनानी साहित्य का अध्ययन—लैटिन ग्रन्थों के अध्ययन के द्वारा मानवतावादी विद्वान् प्राचीन यूनानी साहित्य के सम्पर्क में भी आये, क्योंकि लैटिन में अनेक ग्रीक ग्रन्थ अनुवादित हुए थे। अतः प्राचीन साहित्य के पूर्ण अध्ययन की दृष्टि से यह आवश्यक था कि ग्रीक ग्रन्थों के मूल रूप से परिचित हुआ जाय। फलस्वरूप कुछ विद्वानों ने यूनानी भाषा और साहित्य के अध्ययन में अपना समय लगाया। ऐसे विद्वानों में मैनुअल क्रीसोलरस (Manual Chrysoloras) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। क्रीसोलरस ने यूनानी भाषा की शिक्षा के लिए यूनानी व्याकरण लिखा, स्कूल खोले और कई यूनानी ग्रन्थों का अनुवाद भी किया। अतः उसके इस कार्य से इटली में यूनानी साहित्य के

कई अच्छे विद्वान् उत्पन्न हो गये। इन विद्वानों ने ग्रीक ग्रन्थों के पुस्तकालय खोले और उनके अच्छे अनुवाद भी किये। इस प्रकार 'साहित्यिक संस्कृति' अथवा मानवतावाद का इटली में प्रसार हुआ और इसी के द्वारा मानवतावादी शिक्षा विकसित हुई। इटली में मानवतावादी शिक्षा इस प्रकार हुई कि उसका प्रभाव सारे यूरोप पर पड़ा। लेकिन यूरोप के विभिन्न देशों की सामाजिक दशा तथा सांस्कृतिक विकास एक-सा न होने के कारण मानवतावाद शिक्षा सभी देशों में एक सी न हो सकी। इसलिए यह आवश्यक है कि हम यूरोप के विभिन्न देशों में प्रचलित मानवतावादी शिक्ष का अध्ययन करें। इस दृष्टि से हमें इटली की मानवतावादी शिक्षा का सर्वप्रथम अध्ययन करना होगा क्योंकि इसी देश से मानवता-वाद और मानवतावादी शिक्षा का विकास और प्रसार आरम्भ होता है।

इटली में मानवतावादी शिक्षा : उद्देश्य—इटली में मानवतावादी शिक्षा का उद्देश्य 'साहित्यिक संस्कृति' और उदारता का प्रसार करना था। मानवतावादी विद्वान् और अन्य सम्पन्न तथा समर्थ व्यक्ति यह चाहते थे कि उनके बालकों की शिक्षा कुछ इस प्रकार हो कि उनके शरीर, मस्तिष्क और चरित्र का ऐसा विकास हो कि वे अपने जीवन में सफलता प्राप्त कर सकें। दूसरे शब्दों में, वे अपने बालकों को वह शिक्षा प्रदान करना चाहते थे, जिसे यूनानी लोग 'उदार शिक्षा' कहते थे। लेकिन जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इटली में मानवतावादी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को सफल बनाना था। इसी के लिए शरीर, मस्तिष्क और चरित्र का विकास आवश्यक था। इटली के प्रसिद्ध मानवतावादी शिक्षक वित्तोरिनो दा फेलत्रे (Vittorino

da Feltre) का भी यही मत था।* यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मानवतावादी शिक्षा समाज से अधिक व्यक्ति को महत्त्व देती थी। इसीलिए कालांतर में शिक्षा का उद्देश्य जीवन से विमुख होता गया और उसका उद्देश्य साहित्यिक संस्कृति के प्रसार के लिए भाषा और साहित्य का अध्ययन प्रदान करना हो गया। इतना ही नहीं, यह अध्ययन कुछ इस प्रकार होने लगा कि साहित्य में व्यक्त भावों की अवहेलना करके शैली और रूप (form) को प्रधानता दी जाने लगी। इस प्रकार इटली में मानवतावादी शिक्षा के उद्देश्य का विकास हुआ।

शिक्षा का संगठन—मानवतावादी शिक्षा के संगठन में इटली के विभिन्न नगरों की आपसी स्पर्धा से बड़ी सहायता मिली। जैसा कि हमें ज्ञात है, इटली के प्रत्येक नगर के लोग यह चाहते थे कि उनके नगर में शिक्षा, साहित्य और संस्कृति का प्रसार अन्य नगरों से अधिक हो। स्पर्धा की यह भावना मानवतावादी शिक्षा के संगठन में बड़ी सहायक हुई और फलस्वरूप मानवतावादी शिक्षा के लिए इन नगरों के शासकों द्वारा स्कूल खोले जाने लगे। लेकिन ये स्कूल शासकों और राजाओं के बालकों के लिए थे। अतः इनका भवन राजमहल अथवा किले के भीतर होता था। इसीलिए ऐसे स्कूलों को 'कोर्ट स्कूल' कहा जाने लगा। कोर्ट

---

* It was his intention to secure for his pupils that harmonious development of mind, body, and moral that the old Greeks had known as a "Liberal education," but he emphasized the practical and social side of the individual's efficiency, and wished to prepare his pupils for a life of activity and service.—A student's History Education. Page 116.

स्कूलों का आरम्भ इस प्रकार हुआ और फिर उसके बाद इनमें अभिजात वर्ग के बालकों की शिक्षा का भी प्रबन्ध हो गया। जहाँतक जन-सामान्य के लिए मानवतावादी शिक्षा के स्कूलों का प्रश्न है, वे उनके लिए उपलब्ध नहीं थे।

मानतुआ का कोर्ट स्कूल—वैसे तो इटली के अनेक नगरों जैसे मिलान, वेनिस, फ्लोरेंस, वरोना, आदि में कोर्ट स्कूलों की स्थापना हुई, लेकिन मानतुआ (Mantua) नगर स्थित कोर्ट स्कूल सबसे अच्छा माना जाता था। इसका कारण यह था कि इस स्कूल का संगठन प्रसिद्ध शिक्षक वित्तोरिनो दा फेल्त्रे ने किया था। वित्तोरिनो ने इस स्कूल को मानवतावादी शिक्षा का आदर्श स्कूल बनाने का प्रयास किया। अतः उसने केवल अभिजात और धनी वर्ग के बालकों को ही अपने स्कूल में सम्मिलित नहीं किया, वरन् सभी होनहार बालकों के लिए द्वार खोल दिया। इस प्रकार वित्तोरिनो ने मानवतावादी शिक्षा के क्षेत्र को बढ़ाया।

शिक्षा के विषय—इटली में खोले गये कोर्ट स्कूलों में शिक्षा के ऐसे विषय थे जो 'साहित्यिक संस्कृति' के प्रसार में सहायक हो सकते थे। अतः लैटिन भाषा, व्याकरण और साहित्य के अध्ययन की प्रधानता थी। यद्यपि लैटिन जन-सामान्य की भाषा न थी, लेकिन मानवतावाद की दृष्टि से यह आवश्यक था कि बालक आरम्भ से ही लैटिन भाषा का प्रयोग करे। इसलिए दस वर्ष से कम बालक भी बिना अर्थ समझे लैटिन ग्रंथों के उत्कृष्ट अंशों को कंठस्थ करते थे और फिर कालांतर में उन्हें यूनानी साहित्य का भी अध्ययन करना पड़ता था।

शरीर से मन का सम्बन्ध होने के कारण शिक्षा में ऐसे व्यायाम को स्थान दिया गया, जिनसे मानसिक शक्तियों का

विकास होता था। 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन' की दृष्टि से ही व्यायाम और खेल-कूद को शिक्षा के विषयों में सम्मिलित करना आवश्यक भी था। लेकिन यहाँ यह स्मरणीय है कि मानवतावादी शिक्षा बुद्धि के विकास को शरीर के विकास से अधिक महत्त्व प्रदान करती थी।

साहित्य और व्यायाम के अतिरिक्त गणित की शिक्षा का भी प्रबन्ध था। रोमी संस्कृति और सभ्यता के विकास में गणित की शिक्षा बड़ी सहायक हुई थी। रोमी भवन-निर्माण कला के लिए गणित की शिक्षा आवश्यक थी। इसलिए मानवतावादी शिक्षा में भी गणित के विषय को स्थान था। लेकिन इसका महत्त्व भाषा और साहित्य से अधिक न था। जहाँ तक वैज्ञानिक विषयों का प्रश्न है, उनका हम अभाव पाते हैं।

शिक्षा की पद्धति—मानवतावादी शिक्षा की पद्धति में अध्यापक के लिए विद्यार्थी से सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक था। अध्यापक अपने विद्यार्थियों के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करना चाहता था। इसलिए वह उनके अध्ययन, भोजन, शयन तथा अन्य दैनिक कर्मों की पूरी देखभाल और एक पिता की भांति उनका पथ-प्रदर्शन करता था। जहाँ तक विभिन्न विषयों की शिक्षण पद्धति का प्रश्न है, उसमें कोई उल्लेखनीय नवीनता नहीं दिखाई पड़ती, सिवाय इसके प्रारम्भिक शिक्षा में रटने पर अधिक बल दिया जाता था। ऐसा इसलिए आवश्यक था कि लैटिन भाषा बालकों की समझ के बाहर थी, और बिना कंठस्थ किये वे लैटिन का ज्ञान भी प्राप्त न कर सकते थे।

समाज पर प्रभाव—इटली के समाज पर मानवतावादी शिक्षा का क्या प्रभाव पड़ा? इस प्रश्न के उत्तर में हमें 'साहित्यिक

फलस्वरूप व्यक्ति का महत्त्व समाज से अधिक हो चलता है। मानवतावादी शिक्षकों द्वारा संचालित कोर्ट स्कूलों की प्रतिष्ठा समाज में इतनी बढ़ी कि विश्वविद्यालयों की उपेक्षा होने लगी। इसलिए विश्वविद्यालयों में भी मानवतावादी शिक्षा का समावेश हुआ। वहाँ भी 'ह्यूमैनिटीज़' (Humanties) की शिक्षा होने लगी। अतः प्रभाव की दृष्टि से विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। पंद्रहवीं सदी के अंतिम भाग में इटली के कई विश्वविद्यालयों में व्याकरण, भाषण-कला तथा तर्कशास्त्र आदि के स्थान पर मानवतावादी शिक्षा के विषयों को स्थान दिया गया और कालांतर में भाषा और साहित्य के सौंदर्य से ध्यान हट कर शैली और स्वरूप पर चला गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मानवतावादी शिक्षा जीवन से विमुख होती गई और शिक्षा केवल शैली की दक्षता प्राप्त करना हो गई। इस दृष्टि से प्रसिद्ध वक्ता और विद्वान् सिसरो (Cicero) की शैली और भाषणों को आदर्श माना गया। समाज में शिक्षा की इस प्रवृत्ति को सिसरो वाद (Ciceronianism) कहा गया। इस प्रकार मानवतावादी शिक्षा जीवन से विमुख होकर निर्जीव हो गई और समाज की प्रगति में सहायक न होकर बाधक होने लगी। मानवतावादी शिक्षा का संकुचित दृष्टिकोण उसके ह्रास का कारण हुआ। इस प्रकार इटली में मानवतावादी शिक्षा का उत्थान और पतन हुआ।

उत्तरीय मानवतावादी शिक्षा

शिक्षा के उद्देश्य—उत्तरी यूरोप में मानवतावादी शिक्षा का विकास उस समय आरंभ हुआ जब वाणिज्य-व्यवसाय, यातायात तथा मुद्रण सम्बन्धी सुविधाओं के उपलब्ध हो जाने के कारण यूरोपीय देशों में संपर्क बढ़ा और वे एक दूसरे की सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित होने लगे। इटली में मानवतावादी शिक्षा का जब प्रसार हुआ तो उत्तरी यूरोप के देश—फ्रांस और जर्मनी आदि—भी इससे प्रभावित हुए। फलतः इन देशों में भी मानवतावादी शिक्षा का प्रसार हुआ। लेकिन इन देशों की सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति इटली के समान न थी। इसलिए यहाँ मानवतावादी शिक्षा का उद्देश्य कुछ भिन्न था। इन देशों में धार्मिक और नैतिक भावना कुछ अधिक थी। इसलिए मानवतावादी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का विकास इस प्रकार करना था कि वह आत्मशक्ति का बोध करते हुए समाज की उन्नति और नैतिकता का प्रसार करे। दूसरे शब्दों में उत्तरी यूरोप में मानवतावादी शिक्षा का उद्देश्य समाज का नैतिक स्तर ऊँचा करना था।

शिक्षा के विषय—उत्तरी यूरोप में मानवतावादी शिक्षा के अन्तर्गत प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन प्रधान था। अतः शिक्षा के विषयों में इन ग्रन्थों के अध्ययन की योजना इस प्रकार बनाई गई कि विद्यार्थियों में नैतिक भावना का विकास हो। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा के विषय धार्मिक और नैतिक हो चले और बाइबिल तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों की शिक्षा प्रधान हो चली।

ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि उत्तरी यूरोप के लोगों में धार्मिक और नैतिक प्रवृत्ति प्रबल थी और वे मानवतावादी शिक्षा के उद्देश्य और विषयों द्वारा इसी प्रवृत्ति का प्रसार करना चाहते थे।

शिक्षा की पद्धति—उत्तरी यूरोप में मानवतावादी शिक्षा की पद्धति इटली देश की भाँति थी। लेकिन अन्तर केवल इतना था कि यहाँ के अध्यापक बालकों में वह अभिरुचि नहीं रखते थे जितनी कि मानतुआ (इटली) का शिक्षक वित्तोरिनो रखता था। शिक्षक की विद्यार्थियों में इस प्रकार की अभिरुचि शिक्षा में एक नयी दिशा का संकेत करती थी। लेकिन यह अभिरुचि उत्तरी यूरोप के मानवतावादी शिक्षकों में स्पष्ट न थी। इसका कारण उनका धार्मिक दृष्टिकोण था और वे व्यक्ति के व्यक्तित्व के महत्त्व को भी पूर्णतः नहीं जानते थे। धार्मिक और नैतिक प्रवृत्ति के कारण वे सभी वस्तुओं को एक विशेष दृष्टिकोण से देखते थे। इसलिए उनमें वह विचार-स्वातंत्र्य न था जो इटली के मानवतावादी शिक्षकों में मिलता है। यही कारण है कि उत्तरी यूरोप की मानवतावादी शिक्षा उसी पद्धति पर चली जिसपर कि ईसाई शिक्षा और पुनरुत्थानकालीन शिक्षा चल चुकी थी।

शिक्षा का संगठन : फ्रांस में—उत्तरी यूरोप में मानवतावादी शिक्षा का संगठन पहले फ्रांस में हुआ और फिर जर्मनी तथा अन्य देशों में। जहाँ तक फ्रांस का सम्बन्ध है, मानवतावादी शिक्षा का संगठन प्रथम फ्रांसिस के शासनकाल (१५१५–१५४७) में हुआ। फ्रांसिस के पूर्व चार्ल्स अष्टम (१४९४) और लुई सप्तम मानवतावाद के संपर्क में उस समय आए जब उन्होंने इटली पर आक्रमण किया था। लेकिन कोई नवीन विचारधारा बिना प्रारम्भिक विरोध के स्वीकार नहीं की जाती। इसीलिए फ्रांस में

भी मानवतावाद का विरोध हुआ। यह विरोध उन लोगों द्वारा हुआ जो प्राचीनता के पुजारी थे और नवीनता का तिरस्कार करते थे। पर जब युवक फ्रांसिस फ्रांस का शासक बना तब उसने नवीन विचारधारा—मानवतावाद—का स्वागत किया और उसके प्रसार के लिए मानवतावादी शिक्षालयों का संगठन किया। फ्रांसिस ने मानवतावादी विद्वानों के सहयोग से मानवतावादी पुस्तकालयों की स्थापना की और मानवतावादी शिक्षा के लिए एक कालेज खोला जो 'कालेज ऑफ फ्रांस' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कालेज की स्थापना सन् १५३० में हुई और इसमें यूनानी, लातानी और हिब्रू भाषा और साहित्य के अध्ययन की अच्छी व्यवस्था की गई। इसका प्रभाव यह हुआ कि फ्रांस में और भी मानवतावादी शिक्षालय खोले गये। प्रसिद्ध विद्वान् कार्डीरियस (Corderius) और रेमस (Ramus) ने भी पेरिस और बोर्दो में मानवतावादी स्कूल खोले। मानवतावादी शिक्षा के विद्यार्थियों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी और उनके लिए पाठ्य पुस्तक आदि की व्यवस्था भी आवश्यक हो गई। इसलिए मानवतावादी शिक्षा की पाठ्य पुस्तकें भी तैयार की गईं।

फ्रांस में मानवतावादी-शिक्षा का विकास और संगठन समय के साथ होता गया। लेकिन जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, फ्रांस में मानवतावादी शिक्षा इटली की शिक्षा से कुछ भिन्न थी। इस भिन्नता को हमें भूलना नहीं चाहिए। फ्रांस के माध्यमिक विद्यालयों में धर्म की शिक्षा अनिवार्य थी और इसके साथ मानवतावादी शिक्षा के विषयों की भी व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अनुसार माध्यमिक विद्यालयों में लातानी साहित्य और धर्मशास्त्र का अध्ययन आरंभ से अन्त तक आवश्यक था। यूनानी साहित्य, गणित, भाषण-कला आदि की शिक्षा विद्यालय के सातवीं से लेकर

दसवीं कक्षाओं में दी जाती थी। साधारणतः एक विद्यालय में दस कक्षायें होती थीं। इन कक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाने के पश्चात् दर्शन-शास्त्र के अध्ययन के लिए दो वर्ष का पाठ्यक्रम था। इस प्रकार फ्रांस में मानवतावादी शिक्षा का संगठन हुआ।

जर्मनी में—फ्रांस के बाद मानवतावादी शिक्षा का उल्लेखनीय संगठन जर्मनी में हुआ। जर्मनी में एक संस्था थी जिसका नाम 'ब्रदरेन ऑफ द कामन लॉट' (Brethren of the Common lot)—जनसामान्य के भ्रातागण—था। इस संस्था को 'हिरोनीमियंस' (Hieronymians) भी कहते थे। जर्मनी की इस शिक्षा संस्था ने मानवतावादी शिक्षा का प्रचार पंद्रहवीं सदी के मध्य में किया और सोलहवीं सदी में इसका पूर्ण विकास हो गया। जर्मनी में मानवतावादी शिक्षा के संगठन में बाइबिल और मातृभाषा की शिक्षा पर अधिक बल दिया गया। लेकिन ज्यों ज्यों इटली में प्रचलित मानवतावादी शिक्षा के सम्बन्ध में जर्मनी तथा नेदरलैंड के देशों के शिक्षाशास्त्रियों को ज्ञात होता गया त्यों त्यों यूनानी, लैटिन तथा हिब्रू साहित्य के अध्ययन को शिक्षा में अधिक स्थान मिलता गया। इस प्रकार ट्यूटानिक देशों (Teutonic) में मानवतावादी शिक्षा का पूर्ण विकास हो गया और उस शिक्षा के फलस्वरूप अनेक विद्वान् उत्पन्न हुए। इन विद्वानों में वेसेल (Wessel : १४२०-१४८९), अग्रीकोला (Agricola : १४४३-१४८५) रचलिन (Reuchlin : १४५५-१५२२) तथा विमफिलिंग (Wimpfeling : १४५०-१५२८) का नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने मानवतावादी शिक्षा की पाठ्यपुस्तकें तथा व्याकरण लिखे और यह स्पष्ट किया कि मानवतावादी शिक्षा का उद्देश्य मानव जाति की उन्नति करना है। लेकिन इन सब से अधिक उल्लेखनीय कार्य इरसमस (Erasmus : १४६६-१५३१) ने किया। इरसमस के सम्बन्ध

में हम आगे चलकर पूर्ण अध्ययन करेंगे क्योंकि पुनरुत्थान काल में इरसमस अपनी विद्वत्ता और अध्ययन के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। उसने मानवतावादी शिक्षा के सम्बन्ध में कई पुस्तकें लिखीं जो आज भी उपयोगी मानी जाती हैं।

जर्मनी में मानवतावादी शिक्षा ने विश्वविद्यालयों को भी प्रभावित किया। सोलहवीं सदी के अंतिम भाग में जर्मनी के विश्वविद्यालयों की शिक्षा में मानवतावादी विषयों का पूर्ण समावेश हो गया। लेकिन इसके पूर्व पंद्रहवीं सदी के अंत में (१४९४) में प्राचीन साहित्य तथा काव्य के अध्ययन को लिपज़िग, हेडेलबर्ग आदि विश्वविद्यालयों में स्थान मिल गया था। इसके बाद सोलहवीं सदी के मध्य में कोनिस बर्ग, जेना आदि विश्वविद्यालयों ने मानवतावादी शिक्षा को अपनाया। सोलहवीं सदी का अंत आते आते प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में मानवतावादी शिक्षा का प्रबन्ध हो गया।

जिमनाज़ियम का संगठन—जर्मनी में मानवतावादी शिक्षा के साथ साथ एक दूसरे प्रकार के शिक्षालयों का संगठन हुआ जिसे जिमनाजियम (Gymnasium) कहते थे। इस प्रकार के शिक्षालय का जन्मदाता जान स्टूम (Johann Sturm : १५०७-१५८९) था। स्टूम के पूर्व जिमनाज़ियम शिक्षालयों का विकास पुराने कथेड्रल स्कूलों और बरेर स्कूलों के संगठन से उस समय हुआ जब 'इलेक्टर ऑफ सैक्सोनी, (Elector of Saxony) ने सन् १५२८ में लैटिन स्कूलों की व्यवस्था की। इलेक्टर ने इस कार्य के लिए मेलांखन (Melanchthon) नामक विद्वान् को नियुक्त किया जिसने लैटिन स्कूलों की सैक्सोनी में स्थापना की। लेकिन इन लैटिन स्कूलों को जिमनाज़ियम का रूप स्टूम ने दिया। स्टूम जिमनाज़ियम में छः-सात वर्ष के बालकों को भर्ती करता था।

इन बालकों को जिमनाज़ियम की दस कक्षाओं में उत्तीर्ण होना पड़ता था। अध्ययन की व्यवस्था स्टूम ने इस प्रकार की जिससे बालकों में दया, उदारता, ज्ञान और अभिव्यक्ति की शक्ति उत्पन्न हो। इस दृष्टि से बालकों को धार्मिक प्रश्नोत्तरी (Catechism) का अध्ययन तीन वर्ष तक करना पड़ता था। प्रश्नोत्तरी जर्मन भाषा में होती थी, इसलिए बालकों को अधिक कठिनाई नहीं पड़ती थी। लेकिन ज्ञान और अभिव्यक्ति के लिए लैटिन भाषा के व्याकरण और साहित्य का अध्ययन करना पड़ता था। लैटिन के अध्ययन के आरंभ में बालकों को ऐसे शब्दों की सूची रटनी पड़ती थी जिसका व्यवहार दैनिक जीवन में होता था। इसके बाद विद्यार्थियों को संवाद तथा सिसरो के भाषण के अंशों को रटना पड़ता था। इस प्रकार चार वर्ष तक लैटिन की रटाई होती थी और विद्यार्थियों को लैटिन का समुचित ज्ञान हो जाता था। जिमनाज़ियम शिक्षा के पाँचवें वर्ष में यूनानी भाषा का अध्ययन भी आरंभ कर दिया जाता था जो दसवीं कक्षा तक चलती थी। *

जिमनाज़ियम की शिक्षा समय के साथ बढ़ती गई। इसके विद्यार्थी नये स्कूलों के प्रधानाध्यापक नियुक्त किये जाने लगे। स्टूम का जिमनाज़ियम केवल जर्मनी के ही लिए नहीं, वरन् यूरोप के लिए एक आदर्श बन गया। इस प्रकार जर्मनी में मानवतावादी शिक्षालयों ने भी जिमनाज़ियम के शिक्षा संगठन को अपनाया और दूसरे अन्य स्कूलों में भी इसका स्वागत हुआ। जर्मनी में राज्य और चर्च के लिए योग्य अधिकारी तैयार करने के लिए राजकुमार विद्यालयों (Princes' Schools) की स्थापना ड्यूक मोरिज़ (Duke Moritz) ने १५४३ ई० में की थी। लेकिन इन विद्यालयों ने भी जिमनाज़ियम-शिक्षा को अपना लिया। इस

*A Students' History of Education—Pages 122-123.

तरह जिमनाजियम का बड़ा प्रचार हुआ। पर कालांतर में जिमनाज़ियम की शिक्षा में प्रगतिशील तत्त्व का अभाव हो गया। मगर फिर भी इनका अंत नहीं हुआ और आज भी जर्मनी में ऐसे विद्यालय हैं जो जिमनाज़ियम के आधुनिक संस्करण कहे जा सकते हैं।

इंगलैंड में—मानवतावादी शिक्षा के उत्तरीय प्रसार में हमें इंगलैंड की शिक्षा का भी अध्ययन करना है। यहाँ मानवतावादी शिक्षा का विकास उस समय आरंभ हुआ जब ग्रोसिन (Grocyn) तथा लिनाक्र नामक विद्वान् इटली से मानवतावादी शिक्षा प्राप्त करके लौटे। इन विद्वानों के पूर्व, इंग्लैंड में मानवतावादी शिक्षा के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो गई, लेकिन उसकी पूर्ण व्यवस्था इनके आने (१४८८) पर ही हुई।

ग्रोसिन और लिनाक्र—उन दिनों इंग्लैंड में शिक्षा के प्रसिद्ध केंद्र आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज थे। इसलिए मानवतावादी शिक्षा का संगठन भी इन केंद्रों से आरंभ हुआ। आक्सफोर्ड में ग्रोसिन यूनानी भाषा और साहित्य का प्राध्यापक नियुक्त हुआ। उसका साथी लिनाक्र औषधि (Medicine) का शिक्षक नियुक्त किया गया। लेकिन मानवतावादी शिक्षा में अभिरुचि रखने के कारण लिनाक्र ग्रोसिन की सदा सहायता करता रहता था। उनके परिश्रम के फलस्वरूप आक्सफोर्ड में मानवतावादी शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हुआ और इरसमस, मोर तथा कालेट (Colet) जैसे मानवतावादी विद्वान् उत्पन्न हुए।

इरसमस, चेक तथा सेस्कम—इंग्लैंड के दूसरे प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र कैम्ब्रिज में मानवतावादी शिक्षा का विकास पंद्रहवीं सदी के अंत और सोलहवीं सदी के आरंभ में हुआ। आक्सफोर्ड में मानवतावादी शिक्षा के प्रसार का प्रभाव कैम्ब्रिज पर पड़ना

स्वाभाविक भी था। इसलिए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भी मानवतावादी शिक्षा को स्थान मिला। पर वहाँ ऐसा कोई विद्वान् न था जो ग्रोसिन और लिनाक्र की भाँति शिक्षा प्रदान कर सकता। इसलिए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इरसमस से निवेदन किया कि वह धर्मशास्त्र के अतिरिक्त यूनानी साहित्य की भी शिक्षा दिया करे। इरसमस को मानवतावादी शिक्षा प्रिय थी। इसलिए वह बिना किसी पारिश्रमिक की माँग किए तैयार हो गया। इरसमस के प्रयास के फलस्वरूप कैम्ब्रिज में भी मानवतावादी शिक्षा का संतोषजनक प्रसार हुआ और एक परम्परा स्थापित हो गई। इस परम्परा में अनेक विद्वान् और प्रसिद्ध शिक्षक आए जिनमें चेक (Cheke) तथा ऐस्कम (Ascham) का नाम उल्लेखनीय है।

राज्य की सहानुभूति—आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में मानवतावादी शिक्षा का विकास होते ही, राजपरिवार का ध्यान भी इसकी ओर आकर्षित हुआ। फलतः उस समय के राजकुमार एडवर्ड और राजकुमारी एलिजबेथ के लिए भी मानवतावादी शिक्षा का प्रबंध किया गया और क्रमशः चेक तथा ऐस्कम को राजकुमार तथा राजकुमारी का शिक्षक नियुक्त किया गया। इन विद्वानों की योग्यता का अच्छा प्रभाव पड़ा और मानवतावादी शिक्षा के प्रति राज्य की सहानुभूति भी उत्पन्न हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि दरबार के विद्वान् सदस्यों के मानवतावादी शिक्षा के सिद्धान्तों पर अपने विचार प्रगट किये। ऐसे विद्वानों में मोर (More) तथा वाइव्ज (Vives) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार राज्य की सहानुभूति पाकर मानवतावादी शिक्षा इंग्लैंड में विकसित हुई और वहाँ के विद्वानों द्वारा इसके सिद्धांत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किये गये।

मानवतावादी शिक्षा का प्रभाव—इंग्लैंड में जब मानवतावादी शिक्षा का पर्याप्त प्रचार हो गया तब उसका प्रभाव वहाँ के शिक्षा-संगठन पर भी पड़ा। इस प्रभाव के फलस्वरूप इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों और राजभवन-विद्यालयों में मानवतावादी शिक्षा का समावेश हुआ। लेकिन इससे बढ़कर कार्य यह हुआ कि ग्रामर-स्कूलों और दूसरे धार्मिक स्कूलों में भी परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हुई। इस दृष्टि से 'सेंट पाल स्कूल' की स्थापना उल्लेखनीय है। सेंट पाल स्कूल की स्थापना इंग्लैंड के प्रसिद्ध विद्वान् जान कालेट (John Colet) ने सन् १५०९ में की। इस स्कूल की विशेषता प्राचीन और नवीन के समन्वय में दिखाई पड़ती है। इग्लैंड की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में धार्मिक शिक्षा और व्याकरण के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता था। लेकिन मानवतावादी शिक्षा के फलस्वरूप इसमें साहित्यिक अध्यापक का भी समावेश किया गया। इस प्रकार यहाँ मानवतावादी शिक्षा ज्यों की त्यों स्वीकृत नहीं हुई, वरन् उसपर देश और काल का भी प्रभाव पड़ा।

नियमवाद का उदय--मानवतावादी शिक्षा का इंग्लैंड में जिस प्रकार विकास हुआ और उसके कारण वहाँ के ग्रामर स्कूलों में जो परिवर्तन हुआ, वह अधिक स्थायी न रह सका। यद्यपि यह सत्य है कि आरम्भ में लगभग तीन सौ ग्रामर स्कूलों ने सेंट पाल स्कूल को अपना आदर्श माना। लेकिन बाद में वे मानवतावादी सिद्धांतों को भूलने लगे और वे साहित्यिक संस्कृति के विकास के स्थान पर भाषा-व्याकरण और भाषण-कला पर अधिक बल देने लगे। इस प्रकार मानवतावादी शिक्षा को 'आत्मा' की अवहेलना होने लगी और उसके बाह्य रूप 'शरीर' का महत्व बढ़ गया। इस प्रवृत्ति के कारण एक प्रकार का नियमवाद (Forma-

lism) विकसित हुआ, जिसका प्रभाव सत्तरहवीं सदी में पूर्ण रूप से फैल गया। इस नियमवाद के कारण लैटिन की रटाई, व्याकरण का कंठस्थ किया जाना प्रधान विषय हो गया और साहित्यिक अध्ययन द्वारा व्यक्ति के सांस्कृतिक विकास का महत्त्व कम हो गया। मगर फिर किसी न किसी रूप में साहित्यिक विषयों का अध्ययन चलता ही रहा। इंग्लैंड के ग्रामर स्कूलों में किस प्रकार मानवतावादी शिक्षा की उपेक्षा करके नियमवाद को अपनाया गया है इसका बड़ा ही सुंदर वर्णन ब्रिंसले ने अपनी पुस्तक 'लुडस लिटरेरियस' (Ludus Literarius) में किया है। इस ग्रंथ के अध्ययन से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि ग्रामर स्कूलों में कौन सी त्रुटियाँ उत्पन्न हो गई थीं और उनको दूर करना क्यों आवश्यक है।

पब्लिक स्कूल—इसी के साथ इंग्लैंड के पब्लिक स्कूलों का उल्लेख भी आवश्यक है। धनी वर्ग ने अपने बालकों के लिए पब्लिक स्कूलों का संगठन किया था। इन स्कूलों का नाम यद्यपि 'पब्लिक स्कूल' था, लेकिन इनमें जनता के सामान्य जीवन का समावेश न था। इनका अस्तित्व अभिजात और धनी वर्ग के बालकों के लिए था और ये जन-जीवन से अलग रहते हुए भी उनके साथ रहने का दम भरते थे। यहाँ यह स्मरणीय है कि इन पब्लिक स्कूलों का विकास अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के साथ होता गया और उन्नीसवीं सदी में इनकी संख्या लगभग दो सौ के हो गई जब कि आरम्भ में केवल नौ पब्लिक स्कूल थे।

उत्तरी अमेरिका में—मानवतावादी शिक्षा के संगठन के सिलसिले में हमारा ध्यान उत्तरी अमेरिका की ओर भी जाना स्वाभाविक है, क्यों कि पश्चिम में इस नयी दुनिया के लोग तीव्रगति से उन्नति कर रहे थे। इस नये देश के वासी यूरोप

और इंग्लैंड के रहने वाले थे। अतः वे अपने साथ शेष यूरोप और इंग्लैंड की शिक्षा-पद्धति भी ले गये। अमेरिका के नये निवासियों ने भी अपने यहाँ ग्रामर स्कूल खोले और इन में भी साहित्यिक विषय तथा धर्म की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। इस प्रकार अमेरिका में भी नियमवादी (Formal) शिक्षा का विकास हुआ। लेकिन नये देश और नयी परिस्थितियों के कारण यहाँ नियमवाद को वह सफलता नहीं मिली जो उसे इंग्लैंड में मिल चुकी थी।

अमेरिका में उदार शिक्षा का ध्यान रखा गया और ऐसे विद्यालय खोले गये जिनमें नियमवाद कम हो। फलतः वहाँ अकेडेमी और हाई स्कूलों का संगठन हुआ। इन विद्यालयों के संगठन से नियमवाद का प्रभाव कम हुआ और कुछ सीमा तक ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध हुआ जिसके द्वारा उदारता (Liberalism) का विकास होता था।

समाज पर प्रभाव—उत्तरी यूरोप में मानवतावादी शिक्षा का समाज पर प्रभाव हमें कई रूपों में दिखाई देता है। सर्व प्रथम हम यह देखते हैं कि उत्तरीय मानवतावादी शिक्षा ने धर्म और नैतिकता का प्रसार समाज में किया। इटली में मानवतावादी शिक्षा व्यक्तिगत जीवन पर अधिक बल देती थी, लेकिन उत्तरी यूरोप में सामाजिक जीवन को धर्म और नैतिकता के सहारे सुधारने का प्रयास किया गया।

मानवतावादी शिक्षा का दूसरा प्रभाव हमें जनतांत्रिक भावना के विकास में दिखाई देता है। इसने इटली के व्यक्तिवादी और अभिजातीय प्रवृत्ति के स्थान पर समाज में धार्मिक शिक्षा की सहायता से लोकतंत्र का बीजारोपण किया।

तीसरा प्रभाव हमें बाइबिल के अध्ययन में दिखाई देता है। इस अध्ययन के फलस्वरूप ईसाई शिक्षा की उदार भावना का प्रसार हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तरीय मानवतावादी शिक्षा ने समाज में उदारता, जनतंत्र, धार्मिक भावना और नैतिकता का प्रसार किया, जब कि दक्षिण में व्यक्तिवाद और अभिजातीय संस्कृति की प्रधानता थी। दूसरे शब्दों में उत्तरीय मानवतावादी शिक्षा जन-जीवन के अधिक निकट थी। लेकिन कालांतर में नियमवाद के प्रभाव के कारण इसमें परिवर्तन आ गया। इसका कारण वाह्यप्रदर्शन की भावना थी। उस समय समाज में उसी को सभ्य और सुसंस्कृत समझा जाता था जो अच्छी और शुद्ध भाषा बोल सके। इसी तथ्य की ओर सबका ध्यान गया और 'आत्मा की संस्कृति' की उपेक्षा हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में नवीनता और मौलिकता के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था। इस प्रकार जन-जीवन की धारा में नियमवाद के कारण एक अवरोध उत्पन्न हो गया।
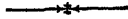
शिक्षक वरजीरियस

मानवतावादी शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य, पद्धति, विषय और संगठन तथा उसके द्वारा समाज के प्रभावित रूप का अध्ययन कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम उन शिक्षकों के जीवन और कार्यों से परिचित हों जिनके परिश्रम से मानवतावादी शिक्षा का विकास और प्रसार हुआ।

वरजीरियस—इस प्रकार के शिक्षकों में सर्वप्रथम वरजीरियस (Vergerius) का नाम उल्लेखनीय है क्योंकि वरजीरियस के अपार परिश्रम के कारण मानवतावादी शिक्षा का इटली तथा दक्षिणी यूरोप में प्रचार हुआ।

वरजीरियस, जिसे पायर पाओलो वरजीरियो (Pier Paola Vergerio) भी कहते थे, सन् १३४९ में पैदा हुआ था। शिक्षा प्राप्त करने के बाद वरजीरियस पादुआ (Padua) और फ्लोरेंस में अध्यापन कार्य करने लगा। अध्यापन कार्य करते समय भी वरजीरियस का अध्ययन चलता रहता था। इसी विद्या-प्रेम के कारण उसने सैंतालीस वर्ष की अवस्था में यूनानी भाषा सीखी। इसी समय उसने मानवतावादी शिक्षा के वास्तविक रूप का भी अध्ययन किया और उसका उसपर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने ५५ वर्ष की अवस्था में 'चरित्र और उदार शिक्षा' (Character and Liberal Studies) नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वरजीरियस कितना कुशल लेखक, चरित्रवान् व्यक्ति, महान् शिक्षक और उदार विद्वान् था। अपने इस ग्रंथ में वरजीरियस ने जो कुछ

लिखा, उसका अध्ययन उस समय के मानवतावादी बड़े मनोयोग से करते थे। इतना ही नहीं, इस ग्रंथ के अनुसार मानवतावादी शिक्षा दो सौ वर्षों तक चलती रही और इटली के दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् वित्तोरिनो ने इस ग्रंथ से बड़ा लाभ उठाया।

उसका ग्रंथ--वरजीरियस के इस ग्रंथ के अध्ययन से मानवतावादी शिक्षा के प्रारम्भिक रूप का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। वरजीरियस ने इस ग्रंथ का आरम्भ एक अभिजात वर्ग के बालक को सम्बोधन करते हुए किया है। इस बालक को योग्य व्यक्ति बनाने के लिए वरजीरियस ने शिक्षा--सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्ध में वरजीरियस का यह कथन बहुत प्रसिद्ध है—"माता-पिता का अपनी संतान के प्रति तीन कर्त्तव्य है। एक तो उसे पारिवारिक ख्याति मिलनी चाहिए, दूसरे ऐसा देश मिलना चाहिए जिस पर वह गर्व कर सके और तीसरे उसे अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिए।" *

वरजीरियस का उपर्युक्त कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यदि हम इस पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि उस समय प्रत्येक कुल की मान-मर्यादा पर बड़ा बल दिया जाता था। ऊँचा खानदान होना आवश्यक था। उस समय के समाज में अच्छे कुल के लोगों का सम्मान अधिक था। इसीलिए वरजीरियस ने माता-पिता के कर्त्तव्यों में इसको प्रथम स्थान दिया।

माता-पिता का दूसरा कर्त्तव्य अपनी संतान के लिए देश को गौरवशाली बनाना था। वैसे तो उस समय राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था और धीरे धीरे यूरोपीय जनता में चेतना उत्पन्न हो रही थी, लेकिन संतान के लिए देश को गौरवशाली बनाने

* A History of Western Education by Good.—Page 126.

का सिद्धांत एक प्रकार की आत्मीयता उत्पन्न कर देता है और इसी के साथ अच्छी शिक्षा की भी आवश्यकता है। बिना अच्छी शिक्षा के, जो कि मानवतावादी थी, बालक योग्य व्यक्ति नहीं बन सकता था।

वरजीरियस का शिक्षा-सिद्धांत—वरजीरियस के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो स्वतंत्र व्यक्ति के योग्य हो, जिसके द्वारा गुण (Virtue) और ज्ञान (Wisdom) की प्राप्ति हो, शरीर और मन के समस्त गुणों का पूर्ण विकास हो क्योंकि इन्हीं से मनुष्य की श्रेष्ठता का परिचय मिलता है। जो असभ्य है उसके जीवन का उद्देश्य लाभ और मौज है, लेकिन जो उच्च भाव का है उसे नैतिकता और ख्याति प्रिय है। *

शिक्षा के आवश्यक अंग—वरजीरियस का विचार था कि बालक की शिक्षा जितनी जल्दी आरम्भ की जा सके उतना ही अच्छा है क्योंकि शीघ्र शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद, बालक, प्रौढ़ होकर उसी शिक्षा के अनुसार अनुभव प्राप्त करता है। शिक्षा में वरजीरियस दो वस्तुओं को महत्त्व देता था। एक तो बोल और लिखकर विचारों के आदान-प्रदान की योग्यता होनी चाहिए और दूसरे अवकाश के समय का पूरा उपयोग करने के

---

* Vergerius wrote, "We call those studies liberal which are worthy of a free man; those studies by which we attain and practise virtue and wisdom ; that education which calls forth, trains and developes those highest gifts of body and mind which ennoble men and which are rightly judged to rank next in dignity to virtue only, for to a vulgar temper gain and pleasure are the one aim of existence, to a lofty nature, moral worth and fame."

—Ibid.

लिए साहित्य में अभिरुचि भी होनी चाहिए। इस प्रकार वरजीरियस अपने समय के सम्भ्रांत व्यक्ति में इन गुणों को चाहता था। यदि हम विचारपूर्वक वरजीरियस की इन दोनों बातों को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि किसी मनुष्य को जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए वार्तालाप की योग्यता आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने विचारों को भली-भाँति व्यक्त नहीं कर सकता, जो अपनी बात को स्पष्टता से लिख नहीं सकता, उसे जीवन में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार साहित्य के अध्ययन की बात है। मानवतावादी शिक्षा में साहित्य के अध्ययन पर बड़ा बल दिया जाता था। जैसा कि हमें ज्ञात है, साहित्य के अध्ययन से भावनाओं का परिष्कार होता है और मनुष्य सभी वस्तुओं को एक विस्तृत दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है। इसीलिए वरजीरियस ने इन बातों पर जोर दिया और इन्हें शिक्षा का आवश्यक अंग माना।

शिक्षा के विषय—वरजीरियस का विचार था कि शिक्षा के विभिन्न विषयों में साहित्य, इतिहास, भाषणकला, दर्शन, गणित, संगीत और तर्कशास्त्र हों। इसके अतिरिक्त वह चिकित्सा और कानून के अध्ययन का भी पक्षपाती था। साहित्य का अध्ययन वरजीरियस क्यों चाहता था, इसे हम जानते हैं। साहित्य के साथ वरजीरियस इतिहास का अध्ययन आवश्यक समझता था, क्योंकि इसके अध्ययन से व्यक्ति उन सभी अनुभवों से परिचित होता है, जिनके आधार पर मनुष्य जाति ने उन्नति की है। इसी प्रकार दर्शन के अध्ययन से व्यक्ति सत्य के स्वरूप से भलीभाँति परिचित हो जाता है और वह सत्य के लिए प्रयास करता है। संगीत और काव्य से मन की भावनाओं का परिष्कार होता है। इतना ही नहीं, संगीत के द्वारा मनुष्य के मानसिक

जगत् में इस प्रकार का सामंजस्य उपस्थित हो जाता है कि वह स्वार्थी न होकर उदार हो जाता है, सब के दुःख को अपना दुःख समझने लगता है और अपने जीवन में ऐसी शक्ति उत्पन्न करता है जो सबके लिए सुखकारी और शांतिदायक होती है। गणित और तर्कशास्त्र के अध्ययन से विचार-शक्ति का विकास होता है। बिना इसके अध्ययन के विचारों में क्रम का अभाव होता है। इस तरह वरजीरियस इन सभी विषयों की शिक्षा आवश्यक समझता था। चिकित्सा-शास्त्र और कानून के अध्ययन की आवश्यकता समाज के दृष्टि से अधिक उपयोगी थी। इसलिए जो लोग चिकित्सक अथवा वकील बनना चाहते थे, उन्हें इन विषयों का विशेष अध्ययन करना वरजीरियस के अनुसार आवश्यक था।

शिक्षा की पद्धति—शिक्षा की पद्धति के सम्बन्ध में वरजीरियस का यह विचार था कि प्रत्येक बालक की बौद्धिक क्षमता एक सी नहीं होती। इसलिए शिक्षक को यह ज्ञात होना चाहिए कि कौन विद्यार्थी कितना ग्रहण कर सकता है। यदि शिक्षक इसका ध्यान नहीं रखता तो शिक्षा-पद्धति में बड़ी त्रुटि उत्पन्न हो जाती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि वरजीरियस ने बालक की मनोवैज्ञानिक दशा की ओर संकेत किया है। यद्यपि उन दिनों मनोविज्ञान नाम का कोई विषय न था, मगर फिर भी हम यह देखेंगे कि शिक्षकों का ध्यान शिक्षा के साथ बालक की ओर आकर्षित हुआ और वे शिक्षा के स्वरूप को निश्चित करते समय बालक की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की ओर भी ध्यान देने लगे।

वरजीरियस के अनुसार शिक्षा की पद्धति में तीन बातों का होना आवश्यक है। एक तो दिन में बालक ने जो कुछ पढ़ा है, उसकी पुनरावृत्ति संध्या के समय होनी चाहिए। दूसरे,

पाठ-सम्बन्धी विचार-विनिमय होना चाहिए और तीसरे, उस पाठ को विद्यार्थी अपने से छोटे विद्यार्थी को पढ़ावें। इस प्रकार इन तीन तरीकों से अध्ययन करने पर विद्यार्थी पाठ को भली भाँति समझ जाता है और वह इसे सरलतापूर्वक स्मरण भी कर लेता है। इसके अतिरिक्त वरजीरियस का यह विचार था कि शिक्षा-पद्धति में स्पर्द्धा का भी प्रयोग करना चाहिए। स्पर्द्धा के फलस्वरूप विद्यार्थी अधिक उन्नति करते हैं। और अंत में वरजीरियस यह चाहता था कि विद्यार्थी नियमपूर्वक अध्ययन करें। प्रत्येक दिन निश्चित समय पर अध्ययन करने से बड़ी सहायता मिलती है। शिक्षा में निरन्तर अभ्यास की बड़ी उपयोगिता है, इसे आज भी सभी विद्वान् मानते हैं।

चारित्रिक विकास—वरजीरियस चरित्र के विकास पर भी पर्याप्त बल देता था। उसका विचार था कि बालक को वाणी के संयम की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे उसे ज्ञात हो जाय कि कब बोलना चाहिए और कब नहीं। यदि बालक में वाणी का संयम है तो वह अपने चरित्र को अच्छा बना सकता है। इसके अतिरिक्त वरजीरियस कुप्रवृत्तियों के दमन के पक्ष में था। उसके अनुसार बालक की उन प्रवृत्तियों का दमन आवश्यक है, जिनके कारण वह असामाजिक और पाप कर्म करता है। समाज में क्रोध प्रदर्शन भी वरजीरियस एक चारित्रिक दोष मानता था। अतः उसका विचार था कि क्रोध को वश में रखने के लिए सदा मित्रता का भाव रखना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति में मित्रता की भावना पर्याप्त मात्रा में है, तो वह अपने क्रोध पर विजय पा सकता है। साथ ही अच्छे चरित्र के लिए सात्विक भोजन भी आवश्यक है। इसलिए वरजीरियस माँस-मदिरा के ऐसे प्रयोगों के विरुद्ध था जिनके कारण व्यक्ति अपने संयम को खो देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वरजीरियस अच्छे चरित्र के विकास की ओर भी पर्याप्त ध्यान देता था, और चाहता था कि लोग समय और स्थान के अनुसार अच्छा जीवन व्यतीत करें।

शारीरिक विकास—वरजीरियस ऐसी शिक्षा में विश्वास रखता था जो मन और शरीर के सम्यक् विकास में सहायक हो। अब तक हम मन (mind) के विकास-सम्बन्धी बातों पर विचार करते आए हैं। अतः अब हमें वरजीरियस के शारीरिक-विकास सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करना चाहिए। वरजीरियस स्पार्टी शिक्षा में साहस और वीरता के गुण का प्रशंसक था। शारीरिक विकास सम्बन्धी जितनी प्रतियोगिताएँ स्पार्टा में होती थीं, उनमें साहस और वीरता पर पर्याप्त बल दिया जाता था। इसलिए वरजीरियस ऐसे खेलों, व्यायामों और प्रतियोगिताओं के पक्ष में था जो शारीरिक विकास में सहायक होते हुए बालक में साहस, वीरता, अनुशासन और आत्मनिर्भरता की भावना जाग्रत करें।

वरजीरियस सैनिक शिक्षा भी चाहता था। उसका विचार था कि जब बालक की मांस-पेशियों में हथियार चलाने की क्षमता उत्पन्न हो जाय, तब सैनिक शिक्षा आरंभ कर देनी चाहिए। ऐसा करने से देश के लोगों में देश-रक्षा की शक्ति उत्पन्न होती है और वे युद्ध के समय वीरता के साथ शत्रु का सामना कर सकते हैं। वरजीरियस ऐसे आखेट, मैदानी खेल तथा कुशलता-सम्बन्धी प्रतियोगिताओं को भी पसन्द करता था जिनमें सैनिक जीवन का रोमांच और उत्साह हो। इस प्रकार युद्ध और शांतिकाल में समान रूप से सैनिक जीवन चर्या चल सकती थी।

वरजीरियस की विशेषता—वरजीरियस के विचारों के अध्ययन से हमें मानवतावादी शिक्षा को और निकट से देखने का अवसर मिला है। अतः इस अध्ययन के आधार पर हम यह देख सकते हैं कि वरजीरियस ने प्राचीन शिक्षा और मानवतावाद से पूर्व की शिक्षा में जितनी भी अच्छाइयाँ थीं, उन्हें अपनाने की कोशिश की। यही उसकी विशेषता थी। इसके अतिरिक्त उसमें एक विशेषता और भी थी जो हमें बालक की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों को समझने में दिखाई देती है। इन्हीं विशेषताओं के कारण वरजीरियस एक महान् मानवतावादी शिक्षक माना जाता है।

डेसीडीरियस इरसमस

जिस प्रकार दक्षिणी यूरोप में मानवतावादी शिक्षक वरजीरियस प्रसिद्ध था, उसी प्रकार उत्तरी यूरोप में डेसीडीरियस इरसमस का मानवतावादी शिक्षकों में सर्वोच्च स्थान था। इसीलिए इरसमस के शिक्षा सम्बन्धी विचार एक प्रकार से उत्तरीय मानवतावादी शिक्षा के सिद्धांत से प्रतीत होते हैं। इरसमस ही ऐसा विद्वान् था जिसने उत्तरीय मानवतावादी शिक्षा के सिद्धांतों को रूप दिया और उनकी व्याख्या की।

प्रारम्भिक जीवन—डेसीडीरियस इरसमस का जन्म सन् १४६६ में हालैंड देश के राटरडम नामक नगर में हुआ था। उसका पिता एक पादरी था और माता एक चिकित्सक की पुत्री थी। इरसमस के माता-पिता का विवाह नियमानुसार नहीं हुआ था। इस प्रकार इरसमस उन लोगों की संतान था जिन्होंने समाज की उपेक्षा की।

जैसा कि उन दिनों प्रचलन था, इरसमस को भी विद्वद्‌वादी शिक्षालय में शिक्षा के लिए जाना पड़ा। वहाँ उसे लैटिन कविताओं की ऐसी पंक्तियाँ रटनी पड़ती थीं, जिन्हें वह तनिक भी समझ नहीं पाता था। साथ ही उसे यूनानी भाषा का भी अध्ययन आरम्भ करना पड़ा। यूनानी भाषा और साहित्य में उसकी ऐसी रुचि उत्पन्न हुई जो जीवन-पर्यन्त बनी रही।

मानवतावाद की ओर—शिक्षा प्राप्त करने के बाद इरसमस २६ वर्ष की अवस्था में पादरी बना। लेकिन पादरी का कार्य उसकी रुचि के अनुकूल नहीं था। इसलिए उसने कैम्ब्रेइ के बिशप का

प्राइवेट सिक्रेटरी बनना अधिक अच्छा लगा। प्राइवेट सिक्रेटरी के रूप में इरसमस ने बिशप का कार्य सुचारु रूप से किया। कैम्ब्रेइ के बिशप ने भी इरसमस की सराहना की और उसके विद्या-प्रेम को देखकर उच्च अध्ययन की व्यवस्था की। फलतः इरसमस बिशप से आर्थिक सहायता प्राप्त कर के पेरिस विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिए गया। पेरिस विश्वविद्यालय में इरसमस को विद्वद्वादी विषयों का अध्ययन करना पड़ा। इस अध्ययन के फलस्वरूप इरसमस के मन में विद्वद्वादी शिक्षा के विरुद्ध भावनायें उत्पन्न होने लगीं और वह उदारशिक्षा की ओर अग्रसर होने लगा। लेकिन उसके मन की इच्छा उस समय पूर्ण हुई जब वह सन् १४९९ में इग्लैंड गया। वहाँ वह कालेट, मोर और लिनाक्र जैसे मानवतावादी विद्वानों के सम्पर्क में आया। इस सम्पर्क का यह प्रभाव पड़ा कि इरसमस भी मानवतावाद का प्रबल समर्थक हो गया। इतना ही नहीं, मानवतावाद के अध्ययन के लिए इरसमस इटली भी गया। इटली में उसने यूनानी भाषा और साहित्य का पूर्ण अध्ययन किया। तत्पश्चात् इरसमस इङ्गलैंड इस आशा से आया कि उसे मानवतावादी शिक्षा के प्रचार की सुविधायें प्राप्त होंगी। उस समय इंग्लैंड में हेनरी अष्टम का शासन था और इरसमस को हेनरी से बड़ी आशायें थी। इसलिए इंग्लैंड में इरसमस ने कालेट के सेंटपाल स्कूल में मानवतावादी शिक्षा का आरम्भ किया। इसके अतिरिक्त इरसमस कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र तथा यूनानी साहित्य की शिक्षा भी प्रदान करता था। इस प्रकार इरसमस इंग्लैंड में मानवतावादी शिक्षा के प्रसार में सहायक हुआ, और फिर कुछ दिनों के बाद यात्रा के लिए निकल पड़ा। तीन वर्षों तक यात्रा करने के बाद वह लुवेन (Louvain) नामक स्थान में स्थायी रूप से रहने

लगा। वहाँ रहकर इरसमस ने एक मानवतावादी विद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय का नाम 'कालेजियम त्रिलिंग' (Collegium Trilingue) था। इरसमस इस विद्यालय में सन् १५१७ से १५२१ तक कार्य कर सका; क्योंकि इसके बाद ही सुधारवादी आंदोलन का आरम्भ हुआ और लोगों में सांप्रदायिक उत्तेजना फैल गई। इसलिए इरसमस भाग कर स्वीट्ज़रलैंड गया, और वहीं अपने जीवन के अंतिम भाग को बिताया।

इरसमस के ग्रंथ—इरसमस ने यद्यपि अध्यापन कार्य करने में अधिक समय नहीं बिताया, मगर फिर भी वह अपने विचारों को लिखित रूप में व्यक्त करता रहता था। उदार वृत्त का होने के कारण, इरसमस उन सभी बातों में रुचि रखता था जो समाज और संस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थीं। इसीलिए इरसमस ने प्रायः सभी विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं। उसका एक ग्रंथ 'मूर्खता की प्रशंसा' (Praise of Folly) है। इस ग्रंथ को इरसमस ने व्यंगात्मक शैली में लिखा है और विद्वद्वादी त्रुटियों की खिल्ली उड़ाई है। इसी प्रकार उसने शिक्षा सम्बन्धी ग्रंथ भी लिखे हैं जिनमें शिक्षा-सिद्धांत और पद्धति आदि पर उसके गंभीर विचार व्यक्त हैं। इसके अतिरिक्त इरसमस ने अनेक पाठ्यपुस्तकें भी लिखीं, जिनमें लैटिनभाषा सम्बन्धी पाठ्यपुस्तकें अधिक महत्त्व की हैं। लेकिन इन सभी ग्रंथों से अधिक महत्त्वपूर्ण वह ग्रंथ है जिसमें इरसमस ने मानवतावादी शिक्षा के सिद्धांत स्पष्ट किए हैं। इस ग्रंथ का नाम है—'बालकों के लिए प्रारम्भ से ही उदार शिक्षा'*। इस ग्रंथ के अध्ययन से इरसमस की

---

* 'On the liberal Education of Boys from the Beginning.'—The History of Western Education by Boyd. Page 174.

विचारधारा का अनुमान भली भाँति हो जाता है।

विचारधारा—इरसमस के अनेक ग्रंथों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वह लैटिन भाषा और साहित्य का बड़ा समर्थक था। उसका यह विश्वास था कि इस भाषा के द्वारा यूरोप के विभिन्न देशों में एकता स्थापित की जा सकती है और उन्हें एक दूसरे के अधिक निकट लाया जा सकता है। इस प्रकार इरसमस एक भाषा के द्वारा विभिन्न देशों में एकता स्थापित करना चाहता था।

इरसमस की विचार धारा में दूसरी विशेषता राष्ट्रीयता से सम्बन्ध रखती है। इरसमस जन्म से हालैंड-निवासी था, और कार्य तथा अध्ययन के लिए उसे फ्रांस, इंग्लैंड, इटली, जर्मनी और स्वीट्ज़रलैंड में रहना पड़ा। इसलिए उसका सम्बन्ध केवल एक ही देश से न था। इसका प्रभाव यह हुआ कि इरसमस प्राय: सभी देशों के प्रति सहानुभूति की भावना रखता था। लेकिन इतना होते हुए भी, विद्वानों ने यह अनुभव किया है, इरसमस के हृदय में उत्तरी यूरोप के लिए अधिक सहानुभूति थी। जर्मनी में मानवतावादी शिक्षा का प्रचार करने के लिए इरसमस ने अथक परिश्रम किया था। इस सम्बन्ध में विलियम ब्याड ने सैन्डीज़ लिखित 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल स्कालरशिप' से इरसमस का यह कथन उद्धृत किया है—"मेरे युवाकाल में जर्मनी की बर्बरता यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि यूनानी साहित्य का नाम लेना पाप समझा जाता था। इसलिए मैंने अपने सामान्य तरीके से नवयुवकों को अज्ञान के दलदल से निकाल कर पवित्र विद्या की ओर लाने का प्रयास किया है। मैंने इटली के लिए नहीं वरन् हालैंड, बारबैंट और फ्लैंडर्स के लिए लिखा है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि

इरसमस उत्तरी यूरोप में मानवतावादी शिक्षा का ऐसा प्रसार करना चाहता था जो इटली से किसी प्रकार भी कम न हो।

इरसमस की विचारधारा में तीसरी बात यह थी कि वह प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को आदर्श मानता था। वह चाहता था कि उसके समय का समाज प्राचीन समाज के अनुरूप हो। इरसमस का यह विचार पुनरुत्थान काल से प्रभावित है। इसलिए इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि इरसमस पुनरुत्थान कालीन विचारधारा का समर्थक था, और इसीलिए वह प्रत्येक वर्तमान समस्या का हल अतीत के आदर्शों और मान्यताओं से प्राप्त करना चाहता था।

शिक्षा का उद्देश्य—इरसमस की विचारधारा का दूसरा रूप हम उसके द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्यों में पाते हैं। इरसमस के अनुसार शिक्षा को सर्व प्रथम बालक के मन में पवित्र भावना का बीजारोपण करना चाहिए; दूसरे उसमें (बालक में) उदार शिक्षा के प्रति प्रेम तथा उसके पूर्ण अध्ययन की क्षमता उत्पन्न होनी चाहिए; तीसरे वह जीवन के कर्त्तव्यों का पालन कर सके; और चौथे वह सभ्य व्यवहार में कुशल हो। * इस प्रकार इरसमस शिक्षा के उद्देश्यों में सर्व प्रथम मन (Mind) को महत्त्व देता था। उसके अनुसार मन की भावनाओं का

* "The first most important part of education is that the youthful mind may receive the seeds of piety; next, that it may love and thoroughly learn the liberal studies; that it may be prepared for the duties of life; and fourth, that it may from the earliest days be accustomed to the rudiments of good manners." Ibid. Page 175.

परिष्कार करना अत्यंत आवश्यक था क्योंकि उसका यह विश्वास था कि जिस मनुष्य की भावनायें शुद्ध नहीं हैं वह सभ्य हो ही नहीं सकता।

इरसमस उदार शिक्षा का समर्थक था। इसीलिए उसने उदार शिक्षा के पूर्ण अध्ययन पर बल दिया है। इतना ही नहीं, वह यह भी कहता है कि उदार शिक्षा के प्रति प्रेम होना चाहिए। बिन प्रेम के पूर्ण अध्ययन सम्भव नहीं है। इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि इरसमस रुचि (interest) को शिक्षा में आवश्यक समझता था। आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विना रुचि के शिक्षा हो ही नहीं सकती। इसलिए शिक्षा में रुचि अथवा उससे प्रेम आवश्यक है।

शिक्षा का जीवन से सम्बन्ध है, इरसमस इसे भी मानता था क्योंकि उसने उस शिक्षा को उपयोगी माना है जो जीवन को सफल बनाने में सहायक हो। मनुष्य को जीवन में अनेक कार्य करने पड़ते हैं। इसलिए उसकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे वह जीवन की सभी समस्याओं को आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता से हल कर सके।

इरसमस सभ्य व्यवहारों का भी समर्थक था। इसीलिए वह सभ्य व्यवहारों को शिक्षा के उद्देश्य का आवश्यक अंग मानता था। यह स्पष्ट है कि किसी मनुष्य की शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान उसी समय होता है जब हम उसके सम्पर्क में आते हैं और उसके व्यवहारों से परिचित होते हैं। यदि उसका व्यवहार सहानुभूति-पूर्ण है, तो हमारे मन में उसके प्रति आदर उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सद्-व्यवहार की जीवन में बड़ी आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति करना शिक्षा का उद्देश्य अवश्य होना चाहिए।

शिक्षा की पद्धति—शिक्षा की पद्धति के सम्बन्ध में भी इरसमस के विचार मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण हैं। उसके अनुसार शिक्षा-पद्धति की सफलता के लिए तीन तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। वे तथ्य हैं—प्रकृति (Nature) दीक्षा, (Training) और अभ्यास (Practice) प्रकृति से इरसमस का तात्पर्य मनुष्य की उस शक्ति से है जो उसे दीक्षा की ओर आकर्षित करती है और जो उसकी छिपी शक्तियों की अभिव्यक्ति में सहायक होती है। दूसरे शब्दों में प्रकृति से इरसमस का संकेत मनुष्य की मानसिक शक्तियों की ओर है।

दीक्षा से इरसमस का तात्पर्य शिक्षा और निर्देश का कुशल प्रयोग है। इरसमस के अनुसार दीक्षा ऐसी होनी चाहिए जो अनुभव और निर्देश तथा विषय के व्यावहारिक ज्ञान से सम्बन्ध रखती हो। जिस दीक्षा का व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव से उत्पन्न निर्देश से सम्बन्ध नहीं होता वह अधूरी होती है। इसीलिए शिक्षा की पद्धति में दीक्षा के उचित स्वरूप का भी ध्यान रखना चाहिए।

शिक्षा की पद्धति में तीसरा आवश्यक स्थान अभ्यास का है। इसे स्पष्ट करते हुए इरसमस कहता है कि अभ्यास ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा हम उस कार्य (activity) को भली-भाँति कर सकें जो हमारी प्रकृति से उत्पन्न है और जिसे दीक्षा ने पोषित किया है। दूसरे शब्दों में इरसमस अभ्यास में ऐसे कार्यों को ही स्थान देता था जो मनुष्य की प्रकृति के अनुरूप हो और उसका विकास दीक्षा द्वारा किया गया हो।

शिक्षा की पद्धति में इन तीन तत्वों का महत्त्व है। लेकिन इरसमस सबसे अधिक महत्त्व दीक्षा को प्रदान करता था क्योंकि उसका विश्वास था कि दीक्षा से सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता

है। लेकिन साथ ही इरसमस यह भी स्वीकार करता था कि प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक शक्तियाँ एक-सी नहीं होतीं और न सभी व्यक्तियों की अभिरुचि एक ही विषय में होती है। इस अंतर को स्वीकार करते हुए इरसमस दीक्षा को शिक्षा-पद्धति में श्रेष्ठ समझता था।

प्रारम्भिक शिक्षा—इरसमस प्रारम्भिक शिक्षा में पढ़ने, लिखने और चित्रकारी को स्थान देता था। इन विषयों की शिक्षा में मनोरंजन का होना आवश्यक है। अत: बालकों को खेल द्वारा शिक्षा देना चाहिए और उन्हें मारना नहीं चाहिए। उन दिनों प्रारम्भिक शिक्षा में बालकों को कोड़े से मारने की प्रथा थी। इसलिए इरसमस ने इसका विरोध किया। इरसमस का यह भी विचार था कि प्रारम्भिक शिक्षा घर में ही होनी चाहिए। माता अपने बालक को खेल और कहानी द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करे और इसके बाद धर्मशास्त्र तथा साहित्य की शिक्षा बालक अपने पिता अथवा किसी अनुभवी अध्यापक से प्राप्त करे। इस प्रकार इरसमस यह चाहता था कि जहाँ तक सम्भव हो बालक की शिक्षा घर के वातावरण में हो।

भाषा-व्याकरण की शिक्षा—मानवतावादी शिक्षा में भाषा और व्याकरण की शिक्षा अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है क्योंकि इससे 'साहित्यिक संस्कृति' के प्रसार में सहायता मिलती है। अतः इरसमस ने भाषा-व्याकरण की शिक्षा-पद्धति में भी सुधार किया। उसने रटने के तरीके का विरोध किया और कहा कि व्याकरण की शिक्षा भाषा के साथ होनी चाहिए। बालकों को ऐसा साहित्य पढ़ने के लिए देना चाहिए जिसकी भाषा और शैली उत्कृष्ट हो। ऐसे साहित्य के अध्ययन से उन्हें अपने-आप व्याकरण

का ज्ञान हो जायगा। इस सम्बन्ध में इरसमस ने यह भी कहा कि शिक्षा की वही पद्धति सफल हो सकती है जो जीवन के यथार्थ का ध्यान रखती है। इसलिए किसी भी विषय की शिक्षा-पद्धति को बालक के जीवन का पूरा ध्यान रखना चाहिए। इतना ही नहीं, वह यह भी चाहता था कि भाषा की शिक्षा-पद्धति भूगोल, गणित, कृषि, सैनिक शिक्षा आदि विषयों से सम्बन्धित हो। इस प्रकार इरसमस एक प्रकार से शिक्षा में समन्वय भी चाहता था।

शिक्षा के विषय—इरसमस मानवतावादी था। इसलिए वह शिक्षा के उन्हीं विषयों को पसन्द करता था जो मानवतावाद के प्रचार और प्रसार में सहायक हो। मानवतावादी शिक्षा में जिन विषयों का प्राधान्य था, इरसमस उनकी शिक्षा आवश्यक समझता था।

शिक्षा का संगठन—इरसमस ने किसी नये प्रकार के विद्यालय के संगठन का प्रयास नहीं किया। उसने केवल इतना चाहा कि बालक के प्रति शिक्षक स्नेहपूर्ण व्यवहार रखे और उसकी मानसिक शक्तियों के अनुसार ही शिक्षा प्रदान करे। दूसरे शब्दों में इरसमस शिक्षा के संगठन में बालकों के लिए कठिन शारीरिक दंड का विरोधी था। इस प्रकार इरसमस ने शिक्षा के संगठन को मानवीय बनाने की चेष्टा की।

समाज पर प्रभाव—इरसमस के ग्रंथों और विचारों का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा, यह भी जानना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि इरसमस ने उत्तरी यूरोप के समाज में मानवतावाद की पूर्ण स्थापना की उसने संकीर्णता का विरोध किया और एकता के लिए प्रयास किया।

उसके ग्रंथों ने यूरोप की शिक्षा को प्रभावित किया जिसका परिणाम यह हुआ कि बालक के व्यक्तित्व तथा उसकी मानसिक शक्तियों के अनुरूप शिक्षा का प्रबन्ध होने लगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि इरसमस का यूरोपीय समाजपर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा और उसका नाम आज भी आदर से लिया जाता है क्योंकि उसने व्यक्ति के व्यक्तित्व और मनुय की मनुष्यता उसकी स्वतंत्रता, संस्कृति और सद्-व्यवहार के लिए जीवन-पर्यन्त साधना की। सचमुच वह मानवतावादी शिक्षा का अभिभावक था।

सुधार-कालीन शिक्षा की भूमिका

सुधारकाल की भूमिका—सुधारकालीन शिक्षा के स्वरूप से परिचित होने के लिए यूरोप में सुधारकाल की विशेषताओं से परिचित होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में हमें सन् १५०० याद रखना चाहिए क्योंकि इन्हीं दिनों यूरोप में सुधारवादी आंदोलन का सूत्रपात हुआ। जहाँ तक इस काल की राजनीतिक भूमिका का प्रश्न है, उसमें चार्ल्स पंचम का शासन प्रधान है। चार्ल्स पंचम सुधारकाल का सबसे बड़ा शासक था। वह बड़ा शांति-प्रिय था। लेकिन दुर्भाग्यवश उसका समय अधिकतर धार्मिक युद्ध में बीता। इसके कई कारण थे। उनमें से सबसे बड़ा कारण पोप का धार्मिक राज्य था। रोमन कैथलिक सम्प्रदाय का पोप यूरोप में एकक्षत्र राज्य करता था। इतना ही नहीं, पोप अपने अनुयायियों से प्रतिवर्ष चढ़ावे के रूप में कर भी लेता था। इस प्रकार अनेक देशों का धन पोप की राजधानी रोम में एकत्रित होता था। पहले जब यूरोपीय जनता में शिक्षा का अभाव और धर्म के प्रति अंधविश्वास था, तब वह पोप को धन देना अच्छा समझती थी। लेकिन बाद में पुनरुत्थानकालीन जाग्रति ने उसे वास्तविक तथ्यों का ज्ञान कराया। लोगों ने पोप को 'कर' देना अनुचित माना। उन्होंने यह भी देखा कि पोप और उसके प्रतिनिधियों का नैतिक पतन भी हो चला है, और पोप पापी मनुष्योंके पाप क्षमा करने का मुक्तिपत्र बेचने लगा है। पोप की भांति ईसाई पादरियों ने भी मुक्तिपत्रों की बिक्री आरम्भ कर दी। इस प्रकार लोगों में बड़ा असंतोष फैला और उनका विश्वास विद्रोह करने लगा।

उत्तरी यूरोप और सुधारवाद—सुधारकाल की भूमिका में इस धार्मिक असंतोष को सक्रिय रूप पुनरुत्थान और मानवतावादी शिक्षा ने दिया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उत्तरी यूरोप में जिस मानवतावादी शिक्षा का प्रसार हुआ, वह दक्षिणी यूरोप की मानवतावादी शिक्षा से भिन्न थी। उनकी भिन्नता में हम देखते हैं कि दक्षिण में व्यक्तिवाद तथा अभिजात वर्ग की प्रधानता थी और उत्तर में समाज-सुधार, नैतिक उत्थान और धार्मिक जीवन पर अधिक बल दिया जाता था। दूसरे, दक्षिण की संस्कृति में यूनानी और रोमी तत्वों की प्रधानता थी और उत्तर में ईसाई संस्कृति की। तीसरे, सोलहवीं सदी में यूरोप की विचारधारा में धर्म की प्रधानता पोप के नैतिक पतन के कारण उत्पन्न हो गई। अतः इस नैतिक-पतन से निकलने के लिए सुधार आवश्यक था और यह सुधार उत्तरी यूरोप से ही आरम्भ हो सकता था क्योंकि इसके लिए मानवतावादी शिक्षा ने भूमि तैयार कर दी थी। इसीलिए कुछ विद्वानों का मत है कि उत्तरी यूरोप में जो पुनरुत्थान आया और जिस मानवतावादी शिक्षा का प्रसार हुआ, वे सुधारवादी आंदोलन के अंग थे। इसलिए सुधारकालीन शिक्षा पर उत्तरी यूरोप का अधिक प्रभाव पड़ा।

मुद्रणयंत्र का आविष्कार—सुधारवादी आंदोलन उत्तरी यूरोप में जर्मनी से आरम्भ हुआ। इसके कई कारण थे। सबसे बड़ा कारण यह था कि जर्मनी में मुद्रण-यंत्रों का आविष्कार हुआ। इस आविष्कार के फलस्वरूप बाइबिल मुद्रित होने लगी और सबको सरलता से मिल जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों ने देखा कि पादरी बहुत सी ऐसी बातें कहते और करते हैं जिनका उल्लेख बाइबिल में नहीं है। इरसमस ने जो कि उस समय

सबसे अधिक प्रभावशाली विद्वान् था, अपने ग्रंथ 'मूर्खता की प्रशंसा' में ईसाई पादरियों के नैतिक-पतन का व्यंगात्मक शैली में मनोरंजक वर्णन किया। इसका प्रभाव यह हुआ कि ईसाई पादरी और मोंक को लोग अनादर की दृष्टि से देखने लगे और रोमन कैथलिक धर्म-संघ से उनकी आस्था उठने लगी और वे सुधार की अपेक्षा करने लगे।

राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा—सुधारकाल की प्रगति में राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भाषाओं का भी हाथ था। यूरोपीय जनता में राष्ट्रीयता के उदय के कारण किसी प्रकार के बाहरी आधिपत्य का विरोध होने लगा। जर्मनी देश के लोग इस विरोध में अग्रणी थे क्योंकि उनमें राष्ट्रीयता की भावना सबसे अधिक थी। इसी भावना के साथ राष्ट्रभाषा का भी विकास हुआ और बाइबिल लैटिन भाषा से जर्मनी भाषा में अनूदित हुई। इसी प्रकार उत्तरी यूरोप की अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी बाइबिल का अनुवाद हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता अपने अधिकारों और धार्मिक विश्वासों को समझने लगी और रोमन कैथलिक धर्म-संघ से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास करने लगी। लेकिन इस कार्य के लिए एक नेता की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति मार्टिन लूथर ने की।

मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६)—यूरोपीय जनता की धार्मिक विचारधारा में जो परिवर्त्तन हुआ, उसका नेतृत्व मार्टिन लूथर ने किया। मार्टिन लूथर (Martin Luther) उत्तरी जर्मनी के एक किसान परिवार में पैदा हुआ था। वह आरम्भ से ही होनहार था और उसकी रुचि शिक्षा की ओर थी। विश्व-विद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् लूथर ने ईसाई

धर्मशास्त्र का अध्ययन किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप उसे ज्ञात हुआ कि रोमन कैथलिक धर्म-संघ और ईसामसीह के उपदेशों में कहीं-कहीं गहरा अन्तर है। इसीके थोड़े दिनों बाद लूथर रोम गया। रोम में उसने देखा कि पोप का अधिक समय राज-कार्य और युद्ध में बीतता है और धर्म में उसकी श्रद्धा बहुत कम हो गयी है। यह देखकर लूथर बहुत निराश हुआ और जर्मनी वापस आकर उसने मुक्तिपत्रों की बिक्री का विरोध किया। लूथर ने ३१ अक्टूबर सन् १५१७ में मुक्तिपत्रों के विरुद्ध ९५ तर्क लिखे और उन्हें विटनवर्ग के गिरजाघर के फाटक पर चिपका दिया। लोगों ने जब मार्टिन लूथर के ९५ तर्कों को पढ़ा तब वे भी इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि रोमन कैथलिक धर्म-संघ के अधिकारी घबरा गये और उन्होंने लूथर को रोम बुलाया। लूथर ने रोम जाना अस्वीकृत कर दिया। इससे चिढ़ कर पोप ने लूथर को धर्म-भ्रष्ट करने की आज्ञा प्रदान की। लूथर ने उस आज्ञापत्र को लेकर अपने समर्थकों के सामने जला दिया। इस प्रकार मार्टिन लूथर रोमन कैथलिक धर्म-संघ का सदा के लिए विरोधी हो गया।

प्रोटेस्टेन्ट मत का विकास—मार्टिन लूथर के साथ उसके देशवासी भी अधिक संख्या में थे और वे उसके विरोधों का समर्थन करते थे। फलतः जब रोमन कैथलिक धर्म-संघ के समर्थक राजाओं ने लूथर का बहिष्कार किया तो उत्तरी जर्मनी के राजाओं और निवासियों ने इसका विरोध (प्रोटेस्ट) किया। इस 'प्रोटेस्ट' के समर्थक 'प्रोटेस्टेन्ट' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार ईसाइयों का प्रोटे-स्टेन्ट सम्प्रदाय बना। इस सम्प्रदाय और पोप के समर्थकों में आठ वर्ष तक युद्ध हुआ और अंत में यह संधि हुई कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार लूथर के प्रोटेस्टेन्ट मत या रोमन

कैथलिक धर्म को स्वीकार करे। इस युद्ध के बाद प्रोटेस्टेन्ट मत का विकास तीव्र गति से होने लगा और उसके अनुरूप शिक्षा का भी प्रबन्ध हुआ। फलतः प्रोटेस्टेन्ट मत दूसरे देशों में भी पहुँचा। स्विट्जरलैंड में ज़िवग्ली (Ziwngli) और कालविन (Calvin) के इस मत का प्रचार किया। इसी प्रकार डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, फिनलैंड आदि देशों में प्रोटेस्टेन्ट मत का प्रसार हो गया।

प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा

शिक्षा का उद्देश्य—प्रोटेस्टेन्ट मत के रूप में जो सुधार उपस्थित हुआ उससे शिक्षा भी प्रभावित हुई। इस प्रकार प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा का विकास हुआ। प्रोटेस्टेन्ट मत का जन्मदाता मार्टिन लूथर व्यक्ति की विचार-शक्ति को अधिक महत्त्व प्रदान करता था। वह यह भी मानता था कि किसी राष्ट्र की उन्नति के लिए शिक्षित, कुशल, बुद्धिमान, सम्मानीय तथा चतुर नागरिकों का होना आवश्यक है। बिना सुशिक्षित और योग्य नागरिकों के किसी भी देश की उन्नति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त लूथर सार्वजनीन शिक्षा के पक्ष में था। वह अनिवार्य शिक्षा चाहता था। इस प्रकार लूथर सभी वर्गों के बालक और बलिकाओं को शिक्षित बनाना चाहता था जिससे बालक पुरुष होकर देश का शासन विचारपूर्वक करें और बालिकाएँ नारी होकर गृह-कार्य का संचालन करें। लूथर की इस विचारधारा के आधार पर प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा का उद्देश्य देश के सभी व्यक्तियों को सुशिक्षित, बुद्धिमान, सम्मानीय, तथा कुशल नागरिक बनाना था जिससे वे विचारपूर्वक जीवन व्यतीत करें। दूसरे शब्दों में प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के सामाजिक जीवन को सुखी बनाना था और उसमें ऐसी बुद्धि और विचारशक्ति उत्पन्न करना था जिससे उसका परलोक जीवन भी सुखी हो।

शिक्षा के विषय— लूथर के अनुसार शिक्षा के विषयों में ग्रीक, लैटिन, हिब्रू, भाषाओं का होना आवश्यक था क्योंकि इनसे

धार्मिक अध्ययन में सहायता मिलती है। इनके अतिरिक्त वह शिक्षा के उन सभी विषयों के पक्ष में था जिन्हें मानवतावादी शिक्षा में स्थान था। इसलिए लूथर इतिहास, गणित, साधारण-विज्ञान, व्याकारण और साहित्य की शिक्षा आवश्यक समझता था। इसके अतिरिक्त लूथर शारीरिक विकास के लिए खेल और व्यायाम पर बल देता था। वह सामूहिक संगीत के भी पक्ष में था। इस प्रकार लूथर ने प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा में उन सभी विषयों को स्थान दिया, जिन्हें मानवतावादी शिक्षा में स्थान मिलता था। लेकिन इस सम्बन्ध में उसकी नवीनता विषयों के वर्गीकरण में दिखाई देती है। लूथर ने बालकों के मनोविकास का ध्यान रखते हुए यह निश्चय किया कि प्रारम्भिक कक्षाओं के विद्यार्थियों की शिक्षा में लिखना, पढ़ना, शारीरिक-विकास, संगीत तथा धर्म को स्थान मिलना चाहिए। इसके साथ ही उसने यह भी कहा कि इस अवस्था में शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा हो। चूँकि लूथर बालक और बालिकाओं दोनों को शिक्षित बनाना चाहता था और बालिकाओं को गृह-कार्य में निपुण करना चाहता था, इसलिए उसने बालिकाओं की शिक्षा में गृह-विज्ञान सम्बन्धी कार्यों को स्थान दिया। इसी प्रकार लूथर ने भावी पादरियों की शिक्षा में उन विषयों को स्थान दिया जो प्रोटेस्टेन्ट मत के प्रचार में सहायक हो सकते थे। इस दृष्टि से लूथर हिब्रू, ग्रीक, लैटिन, संगीत, इतिहास, विज्ञान, तर्क तथा भाषणकला की शिक्षा आवश्यक समझता था। पादरियों को स्वस्थ और बलिष्ट होना चाहिए, इसलिए उन्हें शारीरिक व्यायाम की भी शिक्षा दी जाती थी। जहाँ तक उच्च शिक्षा का सम्बन्ध लूथर ने विश्वविद्यालयों में शिक्षा के ऐसे विषयों को अधिक महत्त्व दिया जो शासन और प्रोटेस्टेन्ट मत के प्रचार के लिए योग्य व्यक्ति तैयार करने में सहायक होते थे।

शिक्षा की पद्धति—लूथर ने प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा की पद्धति में उन बातों की ओर ध्यान दिया जो बालक के मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। यद्यपि उस समय मनोविज्ञान जैसा कोई विषय नहीं था, लेकिन धीरे-धीरे लोगों को मनुष्य की प्रकृति का ज्ञान होने लगा था। अतः लूथर जोकि जनता का हिमायती था, मनुष्य के स्वभाव को समझता था। इतना ही नहीं, वह विचार और बुद्धि में विश्वास रखता था। इसलिए उसने शिक्षा की उस पद्धति को पसन्द किया जिसमें बालक की विचार-शक्ति का उपयोग होता था। दूसरे शब्दों में लूथर शिक्षा-पद्धति को सजीव बनाना चाहता था। इसके लिए उसने प्रादेशिक भाषा को माध्यम बनाया और पाठ्य-विषय में उन वस्तुओं को स्थान दिया जिनमें बालकों की रुचि थी। इस प्रकार लूथर ने शिक्षा-पद्धति को बाल-मनोविकास के अनुकूल बनाने का प्रयास किया।

शिक्षा का संगठन—लूथर का क्रांतिकारी कार्य शिक्षा के संगठन में दिखाई देता है। उसने सर्व प्रथम शिक्षा को सभी वर्गों के लिए अनिवार्य किया। इस प्रकार लूथर ने अनिवार्य शिक्षा का आरम्भ किया। इसके अतिरिक्त वह यह भी चाहता था कि शिक्षा सब के लिए सुलभ हो। क्या गरीब क्या धनी सबके बालक और बालिकाओं की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। लेकिन लूथर इसके साथ ही योग्य और कुशल शिक्षक को भी आवश्यक समझता था। उसका विश्वास था कि सार्वजनीन अनिवार्य शिक्षा का संगठन बिना योग्य अध्यापक के अपूर्ण है। इस प्रकार लूथर ऐसे अध्यापकों को चाहता था जिनका चरित्र निर्मल हो और जो प्रोटेस्टेन्ट समाज की प्रगति में सहायक हो सकें।

शिक्षा के संगठन में सार्वजनीन, अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा की सफलता के लिए लूथर राज्य द्वारा नियंत्रण चाहता था। इसके पूर्व शिक्षा की व्यवस्था पर चर्च का अधिकार होता था। लेकिन लूथर ने शिक्षा को चर्च से स्वतंत्र कराया और उसके प्रबन्ध को राज्य के हाथ सौंपा। इस का प्रभाव यह हुआ कि शिक्षा में समाज की अभिरुचि उत्पन्न हुई और यह अनिवार्य तथा सार्वजनीन रूप में प्रसारित हो सकी। इस प्रकार लूथर ने शिक्षा के संगठन में क्रांतिकारी परिवर्तन किये।

समाज पर प्रभाव—लूथर ने प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा का जो स्वरूप निर्धारित किया उससे समाज भी प्रभावित हुआ। फलतः हम देखते हैं कि ग्रीक तथा लैटिन भाषायें जो मानवतावादी शिक्षा में साध्य समझी जाती थीं, उनका महत्त्व कम हुआ और उन विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया गया जिनसे प्रोटेस्टेन्ट समाज का हित होता था। लूथर की शिक्षा का दूसरा प्रभाव यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विवेक और विचार से धर्म को समझता और उसपर विश्वास करता था। इस तरह समाज में अंधविश्वास की कमी हुई। तीसरा प्रभाव यह हुआ कि समाज और शिक्षा में सम्पर्क स्थापित हुआ। इसके पूर्व शिक्षा पादरियों और पोप तथा राजाओं के लिए थी। किसी गरीब के लिए वह सरलतापूर्वक उपलब्ध न थी। लेकिन लूथर ने समाज की उन्नति के लिए शिक्षा को अनिवार्य कर दिया। इस प्रकार शिक्षा का समाज के सभी वर्गों में प्रवेश हुआ।

प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा का विकासः जर्मनी

प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा के विकास में प्रोटेस्टेन्ट मत के बढ़ते हुए

प्रभाव से बड़ी सहायता मिली क्यों कि लूथर ने प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के प्रसार में शिक्षा को अत्यन्त आवश्यक माना था। फलतः जर्मनी में प्रोटेस्टेन्टशिक्षा का विकास तीव्रगति से होने लगा। जैसा कि लूथर ने कहा था, राज्य के शासकों ने शिक्षा-प्रसार को अपना उत्तरदायित्व माना। इस प्रकार शासन और जनता दोनों के सम्मिलित सहयोग से जर्मनी में प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा का प्रचार हुआ।

विद्यालयों का संगठन—प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा का विकास सर्वप्रथम माध्यमिक विद्यालयों तथा विश्व-विद्यालयों के पुन संगठन से आरम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त सैक्सनी के शासक मारिस (Maurice) ने सोलहवीं सदी के मध्य में तीन ऐसे स्कूल खोले जो 'प्रिंसेज स्कूल्स' (Princes' Schools) के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन स्कूलों के व्यय के लिए मारिस ने उस सम्पत्ति को दिया जो कैथलिक संघ के पास थी। इसके बाद ऐसे स्कूल भी खोले गये जो पूर्णरूप से सरकारी थे। इन्हें 'स्टेट स्कूल' कहते थे। स्टेट स्कूल के अतिरिक्त सिटी स्कूल भी थे जो पहले से ही चलते थे। इन्हीं स्कूलों के आधार पर जर्मनी के प्रसिद्ध विद्यालय जिमनाज़ियम का संगठन हुआ। जिमनाज़ियम स्कूलों की सुन्दर व्यवस्था का जर्मनी की शिक्षा पर अच्छा प्रभाव पड़ा। अतः ये स्कूल आज भी जर्मनी में लोकप्रिय हैं। यह सत्य है कि इनमें समयानुसार संशोधन भी होते रहे हैं।

ग्रामीण विद्यालयों की स्थापना—जर्मनी में प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा के विकासकाल में सिटी स्कूल, प्रिंसेज स्कूल, तथा स्टेट स्कूलों की व्यवस्था होने के साथ-साथ इस बात का भी प्रयास किया गया कि गाँवों में भी शिक्षा का प्रसार हो। नगरों में शिक्षा की उचित व्यवस्था थी। लेकिन गाँवों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया

गया था। लेकिन इस दिशा में जान बुगेन-हगेन* का कार्य उल्लेखनीय है। इन्होंने नगरों के साथ गाँवों में भी स्कूल खोलने की व्यवस्था की। इस प्रकार के जो स्कूल बुगेन-हगेन ने खोले उनमें प्रोटेस्टेन्ट धर्म, लेखन और पठन तथा मातृभाषा की शिक्षा का प्रबन्ध था। लेकिन इन स्कूलों के उचित संगठन में राज्य की सहायता न मिलने के कारण कठिनाई उपस्थित होती थी। फलतः सन् १५५९ में बुगेन-हेगन की मृत्यु के पश्चात् इन स्कूलों को शासन ने अपने अधिकार में ले लिया। इसी समय गाँवों में स्कूलों की व्यवस्था के लिए एक कानून बना जो 'वर्टेमबर्ग आर्डीनेन्स' (Ordinanas of Wurtemberg) के नाम से प्रसिद्ध है। इस कानून ने गाँवों में स्कूलों की व्यवस्था की। इन स्कूलों को उस समय "जर्मन स्कूल" का नाम दिया गया। वर्टेमबर्ग के बाद सैक्सनी के राज्य में भी इसी प्रकार के स्कूलों की व्यवस्था हुई। कालांतर में शिक्षा ६ वर्ष से लेकर बारह वर्ष के बालकों के लिए अनिवार्य हो गई और यह नियम बना दिया गया कि यदि विद्यार्थी स्कूल में अनुपस्थित होगा तो उसके अभिभावक को दंड दिया जायगा।

मेलंखथान का कार्य—जर्मनी में प्रोटेस्टेन्ट शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक व्यक्तियों ने कार्य किया। जान बुगेनहगेन के कार्य से हम परिचित ही हैं। लेकिन इन सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण कार्य फिलिप मेलंखथान (Philip Melanchthon: 1497-1560) का है। मेलंखथान के कार्य का महत्त्व जर्मनी में प्रोटेस्टेंट शिक्षा के सुंदर संगठन और सिद्धांतों के प्रतिपादन में

---

* John Bugenhagen (1485—1558).

दिखाई देता है। वह जो कुछ ठीक समझता था, उसे व्यावहारिक रूप भी देने का प्रयास करता था। यही कारण है कि जर्मनी की प्रोटेस्टेंट शिक्षा पर मेलंखथान के व्यक्तित्व की छाप है।

शिष्यों द्वारा अध्यापन—मेलंखथान के कार्यों में संगठन की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि लूथर ने जिस प्रकार के शिक्षा-संगठन का संकेत 'लेटर्स टु मेयर्स'* में किया था उसको उसने पूरा किया। इसके अतिरिक्त प्रोटेस्टेंट शिक्षा के सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए मेलंखथान ने विटेनवर्ग के विश्वविद्यालय को चुना। यहाँ उसने प्रोटेस्टेंट आदर्शों के अनुसार उच्च-शिक्षा का अध्यापन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि विटेनवर्ग विश्वविद्यालय के समान अन्य विश्वविद्यालयों में भी प्रोटेस्टेंट शिक्षा का प्रवन्ध किया गया। मेलंखथान विटेनवर्गविश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य करने के अतिरिक्त अपने घर पर भी बालकों तथा युवकों को शिक्षा प्रदान करता था। इस प्रकार उसके शिष्यों की संख्या अधिक थी। और इन शिष्यों में अधिकतर नये विद्यालयों में अध्यापन-कार्य करते थे। जहाँ कहीं भी नये विद्यालय की स्थापना होती, मेलंखथान की राय से अध्यापक नियुक्त किये जाते। इस तरह सम्पूर्ण जर्मनी में मेलंखथान के शिष्य फैल गये और उसके आदर्शों के अनुसार शिक्षण-कार्य करने लगे।

पत्र-व्यवहार द्वारा संगठन—मेलंखथान शिक्षा के संगठन को दृढ़ बनाने के लिए जर्मनी के विभिन्न नगरों के अधिकारियों से पत्र-व्यवहार करता था। इस पत्र-व्यवहार द्वारा मेलंखथान विद्यालयों के प्रबन्ध के नियम तय

---

* Letters to the Mayors and Aldermen of All cities of Germany in behalf of Christian Schools (1524)

करता, पाठ्यक्रम निश्चित करता, तथा अन्य प्रकार की कठिनाइयों को दूर करता था। इस सम्बन्ध में मेलंखथान का ५६ नगरों से पत्र-व्यवहार अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन पत्रों के आधार पर जर्मनी में शिक्षा-संगठन तथा पाठशाला-प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक नियमों का निर्माण हुआ।

एस्लबन योजना—मेलंखथान के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों और सिद्धांतों का ज्ञान उस योजना से भली भाँति हो जाता है जिसे उसने लूथर के जन्म स्थान एस्लबन (Eisleben) नामक ग्राम में विद्यालय की स्थापना के लिए बनाया था। इस योजना में मेलंखथान ने विद्यालय में तीन कक्षाओं की व्यवस्था की थी। पहली कक्षा के विद्यार्थियों को लैटिन भाषा की शिक्षा दी थी। यह शिक्षा ईसप की मनोरंजक कहानियों, कैटो के नैतिक गीतों तथा मोसेलैनस (Mosellanus) के संवादों के आधार पर होती थी। इन कहानियों, गीतों और संवादों द्वारा बालकों को लैटिन भाषा का इतना ज्ञान करा दिया जाता था कि वे वार्तालाप कर सकें। दूसरी कक्षा में मेलंखथान ने लैटिन भाषा-व्याकरण की व्यवस्था की। उसका विचार था कि व्याकरण के अध्ययन के लिए पर्याप्त समय देना चाहिए। यहाँ स्मरणीय है कि लूथर व्याकरण की शिक्षा आदर्श साहित्य के अध्ययन द्वारा देने के पक्ष में था। वह व्याकरण के स्वतंत्र अध्ययन के पक्ष में नहीं था। लेकिन मेलंखथान ने दोनों बातों को अपनाया। उसने व्याकरण को स्वतंत्र रूप से तथा साहित्य के द्वारा भी पढ़ाने का प्रबन्ध किया। उसकी दृष्टि में व्याकरण के लिए आदर्श साहित्य वर्जिल तथा टेरेंस का था। इन्हीं के साहित्य से व्याकरण-सम्बन्धी उदाहरण लेकर नियमों का स्पष्टीकरण किया जाता था। इस प्रकार दूसरी कक्षा में व्याकरण के अध्ययन का प्रबन्ध था। जब विद्यार्थी व्याकरण

का अध्ययन भली भाँति कर लेता था, तब उसे तीसरी कक्षा में भेजा था। तीसरी कक्षा के पाठ्य-विषयों में तर्कशास्त्र तथा भाषणकला, इतिहास तथा काव्य के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता था। जिन लेखकों की रचनाओं का उन्हें विशेष रूप से अध्ययन करना पड़ता था उनमें वर्जिल, सिसरो और लिवी उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त तीसरी कक्षा के योग्य विद्यार्थियों को धर्मशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से हिब्रू और यूनानी का अध्ययन करना पड़ता था।

मानवतावाद और प्रोटेस्टेंट मत में सामंजस्य—मेलंखथान की इस योजना में कुछ परिवर्तन भी कालांतर में हुआ। जिसके फलस्वरूप व्याकरण की शिक्षा एक ही कक्षा में सीमित न करके तीनों कक्षाओं में वितरित कर दी गई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मेलंखथान ने ऐसी शिक्षा योजना बनाई जिसमें लैटिन व्याकरण और साहित्य की प्रधानता थी। उसने जर्मन भाषा की शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया। इसका कारण मेलंखथान का मानवतावाद तथा प्रोटेस्टेंट मत से समान प्रेम था। वास्तव में मेलंखथान ने मानवतावाद और प्रोटेस्टेंट मत में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की। मानवतावाद के प्रभाव के कारण मेलंखथान लैटिन और ग्रीक के अध्ययन को अधिक महत्त्व देता था। लेकिन प्रोटेस्टेंट शिक्षा का इससे अहित हुआ, क्योंकि उसका आधार व्यक्ति की अनुभूति थी। प्रोटेस्टेंट शिक्षा का आरम्भ से ही यह उद्देश्य था कि व्यक्ति में इतना विवेक शीघ्रता से उत्पन्न हो जाय कि वह अपने धार्मिक विश्वासों को समझ सके। इसके लिए मातृभाषा द्वारा शिक्षा आवश्यक थी। लेकिन मेलंखथान के मानवतावादी विचारों के कारण, जर्मन भाषा की अवहेलना हुई। इस प्रकार प्रोटेस्टेंट मत और शिक्षा के प्रसार में कठिनाई उत्पन्न हो गई।

नियमवाद का उदय—यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रोटेस्टेंट विचारधारा का मानवतावाद पर भी प्रभाव पड़ा। जैसा कि हम जानते हैं, मानवतावाद 'साहित्यिक संस्कृति' का पोषक है। लेकिन मेलंखथान ने साहित्यिक संस्कृति के स्थान पर साहित्यिक तथा पवित्र भावना (Lettered Piety) को महत्त्व दिया। इस प्रकार उसने मानवतावाद के साहित्यिक अध्ययन का प्रोटेस्टेंट 'पवित्रभावना' से मेल कराया। जिसका परिणाम दोनों विचारधाराओं के लिए अहितकर इस प्रकार हुआ कि दोनों के विकास और प्रसार में अड़चनें उत्पन्न होने लगीं। इसके कारण वही स्थिति उत्पन्न हुई जो दो व्यक्तियों के पैर एक साथ बाँध कर दौड़ने में होती है। इस प्रकार दोनों के स्वाभाविक विकास रुक गये और एक प्रकार का नियमवाद (Formalism) उत्पन्न हो गया। यह नियमवाद स्ट्रम के समय में और भी बढ़ा और अंत में जर्मन प्रोटेस्टेंट शिक्षा नियमवाद के दलदल में फँस गई।

ज़िवग्ली और उसकी शिक्षा—जिस प्रकार जर्मनी में प्रोटेस्टेंट शिक्षा का विकास हुआ, उसी प्रकार स्विट्ज़रलैंड में भी, प्रोटेस्टेट मत के प्रसार के लिए शिक्षा आंदोलन को चलाया गया। इस शिक्षा-आंदोलन में ज़िवग्ली (Zwingli : 1484-1531) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लूथर की भाँति, ज़िवग्ली ने स्वतंत्र रूप से रोमन कैथलिक संघ का विरोध किया था। इस प्रकार उस समय प्रोटेस्टेंट मत के नायकों में ज़िवग्ली भी था। अतः ज़िवग्ली ने प्रोटेस्टेंट शिक्षा के प्रसार के लिए प्रयास किया। इस प्रयास के फलस्वरूप उसने सन् १५२३ में 'ईसाई बालकों के लिए शिक्षा' नामक पुस्तिका प्रकाशित की। इस पुस्तिका के अध्ययन से प्रोटेस्टेंट शिक्षा के उद्देश्य तथा पद्धति

आदि का पूरा ज्ञान हो जाता है। इसीलिए कुछ विद्वानों का विचार है कि ज़िवग्ली की यह पुस्तिका प्रोटेस्टेंट शिक्षा पर प्रकाश डालनेवाली पुस्तकों में सर्वप्रथम है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि लूथर का 'लेटर्स टु मेयर्स' सन् १९२४ में प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार समय की दृष्टि से भी ज़िवग्ली की यह पुस्तिका प्रथम थी।

इस पुस्तिका में ज़िवग्ली ने हिब्रू, ग्रीक और लैटिन भाषाओं के अध्ययन पर बल दिया क्योंकि इससे धार्मिक ग्रंथों को भली भाँति समझने में सहायता मिलती थी। उसने प्रोटेस्टेंट धर्म का भी एक पाठ्यक्रम बनाया जिससे प्रोटेस्टेंट समाज के बालकों को प्रोटेस्टेंट मत के सिद्धांतों का ज्ञान हो जाय। ज़िवग्ली मानसिक विकास के लिए संगीत, बौद्धिक विकास के लिए गणित तथा शारीरिक विकास के लिए व्यायाम की शिक्षा भी आवश्यक समझता था। वह यह भी चाहता था कि शिक्षा द्वारा बालक प्रकृति के सौंदर्य और उसके नियम को समझें। इसलिए 'प्रकृति-अध्ययन' (Nature Study) को भी ज़िवग्ली ने पाठ्यक्रम में स्थान दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उसने प्रोटेस्टेंट शिक्षा का विकास उचित दिशा में किया। यदि ज़िवग्ली ४७ वर्ष से अधिक जीवित रहता, तो संभवतः वह लूथर से अधिक कार्य करता। लेकिन उसकी मृत्यु उस समय होने वाले युद्ध में हो गई और पश्चिमी शिक्षा को उसकी सेवाओं से वंचित रहना पड़ा।

कालविन और उसकी शिक्षा—ज़िवग्ली जिस कार्य को अधूरा छोड़ गया था, उसे पूरा करने का श्रेय जान कालविन (१५०९-६९) को है। ज़िवग्ली और लूथर की भाँति कालविन भी प्रोटेस्टेंट शिक्षा का स्तम्भ था। एक गरीब परिवार में जन्म

लेकर, तथा सुविधाओं के न होते हुए भी कालविन ने उच्च शिक्षा का अध्ययन किया। उसके अध्ययन में ऐसे विषय भी आए जिनमें उसकी रुचि तनिक भी न थी। उसे कानून पढ़ना पड़ा जिससे वह भागता था। लेकिन कुछ समय के बाद, उसे मानवतावादी शिक्षा मिली। यह शिक्षा उसकी रुचि के अनुकूल थी। अत: कालविन ने मानवतावादी साहित्य का भली भाँति अध्ययन किया और बाइस वर्ष की अवस्था में ही ख्याति प्राप्त कर ली। जब वह चौबीस वर्ष का हुआ, तब उसे पादरी बनना पड़ा। लेकिन इसी समय प्रोटेस्टेंट मत की चर्चा सारे यूरोप में हो रही थी। कालविन ने भी सत्य को जानना चाहा। अत: उसने रोमन कैथलिक धर्म संघ के विरोधियों के तर्कों का अध्ययन किया। इस अध्ययन का प्रभाव यह हुआ कि कालविन भी कट्टर प्रोटेस्टेंट बन गया। इसके लिए उसे बहुत कष्ट उठाना पड़ा। उसे देश-निकाला मिला। कालविन भाग कर जिनेवा में आया। यहाँ उसे प्रोटेस्टेंट मत के अन्य व्यक्ति मिले जिससे वह शिक्षा-सम्बन्धी कार्य कर सका। लेकिन यहाँ भी उसे संघर्ष करना पड़ा, पर अंत में वह सफल हुआ।

शिक्षा का उद्देश्य—कालविन ने प्रोटेस्टेंट मत के अनुकूल समाज को बनाने के लिए शिक्षा के उस उद्देश्य को निश्चित किया जो बालकों में ऐसी धार्मिक भावना उत्पन्न करे जिससे वे राज्य-कार्य में प्रोटेस्टेंट मत के अनुसार हों और चर्च को समाज की धार्मिक तथा नैतिक समस्याओं को हल करने का पूरा अधिकार दे सकें। दूसरे शब्दों में कालविन इस प्रकार की राजनीतिक तथा धार्मिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता था जिसमें शासन ईसाई सिद्धांतों के अनुसार हो और चर्च को धार्मिक तथा नैतिक कार्यों पर पूर्ण

अधिकार हो।* इस प्रकार शिक्षा के समाज सम्बन्धी उद्देश्य को कालविन ने स्पष्ट किया। व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से कालविन के अनुसार शिक्षा ऐसी हो जिससे बालकों में ज्ञानार्जन की इच्छा तथा पवित्र भावना उत्पन्न हो।

शिक्षा संगठन और विषय—कालविन ने शिक्षा संगठन और विषय के सम्बन्ध में जो योजना बनाई उसके अनुसार स्कूल में सात कक्षाएँ रखी गईं। सातवीं कक्षा में प्रारम्भिक शिक्षा होती थी और जब बालक कक्षा एक में पहुँचता तभी उसकी शिक्षा पूरी होती थी। पाठ्य-विषय की दृष्टि से कालविन ने सातवीं कक्षा में प्रादेशिक भाषा के अक्षर ज्ञान तथा साधारण शब्दों के पठन-लेखन की व्यवस्था की। इसी कक्षा में लैटिन भाषा की शिक्षा भी आरम्भ कर दी जाती थी। छठी कक्षा में प्रादेशिक भाषा और लैटिन के व्याकरण का अध्ययन आरम्भ होता था। इस कक्षा में इन भाषाओं के कठिन शब्दों को कंठस्थ करना पड़ता था और सुंदर लेखन पर भी बल दिया जाता था। पाँचवी कक्षा में वर्जिल के काव्य का साधारण अध्ययन और लेख लिखने की व्यवस्था थी। चौथी कक्षा में ग्रीक भाषा का अध्ययन आरम्भ हो जाता था और इसी के साथ सिसरो के साहित्य का अध्ययन भी विद्यार्थियों को करना पड़ता था। तीसरी कक्षा में ग्रीक भाषा के व्याकरण पर बल दिया जाता

---

* Calvin saw in this situation the possibility of a new political and religious order in which the state would be governed in accordance with Christian principles, and the Church as a self-governing body would exercise full control in everything that pertained to religian and morals.—The History of Western Educatian by W. Boyd Page 198,

था और लैटिन की विशेष योग्यता प्रदान की जाती थी। दूसरी कक्षा में ग्रीक और लैटिन साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन आरम्भ कर दिया जाता था। उन्हें इन भाषाओं के सभी प्रमुख साहित्यकारों की रचनाओं का अध्ययन करना पड़ता था। पहली कक्षामें जब विद्यार्थी पहुँचता था, तब उसे साहित्यशास्त्र, तर्क शास्त्र और भाषणकला में दक्षता प्राप्त करनी पड़ती थी। इस प्रकार कालविन ने शिक्षा की सुंदर व्यवस्था की।

शिक्षा की पद्धति— कालविन ने शिक्षा की पद्धति में कोई आमूल परिवर्तन तो नहीं किया, लेकिन उसने बालक की मानसिक शक्तियों के अनुसार शिक्षा-पद्धति बनाने की चेष्टा की। इसके लिए वह कुशल और योग्य शिक्षक का होना अनिवार्य मानता था। वह ऐसी शिक्षा-पद्धति को पसन्द करता था जो बालकों में गुण (Virtue) तथा ज्ञान (Knowledge) उत्पन्न करने में सहायक हो। यह कार्य कुशल और विद्वान् शिक्षक द्वारा ही संभव हो सकता था। अतः कालविन ने योग्य अध्यापकों की नियुक्ति शिक्षा-पद्धति की सफलता के लिए आवश्यक समझा। इतना ही नहीं, वह यह भी चाहता था कि अध्यापक और विद्यार्थियों में ऐसा सम्बन्ध हो जिससे शिक्षा भली भाँति हो सके।

समाज पर प्रभाव—कालविन की शिक्षा का समाज पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कालविन के प्रभाव से ही फ्रांस में अनेक प्रोटेस्टेंट स्कूल खुले। जर्मनी में भी उसके सिद्धांतों के अनुसार स्कूल सत्तरहवीं सदी के अंतिम भाग में खोले गये और फिर हालैंड, इंग्लैंड तथा अमेरिका में भी कालविन के विचारों के समर्थक उत्पन्न हो गये। इस प्रकार कालविन की शिक्षा के अनुसार स्कूल खोले जाने लगे।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कालविन ने राज्य और चर्च को शासन तथा धर्म सम्बन्धी कार्यों को प्रोटेस्टेंट मत के अनुसार चलाने की व्यवस्था की। इसका समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ा। शिक्षा में मातृभाषा के साथ ग्रीक, लैटिन का अध्ययन रखकर कालविन ने परोक्ष रूप में मेलंखथान की भाँति मानवतावाद और प्रोटेस्टेंट मत में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालविन ने व्यक्ति और समाज, मानवतावाद और प्रोटेस्टेंट मत तथा राज्य और चर्च में सहयोग स्थापित करने का प्रयास किया।

जान नॉक्स और उसकी शिक्षा—कालविन ने प्रोटेस्टेंट शिक्षा के जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, उसका अनुकरण देशों में भी हुआ। लेकिन स्काटलैंड में कालविन के शिक्षा-सिद्धांतों का पालन सबसे अधिक किया गया। ऐसा जान नाक्स (John Knox : 1505—1572) के कारण हुआ। नाक्स ने प्रोटेस्टेंट धर्म के प्रचार के लिए स्काटलैंड में बड़ा कार्य किया। इसी सम्बन्ध में उसका परिचय कालविन से भी हो गया था। इस प्रकार कालविन के सम्पर्क में आकर नाक्स ने जिनेवा में शिक्षा-पद्धति का अध्ययन किया और फिर उसी के अनुसार स्काटलैंड में शिक्षा की व्यवस्था की। लेकिन कुछ दृष्टियों से जान नाक्स की शिक्षा-व्यवस्था, लूथर और कालविन से भी श्रेयस्कर थी। नाक्स की शिक्षा-व्यवस्था की सर्व प्रथम यह विशेषता थी कि गरीब और अमीर के बालकों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा थी और दोनों वर्गों के बालकों को शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। शिक्षा की अनिवार्यता कार्यान्वित करने का अधिकार चर्च के पास था क्योंकि राज्य अनिवार्यता की ओर पर्याप्त ध्यान देने में असमर्थ था। यह स्मरणीय है कि अन्य

प्रोटेस्टेंट देशों में शिक्षा की अनिवार्यता का दायित्व का राज्य पर था। लेकिन नाक्स ने चर्च के अधिकार में इस कार्य को रक्खा। दूसरी विशेषता नाक्स की शिक्षा-व्यवस्था में यह थी कि सम्पूर्ण शिक्षा का विभाजन इस प्रकार कर दिया गया कि सभी बालकों को एक ही प्रकार की उच्च शिक्षा मिल सके। उदाहरण के लिए गाँवों में ऐसे स्कूल होते थे जिनमें दो वर्ष के अध्ययन का पाठ्यक्रम होता था। इस पाठ्यक्रम में पठन-लेखन, धार्मिक प्रश्नोत्तरी तथा साधारण व्याकरण को स्थान दिया जाता था। इस दो वर्ष के अध्ययन के बाद विद्यार्थी कस्बे (town) के स्कूल में तीन वर्ष के अध्ययन के लिए आता था। यहाँ उसे तीन या चार वर्ष तक व्याकरण और लैटिन का अध्ययन करना पड़ता था। इसके बाद विद्यार्थी नगर के हाई स्कूल अथवा कालेज में शिक्षा प्राप्त कर सकता था। कालेज में चार वर्ष तक ग्रीक, लैटिन, साहित्य, व्याकरण, तर्क आदि का अध्ययन करना पड़ता था। कालेज की शिक्षा पूरी करने के बाद, विश्वविद्यालय-शिक्षा की व्यवस्था थी। विश्वविद्यालय में तीन वर्ष तक विद्यार्थी को गणित, दर्शन, धर्मशास्त्र, चिकित्साशास्त्र अथवा कानून आदि विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इस प्रकार नाक्स ने शिक्षा-संगठन में ग्राम विद्यालय, टाउन स्कूल, हाई स्कूल अथवा कालेज और फिर विश्वविद्यालय की व्यवस्था की। इसका परिणाम यह हुआ कि पूरे स्काटलैंड की शिक्षा में एक प्रकार की एकता और समानता उत्पन्न हो गई और प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा-योग्यता का भी सरलतापूर्वक निर्णय हो जाता था। कहने की आवश्यकता नहीं है, नाक्स ने विभिन्न विद्यालयों के पाठ्यक्रम में जो सम्बन्ध स्थापित किया, उसका अनुकरण आज भी हो रहा है, यद्यपि उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन कर दिये

गये हैं। लेकिन यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नाक्स की शिक्षा-व्यवस्था का पूर्ण प्रसार स्काटलैंड में न हो सका। इसके कई कारण थे। लेकिन सब से प्रधान कारण आर्थिक था। चर्च के पास इतना धन न था कि नाक्स के अनुसार शिक्षा का संगठन और उसका नियंत्रण किया जा सकता।

प्रोटेस्टेंट शिक्षा का पतन—प्रोटेस्टेंट शिक्षा के स्वरूप, विकास और उसके प्रचारकों से परिचित हो जाने के बाद यह आवश्यक है कि हम उसके पतन के कारणों का अध्ययन करें। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर हमें सब से बड़ा कारण नियमवाद की वृद्धि में दिखाई पड़ता है। शिक्षा, शासन अथवा राज्य का अधिकार हो जाने के कारण सीमित और संकुचित होने लगी। उसमें व्यापक दृष्टिकोण का अभाव उत्पन्न हो गया। उस समय होने वाले सांप्रदायिक झगड़े और धार्मिक युद्ध भी प्रोटेस्टेंट शिक्षा को सीमित तथा संकुचित बनाने में सहायक हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा में केवल भाषा पर अधिक बल दिया जाने लगा। जहाँ तक भाव का सम्बन्ध है, उसकी उपेक्षा होने लगी। इस प्रकार प्रोटेस्टेंट शिक्षा मानवतावादी उदारता से विमुख होकर नियमवाद में जकड़ती गई।

कैथलिक शिक्षा

सोसायटी ऑफ जीसस—सुधार-काल में किस प्रकार प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय का संगठन हुआ, इससे हम परिचित हैं। अतः हमें उस समूह का अध्ययन करना है जो प्रोटेस्टेंट नहीं बना। यह समूह कैथलिक धर्मानुयायियों का था। इस समूह के विचार-शील व्यक्तियों ने रोमन कैथलिक संघ में ऐसा सुधार करना चाहा जिससे उसकी सभी बुराइयाँ दूर हो जाँय। इस दृष्टि से कार्य करने वाले अनेक रोमन कैथलिक हुए। लेकिन स्पेन के लयोला* नामक ईसाई साधु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लयोला पहले सैनिक था और फिर बाद में वह साधु बन गया। साधु बन जाने के बाद रोमन कैथलिक संघ में सुधार के लिए उसने एक संस्था बनाई जिसका नाम सोसायटी ऑफ जीसस (Society of Jesus) था और जिसके सदस्य जीसुइट कहलाते थे। सैनिक होने के कारण लायोला ने संस्था के सदस्यों पर कड़ा अनुशासन रखा और चरित्र की पवित्रता पर सबसे अधिक बल दिया। इस प्रकार सोसायटी ऑफ जीसस की प्रगति होने लगी और इसके अच्छे कार्यों को देखकर पोप ने इसकी स्थापना के ६ वर्ष बाद सन् १५३४ में मान्यता प्रदान की।

संगठन और संचालन—सोसायटी ऑफ जीसस की कार्य-प्रणाली पर उसके संगठन का बड़ा प्रभाव पड़ा था। लायोला ने सैनिक संगठन के अनुरूप, संस्था के प्रधान को 'जनरल' का पद किया। जनरल जीवन पर्यंत सोसायटी का संचालन कर

---

*Loyola: 1491-1556

सकता था और उसे सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। जनरल के नीचे 'प्रांतीय शासक' होता था। इसकी नियुक्ति जनरल ६ वर्षों के लिए करता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रांत के विभिन्न कालेजों के लिए जनरल 'रेक्टर' भी ६ वर्षों के लिए नियुक्त करता था। रेक्टर कालेज की प्रगति-सम्बन्धी सूचनायें प्रांतीय शासक को देता रहता था। लेकिन प्रत्येक कालेज की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रांतीय शासक की ओर से प्रीफेक्ट की नियुक्ति होती थी। प्रीफेक्ट रेक्टर के अंतर्गत कार्य करते थे। इसके अतिरिक्त कालेज में प्रोफेसर अथवा प्रीसेप्टर (Preceptor) भी होते थे जो प्रीफेक्ट के निरीक्षण में रहते थे। थे। इस प्रकार शिक्षा के निरीक्षण और संचालन के लिए लायोला ने जो संगठन बनाया वह बड़ा सहायक सिद्ध हुआ।

आर्डर ऑफ स्टडीज़—जीसुइट शिक्षा का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसके लिए जीसुइट लोगों ने अपनी संस्था की नियमावली पर पर्याप्त ध्यान दिया क्योंकि उनका विचार था कि जब तक उचित कैथलिक शिक्षा का प्रबन्ध नहीं होगा, तब तक कैथलिक धर्म में स्थायित्व नहीं आ सकता। फलतः लायोला ने अपनी संस्था के विधान (Constitution) में शिक्षा का समावेश किया। लेकिन उस विधान में शिक्षा सम्बन्धी नियम पर्याप्त नहीं थे। इसलिए लायोला की मृत्यु के पश्चात् उसमें सुधार किया गया। पर यह सुधार भी पर्याप्त सिद्ध नहीं हुआ। फलतः सन् १५९९ में इस संस्था के विधान के चौथे भाग में 'आर्डर आफ स्टडीज' का समावेश किया गया जिसे 'रेशियो स्टडियोरम (Ratio Studiorum) भी कहते थे। विधान के इस अंश के अध्ययन से जीसुइट शिक्षा का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

शिक्षा का उद्देश्य—जीसुइट शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था रोमन कैथलिक धर्म का प्रचार तथा प्रोटेस्टेंट लोगों को रोमन चर्च में पुनः लाना। इसके लिए जीसुइट शिक्षा चरित्र की पवित्रता पर बल देती थी और व्यक्तिगत स्वार्थों के स्थान पर कैथलिक संघ के स्वार्थ को अपनाना सिखाती थी। इस प्रकार जीसुइट शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के चरित्र का ऐसा निर्माण करना था जिसमें कैथलिक धार्मिकता हो, और कैथलिक संघ को शक्तिशाली बनाने की भावना हो।

शिक्षा के विषय और संगठन—जीसुइट शिक्षा के विषय और संगठन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि बालक को अक्षर ज्ञान तथा साधारण पठन-लेखन की शिक्षा घर पर ही प्राप्त करनी पड़ती थी। बिना इसके बालक को स्कूल में भर्ती नहीं किया जाता था। इसका प्रधान कारण जीसुइट अध्यापकों की कमी थी। और इसीलिए जीसुइट शिक्षा संगठन में दो प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था थी। एक प्रकार के शिक्षालय 'लोअर कालेज' कहलाते थे और दूसरे प्रकार के 'अपर कालेज'।

लोअर कालेज की प्रथम तीन कक्षाओं में लैटिन व्याकरण तथा ग्रीक भाषा के साधारण अध्ययन की प्रधानता थी। इन तीन कक्षाओं का अध्ययन तीन वर्ष में पूरा होता था। चौथे वर्ष चौथी कक्षा में लैटिन तथा ग्रीक साहित्य की शिक्षा दी जाती थी। इस सम्बन्ध में विद्यार्थियों को लैटिन तथा ग्रीक के प्रसिद्ध साहित्यकारों तथा इतिहासकारों की रचनाओं का अध्ययन करना पड़ता था। पाँचवी कक्षा में साहित्य के गहन अध्ययन की प्रधानता थी। विद्यार्थी काव्य और अंलकार का भी पर्याप्त अध्ययन करते थे। उनका यह अध्ययन दो वर्षों में पूरा होता था। इस प्रकार लोअर कालेज में शिक्षा के विषयों की व्यवस्था की गई।

अपर कालेज में दर्शनशास्त्र तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा प्रधान थी। दर्शन का अध्ययनकाल तीन वर्ष था। इस काल में दर्शन का अध्ययन करते समय विद्यार्थी सम्बन्धित तथा अन्य विषयों का भी अध्ययन करता था। अतः दर्शन के क्षेत्र में सम्बन्धित विषय जैसे तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान के अतिरिक्त गणित सम्बन्धी सभी विषय तथा विज्ञान की सभी शाखाओं का अध्ययन करना पड़ता था। जब यह शिक्षा पूरी हो जाती थी, तब विद्यार्थी को एम. ए. (मास्टर ऑफ आर्ट्स) की डिग्री प्रदान की जाती थी। एम. ए. डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् अधिकतर विद्यार्थी लोअर कालेज में अध्यापन—कार्य करते थे। यह कार्य पाँच-छः वर्षों तक करने के बाद वे धर्मशास्त्र के अध्ययन की ओर अग्रसर होते थे।

धर्मशास्त्र का अध्ययनकाल चार वर्षों का था। इसकाल में धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन के लिए ग्रीक तथा लैटिन के अतिरिक्त हिब्रू भाषा की योग्यता प्राप्त करनी पड़ती थी। अतः इन तीन भाषाओं के द्वारा प्राचीन धार्मिक ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन होता था। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म के इतिहास और उससे सम्बन्धित विधान का भी विस्तृत अध्ययन आवश्यक था। इस प्रकार धर्मशास्त्र सम्बन्धी शिक्षा चार वर्षों में पूरी होती थी। इस शिक्षा के बाद अनुसंधान कार्य की भी व्यवस्था थी। इसके लिए दो वर्ष तक धर्म सम्बन्धी किसी विषय पर अनुसंधान करके एक गंभीर निबन्ध (Thesis) लिखना पड़ता था। इस निबन्ध की परीक्षा में जब विद्यार्थी को सफलता मिलती थी तब उसे 'डाक्टर ऑफ डिविनिटी' अथवा डी० डी० की उपाधि प्रदान की जाती थी। इस प्रकार जीसुइट की उच्च शिक्षा के विषय और संगठन की व्यवस्था की गई।

शिक्षा की पद्धति—जीसुइट शिक्षा की विशेषता उसकी

पद्धति में विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। लोअर कालेज में कंठस्थ-क्रिया प्रधान थी। इसके साथ साथ पुनरावृत्ति पर भी अधिक बल दिया जाता था। इस संबन्ध में कहा जाता था कि 'पुनरावृत्ति शिक्षा की माँ है।' * अतः प्रत्येक दिन की शिक्षा पुनरावृत्ति से आरम्भ होती थी। पिछले दिन के पाठ का आरम्भ में पुनरावृत्ति हो जाने के बाद नवीन पाठ आरम्भ होता था, और पाठ समाप्त हो जाने पर फिर उसकी पुनरावृत्ति कर ली जाती थी। रटने और दोहराने के काम को रोचक बनाने के लिए प्रतियोगिता की भावना को प्रोत्साहन दिया जाता था। इसके लिए कक्षा में विद्यार्थियों को दो भागों में बाँट दिया जाता और उन्हें आमने-सामने बैठ दिया जाता था। इसके अतिरिक्त दोनों भागों के प्रत्येक विद्यार्थियों का नम्बर भी तय कर दिया जाता था। इस प्रकार जब एक भाग का नम्बर पाँच विद्यार्थी पाठ की पुनरावृत्ति करता तो दूसरे भाग का नम्बर पाँच विद्यार्थी भी खड़ा हो जाता और वह पुनरावृत्ति करने वाले विद्यार्थी की यदि कोई गलती होती तो उसे बताता था। ऐसा करने से बालकों को एक तरह के खेल का आनंद मिलता था। इसके अतिरिक्त प्रोत्साहन के लिए पुरस्कार और उपाधि की भी व्यवस्था की गई थी।

जीसुइट शिक्षा-पद्धति में योग्य शिक्षक का प्रमुख स्थान था। बिना योग्य और कुशल शिक्षक के शिक्षा पद्धति की सफलता असंभव थी। जैसे कि हम ऊपर लिख चुके हैं, लोअर कालेज में उन्हीं व्यक्तियों को अध्यापन कार्य करने का अधिकार था जिन्होंने अपर कालेज के दर्शन-पाठ्यक्रम का अध्ययन किया था। इसके

---

* Latin motto—"Repetition is the mother of learning,"—A Students History of Education. Page 146.

अतिरिक्त इन शिक्षकों को शिक्षा-पद्धति का भी ज्ञान कराया जाता था। फलतः जब वे पढ़ाते, तब वे साधारण रूप से उस पद्धति के अनुसार शिक्षा देते जिसे व्याख्यान-पद्धति अथवा प्रीलेक्शन (Prelection) कहते थे। प्रीलेक्शन-पद्धति के अनुसार सर्व-प्रथम शिक्षक पूरे पाठ का साधारण अर्थ स्पष्ट करता था। इसके बाद पाठ के अंशों की व्याख्या होती थी। फिर पाठ सम्बन्धी अन्य लेखकों के विचारों को बताया जाता था। इसके बाद अध्यापक पाठ की स्वयं आलोचना करता था। इस आलोचना के पश्चात् पाठ-सम्बन्धी अलंकारों का अध्ययन होता था और अंत में उस पाठ से जो शिक्षा मिलती उस पर प्रकाश डाला जाता था।* इस प्रकार हम देखते हैं कि जीसुइट शिक्षा-पद्धति अपने समय में सर्व-श्रेष्ठ थी।

समाज पर प्रभाव—जीसुईट शिक्षा विशेष रूप से माध्यमिक शिक्षालयों तथा विश्वविद्यालयों में विकसित हुई। इसके फलस्वरूप योग्य व्यक्तियों और शिक्षकों की समाज में संख्या बढ़ी। इसका प्रभाव यह हुआ कि लोगों में चरित्र की पवित्रता आई और शिक्षा का प्रचार हुआ। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि लायोला की जब मृत्यु हुई थी, तब जीसुइट कालेजों की संख्या सौ के लगभग थी। लेकिन डेढ़ सौ वर्ष बाद उनकी संख्या बढ़कर ७६९ हो गई। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि प्रत्येक कालेज में औसत रूप से तीन सौ विद्यार्थी पढ़ते थे। लेकिन कुछ कालेज ऐसे भी थे जिनमें विद्यार्थियों की संख्या हजारों में थी। इस प्रकार जीसुइट शिक्षा के प्रसार से समाज में कुशल नागरिकों की संख्या बढ़ी और सांस्कृतिक जीवन में भी सहायता उत्पन्न हुई।

---

* Ibid.

समाज की दृष्टि से जीसुइट शिक्षा ने सदा उसका हित चाहा। व्यक्तिवाद को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त धनी और गरीब को शिक्षा का समान अवसर प्रदान किया गया। इस प्रकार जीसुइट शिक्षा सामाजिक प्रगति में सहायक हुई। लेकिन सोलहवीं सदी के मध्य से आरम्भ होकर जब यह शिक्षा १८ वीं सदी के मध्य में आई, तब इसका पतन होने लगा। इस पतन के लिए जीसुइट लोगों का दंभ, अधिकार का मादक सुख और आपसी कलह उत्तरदायी है। जब अध्यापकों और पादरियों में छोटी-छोटी बातों पर वाद-विवाद तथा मनो-मालिन्य होने लगा, तब जीसुइट शिक्षकों के विरुद्ध काररवाई की गई और पोप ने उनकी संस्था—सोसाइटी ऑफ जीसस-को भंग कर दिया। इसके बाद जीसुइट शिक्षा का फिर उत्थान नहीं हुआ, यद्यपि उसके लिए पर्याप्त प्रयास हुए। इस प्रकार कैथलिक शिक्षा का प्रधान स्वरूप जो जीसुइट शिक्षा के रूप में प्रगट हुआ था, उसका अंत १८ वीं सदी के मध्य में आरंभ हो गया।

क्रिश्चियन ब्रदर्स की शिक्षा—जीसुइट शिक्षा के इस अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक शिक्षा के लिए कोई उचित व्यवस्था नहीं थी। साधारण पठन-लेखन की शिक्षा घर से ही अथवा किसी अन्य शिक्षक से प्राप्त कर लेने के बाद ही बालक लोअर कालेज में भर्ती किया जाता था। इस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा की अवहेलना हुई। दूसरी बात इस अध्ययन से जो ज्ञात होती है वह समाज के धनी तथा गरीब वर्गों से सम्बन्ध रखती है। जीसुइट शिक्षा ने बिना किसी वर्ग-भेद भाव के शिक्षा की व्यवस्था की। लेकिन इतना करने पर भी गरीब बालकों को उचित शिक्षा नहीं मिल पाती थी। जो गरीब बालक सदियों से अवहेलित था, उसकी ओर जीसुइट लोगों ने ध्यान दिया, लेकिन उसकी दशा

सुधारने में वे पूर्ण सफल नहीं हो सके। ऐसी दशा में कुछ लोगों ने इस कार्य को पूरा करने का निश्चय किया। उन्होंने चाहा कि प्रारम्भिक शिक्षा की अच्छी व्यवस्था हो और गरीब विद्यार्थियों के लिए सुंदर शिक्षा का प्रबन्ध हो। जिन लोगों ने ऐसा करने का निश्चय किया उन्हें 'क्रिश्चियन ब्रदर्स' कहते थे। क्रिश्चियन ब्रदर्स नामक संगठन का जन्मदाता जीन बैपटिस्ट द ला सले (१६५१-१७१९) था *। जीन की संगठन-शक्ति और त्याग ने इस संस्था को जीवन प्रदान किया और उसकी देखरेख में इसकी तीव्रगति से उन्नति होने लगी।

अध्यापकों की दीक्षा—क्रिश्चियन ब्रदर्स संस्था का संगठन पाँच ऐसे अध्यापकों के सहयोग से हुआ जो गरीब विद्यार्थियों को शिक्षा देने का कार्य करते थे। इनका शिक्षालय रेम (Rheim) नगर में स्थित था। अतः जीन ने जब संस्था को स्थापित किया तब इन पाँचों अध्यापकों ने उसकी बड़ी सहायता की और सन् १६८२ में जीन ने शिक्षा की जो योजना बनाई उसे पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने में ये लोग लग गये। इसका फल यह हुआ कि गरीबों के लिए प्रारम्भिक-शिक्षा का सुंदर प्रबन्ध होने लगा और आसपास के कई नगरों में स्कूल खुलने लगे। जब नये स्कूल खुलते तो क्रिश्चियन ब्रदर्स से अध्यापकों की माँग होती थी। अतः इन लोगों ने अध्यापकों की दीक्षा के लिए भी ट्रेनिंग स्कूल खोला। इस ट्रेनिंग स्कूल में अनेक नवयुवक आते और अध्यापन-कला की शिक्षा प्राप्त करते थे। इस प्रकार ट्रेंड अध्यापकों की कमी पूरा करने के लिए भी क्रिश्चियन ब्रदर्स ने अपूर्व कार्य किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पश्चिमी शिक्षा के इतिहास में अध्यापन-कला की शिक्षा के लिए

* Jean Baptiste de la Salle.

ट्रेनिंग स्कूल खोलने का श्रेय क्रिश्चियन ब्रदर्स को है। इसके पहले इस प्रकार के ट्रेनिंग स्कूल की व्यवस्था नहीं मिलती।

शिक्षा का उद्देश्य—क्रिश्चियन ब्रदर्स की शिक्षा-योजना का स्पष्ट स्वरूप हमें उनके कोड 'कांडक्ट ऑफ स्कूल्स' में दिखाई देता है। इस योजना में शिक्षा का प्रधान उद्देश्य धर्म की शिक्षा देना था। धार्मिक शिक्षा की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि अध्यापक अपने उदाहरण से विद्यार्थियों के सम्मुख एक जीवित आदर्श उपस्थित करे।

शिक्षा के विषय—क्रिश्चियन ब्रदर्स की शिक्षा योजना में जिन विषयों को स्थान दिया गया था वे प्रारम्भिक शिक्षा के पठन-लेखन और साधारण गणित से आरम्भ होते थे। इसके बाद उन्हें मानवतावादी शिक्षा के अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त शिक्षा के विषयों में दस्तकारी और उद्योग-धंधे सम्बन्धी कार्य भी सम्मिलित किए गये। ऐसा इस लिए किया गया कि गरीब विद्यार्थियों की शिक्षा शुद्ध साहित्यिक और धार्मिक ही न हो, वरन् उनके जीवनयापन में भी सहायक हो। इसलिए उन्हें दस्तकारी और साधारण उद्योग-धंधे की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार क्रिश्चियन ब्रदर्स ने शिक्षा के विषय में नवीनता का समावेश किया और उसके द्वारा जीवनयापन में सहायता प्रदान की।

शिक्षा का संगठन—शिक्षा के संगठन की दृष्टि से क्रिश्चियन ब्रदर्स का कार्य प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रधान था। इनके प्रयास के फलस्वरूप यूरोप के अनेक देशों में प्रारम्भिक शिक्षा का प्रसार हुआ। इसके अतिरिक्त इन लोगों ने इंडस्ट्रियल तथा वोकेशनल स्कूल भी खोले। तीसरी नवीनता इनके शिक्षा

संगठन में टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल की स्थापना के कारण आई। इस प्रकार क्रिश्चियन ब्रदर्स द्वारा जो शिक्षा का संगठन हुआ, वह समय के साथ शक्तिशाली होता गया और उसका अस्तित्व आज भी यूरोप के अनेक देशों में दिखाई देता है।

शिक्षा की पद्धति—जीसुइट लोगों ने शिक्षा की पद्धति में पर्याप्त सुधार किया था। उस पद्धति को अपनाते हुए क्रिश्चियन ब्रदर्स ने अपनी शिक्षा-पद्धति में ट्रेंड अध्यापकों की नियुक्ति को आवश्यक माना। इसके अतिरिक्त दूसरा कार्य इन लोगों ने जो किया वह बालकों का वर्गीकरण उनके मनोवैज्ञानिक विकास के अनुसार था। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि एक ही अध्यापक पूरे वर्ग को एक साथ एक ही पाठ्य पुस्तक की सहायता से शिक्षा प्रदान कर सके। इस प्रकार क्रिश्चियन ब्रदर्स ने 'कक्षा-शिक्षण' पद्धति को पर्याप्त सुधार के बाद अपनाया।

समाज पर प्रभाव—क्रिश्चियन ब्रदर्स की शिक्षा से समाज में प्रारम्भिक शिक्षा का प्रसार हुआ। वास्तव में सार्वजनीन और निःशुल्क प्रारम्भिक-शिक्षा को आरम्भ करने का श्रेय क्रिश्चियन ब्रदर्स को ही मिलना चाहिए क्योंकि इन्हीं के प्रयास को पश्चात् पश्चिमी देशों में प्रारम्भिक शिक्षा का पूर्ण प्रसार होता है। इसके अतिरिक्त इनकी शिक्षा द्वारा समाज में बेकारी की कमी हुई। दस्तकारी और उद्योग-धन्धों की शिक्षा का प्रबन्ध करके गरीबी दूर करने का इनका प्रयास प्रशंसनीय है। इस प्रकार क्रिश्चियन ब्रदर्स ने समाज को प्रगति पथ पर बहुत आगे बढ़ाया।

सुधारकाल का शिक्षा पर प्रभाव—सुधार कालीन प्रोटेस्टेंट और कैथलिक शिक्षा का अध्ययन कर लेने के बाद यह आवश्यक है कि हम इस काल की शिक्षा पर सुधार के प्रभाव की

दृष्टि से विचार करें क्योंकि यूरोपीय इतिहास, पर सुधारकाल का बड़ा प्रभाव पड़ा है।

सुधारकाल का शिक्षा पर प्रभाव सर्वप्रथम हमें शिक्षा और समाज तथा शासन के सहयोग में दिखाई देता है। इसके पहले शिक्षा चार्च के अधीन थी। लेकिन सुधारकाल में शिक्षा का दायित्व शासन, राज्य और जनता पर रखा गया। यह एक ऐसा परिवर्तन हुआ जो आज भी स्थायी है।

इस काल की शिक्षा पर दूसरा प्रभाव प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीन और निःशुल्क होने में दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त गरीबों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध भी इस काल की शिक्षा की विशेषता है। माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम की व्यवस्था तथा नाक्स द्वारा विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में सामञ्जस्य शिक्षा में अपूर्व स्थान रखते हैं। क्रिश्चियन ब्रदर्स द्वारा दस्तकारी तथा उद्योग-धन्धों की शिक्षा, तथा अध्यापकों को दीक्षा की व्यवस्था भी सुधार की परिचायक है। इस प्रकार सुधार काल में आगे बढ़ने और अंधविश्वास को हटाकर विवेक-विचार के अनुसार कार्य करने की जो शक्ति उत्पन्न हुई, उसके कारण शिक्षा के उद्देश्य, विषय, पद्धति और संगठन में भी काफी परिर्त्तन हुआ। लेकिन अट्ठारहवीं सदी के मध्य में आकर सुधार कालीन शिक्षा नियमवादी हो गई। उसमें रूढ़ियाँ उत्पन्न हो गईं। साध्य की उपेक्षा और साधन की पूजा होने लगी। विवेक और विचार को छोड़ कर अन्ध-विश्वास का सहारा लिया गया। इस प्रकार सुधारकाल में शिक्षा द्वारा समाज की उन्नति हुई तो, लेकिन नियमवादी प्रवृत्ति के कारण वह आगे बढ़ न सकी और फिर निर्जीव हो गई।

यथार्थवादी शिक्षा

यथार्थ की प्रवृत्ति—पुनरुत्थान काल में प्राचीन यूनानी और लैटिन साहित्य के अध्ययन तथा 'साहित्यिक संस्कृति' के प्रचार द्वारा उदार वृत्तियों को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया गया। इसके बाद मानवतावाद का विकास हुआ। मानवतावादी शिक्षा के अध्ययन में हम देख चुके हैं कि इसके द्वारा किस प्रकार साहित्य के अध्ययन पर बल दिया गया, और उत्तरी यूरोप में इसने किस प्रकार समाज में नैतिकता का प्रचार किया। इसी के फलस्वरूप सुधारकाल आया। लेकिन मानवतावाद ने 'सिसरोवाद' और सुधारकाल ने नियमवाद को अपना कर अवनति का स्वागत किया। पर इतना तो सत्य है कि मानवतावाद और सुधारवाद के कारण यूरोप में एक ऐसी जाग्रति उत्पन्न हुई जिसमें आधुनिक उन्नति के बीज निहित थे। सुधारकाल में जिस विवेक-बुद्धि पर प्रोटेस्टेंट लोगों ने बल दिया था, वह नियमवाद के कारण कुछ काल के लिए अवश्य शिथिल हो गई। लेकिन कालांतर में यूरोपीय समाज में बुद्धि का पुनः विकास हुआ और व्यक्ति स्वतंत्र-विचार की सहायता से सब कुछ समझने की कोशिश करने लगा। उसके मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि वह हर एक प्रश्न के मूल में जा सके, हर एक वस्तु के यथार्थ रूप को देख सके। दूसरे शब्दों में वह यथार्थ की तलाश करने लगा। उस समय सत्तरहवीं सदी में विज्ञान का विकास हो रहा था। अतः यथार्थ की खोज में विज्ञान सहायक हुआ। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जावन के यथार्थ को देखकर शिक्षा में दस्तकारी और

उद्योग धंधों का समावेश किया गया था। इस प्रकार शब्दों के स्थान पर औजारों की उपयोगिता स्वीकार की गई और लोगों की प्रवृत्ति यथार्थ की ओर हुई। यथार्थ की ओर जो प्रवृत्ति उत्पन्न हुई उसे यथार्थवाद कह सकते हैं।

यथार्थवाद और शिक्षा—लेकिन यथार्थ की प्रवृत्ति ही यथार्थवाद में निहित नहीं है। यथार्थवाद का दार्शनिक और ऐतिहासिक अर्थ भी है। दार्शनिक दृष्टि से यथार्थवाद यूनानी दर्शन की प्रतिक्रिया है। यूनानी दार्शनिकों ने जिन तत्वों को सराहा, उन्हीं की उपेक्षा यथार्थवाद करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यथार्थवाद पुनरुत्थान की प्रतिक्रिया है। पुनरुत्थान काल में साहित्य, कला और संगीत जैसे विषयों की प्रधानता थी। यथार्थवाद ने इनका विरोध किया और कहा कि हमें 'वस्तु' से मतलब है न कि शब्दाडम्बर से। इस प्रकार यथार्थवाद यूरोप में साहित्य से विज्ञान की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति का सूचक है। इसके अतिरिक्त यथार्थवाद का साधारण अर्थ उस विचारधारा से है जिसमें वास्तविकता, व्यावहारिकता, क्रिया, यथार्थ और लौकिक जीवन की सफलता को महत्व दिया जाता है। अतः इस यथार्थवाद का शिक्षा पर प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप प्रादेशिक भाषा की शिक्षा इसलिए होती कि एक व्यक्ति दूसरे के विचारों के यथार्थ को समझ सके और लैटिन का अध्ययन इसलिए किया गया कि वह उस समय वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में पत्र-व्यवहार की भाषा थी। गणित, इतिहास तथा विज्ञान के विषयों की शिक्षा भी जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से दी जाने लगी। इस प्रकार यथार्थवाद का शिक्षा पर जो प्रभाव पड़ा, उसके फलस्वरूप 'शब्द' के स्थान पर 'वस्तु' की प्रधानता हो गई।* लेकिन इसी के साथ यह

* A History of Western Education. Page 171

मानवतावादी यथार्थवाद—मानवतावादी यथार्थवाद के प्रवर्त्तक वे मानवतावादी विद्वान् थे, जिन्होंने मानवतावादी शिक्षा के संकुचित दृष्टिकोण के प्रति विद्रोह किया था। इस विद्रोह के फलस्वरूप इन विद्वानों ने मानवतावादी यथार्थवाद की स्थापना की। इस नवीन विचारधारा के अनुसार शिक्षा यथार्थवादी होनी चाहिए जिससे जीवन में सुख और सफलता प्राप्त हो। साथ ही इस विचारधारा के विद्वानों का यह विश्वास भी था कि इस उद्देश्य की पूर्ति में यूनानी और रोमी साहित्य तथा संस्कृति का अध्ययन सहायक हो सकता है। इस प्रकार जहाँ मानवतावादी शिक्षा प्राचीन साहित्य के अध्ययन को 'साहित्यिक संस्कृति' के निमित्त साध्य मानती थी, वहीं मानवतावादी यथार्थवादियों ने प्राचीन साहित्य के अध्ययन को जीवन की सफलता के लिए साधन माना। इस प्रकार मानवतावादी यथार्थवाद के विद्वानों का यह मत था कि मनुष्य के क्या कर्त्तव्य हैं, उनकी पूर्ति के क्या साधन हैं, समाज की उन्नति किस प्रकार हो सकती है आदि प्रश्नों पर ग्रीक तथा लैटिन साहित्य पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। अतः बिना इनकी शिक्षा के जीवन के यथार्थ तथा प्रत्येक वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवतावादी यथार्थवाद से प्रभावित शिक्षा में प्राचीन संस्कृति और साहित्य का अध्ययन व्यक्तिगत, सामाजिक और अध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक था। इस विचारधारा के विद्वानों में रैबले (Rabelais) और मिल्टन का नाम उल्लेखनीय है। इरसमस की रुझान भी इस दिशा में थी। लेकिन वह इस ओर बढ़ न सका। रेबले और मिल्टन पर हम आगे विचार करेंगे।

सामाजिक यथार्थवाद—यथार्थवादी शिक्षा में दूसरा रूप

सामाजिक यथार्थवाद (Social Realism) का है। इसके अनुसार शिक्षा ऐसी होनी जिससे व्यक्ति जीवनयापन में सफल हो। दूसरे शब्दों में, शिक्षा जीवन की तैयारी में, सहायक हो। जहाँ तक इस शिक्षा का सामाजिक पक्ष है, उस सम्बन्ध में व्यक्तिगत दृष्टिकोण प्रधान है। व्यक्ति समाज के प्रत्येक कार्य में सफल होना चाहता है। अतः व्यक्ति की शिक्षा उसे समाज के प्रत्येक क्षेत्र में योग्य बनावे। इसीलिए इस यथार्थवाद को सामाजिक यथार्थवाद कहते हैं। इस यथार्थवाद से प्रभावित शिक्षा में यात्रा का बहुत महत्त्व था क्योंकि यात्रा में नये अनुभव होते हैं। नये स्थानों में जाकर, नये व्यक्तियों से मिलकर ऐसी अनेक बातें सीखी जा सकती हैं जो पुस्तकों से प्राप्त नहीं हो सकतीं। अतः यात्राओं को शिक्षा का उपयोगी साधन माना गया। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन में सफलता प्रदान करनेवाले विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ। जहाँ तक प्राचीन साहित्य के अध्ययन का सम्बन्ध है उसकी ओर से सामाजिक यथार्थवाद उदासीन रहा। लेकिन उपयोगी कलाओं की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया गया। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद का विकास हुआ। इस सम्बन्ध में धनीवर्ग के लोगों के शिक्षा-संबंधी दृष्टिकोण में जो परिवर्तन हुआ, उससे भी सामाजिक यथार्थवाद के विकास में सहायता मिली। धनी और शासन से संबंधित वर्ग अपने बालकों के लिए ऐसी शिक्षा चाहता था जो उन्हें राज्यकार्य और सभ्य समाज के अनुकूल बनाये। इस वर्ग के अनुसार प्राचीन साहित्य का अध्ययन व्यवहार-कुशलता प्रदान करने में बिल्कुल असमर्थ था। इसलिए इस वर्ग ने प्राचीन साहित्य और कला की शिक्षा के स्थान पर ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जो शासन, सेना,

राज्य-कार्य तथा सभ्य समाज के योग्य व्यक्ति को बनाती थी। इसी दृष्टि से एकेडेमी नामक संस्थायें धनिकों ने खोलीं। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद के विकास में धनी वर्ग का भी हाथ था और इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन मॉनतेन (१५३३-१५९२) ने किया।

ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद—इस विचारधारा का जन्म सत्तरहवीं सदी में विज्ञान के उदय के साथ होता है। ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवादी शिक्षा का आधार ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इसके अनुसार ज्ञानेद्रियों को सम्यक् विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक मनोविज्ञान ने इस सत्य का समर्थन किया है और आज की शिक्षा में ज्ञानेन्द्रियों के विकास का पूरा ध्यान रखा जाता है। अतः ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवादी शिक्षा में बालक के मनोविकास के अनुसार पाठ्य-वस्तु और पद्धति होनी चाहिए। इसके लिए बालक को प्रकृति के सम्पर्क में आने का अवसर मिलना चाहिए। इतना ही नहीं उसे प्राकृतिक नियमों से परिचित कराना चाहिए। इस प्रकार बालक की शिक्षा प्राकृतिक और वैज्ञानिक नियमों के अनुसार होना आवश्यक था। अतः ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादी शिक्षा का आरम्भ वस्तुओं को ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में लाकर होता था। इस दृष्टि से बेकन द्वारा प्रतिपादित आगमन-पद्धति बड़ी सफल हुई। इस प्रकार ज्ञानेंन्द्रियों के द्वारा बालक की विचार-शक्ति का विकास और वैज्ञानिक तथ्यों का अध्ययन कराकर सभी प्रकार के अंध विश्वासों का नाश किया जाता था। इस यथार्थवाद के प्रधान पोषकों में मुलकास्टर, बेकन, राटके तथा कमेनियस का नाम उल्लेखनीय है।

शिक्षा का उद्देश्य—यथार्थवादी शिक्षा के विभिन्न रूपों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि यथार्थवादी शिक्षा के उद्देश्य में

जीवन की सफलता, जीवन की तैयारी और ज्ञानेन्द्रियों का विकास प्रधान है। दूसरे शब्दों में इस शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का विकास इस प्रकार करना था कि वह जीवन में सफलता प्राप्त कर सके। इस प्रकार संक्षेप में यथार्थवादी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की मानसिक शक्तियों का विकास करना और जीवन में सफल बनाना था।

शिक्षा के विषय—शिक्षा के विषय की दृष्टि से प्राचीन साहित्य और संस्कृति का अध्ययन मानवतावादी यथार्थवादियों ने आवश्यक समझा। लेकिन इसका बहिष्कार सामाजिक यथार्थ-वादियों ने किया और उन्होंने यात्रा तथा अनुभव को प्रधानता दी। इसके अतिरिक्त इन लोगों ने ऐसे विषयों को चुना जिनसे राज्य, शासन तथा सेना में अच्छे पद प्राप्त होने में सहायता मिलती थी। इसके बाद ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादी शिक्षा में 'प्रकृति' और 'विज्ञान' के अध्ययन द्वारा ज्ञानेन्द्रियों के विकास का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार यथार्थवादी शिक्षा के विषयों में भी पर्याप्त विभिन्नताएँ हैं।

शिक्षा की पद्धति—यथार्थवादी शिक्षा-पद्धति को भी मनोवैज्ञानिक बनाने का प्रयास हुआ। मानवतावादी-यथार्थवादी शिक्षा पद्धति बहुत कुछ जीसुइट शिक्षा-पद्धति से मिलती थी। लेकिन सामाजिक यथार्थवादी शिक्षा पद्धति में अनुभव और वातावरण से समन्वय तथा यात्राओं को स्थान दिया गया। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवादी पद्धति में भी सुधार हुआ और बेकन की आगमन-प्रणाली (Inductive Method) का प्रयोग हुआ। अत: हम देखते हैं कि यथार्थवादी शिक्षा में ऐसी पद्धति का प्रयोग हुआ जो बालमनोविकास के अनुकूल थी और जिसमें अनुभव,

निरीक्षण, क्रिया तथा प्राकृतिक-सामाजिक वातावरण से समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया।

शिक्षा का संगठन—यथार्थवादी शिक्षा-संगठन में पुराने स्कूलों को कम स्थान दिया गया क्योंकि इसका दृष्टिकोण भिन्न था। अतः ऐसे स्कूलों की स्थापना की गई जो यथार्थवादी शिक्षा के सिद्धांतों के अनुकूल थे। इसके अतिरिक्त सामाजिक यथार्थ-वादियों ने 'एकेडेमी' नामक शिक्षण-संस्थाओं का संगठन किया और ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवादी शिक्षकों ने भी वर्गीकरण में पर्याप्त सुधार किया। इस प्रकार यथार्थवादी शिक्षा-संगठन में भी ऐसा परिवर्तन किया गया जो समाज के निकट आ सका और बालकों के लिए सुंदर वातावरण प्रस्तुत कर सका।

समाज पर प्रभाव—यथार्थवादी शिक्षा से समाज भी बहुत प्रभावित हुआ क्योंकि इस शिक्षा के उद्देश्य व्यक्ति और समाज की साधारण आवश्यकताओं को पहले पूरा करना था। दूसरे शब्दों में यथार्थवादी शिक्षा ने लोक को परलोक से अधिक महत्त्व दिया। अतः ऐसी शिक्षा का समाज से घनिष्ट सम्बन्ध होना स्वाभाविक था। लेकिन इतना होते हुए भी यथार्थवादी शिक्षा का इतना प्रभाव नहीं था जितना प्रोटेस्टेंट अथवा जीसुइट शिक्षा का। लोग अब भी इसके यथार्थ को पूर्णरूप से समझने में असमर्थ थे। इसलिए हम इतना ही कह सकते हैं कि यथार्थ-वादी शिक्षा का प्रभाव, इस रूप में पड़ा कि समाज में वैज्ञानिक विचारधारा के लिए भूमि तैयार हो सकी।

रैबले और मिल्टन

मानवतावादी यथार्थवाद के शिक्षक

यथार्थवादी शिक्षा के अध्ययन के पश्चात् यथार्थवादी शिक्षकों का परिचय आवश्यक है। इस परिचय से यथार्थवादी शिक्षा के तीन रूपों का स्पष्ट बोध हो सकेगा। अतः हम पहले मानवतावादी यथार्थवाद के दो प्रमुख शिक्षकों रैबले तथा मिल्टन के विचारों का अध्ययन करेंगे।

रैबले : प्रारम्भिक जीवन—मानवतावादी यथार्थवाद का शिक्षक रैबले का पूरा नाम फ्रैंकोय रैबले * (१४९५-१५५३) था इसका जन्म मध्य फ्रांस के शिनान (Chinon) नामक स्थान पर हुआ था। रैबले की प्रारम्भिक शिक्षा इस दृष्टि से आरम्भ हुई थी कि वह पादरी बने। लेकिन उनकी रुचि मानवतावादी साहित्य की ओर होने के कारण, वह पादरी न बन सका। ३५ वर्ष की अवस्था में रैबले ने चिकित्साशास्त्र का पर्याप्त अध्ययन कर लिया और फिर इसके बाद उसने चिकित्सा-कार्य आरम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त, रैबले को शिक्षाशास्त्र में भी अभिरुचि थी। इरसमस और स्ट्रम से सम्पर्क तथा मित्रता होने के कारण, उसने शिक्षा-शास्त्र का अध्ययन किया और फिर उस अध्ययन के फलस्वरूप उसने ऐसे विचार व्यक्त किये जो मानवतावादी-यथार्थवादी शिक्षा के पोषक थे।

रैबले का उद्देश्य—रैबले का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में स्वतंत्रता की भावना का विकास करना है। दूसरे

* Francois Rabelais.

शब्दों में व्यक्ति में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह अपनी इच्छानुसार सब कार्य कर सके। अतः इस प्रवृत्ति को विकसित करना शिक्षा का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। इस प्रकार रैबले ने व्यक्तित्व के ऐसे विकास पर बल दिया जो पूरी स्वतन्त्रता के अनुसार सामाजिक जीवन-व्यतीत कर सके। जब ऐसे व्यक्ति समाज में रहेंगे, तब उसमें किसी कानून और नियम की आवश्यकता न होकर मनुष्य-मनुष्य में सौहार्द की आवश्यकता होगी। इस सौहार्द के सहारे सामाजिक जीवन सुखी और शांतिपूर्ण होगा।

रैबले की पद्धति—रैबले ने शिक्षा का उद्देश्य स्वतंत्र-भावना का विकास निश्चित किया था। इसकी पूर्ति के लिए उसने जिस पद्धति का अनुसरण किया उसमें अनुभव प्रधान था। रैबले का कथन था कि बालक जो बात अपने अनुभव से सीखता है, वह स्थायी होती है और जिस बात को शिक्षक से सुनकर सीखता है, वह भूल जाती है। अतः शिक्षा की पद्धति में अनुभव और निरीक्षण का होना आवश्यक है। दूसरी बात रैबले यह चाहता था कि शिक्षा की पद्धति ऐसी हो जिससे बालक की रुचि पाठ में लगे। दूसरे शब्दों में रैबले शिक्षा-पद्धति को बालक की रुचि के अनुकूल बनाना चाहता था। इस प्रकार रैबले की शिक्षा-पद्धति ऐसी थी जिसमें अनुभव, निरीक्षण और स्वयं प्रवृत्ति को शिक्षा का साधन माना गया और बालक में पाठ के प्रति रुचि उत्पन्न करना आवश्यक समझा गया।

रैबले के विषय—रैबले ने शिक्षा के ऐसे विषयों को चुना जो बालक के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक विकास में सहायक हों। मानवतावादी प्रभाव के कारण रैबले ने शिक्षा के विषयों में प्राचीन साहित्य के अध्ययन को

स्थान दिया क्योंकि बिना इस अध्ययन के बालक का सामाजिक, धार्मिक और नैतिक विकास नहीं हो सकता था। यथार्थवादी दृष्टिकोण से उसने मध्ययुगीन शिक्षा की 'सात उदार कलाओं' में केवल गणित, भूगोल, और संगीत को चुना। इन विषयों के अध्ययन से व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि होती थी। इसके अतिरिक्त रैबले ने धार्मिक अध्ययन के लिए ग्रीक, लैटिन तथा हिब्रू भाषा की शिक्षा को भी पाठ्यक्रम में स्थान दिया। सामाजिक प्रगति की दृष्टि से उसने इतिहास को भी चुना। इस प्रकार रैबले के पाठ्य-क्रम में ऐसे विषयों को स्थान था जो बालक को यथार्थ का पर्याप्त ज्ञान प्रदान करते थे और उसके सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक विकास में सहायक होते थे। जहाँ तक शारीरिक विकास का प्रश्न है, उसके लिए रैबले ने व्यायाम को आवश्यक माना क्योंकि बिना शारीरिक विकास के समुचित मानसिक विकास असंभव था। अतः उसने बालकों के खेल-कूद, तैराकी और दौड़ को प्रोत्साहन दिया। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि रैबले शारीरिक विकास इसलिए भी चाहता था कि समाज और राज्य की रक्षा शक्तिशाली व्यक्ति ही कर सकते थे। इस प्रकार शारीरिक विकास का एक सैनिक पक्ष भी था, जिसकी ओर रैबले ने पर्याप्त ध्यान दिया।

रैबले का संगठन—रैबले शिक्षा के संगठन में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं चाहता था। उस समय का प्रचलित शिक्षा-संगठन उसके विचार से ठीक ही था। लेकिन वह इतना अवश्य चाहता था कि स्कूल का वातावरण ऐसा हो जिसमें बालकों को पर्याप्त स्वतंत्रता हो। अतः वह यही नहीं चाहता था कि बालकों का स्कूल एक कमरे अथवा इमारत में ही लगे, वरन् उसका विचार यह था कि विद्यार्थियों को सैर के लिए ले जाकर उन्हें प्राकृतिक

वातावरण में विचरण करने और पेड़-पौदों, तथा तरह-तरह के पक्षियों आदि को पहिचानने का अवसर देना चाहिए। इस प्रकार रैबले चाहता था कि बालकों के साधारण ज्ञान में वृद्धि हो और उनकी शिक्षा अनुभव के आधार पर हो।

रैबले का प्रभाव—रैबले का शिक्षा-जगत् पर सैद्धांतिक प्रभाव पड़ा। उसके विचारों को, जो कि उसके दो व्यंगात्मक ग्रंथों गरगन्तुआ की जीवनी और पंताग्रुयेल के वीरोचित कार्य*—में व्यक्त है, अन्य विद्वानों ने पढ़ा और उसी के फलस्वरूप मानतेन, लॉक और रूसो जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने अपने सिद्धांतों में रैबले के विचारों को सम्मिलित करने का प्रयास किया। इस प्रकार रैबले का प्रभाव केवल विचारों के क्षेत्र में व्यक्त हुआ और भविष्य की शिक्षा में उसकी झलक दिखाई पड़ी। अतः भविष्य में रैबले का जो प्रभाव पड़ा उसे हम आगामी अध्ययन में देखेंगे कि किस प्रकार मानतेन, लॉक और रूसो के विचार उसके विचारों से मिलते-जुलते हैं।

जान मिल्टन (१६०८–१६७४ ई०)—मानवतावादी यथार्थवाद का दूसरा महान् शिक्षक जान मिल्टन था। मिल्टन को हम अधिकतर एक साहित्यकार के रूप में ही जानते हैं। लेकिन वह मानवतावादी यथार्थवाद का एक शिक्षक भी था, इसे साधारणतः लोग नहीं जानते। शिक्षक और सुधारक के रूप में मिल्टन ने जो विचार व्यक्त किये उन्हें हम मानवतावादी यथार्थ-वाद के अनुरूप पाते हैं। अतः उनका अध्ययन आवश्यक है।

प्रारम्भिक जीवन—मिल्टन अपने प्रारम्भिक जीवन में यह विश्वास करता था कि उसका जन्म कविता करने के लिए ही हुआ

* Life of Gargantua & Heroic Deeds of Pantagruel.

है। अतः वह अपना समय कविता लिखने में ही बिताता। लेकिन जब उसकी आयु तीस वर्ष की हुई तो उसने कविता लिखना छोड़ कर 'पैम्फ्लेट' (Pamphlet) लिखने लगा। इसके कई कारण थे। एक तो उस समय उसके देश इंग्लैंड में सामाजिक-राजनैतिक उथल-पुथल हो रहे थे। अनेक प्रकार के सुधारों की माँग हो रही थी। दूसरे उसके पारिवारिक जीवन में भी संघर्ष था। किन्हीं कारणों से उसकी पत्नीने उसे त्याग दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने तलाक़ पर चार पुस्तिकायें प्रकाशित कीं। इस प्रकार उसने तलाक के सम्बन्ध में आंदोलन किया क्योंकि उस समय तलाक की व्यवस्था नहीं थी। इसके अतिरिक्त मिल्टन ने धार्मिक वाद-विवाद में भी भाग लिया और व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए पुस्तिकाएँ लिखीं। इसी प्रकार उसने प्रेस की स्वतंत्रता के लिए पैम्फलैट लिखा। तात्पर्य यह है कि मिल्टन ने उन सभी संस्थाओं का विरोध किया जो उसकी दृष्टि में प्रगति की विरोधी थी। उस समय शिक्षा का प्रश्न भी अत्यत महत्त्व पूर्ण था। अतः मिल्टन ने एक ऐसा स्कूल खोला जिसमें विद्यार्थियों के अध्ययन के साथ रहने का भी प्रबन्ध था। इस प्रकार इस 'बोर्डिंगस्कूल' के संचालन से मिल्टन को शिक्षा सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान हुआ, जिसका विवरण हम उसकी पुस्तिका "ट्रैक्टेट ऑफ एजूकेशन"* में पाते हैं। इस पुस्तिका को मिल्टन ने काफी अनुभव के पश्चात ५६ वर्ष की अवस्था में लिखा था। इसके अध्ययन से मिल्टन के शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्य, विषय, पद्धति और संगठन का ज्ञान हो जाता है।

मिल्टन का उद्देश्य—मिल्टन की शिक्षा का उद्देश्य उसके द्वारा की गई शिक्षा की परिभाषा से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

---

* Tractate of Education (1665).

वह परिभाषा इस प्रकार है :—मैं उसे पूर्ण और उदार शिक्षा कहता हूँ जो मनुष्य को शांति तथा युद्ध काल में समान रूप से सभी वैयक्तिक तथा सामाजिक कार्यों को न्यायपूर्वक, कुशलता तथा उदारता के साथ करने के योग्य बनाती है।"* इस तरह मिल्टन शिक्षा में अनुभव, दैनिक जीवन की कुशलता आदि मानवतावादी-यथार्थवादी तथ्यों को आवश्यक मानता था।

मिल्टन के विषय—इसी उद्देश्य की दृष्टि से मिल्टन ने शिक्षा के विषयों का चुनाव किया। उसने प्राचीन भाषाओं को पाठ्यक्रम में स्थान दिया क्योंकि बिना इनके अध्ययन के व्यक्ति का धार्मिक तथा नैतिक विकास संभव नहीं था। जीवन की कुशलता तथा यथार्थ की दृष्टि से मिल्टन ने साधारण विज्ञान, दस्तकारी, गणित तथा सामाजिक विषय की शिक्षा को पाठ्यक्रम में स्थान दिया। इस प्रकार उसने जो पाठ्यक्रम बनाया उसमें सभी प्राचीन भाषाओं—ग्रीक, लैटिन, हिब्रू, काल्डी, सीरियन—तथा गणित, विज्ञान और सामाजिक विषयों को पर्याप्त स्थान दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पाठ्यक्रम बहुत बोझिल और सामान्य विद्यार्थी की क्षमता के बाहर हो गया।

मिल्टन की पद्धति—मिल्टन की शिक्षा-पद्धति जीसुइट-शिक्षा पद्धति से बहुत कुछ मिलती थी क्यों कि उसमें पुनरावृत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसके अतिरिक्त उसने भ्रमण और यात्राओं को भी शिक्षा का आवश्यक साधन समझा क्यों कि इनके

---

* I call therefore a complete and generous education that which fits a man to perform justly, skillfully and magnanimously all the offices both private and public of peace and war.

द्वारा बालक को निरीक्षण, अनुभव और कुशलता प्राप्त करने का अवसर मिलता था।

मिल्टन का शिक्षा-संगठन—मिल्टन का शिक्षा-संगठन 'एकेडेमी' के नाम से प्रसिद्ध है। एकेडेमी के संगठन के लिए मिल्टन का कथन था कि इसके लिए इतना बड़ा भवन होना चाहिए जिसमें १५० विद्यार्थी शिक्षा पा सकें। एकेडेमी में उन्हीं विद्यार्थियों की शिक्षा हो जो १२ वर्ष की आयु में भर्ती होकर २१ वर्ष की आयु तक माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करें। इस प्रकार की एकेडेमी जहाँ भी सुविधा हो खोली जाय। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों के शारीरिक विकास के लिए व्यायाम और खेल का प्रबन्ध किया जाय। इस प्रकार मिल्टन ने एकेडेमी के संगठन का जो स्वरूप निश्चत किया, उसके अनुसार कई शिक्षण संस्थायें मानवतावादी शिक्षा के विरोध में धनिक वर्ग द्वारा इंग्लैंड में खोली गई।

मिल्टन का प्रभाव—जैसा कि हम जानते हैं मिल्टन एक कवि था। अतः उसे शिक्षा का पूर्ण-ज्ञान प्राप्त न था। इसलिए उसने शिक्षा के उद्देश्य और पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में ऐसी बातें कहीं, जो साधारण मनुष्य की समझ के बाहर थीं। अतः मिल्टन का जो कुछ भी प्रभाव था, वह केवल धनिक वर्ग पर था और इसी वर्ग ने एकेडेमी-संस्थाओं के संगठन में योग दिया। इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि मिल्टन ने माध्यमिक और उच्च शिक्षा पर ही ध्यान दिया और प्रारम्भिक शिक्षा की अवहेलना की। इसका कारण कुछ विद्वानों के अनुसार मिल्टन का प्राचीनता के प्रति (मानवतावादी) मोह था। मिल्टन ने शारीरिक और मानसिक विकास के लिए शिक्षा का जो स्वरूप निश्चित किया,

उसमें क्रमशः स्पार्टी और यूनानी आदर्शों का सम्मिश्रण किया गया। उसका ऐसा करना अनुचित था। इसके अतिरिक्त उसने माध्यमिक तथा उच्च-शिक्षा की सम्मिलित व्यवस्था की। उसका ऐसा करना शिक्षा की श्रेष्ठता की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं प्रतीत होता। मगर इतना सब कुछ होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मिल्टन ने शिक्षा की जो व्याख्या की, वह प्रगतिशील है और उसमें व्यक्तित्व के विकास की संभावनाये निहित हैं। इतना ही नहीं प्रो० ग्रेव्ज का मत है कि मिल्टन के शिक्षा-सिद्धांतों में ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के भी अंश हैं। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि मिल्टन मानवतावादी यथार्थवाद से सामाजिक तथा ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवाद की ओर अग्रसर हो रहा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिल्टन कुछ दृष्टियों से सीमित होते हुए भी अपने विचारों में प्रगति-शील था। लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी मिल्टन का प्रभाव रैबले के समान ही पड़ा। वह विचार-जगत् को व्यवहार जगत् से अधिक प्रभावित कर सका।
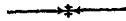
माइकेल द मानतेन

सामाजिक यथार्थवादी शिक्षक

सामाजिक यथार्थवादी—इसके पूर्व कि हम माइकेल द मानतेन (१५३३–२५९२ ई०) के शिक्षा-शिद्धांतों का अध्ययन करें, हम यह जान लेना चाहिए कि वह किस प्रकार सामाजिक-यथार्थवादी शिक्षक है क्योंकि इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने शंकाएँ प्रगट कीं जिनका उल्लेख पाल मोनरो ने अपनी पुस्तक * में किया है। अतः मोनरो महोदय लिखते हैं कि प्रो० लारी (Lawrie) मानतेन को मानवतादी मानते हैं, श्री किक (Quick) यथार्थवादी तथा कुछ अन्य लोग प्रकृतिवादी। इस प्रकार मानतेन के सम्बन्ध में अनेक विवाद हैं, जिनका निराकरण आवश्यक है। मोनरो महोदय ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट किये हैं और उन्होंने यह सिद्ध किया है कि मानतेन न तो मानवतावादी है, न यथार्थवादी और न प्रकृतिवादी। यदि वह है तो केवल सामाजिक यथार्थवादी। यह तथ्य उस समय स्पष्ट होगा, जब हम मानतेन के विचारों का अध्ययन करेंगे।

मानतेन फ्रांस निवासी था, और मिल्टन की भाँति इसका भी साहित्य-जगत् में बड़ा सम्मान था। वह सामाजिक जीवन में अभिरुचि रखता था और चाहता था कि समाज की उन्नति हो। अतः उसने शिक्षा के स्वरूप का अध्ययन किया और अपने विचारों को इन

---

1 Michel de MenCigne.

* A Text-Book in the History of Education.

तोन पुस्तिकाओं में प्रकट किया :—(१) 'ऑफ पेडेन्टरी' (२) 'ऑफ द एजूकेशन ऑफ द चिल्ड्रेन', (३) 'ऑफ द अफेक्शन ऑफ फादर्स टु देयर चिल्ड्रेन'। इन ग्रन्थों में मानतेन ने शिक्षा-सिद्धान्त आदि सम्बंधी जिन विचारों को व्यक्त किया है, उनके आधार पर हम उसके उद्देश्य, विषय, पद्धति और संगठन आदि का अध्ययन कर सकते हैं।

मानतेन का उद्देश्य—मानतेन के अनुसार शिक्षा केवल किसी बात को सीखना नहीं है और न तो वह किसी वस्तु का केवल ज्ञान ही प्राप्त कर लेना है। वास्तविक शिक्षा तो वह है जो व्यक्ति में बुद्धि और विवेक उत्पन्न करे जिससे वह अपना जीवन कलापूर्ण रीति से व्यतीत कर सके। इस संबंध में मानतेन सिसरो के इस कथन का उल्लेख करता है—"सभी कलाओं से श्रेष्ठ—जीवन व्यतीत करने की कला—को वे 'सीखने' के स्थान पर अपने जीवन में उतारते थे।" सिसरो का यह कथन मानतेन की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें 'लर्निङ्ग' और 'लिविंग' का अन्तर स्पष्ट है। अतः हम कह सकते हैं कि मानतेन कोरे ज्ञान का विरोधी और व्यावहारिक ज्ञान का समर्थक था। दूसरे शब्दों में वह मानवतावादी दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करता था। क्योंकि उसकी दृष्टि में प्राचीन साहित्य का अध्ययन साध्य नहीं था। वह तो प्राचीन साहित्य के अध्ययन में सामाजिक उपयोगिता ढूँढ़ता था। वह यह देखना चाहता था कि क्या प्राचीन साहित्य का अध्ययन व्यक्ति को इतना व्यवहार-कुशल, विवेकशील और सामाजिक बना देता है कि वह जीवन की कला के अनुसार रह सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानतेन किसी चीज के सीखने मात्र को शिक्षा नहीं मानता, वरन् वह यह चाहता था कि सीखी बातों के अनुसार रहा जाय। यहाँ उसके उस वाक्य का उद्धरण

अपेक्षित है जिसे हम उसकी पुस्तक 'एजूकेशन ऑफ चिल्ड्रेन' में पाते हैं। मानतेन लिखता है :—"मैं चाहूँगा कि मेरे भद्र युवक यात्रा को ही पुस्तक मानकर पूरा ध्यान दें क्योंकि उसके द्वारा हमें विभिन्न विचारों, व्यवहारों, नियमों आदि का ज्ञान होता है और उसकी सहायता से हम सही निर्णय पर पहुँच सकते हैं तथा सही बातों का पता लगा सकते हैं।" अतः इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि मानतेन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इतना विवेकशील और व्यवहार-कुशल बना देना है जिससे वह सामाजिक जीवन में सफलता प्राप्त कर सके।

मानतेन की पद्धति—मानतेन के उद्देश्य के अनुसार शिक्षा-पद्धति ऐसी हो जो बालक में विवेक और विचार उत्पन्न करे। इस दृष्टि से वह पुस्तकीय शिक्षा के पक्ष में नहीं है क्योंकि उसका यह विश्वास था कि दूसरे के ग्रन्थों का अध्ययन करके मनुष्य विद्वान हो सकता था, लेकिन बिना अपने ज्ञान और अनुभव के वह बुद्धिमान नहीं हो सकता। अतः वह रटने के स्थान पर अनुभव पद्धति को चाहता है। उसकी पद्धति में यात्राओं का महत्व अधिक है क्योंकि इनसे व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त मानतेन शिक्षा-पद्धति में सामाजिक वातावरण और स्वाभाविकता भी चाहता है। इस सम्बन्ध में उसके द्वारा की गई मानवतावादी शिक्षा-पद्धति की आलोचना उल्लेखनीय है क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानतेन किस प्रकार की शिक्षा के पक्ष में था :—"जिस प्रकार चिड़िया दाना चुगने के लिए एक खेत से दूसरे खेत में जाती है और बिना चखे उस दाने को अपने बच्चों को खिला देती है, उसी प्रकार मानवतावादी अध्यापक पुस्तकों से ज्ञान चुनकर और अपने होंठों पर रख कर

विद्यार्थियों के चुगने की बात कौन कहे, उस हवा में छोड़ देते हैं।'' इस प्रकार मानतेन शाब्दिक शिक्षा-पद्धति का विरोध और व्यावहारिक पद्धति का समर्थन करता है। इसके अतिरिक्त विलियम बोयड* का विचार हैं कि मानतेन की शिक्षा-पद्धति में तीन बातें प्रधान हैं। सर्वप्रथम वह यह चाहता है कि बालक की रुझान सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपयोगी वस्तुओं की ओर आकर्षित करना चाहिये। इसके साथ ही अध्यापक को यह स्मरण रखना चाहिये कि एक ही पद्धति सभी बालकों के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। दूसरी बात मानतेन यह चाहता था कि शिक्षा-पद्धति में किसी प्रकार की बाध्यता, दबाव, आतंक और हिंसा का अंश न हो। इस प्रकार वह शारीरिक दंड के विरुद्ध था और शिक्षा पद्धति को बालक के स्वभाव और मनोविकास के अनुकूल बनाना चाहता था। मानतेन शिक्षा-पद्धति में तीसरी विशेषता यह चाहता था कि इसके द्वारा बालक को प्रत्येक वस्तु का 'अपना' ज्ञान हो जाय और वह अपनी निर्णय-शक्ति का उपयोग कर सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानतेन की शिक्षा-पद्धति के आधार थे, मनोविकास, स्वाभाविकता, अनुभव और निर्णय-शक्ति।

शिक्षा के विषय—इस संबन्ध में मानतेन सर्वप्रथम यह चाहता था कि बालक को शिक्षालय में व्यावहारिक ज्ञान दिया जाय। साधारण पठन-लेखन की शिक्षा घर पर ही हो। गंभीर अध्ययन के लिए विद्वानों से विचार-विमर्श, और यात्राएँ होनी चाहिएँ, क्योंकि इन यात्राओं में विदेशी भाषाओं का भी अध्ययन हो जाता है। इस तरह मानतेन मातृभाषा के अतिरिक्त व्यावहारिकता

---

* The History of Western Education. Page 225-226.

के दृष्टि से पड़ोसी देशों की भाषाओं का अध्ययन आवश्यक मानता था। इसके अतिरिक्त मानतेन शिक्षा के विषयों में इतिहास को भी स्थान देता था क्योंकि बिना इतिहास के अध्ययन के अतीत के अनुभवों का ज्ञान नहीं हो सकता। इस दृष्टि से इतिहास के महान् पुरुषों के प्रगतिशील कार्यों पर ही ध्यान देना आवश्यक है, न कि उनके जन्म तथा मृत्यु की तिथियों पर। दूसरे शब्दों में मानतेन इतिहास के जीवित अतीत को महत्व देता है। इतिहास के साथ मानतेन उस भूगोल को भी आवश्यक समझता था जिसके द्वारा संसार के लोगों के रहन-सहन, व्यापार-व्यवसाय का ज्ञान हो। इसके बाद मानतेन शिक्षा में तर्क, गणित और विज्ञान जैसे विषयों को स्थान देता था। लेकिन इसी के साथ वह यह भी कहता था कि व्ययाकरण और तर्कशास्त्र जैसे विषय निरर्थक प्रतीत होते हैं क्योकि इसके कारण केवल शब्द जाल में बँध जाना पड़ता है। इससे कहीं अच्छा होता यदि विद्यार्थियों को जीवन-दर्शन (Philosophy of life) की शिक्षा दी जाती। इस प्रकार शिक्षा के विषय को चुनते समय मानतेन ने जीवन की दृष्टि से उपयोगिता, व्यावहारिकता, और साधारण ज्ञान का ध्यान रखा।

शिक्षा का संगठन—मानतेन अपने समय के शिक्षा-संगठन से सन्तुष्ट नहीं था। उसके कई कारण थे। एक तो सभी विद्यार्थियों की ओर अध्यापक ध्यान नहीं दे पाता था क्योंकि शिक्षा सामूहिक रूप से होती थी। इस कारण शिक्षक और विद्यार्थी में व्यक्तिगत सम्पर्क भी स्थापित नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त उस समय का शिक्षा-संगठन ऐसा था जो बालकों को व्यावहारिक ज्ञान देने में रुकावट उत्पन्न करता था क्योंकि उनके वातावरण में स्वाभाविकता और सामाजिकता का अभाव था। इन्हीं सब कारणों से मानतेन ऐसा शिक्षा संगठन चाहता था जिसके द्वारा वैयक्तिक

शिक्षा हो सके। दूसरे शब्दों में वह प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अलग अलग अध्यापक चाहता था। यदि मानतेन की यह बात स्वीकार कर भी ली जाय, तो व्यावहारिकता इसे अस्वीकार करती है। आर्थिक कठिनाई और अध्यापकों की कमी को देखते हुए मानतेन के शिक्षा-संगठन का कौन समर्थन कर सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानतेन का शिक्षा-संगठन अव्यावहारिक था।

मानतेन का प्रभाव—मानतेन के विचारों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि वह सामाजिक यथार्थवाद का समर्थक था, लेकिन उसकी शिक्षा साधारण जनता का ध्यान कम रखती थी। धनी-वर्ग से अधिक सम्बन्ध और सम्पर्क होने के कारण शिक्षा-सम्बन्धी जितने विचार मानतेन ने व्यक्त किये, उनमें हम उसी वर्ग की शिक्षा की समस्याओं का समाधान पाते हैं। यही कारण है कि एक विद्यार्थी के लिए एक अध्यापक की माँग मानतेन करता है। यही कारण है कि वह प्रारम्भिक शिक्षा की अवहेलना करता है और शिक्षा को अभिजातवर्ग के अनुकूल बनाना चाहता है। लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मानतेन ने शिक्षा और समाज में अधिक सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की, और जीवन की कला पर अधिक बल दिया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानतेन पश्चिमी शिक्षा के विकास में सहायक होता है क्योंकि उसने शिक्षा में स्वाभाविकता, सामाजिकता, व्यावहारिकता, कार्य कुशलता और जीवन की कला का समावेश किया। इसी के निमित्त उसने रटने का, बिना अनुभव के ज्ञान का और शाब्दिक पद्धति का विरोध किया।

रीचर्ड मुलकास्टर

वैज्ञानिक युग का प्रभाव—यथार्थवादी शिक्षा का सर्वोत्तम विकास ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवादी शिक्षा के रूप में हुआ। ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवादी शिक्षा ने आगमन पद्धति (Inductive Method) को अपना आधार बनाया। लेकिन इस आधार की स्थापना जिस व्यक्ति ने की वह फ्रांसिस बेकन था और इसका स्पष्टीकरण रेने डिसकार्टीज़ (Rene Descartes: 1596–1650) ने किया वास्तव में बेकन और डिसकार्टीज़ ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के दार्शनिक हैं। बेकन की आगमन-पद्धति का अध्ययन हम विस्तृत रूप में करेंगे। लेकिन इसके पूर्व डिसकार्टीज़ की पद्धति का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। डिसकार्टीज़ ने अपनी पद्धति के स्पष्टीकरण में कई पुस्तकें लिखीं जिनके अध्ययन के आधार पर हम उसमें चार बातें पाते हैं:—

(१) ऐसी कोई बात स्वीकार मत करो जिसमें संदेह की संभावना हो।

(२) प्रत्येक कथन का इस प्रकार विश्लेषण करो जिससे उसका सरल रूप स्पष्ट हो जाय।

(३) कथन के साथ रूप के प्रत्येक अंश की समीक्षा करो।

(४) अंतिम धारणा इस प्रकार बनाओ कि कोई बात रह न जाय।*

इस प्रकार डिसकार्टीज़ ने पद्धति को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्यों कि उस समय यूरोप में विज्ञान का उदय और नये नये वैज्ञानिक यंत्रों का

---

* A History of Education—by H. G. Good Page 178.

आविष्कार हो रहा था। कोपरनिकस, केप्लर तथा गलीलियो जैसे वैज्ञानिकों ने आकाश के नक्षत्रों तथा ग्रहों के सम्बन्ध में नयी बातें बताईं। न्यूटन ने भी इसी सदी (सत्तरहवीं) में पृथ्वी के आकर्षण की बात बताई। इस प्रकार चारों ओर विज्ञान की धूम थी और इसका प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। बेकन और डिसकार्टीज ने वैज्ञानिक दर्शन के आधार पर शिक्षा-पद्धति में ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवाद का समावेश किया, और इस पद्धति के अनुसार कई शिक्षकों ने कार्य किया जिनमें इंग्लैंड के मुलकास्टर, फ्रांस के पीटर रेमस, स्पेन के लुडोविको वाइव्ज़, जर्मनी के राटके और मोराविया के शिक्षक कमेनियस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बेकन इस काल का दार्शनिक, साहित्यकार, और सुधारक था। अतः उसके शिक्षा-सम्बधी विचार प्रधान रूप से दार्शनिक हैं। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के अनेक प्रसिद्ध शिक्षक हैं। अब हम केवल प्रमुख शिक्षकों की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे क्योंकि इनमें से वाइव्ज (१४९२–१५४०) तथा रेमस (१५१५–१५७२) सोलहवीं सदी के शिक्षक हैं और इनमें हम ज्ञानेन्द्रिय यथार्थ का अंकुर ही पाते हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य चार शिक्षक हैं वे सत्तरहवीं सदी में महत्त्व पूर्ण स्थान रखते हैं। काल की दृष्टि इन चारों का क्रम इस प्रकार है:—मुलकास्टर (१५३०–१६११), बेकन (१५६१–१६२६) राटके (१५७१–१६३५) तथा कमेनियस (१५९२–१६७०)। इसी क्रम से हम इन शिक्षकों का अध्ययन करेंगे।

रिचर्ड मुलकास्टर (१५३०–१६११)—सोलहवीं सदी में वाइव्ज़ और पीटर रेमस द्वारा अंकुरित ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादी शिक्षा को सत्रहवीं सदी में विकसित करने का श्रेय रिचर्ड मुलकास्टर (Richard Mulcaster) को है। मुलकास्टर ज्ञानेन्द्रिय

यथार्थवादी शिक्षा के सम्बन्ध में अधिकारिक और व्यावहारिक विचार इसलिए रख सका कि उसके जीवन का अधिकांश समय अध्यापन-कार्य में व्यतीत हुआ था। वह इंग्लैंड के मर्चेन्ट टेलर स्कूल का २५ वर्ष तक और सेंट पाल स्कूल का १२ वर्ष तक प्रधानाध्यापक था। प्रधानाध्यापक के रूप में मुलकास्टर को अनेक अनुभव हुए जिन्हें उसने अपने ग्रंथों* में व्यक्त किया है। इन पुस्तकों को उसने ५१-५२ वर्ष की अवस्था में लिखा था। अतः इनमें व्यक्त विचार प्रौढ़ और गंभीर हैं।

मुलकास्टर का उद्देश्य—मुलकास्टर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास प्रकृति के पूर्ण योग द्वारा करना है। इस प्रकार मुलकास्टर ने शिक्षा का जो उद्देश्य निश्चित किया, वह ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के अनुकूल था।

शिक्षा की पद्धति—मुलकास्टर ने शिक्षा का जो उद्देश्य निश्चित किया, वह बालक के विकास को प्रधानता देती थी। इसलिए शिक्षा की पद्धति में भी बालक को केन्द्रिय स्थान मिलना स्वाभाविक था। बालक की प्रधानता के कारण मुलकास्टर ने शिक्षा का माध्यम मातृभाषा निश्चित किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उस समय प्रारम्भ से ही लैटिन की शिक्षा आरम्भ कर दी जाती थी। मुलकास्टर ने इसका विरोध किया और शिक्षा-पद्धति में मातृभाषा को माध्यम बनाया।

---

* (1) Positions wherein those Primitive Circumstances be examined which are necessarie for the Training Up of Children, either for skill in their Books or Health in their Bodie (1581).

(2) The First Part of the Elementarie (1582).

शिक्षा-पद्धति में सुधार की दृष्टि से मुलकास्टर का दूसरा उल्लेखनीय कार्य अध्यापकों की ट्रेनिंग थी। उसने कहा कि केवल ट्रेन्ड और कुशल अध्यापक ही शिक्षा-पद्धति को सफल बना सकते हैं। बिना अध्यापन-कला की ट्रेनिंग के किसी शिक्षक में बालक की बुद्धि, स्मरण-शक्ति तथा निर्णय-शक्ति को विकसित करने की योग्यता आ ही नहीं सकती। अतः योग्य शिक्षक ही शिक्षा की पद्धति ऐसी बना सकता है जिसमें बालक की शक्तियों का विकास इस प्रकार हो कि उसके मस्तिष्क पर किसी प्रकार का दबाव न पड़े।

शिक्षा के विषय—मुलकास्टर ने शिक्षा के ऐसे विषय भी चुने जो बालक की ज्ञानेन्द्रियों के विकास में सहायक होते थे। अतः हम देखते हैं कि उसने प्रारम्भिक शिक्षा में मातृभाषा के लेखन-पठन की व्यवस्था की। इसी के साथ मुलकास्टर ने शिक्षा के विषयों में चित्रकला और संगीत को भी स्थान दिया। इस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा में बालक के मनोविकास के अनुकूल पाठ्यक्रम निश्चित किया गया। जहाँ तक लैटिन, ग्रीक आदि के अध्ययन का प्रश्न है, उसकी शिक्षा बारह वर्ष की आयु से दी जाती थी। इसके अतिरिक्त मुलकास्टर ने माध्यमिक और उच्च-शिक्षा के पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन को अच्छा समझा। इस प्रकार शिक्षा के विषयों में मुलकास्टर का कार्य प्रारम्भिक शिक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षा का संगठन—मुलकास्टर के शिक्षा-संगठन में प्रारम्भिक शिक्षालयों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने इन शिक्षालयों के वातावरण में सुधार और योग्य अध्यापकों की नियुक्ति की माँग की। इसके अतिरिक मुलकास्टर ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा की अवधि ६ वर्ष कर दी। बालक ६ वर्ष की

अवस्था में शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे और १२ वर्ष की अवस्था तक मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा पाते थे। शिक्षा संगठन में इन्हीं नवीनताओं का समावेश मुलकास्टर ने किया।

समाज पर प्रभाव—शिक्षा की प्रगति पर मुलकास्टर का पर्याप्त प्रभाव पड़ा; क्योंकि उसने ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनसे आगामी सदियों के शिक्षक पूर्णतः सहमत थे। मुलकास्टर ने मातृभाषा को प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम बना कर एक बहुत बड़ा कार्य किया। इतना ही नहीं उसने अँगरेजी भाषा की भी हिमायत की और कहा कि इसमें भी वही श्रेष्ठता है जो लैटिन तथा ग्रीक में है। इस बात को सिद्ध करने के लिए उसने अपने विचार अँगरेजी भाषा में व्यक्त किये, और उसकी इस अभिव्यक्ति को देख कर उसके कथन में कोई संदेह नहीं रह गया। इस प्रकार मुलकास्टर ने प्राचीन भाषाओं के स्थान पर प्रादेशिक भाषा को श्रेष्ठता स्थापित की और इसका समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा: क्योंकि साधारण जनता प्रादेशिक भाषा को जानती थी और ग्रीक तथा लैटिन अभिजात वर्ग की भाषा थी। दूसरे शब्दों में मुलकास्टर ने जनता की भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया और उसमें साहित्यिक श्रेष्ठता उत्पन्न करने का प्रयास किया। मुलकास्टर ने जिस मार्ग का अनुसरण किया, उस पर अनेक विद्वान् चलते गये। अतः हम कह सकते हैं कि रिचर्ड मुलकास्टर उन शिक्षा शास्त्रियों में था जिसका प्रभाव समाज तथा शिक्षा-जगत् पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा।

फ्रांसिस बेकन

फ्रांसिस बेकन (१५६१–१६२६)—यूरोप में विज्ञान का उदय सोलहवीं-सत्रहवीं सदी में होने लगा था और इसका क्या प्रभाव पड़ा इससे हम परिचित हैं। जहाँ तक शिक्षा का संबंध है, उस पर वैज्ञानिक प्रभाव ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के रूप में दिखाई पड़ा। ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के अनुसार शिक्षा की पद्धति में प्रमुख परिवर्त्तन करने का प्रयास फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) ने किया। बेकन की इस पद्धति को आगमन प्रणाली कहते हैं। इस प्रणाली का अध्ययन हम बेकन की 'शिक्षा की पद्धति' पर विचार करते समय करेंगे।

शिक्षा का उद्देश्य—बेकन एक लार्ड का पुत्र था और उसे किसी बात की कमी नहीं थी। लेकिन आरम्भ से ही वह शिक्षा में अभिरुचि रखता था। वह चाहता था कि शिक्षा की प्रगति तीव्र गति से हो जिससे लोग 'ज्ञान शक्ति है'* के महत्त्व को समझ सकें। अतः बेकन ने 'एडवांसमेंट ऑफ लर्निंग' नामक ग्रंथ लिखा। इसके अतिरिक्त उसका दूसरा ग्रंथ 'द न्यू एटलांटिस' (१६२४) है जिसमें उसने एक आदर्श विद्यालय की कल्पना की है। इन ग्रंथों के आधार पर हम बेकन की शिक्षा के उद्देश्य को निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उसकी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को प्रकृति पर अधिकार प्रदान करना है।+ दूसरे शब्दों में बेकन

---

* Knowledge is Power.

+ The object of all knowledge is to give man power over nature.—The History of Western Education, by Boyd. Page 236.

ने शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक जीवन को उपयोगी बनाना बताया। इस प्रकार उसने अध्यात्म के स्थान पर बुद्धि की स्थापना की और शिक्षा में प्रकृति को प्रमुख स्थान दिया। प्रकृति पर अधिकार पाने के लिए भौतिक शास्त्र से सहायता लेनी चाहिए। इस प्रकार बेकन का शिक्षा के उद्देश्य के विषय में यह मत था कि शिक्षा तो साधनमात्र है। इसका उद्देश्य मनुष्य की श्रेष्ठता को 'वस्तुओं' से अधिक सिद्ध करना है तथा मनुष्य की और वैज्ञानिक शक्तियों में एकरूपता स्थापित करना है। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति के नियमों का अध्ययन करके उस पर शासन कर सकता है और अपने ज्ञान को एक शक्ति का रूप प्रदान कर सकता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि बेकन की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को प्रकृति पर ज्ञान के आधार पर अधिकार प्रदान करना है जिससे वह समाज के लिए उपयोगी बन सके।

शिक्षा की पद्धति—ऊपर दिए गये उद्देश्य-सम्बन्धी विचार में यह स्पष्ट है कि बेकन शिक्षा को ऐसी बनाना चाहता था जो प्राकृतिक शक्तियों को मनुष्यों के अधिकार में कर दे। दूसरे शब्दों में बेकन शिक्षा की पद्धति को वैज्ञानिक स्वरूप देना चाहता था। जैसा कि हम जानते हैं, बेकन आगमन-पद्धति का समर्थक था। उसकी आगमन-पद्धति की स्पष्टता के लिए हम एक उदाहरण ले सकते हैं। मान लीजिए कि शिक्षक को यह बतलाना है कि 'पृथ्वी में आकर्पण होता है'। लेकिन वह इस सिद्धांत को बालकों से पहले न कह कर उनसे कहता है कि जब हम गेंद ऊपर फेंकते हैं तो वह नीचे आ गिरती है। पेड़ से फल टूट कर नीचे जमीन पर आ जाता है। कोठे पर से पत्थर फेंकने पर भी वह नीचे आ जाता है। इससे क्या सिद्ध होता है? इससे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी में कोई आकर्षण-शक्ति है

जो सभी चीजों को अपनी ओर खींचती है। इस प्रकार इस प्राकृतिक नियम को बता देने के बाद, वह इसे सिद्ध करने के लिए किसी प्रयोग से पृथ्वी के आकर्षण को सिद्ध करता है। संक्षेप में आगमन-पद्धति का यह रूप है जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

(१) बालक नियम को स्वयं निकालता है।

(२) आगमन-पद्धति द्वारा प्राप्त ज्ञान में नवीनता होती है।

(३) इस पद्धति में अनुसंधान आवश्यक है।

(४) अनुसंधान करने के बाद ही, नियम का ज्ञान होता है।

(५) इस पद्धति में बालकों को अधिक सुविधा होती है और वे पूर्ण रूप से क्रियाशील होते हैं।

इस प्रकार बेकन ने आगमन-पद्धति की स्थापना करके अरस्तू की प्राचीन-पद्धति की निंदा की और कहा कि अनुमान का ज्ञान उपयोगी नहीं होता। वास्तविक ज्ञान अनुसंधान से मिलता है। अतः शिक्षा की पद्धति वैज्ञानिक होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में बेकन की वह उक्ति उल्लेखनीय है जिसमें वह वैज्ञानिक की तुलना मधुमक्खी से करता है। बेकन कहता है कि हमें न तो मकड़ी की तरह होना चाहिए जो अपने चारों ओर केवल जाला बुनती रहती है और न चींटी की तरह, जो केवल चीजों को इकट्ठा करती है। हमें तो मधुमक्खी की तरह होना चाहिए जो संग्रह और व्यवस्था दोनों कार्य करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बेकन वैज्ञानिक रीति से कार्य करने पर कितना अधिक बल देता था।

दुर्बलताएँ—बेकन ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से बुद्धि प्राप्त करने के पक्ष में था। अतः इस सम्बन्ध में उन पाँच बातों का उल्लेख आवश्यक है जो बेकन के अनुसार मनुष्य को गलत रास्ते पर ले जाती हैं। बेकन इन्हें 'आइडल्स' (Idols) अर्थात्

मन की दुर्बलताएँ कहता था। उसके अनुसार पहली दुर्बलता वह थी जो मनुष्य को जातीय (Tribe) कमज़ोरियों की ओर ले जाती है। इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्य प्रकृति में इतनी व्यवस्था चाहता है कि उसे कोई कठिनाई न उठानी पड़े। इस दुर्बलता को बेकन ने 'आइडल्स आफ द ट्राइब' कहा। दूसरी दुर्बलता 'आइडलस आफ द केव' की है जिसके कारण मनुष्य के मन में ऐसी धारणाएँ बन जाती हैं जो उसकी निजी होती हैं।* तीसरी दुर्बलता का नाम 'आइडलस आफ द मार्केट-प्लेस' है जो दूसरों से वार्तालाप करते समय कटु वचनों से उत्पन्न होती है। बातचीत में शब्दों का कटु व्यंग मन को बहुत प्रभावित करता है। चौथी दुर्बलता को बेकन 'आइडलस आफ द थियेटर' कहता है। इसके कारण मनुष्य किसी भी सिद्धांत को बिना उसकी पूरी जाँच किये, आँख मूँद कर मान लेता है। पाँचवीं और अंतिम दुर्बलता को उसने 'आइडलस आफ द स्कूलस' कहा जिसके अनुसार मनुष्य यह सोचने लगता है कि बिना निर्णय और अनुसंधान के कोई कार्य किया जा सकता है।× इस प्रकार बेकन का यह निश्चित मत था कि जब तक मनुष्य में ये दुर्बलताएँ होंगी, तब तक वह आगमन-पद्धति के अनुकूल कार्य नहीं कर सकता।

शिक्षा के विषय—बेकन शिक्षा का ऐसा पाठ्यक्रम चाहता था जो समाज के लिए उपयोगी हो। इसके लिए वह सम्पूर्ण ज्ञान-कोश की व्यवस्था इस प्रकार करना चाहता था कि किसी प्रकार की कठिनाई के बिना हम उस ज्ञान को शक्ति का रूप देकर

---

* Personal prejudices, characteristic of the particular investigator.

×History of Western Philosophy, by B. Russell, Page 566.

समाज की उन्नति करें। उसका विश्वास था कि पाठ्यक्रम में प्रकृति सम्बन्धी विषयों को केन्द्रीय स्थान मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में वह वैज्ञानिक विषयों को पाठ्यक्रम में सबसे ऊँचा स्थान देता था; क्योंकि इनके अध्ययन से अनुसंधान और कार्य में रुचि उत्पन्न होती है और बालक अनुमान और अंधविश्वास में नहीं फँसता। इसके बाद बेकन साहित्य, दर्शन और धर्म का अध्ययन आवश्यक समझता है। दूसरे शब्दों में वह सांस्कृतिक परम्परा का अध्ययन इस प्रकार चाहता था कि उसका ज्ञान समाज की प्रगति में सहायक हो सके। इस प्रकार बेकन ने विज्ञान और मानवीय विषयों के अध्ययन को पाठ्यक्रम में स्थान दिया और इस बात का प्रयास किया कि ज्ञान का आधार केवल प्राचीन साहित्य का अध्ययन ही न हो, वरन् उसमें नवीनता भी आए।

शिक्षा का संगठन—बेकन का शिक्षा-संगठन के सम्बन्ध में विचार था कि उसका स्वरूप जीसुइट संगठन के समान होना चाहिए।* अतः वह शिक्षा-पद्धति और संगठन की दृष्टि से जीसुइट विद्यालयों का प्रशंसक था। इसके अतिरिक्त बेकन के शिक्षा-संगठन सम्बन्धी विचार हमें उसकी पुस्तक 'एडवांसमेंट ऑफ लर्निंग' में मिलते हैं। इस पुस्तक में बेकन ने विश्वविद्यालयों की आलोचना की है। उसके अनुसार उस समय विश्वविद्यालयों में निम्नलिखित सुधार की आवश्यकता थी:—(१) विज्ञान और कला के पाठ्यक्रम को अधिक महत्त्व दिया जाय। (२) प्रयोगशालाओं की व्यवस्था हो जिससे अनुमान के स्थान पर अनुसंधान से कार्य हो सके। (३) विद्यार्थियों को ऐसे विषय न पढ़ाये जाँय

*"The shortest rule here", he says, "would be, 'Consult the schools of the Jesuits,' for nothing better has been put in practice."—Boyd's History of Education. Page 235.

जो उनके मनोविकास के प्रतिकूल हों। किसी विषय को जितना वे समझ सकें, उतना ही उन्हें बताना चाहिए। (४) ज्ञान के विस्तार के लिए विश्वविद्यालयों को प्रयास करना चाहिए। इसके लिए शोध-कार्य की व्यवस्था आवश्यक है। इस प्रकार बेकन शिक्षा के संगठन में ऐसा परिवर्तन चाहता था जो बालकों के विकास के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करे और साथ ही शोध अथवा 'रिसर्च' द्वारा नई नई बातों का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो।

समाज पर प्रभाव—बेकन के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का सत्रहवीं सदी के विद्वानों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यह अतिशयोक्ति न होगी, यदि बेकन को सत्रहवीं सदी का अरस्तू कहा जाय; क्योंकि उसने नवीन ज्ञान के विस्तार पर अधिक बल दिया। इसके अतिरिक्त बेकन ने प्रकृति के अध्ययन को वैज्ञानिक उन्नति के लिए आवश्यक माना। इसका प्रभाव यह हुआ कि लोगों में विज्ञान के अध्ययन के लिए प्रयोग, निरीक्षण और अनुसंधान की अभिरुचि उत्पन्न हुई। जहाँ तक आगमन-प्रणाली का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में विद्वानों का विचार है कि बेकन इस पद्धित का जन्मदाता नहीं था: क्योंकि इस पद्धति का प्रयोग उस समय के वैज्ञानिक अपने अन्वेषणों में पहले से ही करते थे। लेकिन बेकन ने इस पद्धति को वैज्ञानिक स्वरूप दिया, यह अवश्य ही मानना चाहिए। जहाँ तक इस पद्धति की उपयोगिता का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का विचार है कि इसमें भी त्रुटियाँ हैं क्योंकि बेकन अपनी पद्धति में यह मान लेता है कि इसके द्वारा सभी व्यक्ति 'सत्य' को पा सकते हैं। दूसरे शब्दों में बेकन ने अपनी पद्धति में उस वैज्ञानिक कल्पना को स्थान नहीं दिया जो सिद्धान्तों के सृजन में सहायक होती है। लेकिन इतना होते हुए

भी यह कहा जा सकता है कि बेकन ने बुद्धि, विवेक और निर्णय के लिए आगमन का आधार ही स्वीकार किया। इस प्रकार समाज की दृष्टि से बेकन प्रगति में सहायक हुआ क्योंकि उसने विज्ञान के द्वारा नवीन ज्ञान का प्रसार किया और व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाया।

शिक्षक राटके

बेकन ने आगमन-पद्धति की जो व्याख्या की उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास वुल्फगैंग वान राटके (Wolfgang von Ratke) ने किया। राटके को लैटिन शब्दावली में रटिक (Ratich) भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त राटके ने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, उन्हीं के आधार पर सत्रहवीं सदी के महान शिक्षक कमेनियस ने शिक्षाशास्त्र की व्याख्या की। इस प्रकार राटके का पश्चिमी शिक्षा के इतिहास में बड़ा महत्त्व है। मगर इस अध्ययन से ज्ञात होगा कि वह उन अभागों में से था, जिन्हें अपने जीवनकाल में यश-प्राप्ति नहीं होती।

प्रारम्भिक कार्य—राटके (१५७१–१६३५) का जन्म जर्मनी में हुआ और उसकी शिक्षा भी वहीं हुई। रोस्काट के विश्वविद्यालय में उसने पादरी के कार्य की शिक्षा पाई और इसके बाद वह इंग्लैंड भी गया था। इंग्लैंड में अध्ययन करते समय राटके बेकन के विचारों से परिचित हुआ और इसी समय उसके मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि वह अपने देश की शिक्षा-पद्धति में सुधार करे। इस इच्छा के पीछे राटके का भाषण सम्बन्धी दोष भी था। वह भलीभाँति भाषण नहीं कर पाता था। अतः उसने अपनी इस दुर्बलता को दूर करने के लिए बेकन की प्रणाली से भाषा को सुधारना चाहा। इस प्रकार राटके ने शिक्षा-सम्बन्धी जो कार्य किया, उसका सम्बन्ध विशेष रूप से भाषा-शिक्षण पद्धति में सुधार करना था।

जर्मनी वापस आकर कुछ दिनों बाद राटके डचेज डोरोथी

मैरिया ऑफ वेमर* से मिला क्योंकि उस पर डचेज़ मैरिया की बड़ी कृपा थी। अतः जब राटके ने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को डचेज़ मैरिया के सामने रखा, तब उसने सहायता का आश्वासन दिया और अपने भाई प्रिंस लुडविंग से कहकर एक ऐसा स्कूल खुलवा दिया जो राटके शिक्षा-पद्धति के अनुरूप था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इसके पूर्व राटके ने जर्मनी के शासकों के सामने अपनी शिक्षा-योजना को सन् १६१२ में रखा था और उसकी जाँच गीसेन यूनिवर्सिटी के दो प्राध्यापकों ने सरकार की ओर से की और बाद में जेना विश्वविद्यालय के चार प्राध्यापकों ने राटके की योजना और पद्धति की परीक्षा की। यह संतोष की बात थी कि इन समीक्षाओं के बाद राटके की देखरेख में कुछ स्कूलों को दे दिया गया। लेकिन वर्ष भर में ही राटके की असफलता प्रगट हो गई और उसे वहाँ से हटना पड़ा। इस पर राटके ने जर्मनी के शासकों से पुनः अनुरोध किया। लेकिन इसका कुछ परिणाम न निकला और राटके को घूम-घूम कर राजाओं से सहायता माँगनी पड़ी। लेकिन इस समय उसको सहायता केवल डचेज़ मैरिया ने की और इस प्रकार कोथेन में उसके लिए एक ऐसा स्कूल खोला गया जिसमें वह अपनी पद्धति के अनुसार शिक्षा संचारित कर सके।

असफलताएँ—कोथेन स्कूल में प्रायः सभी शिक्षण-सामग्री एकत्र थी। इतना ही नहीं, स्कूल के लिए एक प्रेस भी था। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कीमती सामान थे। शिक्षण-सामग्री को व्यवस्था के बाद राटके ने अपनी पद्धति के अनुसार ट्रेन्ड अध्यापकों की नियुक्ति की। इस प्रकार लगभग पाँच सौ विद्यार्थी कोथेन स्कूल में शिक्षा के लिए भर्ती किये गये। लेकिन राटके

---

*Duchess Dorothea Maria of Weimar.

को व्यावहारिक ज्ञान न होने के कारण, यह स्कूल दूसरे वर्ष के मध्य में टूट गया। पाठशाला-प्रबन्ध में अनेक अड़चनें उत्पन्न हुईं और शिक्षण-प्रणाली की भी ऐसी अनेक समस्याएँ उपस्थित हुईं जिन्हें सुलझाने में राटके असमर्थ था। कोथेन स्कूल की इस असफलता को देखकर प्रिंस लुडविग को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने राटके को राज्य के धन का इस प्रकार व्यर्थ व्यय करने के अपराध में कारावास का दंड दिया। राटके को तीन महीने बाद कारावास से मुक्ति तभी मिली जब उसने यह लिखकर दिया कि उससे बड़ी भूल हुई और उसने इतना बड़ा कार्य आरम्भ कर दिया जो उसके सामर्थ्य के बाहर था। प्रिंस ने इस प्रकार का लिखित वक्तव्य इसलिए लिया कि अन्य शासक उन्हें मूर्ख कहने लगे थे और इस बात को लेकर उनकी हँसी भी होती थी।

असफलता के कारण—कोथेन स्कूल की असफलता से राटके को बड़ी निराशा हुई। लेकिन अपने विचारों की श्रेष्ठता में विश्वास रखने के कारण उसने पुनः प्रयास किया और दुर्भाग्य-वश वह फिर असफल रहा। इस असफलता के बाद राटके ने स्वेडन के चांसलर के पास अपनी शिक्षा-योजना भेजी। लेकिन इसके पूर्व कि स्वैडन से कोई उत्तर आता, राटके की लकवे में मृत्यु हो गई। इस प्रकार शिक्षक राटके का जीवन असफलताओं में बीता और उसकी मृत्यु निराशा में हुई। लेकिन इतना तो सच है कि उसकी शिक्षा-योजना का आधार ज्ञानेन्द्रिय यर्थाथवाद और उसकी पद्धति बेकन के अनुसार थी। अतः उसमें कोई सैद्धांतिक कमी न थी। यदि कमी थी तो वह व्यावहारिक थी। राटके का अनुमान गलत निकला। इसलिए वह अपनी बात की सचाई साबित न कर सका। अतः जब राटके ने जर्मनी की शासन सभा (Diet) के पास अपनी शिक्षा-योजना भेजी तब उसमें उसने

ऐसी बातों का वादा किया जो व्यावहारिक नहीं थीं। उदाहरण के लिए राटके ने यह लिखा था कि उसकी योजना ऐसी थी जिसके द्वारा ग्रीक, लैटिन और हिब्रू भाषाओं की शिक्षा सरलतापूर्वक और अल्पकाल में दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त उसने ऐसे स्कूलों की स्थापना पर बल दिया जिसमें विज्ञान और मानवीय विषयों की पूर्ण-शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध हो। ऐसा उस समय की परिस्थितियों में कब संभव हो सकता था ? अतः यह राटके की दूसरी भूल थी। राटके ने अपनी योजना में यह भी वादा किया कि इसके द्वारा जनता, धर्म और शासन की भाषा एक हो जायगी जो जर्मनी के संगठन और एकता में सहायक होगी। उसकी यह बात भी उस समय संभव न हो सकी। इन्हीं सब बातों के कारण राटके असफल रहा।

राटके का उद्देश्य—राटके के शिक्षा-सम्बन्धी विचार उसके ग्रंथ 'मेथड्स नोवा' में मिलते हैं। इस ग्रंथ में राटके ने एक स्थान पर लिखा है कि प्रत्येक कार्य में हमें स्वाभाविक नियमों का पालन करना चाहिए। ज्ञान की प्राप्ति तभी सफल हो सकती है जब मनुष्य की बुद्धि की क्रमिक परम्परा पर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार राटके एक मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर संकेत करता है और शिक्षा के उद्देश्य को मनोवैज्ञानिक आधार देना चाहता है। अतः हम कह सकते हैं कि राटके के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का विकास प्रकृति के नियमानुसार करना है। दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थ प्रदान करना है।

शिक्षा की पद्धति—राटके के अधिकतर विचार शिक्षा-पद्धति से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त वह भाषा-शिक्षण-पद्धति में भी बड़ी दिलचस्पी रखता था। अतः राटके ने भाषा

की शिक्षा-पद्धति में मातृभाषा को प्रधानता दी। उसका कथन था कि सबसे पहले अपनी भाषा सीखो। शिक्षा-पद्धति में राटके का दूसरा आदेश यह था कि एक समय एक ही विषय की शिक्षा दी जाय। अर्थात् जब विद्यार्थी भाषा की एक पुस्तक का अध्ययन करे तब उसे समाप्त करने के बाद ही वह दूसरे विषय की शिक्षा पाये। राटके का यह विचार कितना दोषपूर्ण है, यह स्पष्ट है। राटके की शिक्षा-पद्धति में रटने की मनाही थी। वह ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शिक्षा प्रदान करने के पक्ष में था और जीसुइट पद्धति के अनुसार पाठों की पुनरावृत्ति भी उसे पसन्द थी। कोथेन स्कूल में राटके ने अध्यापकों को यह आदेश दिया था कि वे प्रत्येक पाठ को दो बार कक्षा के सामने पढ़ें। जब शिक्षक आदर्श पाठ दे तब विद्यार्थी अपनी अंगुलियों को पाठ की उस पंक्ति पर रखते जाँय जिसे अध्यापक पढ़ रहा हो। इस प्रकार विद्यार्थियों को पाठ की शिक्षा दी जाती थी और जब वे इसमें सफल हो जाते थे, तब उन्हें इसी पाठ के आधार पर व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी। इस पाठ की सहायता से विद्यार्थी व्याकरण सम्बन्धी नियमों के उदाहरण ढूँढ़ते थे। इस प्रकार व्याकरण की शिक्षा-पद्धति व्यावहारिक थी। जर्मन भाषा-व्याकरण की यह शिक्षा-पद्धति लैटिन व्याकरण की शिक्षा में काम नहीं आती थी। राटके ने लैटिन व्याकरण की शिक्षा के लिए यह व्यवस्था की थी कि पहले लैटिन पाठ का जर्मन भाषा में अनुवाद कई बार सुनाया जाय और फिर इसके बाद उन्हें मूल पाठ। फिर मूल पाठ का अनुवाद अध्यापक कक्षा के सामने करे जिससे विद्यार्थियों को लैटिन के प्रत्येक शब्द का ज्ञान हो जाय। इस प्रकार जब विद्यार्थी लैटिन पाठ का ज्ञान प्राप्त कर लें, तब उन्हें लैटिन व्याकरण की शिक्षा दी जाय। इसके अतिरिक्त राटके यह भी चाहता था

कि विद्यार्थी जर्मन भाषा के वाक्यों का लैटिन भाषा में अनुवाद करें। इस प्रकार वह मातृभाषा के माध्यम से लैटिन भाषा की शिक्षा चाहता था।

राटके की शिक्षा-पद्धति में भाषा-शिक्षण के सम्बन्ध में जो नवीनता मिलती है, उसके अतिरिक्त और भी उल्लेखनीय बातें हैं। जैसे, बालकों की रुचि के अनुसार शिक्षा, अनुभव द्वारा शिक्षा, स्वाभाविकता (प्रकृति) द्वारा शिक्षा, आदि ऐसी बातें हैं जिनसे आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी सहमत होंगे। लेकिन उसकी भाषा-शिक्षण-पद्धति में बालकों की अभिरुचि के लिए नाममात्र का स्थान है, इससे सभी लोग सहमत होंगे।

शिक्षा के विषय—राटके के अनुसार शिक्षा के पाठ्यक्रम में मातृभाषा का प्रमुख स्थान था। धार्मिक ज्ञान के लिए वह हिब्रू, ग्रीक और लैटिन भाषा को स्थान देता था। ज्ञानेन्द्रियों के विकास के निमित्त साधारण-विज्ञान भी आवश्यक था। शारीरिक विकास के लिए वह व्यायाम और खेल भी पसन्द करता था। इस प्रकार साधारणतः वह उन सभी विषयों को आवश्यक समझता था जिन्हें अन्य ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादी शिक्षक पसन्द करते थे।

शिक्षा का संगठन—राटके के शिक्षा-संगठन में ट्रेन्ड अध्यापक का होना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त सभी स्कूलों में विज्ञान और कला की शिक्षा का पूरा प्रबन्ध हो। वह यह भी चाहता था कि प्रत्येक विद्यार्थी के पास अपनी पाठ्यपुस्तक हो। राटके शारीरिक दंड के विरुद्ध था; क्योंकि यह प्रकृति के विरुद्ध था। अतः कक्षा-प्रबन्ध में किसी प्रकार का दमन वह नहीं चाहता था। उसका विचार था कि कक्षा में पूरी शांति उस समय होती है, जब पाठ बालकों की रुचि के अनुकूल होता है। इसीलिए वह प्रकृति अथवा स्वाभाविकता पर बल देता है। राटके

कमेनियस

प्रारम्भिक जीवन—कमेनियस का पूरा नाम जान अमास कमेनियस (John Amos Comenius : 1592–1671) था। ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवादियों में इसका बेकन के समान और कुछ दृष्टियों से अधिक भी महत्व है। बेकन की भाँति कमेनियस का जीवन सुखी न था। अपने प्रारम्भिक जीवन में कमेनियस ने जिस प्रकार की शिक्षा पाई, उससे वह बड़ा असंतुष्ट था और उसी समय मन में शिक्षा-सुधार की भावना भी उत्पन्न हो गई थी। अतः हम देखते हैं कि कमेनियस जब ग्यारह वर्ष की आयु से लेकर पंद्रह वर्ष की आयु तक ग्राम-विद्यालय में शिक्षा पाकर, लैटिन-शिक्षा के लिए प्रेरा (Prerau) के ग्रामर स्कूल में जाता है, उसे दुःख और क्षोभ दोनों होता है। अन्य विद्यार्थियों से अवस्था में अधिक होने के कारण कमेनियस शिक्षा-पद्धति की त्रुटियों को समझता था। उसने यह भी देखा कि किस प्रकार उसके और उसके साथियों के जीवन-प्रभात में मनोविकास के प्रतिकूल शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है और त्रुटिपूर्ण पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन करना पड़ता है। किसी तरह इस ग्रामर स्कूल में तीन वर्ष बिताकर कमेनियम उच्च-शिक्षा के लिए हरबार्न विश्वविद्यालय में भर्ती हुआ। यहाँ उसे राटके का वह स्मृति-पत्र देखने को मिला जिसे उसने जर्मनी के शासकों के पास भेजा था। कमेनियस ने जब राटके की शिक्षा-योजना का अध्ययन किया तो वह बड़ा प्रभावित हुआ। अतः जब बाईस वर्ष की अवस्था में उसे अध्यापन-कार्य करना पड़ा, तब राटके के सिद्धांतों के अनुसार कमे-

नियस ने भाषा-व्याकरण की एक पाठ्यपुस्तक लिखी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कमेनियस शिक्षा प्राप्त करने के बाद प्रोटेस्टेन्ट पादरी बनना चाहता था। लेकिन जब तक आयु २४ की नहीं हो जाती, तब तक पादरी का पद किसी को नहीं मिलता था। इसी कारण कमेनियस ने दो वर्ष तक अध्यापन-कार्य किया और २४ वर्ष की अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद चर्च के काम में लग गया।

पोलैंड में—क्रिश्चियन ब्रदर्स की भाँति कमेनियस के देश मोराविया में 'मोरावियन ब्रदर्स' नाम की एक संस्था थी। इस संस्था का उद्देश्य भी गरीबों को शिक्षित करना था। कमेनियस का इस संस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध था और उसने इसके कार्य को आगे बढ़ाया भी। लेकिन सन् १६१८ में जो भयानक युद्ध मोराविया में आरंभ हुआ, उसके कारण 'मोरावियन ब्रदर्स' का कार्य रुक गया और उन्हें भाग कर दूसरे देश पोलैंड में शरण लेनी पड़ी। कमेनियस भी इसी दल में था और उसने पोलैंड में आकर अपनी शिक्षा-योजना के अनुसार कार्य आरम्भ कर दिया। कमेनियस जब पोलैंड में आया, तब उस समय उसकी आयु ३५-३६ वर्ष की थी। यहाँ आकर वह लेसनो (Leszno) जिसे आजकल लीसा (Lissa) कहते हैं, में रहने लगा। लीसा नगर कमेनियस के कार्यों का केंद्र बन गया। यहाँ के जिमनेजियम को कमेनियस ने सुधारा और अपने विचारों के अनुसार उसमें परिवर्तन भी किया। इस प्रकार उसने अपने विचारों को व्यावहारिक रूप दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसमें राटके की भाँति अनुभव का अभाव न रहा और उसने शिक्षा की जो योजना बनाई उसमें पूरी सफलता मिली।

शिक्षा-सम्बन्धी कार्य—कमेनियस ने जितना भी शिक्षा-

सम्बन्धी कार्य किया उसे हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। एक भाग तो उसकी लिखी पाठ्यपुस्तकों के लिये है; दूसरे में उसके प्रसिद्ध ग्रंथ ग्रेट डिडैक्टिक (Great Didactic) को रखते हैं और तीसरा भाग उसके उन प्रयासों के लिए है जो उसने विश्व-ज्ञान के प्रसार के निमित्त किया। उसके कार्य के इन तीन भागों को संक्षिप्त विवरण से कमेनियस का वास्तविक महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

पाठ्यपुस्तकें—पाठ्यपुस्तकों की रचना में कमेनियस ने राटके के सिद्धांतों का पालन किया। लेकिन व्यवहार की दृष्टि से उसने जीसुइट-पद्धति को अपनाया। इस प्रकार कमेनियस ने लैटिन-भाषा के अध्ययन के लिए जो पाठ्यपुस्तकें लिखीं उनमें उसने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जो व्यवहार में अधिक थे। इसके अतिरिक्त कमेनियस ने राटके के सिद्धांतानुसार मातृभाषा के माध्यम से लैटिन-भाषा की शिक्षा प्रदान की। इस दृष्टि से उसने जो पाठ्यपुस्तक बनाई उसमें दायें पृष्ठ पर लैटिन-भाषा का पाठ होता था और बायें पृष्ठ पर उस पाठ का मातृभाषा में अनुवाद मुद्रित रहता था। इस तरह की चार पाठ्यपुस्तकें कमेनियस ने बनाईं और उनमें सरल से कठिन का क्रम रखा। इसके अतिरिक्त उसने सहायक पाठ्यपुस्तकें भी लिखीं और बालकों की रुचि के लिए उन्हें सचित्र भी बनाया। पुस्तकों में कमेनियस ने जो चित्र दिया, उस सम्बन्ध में उसने 'पिक्चर रीडिंग' का ध्यान रखा। इसके लिए चित्र में चित्रित प्रत्येक वस्तु पर अंक पड़े होते थे और उसी अंक के अनुसार पाठ में वस्तुओं का वर्णन होता था। इस प्रकार कमेनियस ने नवीन प्रणाली के अनुसार सचित्र पाठ्य-पुस्तक की रचना की और उसका नाम 'सचित्र ज्ञान संसार'*

* Orbis Sensualium Pictus (The World of Sense Objects Pictured).

रखा। विद्वानों का विचार है कि सचित्र पाठ्यपुस्तकों के इतिहास में प्रस्तुत पुस्तक प्रथम थी।

ग्रेट डिडैक्टिक—कमेनियस का यह ग्रंथ सन् १६३२ के लगभग जेक भाषा में लिखा गया था। लेकिन इससे अन्य देशों के शिक्षाशास्त्री तभी परिचित हुए, जब इसका लैटिन अनुवाद सन् १६५७ में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में कमेनियस ने शिक्षा के सिद्धांतों की सुंदर व्याख्या की और इस प्रकार यथार्थवादी शिक्षा के अन्य विद्वानों के विचारों को अपनाते हुए ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवाद का रूप स्पष्ट किया। इस ग्रंथ में उद्देश्य, विषय, पद्धति और संगठन सम्बन्धी अनेक बातें हैं और इसीके आधार पर हम कमेनियस की शिक्षा के उद्देश्य और पद्धति आदि का रूप निश्चित कर सकते हैं।

विश्व-ज्ञान—कमेनियस के शिक्षा-सम्बन्धी कार्य का तीसरा भाग 'विश्व-ज्ञान' अथवा 'यूनिवर्सल-नालेज' से सम्बन्धित है। कमेनियस की यह हार्दिक इच्छा थी कि प्रत्येक व्यक्ति वैज्ञानिक प्रगति से भली भाँति परिचित हो जिससे उसे विश्व के वैज्ञानिक स्वरूप का ज्ञान हो जाय। इस प्रकार वह विश्व-ज्ञान (Pansophia) का प्रसार चाहता था। इसके लिए कमेनियस ने अथक परिश्रम किया और विषय-सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री एकत्र की। लेकिन दुर्भाग्यवश यह सामग्री धार्मिक युद्ध की ज्वाला में नष्ट हो गई; क्योंकि उसके मकान में उसके विरोधियों ने आग लगा दी। इस घटना के समय कमेनियस ६५ वर्ष का हो चला था। अतः उसमें इतनी शक्ति न थी कि वह पुनः विश्व-ज्ञान सम्बन्धी वैज्ञानिक सामग्री इकट्ठी करता।

शिक्षा का उद्देश्य—कमेनियस के कार्यों से परिचित हो

जाने के बाद हमें उसके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्य, पद्धति आदि का अध्ययन करना चाहिए। प्रोटेस्टेण्ट मत को मानने के कारण कमेनियस का यह विश्वास था कि मनुष्य जाति का कल्याण तभी हो सकता है जब कि उसके जीवन में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान हो। इस प्रकार वह ऐसी शिक्षा के पक्ष में था जिसका आधार धार्मिक था। इस सम्बन्ध में उसने अपनी पुस्तक ग्रेट डिडैक्टिक अथवा डिडैक्टिका में लिखा है कि (१) संसार में सभी से श्रेष्ठ, सर्वोच्च और पूर्ण मनुष्य है; (२) मनुष्य का वास्तविक उद्देश्य इस जीवन के बाद है; ३) यह जीवन केवल पारलौकिक जीवन की तैयारी है; (४) पारलौकिक जीवन की तैयारी के लिए आत्मज्ञान, आत्म-संयम तथा ईश्वर-भक्ति आवश्यक है; (५) प्रत्येक मनुष्य में इन तीनों के बीज निहित हैं; (६) यदि मनुष्य का विकास करना है तो उसको शिक्षा दो। इस प्रकार कमेनियस ने शिक्षा को धार्मिक आधार प्रदान किया और कहा कि शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान, नैतिकता और धार्मिक भावना का विकास करना है। दूसरे शब्दों में कमेनियस की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में ऐसी धार्मिक भावना (Piety) और नैतिकता (Morality) उत्पन्न करना था जो ज्ञान (Knowledge) द्वारा विकसित और संचालित हो। इस प्रकार वह ज्ञान, नैतिकता और धार्मिक भावना को एक दूसरे पर आश्रित रखता था और उन्हीं के आधार पर शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करता था। लेकिन ज्ञानेन्द्रिय यथार्थ-वादी होने के कारण कमेनियस शिक्षा द्वारा जीवन में सफलता भी आवश्यक समझता था; क्योंकि जब तक व्यक्ति जीवन की कला से अपरिचित है, तब तक उसकी शिक्षा अधूरी है। अतः हम देखते हैं कि कमेनियस की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को

जीवन में सफल बनाना और ज्ञान द्वारा नैतिक तथा धार्मिक भावना का विकास करना था।

शिक्षा का संगठन—इस उद्देश्य की दृष्टि से कमेनियस ने शिक्षा के संगठन को चार भागों में विभाजित किया। प्रथम भाग में उसने मदर स्कूल को स्थान दिया। जन्म से लेकर ६ वर्ष की आयु तक बालक और बालिकाओं की शिक्षा का भार माता-पिता पर था। ६-वर्ष से १२ वर्ष तक के बालक-बालिकाओं के लिए मातृभाषा (वर्नाक्यूलर) स्कूलों की व्यवस्था कमेनियस ने की। इसी के साथ उसने यह भी कहा कि मदर स्कूल तो प्रत्येक घर में होंगे और मातृभाषा स्कूल प्रत्येक गाँव में। बारह वर्ष से अठारह वर्ष तक के विद्यार्थियों के लिए माध्यमिक विद्यालय अथवा लैटिन स्कूल प्रत्येक नगर में होना चाहिए। अठारह से चौबीस वर्ष के विद्यार्थियों की उच्च-शिक्षा के लिए प्रत्येक प्रांत अथवा राज्य में विश्वविद्यालय होना चाहिए। इस प्रकार कमेनियस ने चार प्रकार के विद्यालयों की व्यवस्था की और इसी के साथ उनमें भर्ती होनेवाले विद्यार्थियों की अवस्था और प्रत्येक विद्यालय की स्थिति पर भी प्रकाश डाला।

कमेनियस के शिक्षा-संगठन में बालक और बालिकाओं की प्रारम्भिक शिक्षा एक साथ होती थी। इसके अतिरिक्त उसने धनी और गरीब विद्यार्थियों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध किया। जहाँ तक कि उच्च-शिक्षा प्राप्त करने का प्रश्न था, उस सम्बन्ध में कमेनियस का यह विचार था कि उन्हीं विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों में भर्ती किया जाय जिनमें प्रतिभा हो। अतः वह चाहता था कि लैटिन स्कूल की शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद, उन विद्यार्थियों की परीक्षा ली जाय जो विश्वविद्यालय में उच्च-शिक्षा प्राप्त करना चाहते हों। इस परीक्षा द्वारा प्रतिभावान्

विद्यार्थियों का ज्ञान सरलता से हो जायगा। अतः विश्वविद्यालयों में ऐसे विद्यार्थी भर्ती न हो सकेंगे जो उच्च-शिक्षा के योग्य न होंगे।

शिक्षा के विषय—इन चार प्रकार के विद्यालयों के अनुसार कमेनियस ने पाठ्यक्रम में शिक्षा के विषयों को स्थान दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कमेनियस ने विश्व-ज्ञान (Pansophia) के दृष्टिकोण से ही चारों प्रकार के विद्यालयों के लिए पाठ्यक्रम बनाया। उसका विचार था कि आरम्भ में विद्यार्थियों को सभी विषयों की मोटी मोटी बातें बताई जाँय। अतः 'मदर स्कूल' में सूर्य, चंद्रमा, तारे, पेड़-पौदे, फूल-फल और पक्षी आदि का परिचयात्मक ज्ञान होना आवश्यक है और फिर ज्यों-ज्यों विद्यार्थी उच्च-शिक्षा की ओर अग्रसर हो, त्यों-त्यों उसे विज्ञान, दर्शन और साहित्य आदि का विस्तृत ज्ञान होता जाय। इस प्रकार कमेनियस चाहता था कि जन्मकाल से लेकर चौबीस वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते व्यक्ति को सभी विषयों का साधारण ज्ञान हो जाय और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार वह कुछ विषयों का विशेषज्ञ भी बन जाय।

मदर स्कूल का पाठ्यक्रम—कमेनियस ने स्पष्टता की दृष्टि से प्रत्येक विद्यालय का पाठ्यक्रम निश्चित कर दिया। अतः उसने 'मदर स्कूल' में शिक्षा के प्रायः सभी विषयों, जैसे भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान, राजनीति, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, दर्शन, कला और संगीत आदि की मोटी-मोटी बातों को स्थान दिया। दूसरे शब्दों में वह इन विषयों की उन बातों को बताना चाहता था जो बालक में कौतूहल उत्पन्न करती हैं और जो उसके मनोविकास के अनुकूल हैं। विद्वानों का विचार है कि मदर स्कूल के पाठ्यक्रम की जो व्यवस्था कमेनियस ने की वह फ्रोयबेल के किंडरगार्टन से बहुत कुछ मिलती है।

वर्नाक्यूलर स्कूल का पाठ्यक्रम—वर्नाक्यूलर स्कूल के पाठ्यक्रम में कमेनियस ने नैतिकता और धार्मिक भावना के विकास के निमित्त नीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र को स्थान दिया और जीवन को सुखी बनाने की दृष्टि से साहित्य, अर्थशास्त्र, भूगोल और इतिहास को। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि वह इन विषयों की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा और दृष्टिकोण राष्ट्रीय चाहता था। दूसरे शब्दों में वह वर्नाक्यूलर के पाठ्यक्रम में राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अत्यधिक महत्त्व देता था। इन विषयों के अतिरिक्त कमेनियस ने 'हाथ के काम' की शिक्षा को भी पाठ्यक्रम में स्थान दिया। उसका विचार था कि विद्यार्थियों को साधारण मरम्मत और मामूली चीजों को बनाने का काम सिखा दिया जाय।

लैटिन स्कूल का पाठ्यक्रम—लैटिन स्कूलों में जिसमें बारह से अठारह वर्ष के विद्यार्थी शिक्षा पाते थे, कमेनियस ने शिक्षा के पाठ्यक्रम में विदेशी भाषाओं को स्थान दिया। धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन के लिए लैटिन, ग्रीक और हिब्रू भाषाओं का अध्ययन आवश्यक था। इसके अतिरिक्त उसने विज्ञान और मानवतावादी शिक्षा के विषयों को भी स्थान दिया। इस प्रकार लैटिन स्कूल के पाठ्यक्रम में प्रायः सभी विषयों के साथ विदेशी भाषाओं की शिक्षा का भी समावेश किया गया। लेकिन इनकी शिक्षा की व्यवस्था की दृष्टि से कमेनियस ने लैटिन स्कूल के पाठ्यक्रम को सात भागों में विभाजित कर दिया। उसने प्रथम तीन भागों में भाषा-प्रधान विषयों को स्थान दिया, चौथे में दार्शनिक, पाँचवें में तर्कशास्त्र सम्बन्धी, छठें में राजनीतिक और सातवें में धार्मिक। इस प्रकार उसने लैटिन स्कूल में वर्गीकरण द्वारा सभी विषयों की पर्याप्त शिक्षा का प्रबन्ध किया।

विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम—लैटिन स्कूल में विद्यार्थी

प्रायः सभी विषयों की शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद जब उच्च-शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय में आता था, तब उसे अपनी प्रवृत्ति के अनुसार किसी विषय का विशेष अध्ययन करना पड़ता था। अतः कोई विद्यार्थी धर्मशास्त्र में, कोई न्याय में, कोई साहित्य में, कोई चिकित्साशास्त्र में तो कोई अन्य किसी विषय का विशेष और विस्तृत अध्ययन करता था। यदि किसी विद्यार्थी की एक से अधिक विषय में रुचि होती तो वह उन विषयों का विशेष अध्ययन कर सकता था। इस प्रकार कमेनियस ने शिक्षा में ऐसे विषयों को स्थान दिया जो व्यक्ति के विकास में अवस्था के साथ सहायक हो सकते थे।

शिक्षा की पद्धति—कमेनियस की शिक्षा-पद्धति प्रकृति के नियमों पर आधारित थी। उसका विचार था कि शिक्षा की वही पद्धति अच्छी है जो प्रकृति के नियमों का पालन करती है। प्राकृतिक नियमों पर आधारित पद्धति में पूर्णता और सरलता होती है। अतः शिक्षक को चाहिए कि वह शिक्षा की पद्धति में प्राकृतिक नियमों का समावेश करे। प्राकृतिक नियमों के स्पष्टीकरण के लिए कमेनियस कहता है कि प्रकृति में सभी कार्यों के लिए समय निश्चित है। इसी प्रकार शिक्षा भी उचित समय पर होनी चाहिए। कमेनियस ने इस दृष्टि से प्रातःकाल का समय सबसे अच्छा माना है; क्योंकि उस समय बालक का मन स्वस्थ होता है और उसमें किसी प्रकार की थकान नहीं होती।

पद्धति के नौ नियम—जहाँ तक शिक्षा की आगमन पद्धति का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में कमेनियस का विचार था कि इसके द्वारा सभी विषयों की शिक्षा भली भाँति नहीं दी जा सकती थी; क्योंकि मनुष्य जो कुछ सीखता है उसके तीन माध्यम हैं। पहला माध्यम तो ज्ञानेन्द्रियों का है, दूसरा बुद्धि (Intellect)

का है और तीसरा दैवी प्रकाशन (Revelation) का। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम में आगमन-पद्धति सहायक हो सकती है और कुछ सीमा तक बुद्धि के माध्यम में भी। लेकिन दैवी प्रकाशन के माध्यम में इस पद्धति की उपयोगिता में कमेनियस को संदेह था। मगर फिर भी कमेनियस ने बेकन की पद्धति के अनुसार अपनी पद्धति को व्यावहारिक रूप दिया। उसने प्रत्येक विषय की शिक्षा-पद्धति स्पष्ट की और इस सम्बन्ध में उसने नौ नियमों का प्रतिपादन किया जो इस प्रकार हैं :—

(१) बालक को जो भी शिक्षा देनी हो, उसे स्पष्ट और सीधे तरीके से बताना चाहिए और किसी प्रकार के प्रतीक का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(२) जो कुछ पढ़ाया जाय उसकी उपयोगिता दैनिक जीवन में हो और उसका व्यावहारिक महत्त्व भी हो।

(३) शिक्षा की पद्धति पेंचीली न होकर सरल और सीधी हो।

(४) जो कुछ पढ़ाया जाय, उसके स्वरूप को स्पष्ट किया जाय और उसके प्रयोजन को बताया जाय।

(५) किसी विषय के साधारण नियम को पहले स्पष्ट कर देना चाहिए और फिर बाद में उनकी विस्तृत व्याख्या करनी चाहिए।

(६) किसी विषय के सभी अङ्गों की शिक्षा क्रमानुसार देनी चाहिये जिससे उस विषय का पूरा ज्ञान हो जाय और विभिन्न अंगों का आपसी सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाय।

(७) विभिन्न विषयों की शिक्षा क्रमानुसार होनी चाहिये और एक समय एक ही विषय की शिक्षा दी जानी चाहिये।

(८) किसी पाठ की शिक्षा तब तक दी जानी चाहिए जब तक कि विद्यार्थियों की समझ में वह भलीभाँति आ न जाय।

(९) विभिन्न वस्तुओं में जो अंतर है उसे स्पष्ट करना चाहिए। ऐसा करने से वस्तु का ज्ञान स्पष्ट रूप से हो जाता है।*

कमेनियस ने शिक्षा की पद्धति की सफलता के लिए इन नौ नियमों पर बड़ा बल दिया और इससे सफलता मिली भी। इसके अतिरिक्त कमेनियस ने ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थ की दृष्टि से शिक्षा-पद्धति में पाठ्य-पुस्तकों पर अधिक बल न देकर पाठ्य-सामग्री पर दिया; क्योंकि वह शिक्षा-पद्धति में यथार्थ लाना चाहता था। उसका यह विचार था कि जहाँ तक संभव हो शिक्षा-पद्धति में 'यथार्थ' को स्थान देना चाहिये। इसीलिए वह पाठ्य-सामग्री (Material aids) आवश्यक समझता था। दूसरे शब्दों में वह वस्तु से भाव की ओर जाने के पक्ष में था। शिक्षा-पद्धति में कमेनियस करके सीखने पर भी बल देता था। इसका विचार था कि ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थ की दृष्टि से बालक को कार्य द्वारा शिक्षा देनी चाहिए। तीसरी बात कमेनियस ने यह की कि शिक्षा-पद्धति में अभ्यास को पर्याप्त स्थान दिया जाय। अभ्यास की सहायता से लेखन, पठन और गायन सरलता पूर्वक सीखा जा सकता है। कमेनियस ने यह भी चाहा कि अध्यापक केवल बात से नहीं, वरन् अपना आदर्श उपस्थित करके शिक्षा दें। जहाँ तक नैतिकता और धार्मिक भावना का सम्बन्ध है, उसके अध्ययन का आदर्श और आत्मविश्लेषण तथा उपासना आवश्यक है।

इस प्रकार शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में कमेनियस ने क्रांतिकारी विचारों को प्रकट किया।

समाज पर प्रभाव—कमेनियस ने शिक्षा के लिए अथक परिश्रम किया। उसने ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवादी शिक्षा में धार्मिक

---

* A Text-Book in the History of Education, by P. Monroe. Pages 488-489.

भावना का समावेश कर चरित्र के विकास पर बल दिया। शिक्षा के जिन सिद्धान्तों की स्थापना कमेनियस ने की उन्हीं के आधार पर आधुनिक शिक्षा का विकास हुआ। शिक्षा पद्धति में प्रकृति को स्थान देकर कमेनियस ने शिक्षा-मनोविज्ञान की भूमिका तैयार की। सभी विषयों की एकता पर बल देकर उसने समन्वय (Correlation) की ओर संकेत किया। कमेनियस ने शिक्षा का ऐसा संगठन बनाया जो सर्वजनीन शिक्षा को महत्त्व देता था और उसमें अभिजात वर्ग के प्रति किसी प्रकार का मोह नहीं दिखाई देता। इसके अतिरिक्त कमेनियस ने पाठ्यपुस्तकों की रचना पर ध्यान देकर उसने समाज का बड़ा उपकार किया; क्योंकि अच्छी पाठ्यपुस्तकों की सहायता से शिक्षा के प्रसार में सहायता मिली।

लेकिन कुछ ऐसे विद्वान् भी हैं जो कमेनियस के दोषों पर अधिक ध्यान देते हैं। किक महोदय ऐसे ही विद्वानों में हैं। उनका कथन है कि कमेनियस ने प्राचीन साहित्य की उपेक्षा की, यद्यपि वह बालक को मानव जाति के अनुभवों का उत्तराधिकारी मानता था। यदि उसे बालक को मानव जाति के अनुभव को सिखाना था, तो प्राचीन साहित्य की शिक्षा पर अवश्य ध्यान देना चाहिये था। दूसरा दोष कमेनियस में यह था कि उसने अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन में तुलना से अधिक काम लिया। प्राकृतिक वस्तुओं की कार्य-प्रणाली के अनुसार मनुष्य की कार्य-प्रणाली निश्चित करना व्यक्ति के स्वभाव और उसके मनोविज्ञान की उपेक्षा करना है। तीसरा दोष किक के अनुसार यह था कि कमेनियस मनुष्य के 'ज्ञान' और 'शक्ति' का सही अनुमान न कर सका। यदि उसे इनका ज्ञान होता तो वह सब कुछ जानने पर अधिक बल न देता। किक के अनुसार चौथा

दोष यह था कि उसने बच्चों के लिए भी 'विश्व-ज्ञान' का 'सार' आवश्यक समझा। पाँचवा दोष किक यह बताता है कि साधारण नियमों का उल्लेख पहले ही कर देना उचित नहीं है। किक के अनुसार कमेनियस की पद्धति में छठाँ दोष भाषा सम्बन्धी था। कमेनियस भाषा-शिक्षण में ऐसे शब्दों को भी स्थान देता था, जिनका समझना बालकों के लिए कठिन था। इस प्रकार किक महोदय ने कमेनियस की आलोचना की है। मगर इतना होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कमेनियस ने ज्ञानेन्द्रियों और प्रकृति के नियमों पर बल देकर शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। दूसरे शब्दों में उसने शिक्षा में मनोविज्ञान का समावेश किया, यद्यपि 'मनोविज्ञान' जैसा विषय उस समय नहीं था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कमेनियस आधुनिक शिक्षा का पिता था और उसी के सिद्धांतों का विकास रूसो, पेस्तालाजी, फ्रेमबेल, हरबार्ट और स्पेंसर आदि शिक्षाशास्त्रियों ने किया।

शिक्षा में अनुशासन और लॉक

शिक्षा में अनुशासन—शिक्षा में अनुशासन की भावना मध्ययुगीन शिक्षा में प्रबल थी और वह भावना तभी से मानवतावादी शिक्षा के माध्यम से प्रभावित हो रही थी। यथार्थवादी शिक्षा में मानवतावादी विषयों की शिक्षा और शिक्षा-पद्धति पर बल देने का कारण अनुशासन की भावना है। अनेक यथार्थवादियों ने शिक्षा की पद्धति में सुधार करना चाहा और उसके द्वारा चरित्र के विकास पर बल दिया। इस प्रकार यूरोपीय शिक्षा की परम्परा में अनुशासन (Discipline) की भावना सदा व्याप्त थी और इसी के कारण शिक्षा में नियमवाद का उदय हुआ। इसी नियमवाद के कारण समय-समय पर शिक्षा में परिवर्तन उपस्थित हुए।

अनुशासन के कारण—लेकिन यथार्थवादी-शिक्षा के पश्चात् शिक्षा में अनुशासन की ओर पुनः क्यों ध्यान दिया गया, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जैसा कि हम जानते हैं यथार्थवादी शिक्षा ने जीवन की सफलता के लिए शिक्षा के विषय और पद्धति पर विशेष ध्यान दिया। उसने 'शब्द' के स्थान पर 'वस्तु' को आवश्यक समझा। इस प्रकार शिक्षा में 'यथार्थ' का प्रवेश हुआ और इसी के साथ पद्धति में इस प्रकार सुधार किया गया जिससे शिक्षा जीवन के निकट आ सके। इसके अतिरिक्त शिक्षा में अनुशासन की भावना के उदय में निम्नलिखित कारण प्रधान थे:—

१—सत्रहवीं सदी की सामाजिक दशा में विज्ञान के कारण परिवर्तन हुआ और संकीर्ण मानवतावादी शिक्षा का कोई महत्त्व

न रहा। दूसरे शब्दों में मानवतावादी तथा यथार्थवादी शिक्षा नियमवाद में उलझ गई और इस प्रकार शिक्षा में एक नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता प्रतीत हुई।

२—शिक्षा की पद्धति पर यथार्थवादी शिक्षकों ने बड़ा बल दिया था। अतः इसी के आधार पर शिक्षा के एक नये सिद्धांत का जन्म हुआ जो शिक्षा की वस्तु से शिक्षा की पद्धति को अधिक महत्त्व देता था।

३—इसी सिद्धांत के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य स्मृति और विवेक की वृद्धि करना हो गया और इसी के कारण शिक्षा के दो तीन विषयों की सहायता से स्मृति और विवेक के विकास का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार शिक्षा में अनुशासन को भावना को प्रश्रय मिला।

४—सत्रहवीं सदी में वैज्ञानिक प्रगति का विरोध धार्मिक प्रवृत्ति कर रही थी। इसके कारण भी शिक्षा में अनुशासन की भावना आई। दूसरे शब्दों में धार्मिक प्रभाव के कारण शिक्षा द्वारा चरित्र-सुधार और नैतिकता पर बल दिया गया।

५—सत्रहवीं सदी में अरस्तू के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का पुनः अध्ययन आरम्भ हो गया और उसके प्रभाव के कारण विभिन्न मानसिक शक्तियों (Faculties) के लिए अनुशासन आवश्यक समझा गया।

इस प्रकार शिक्षा में अनुशासन की भावना १६ वीं तथा १७ वीं सदियों में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों के कारण आई। जैसा कि हम जानते हैं, इन परिवर्तनों के कारण शिक्षा को जीवन के निकट लाने का प्रयास किया गया और मानवतावादी तथा उच्च वर्गीय संकीर्णता को छोड़ा गया। इसी के साथ सुधार और शिक्षा में धार्मिक भावना और मनोविकास आदि पर ध्यान दिये जाने

के कारण शिक्षा में एक ऐसा परिवर्तन हुआ जिसने शिक्षा में निम्नलिखित बातों पर बल दिया :—

१—शिक्षा का महत्त्व उसके विषय पर नहीं है, वरन् उस विषय को सीखने की पद्धति में है।

२—शिक्षा की सही पद्धति से ही विभिन्न मानसिक शक्तियों का विकास हो सकता है।

मानसिक शक्तियाँ—इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा की पद्धति का शिक्षा के विषय से अधिक महत्त्व इसलिए स्वीकार किया गया कि इसके द्वारा विभिन्न मानसिक शक्तियों का विकास हो सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिन मानसिक शक्तियों के विकास पर अधिक बल दिया गया उनमें स्मृति और विवेक (Reason) प्रधान थे। आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान में भी स्मृति और विवेक अथवा विचार का बड़ा महत्त्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा में अनुशासन के प्रभाव के फलस्वरूप विभिन्न मानसिक शक्तियों के विकास की ओर जो ध्यान दिया गया, वह किसी न किसी रूप में आज भी मान्य है। दूसरे शब्दों में आज जो संयम और अच्छी आदतें डालने की बात कही जाती है, उसका सम्बन्ध शिक्षा में अनुशासन की भावना से ही है। इस प्रकार शिक्षा में अनुशासन की भावना ने मानसिक शक्तियों का विकास ही शिक्षा का उद्देश्य माना और इसके लिए शिक्षा की उस पद्धति को अपनाया जिसमें विभिन्न शक्तियों के विकास की संभावना हो। इन सिद्धांतों की दार्शनिक भूमिका जान लॉक ने भलीभाँति की। अतः हमें उसके विचारों का अध्ययन करना चाहिए।

जान लॉक (१६३२–१७०४)—लॉक का जन्म इग्लैंड के एक गाँव में हुआ था। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा उसके

धार्मिक और सुधारवादी पिता की देखरेख में हुई थी। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद लॉक आक्सफोर्ड में कुछ समय तक दर्शन और यूनानी साहित्य का अध्यापक था। लेकिन यहाँ उसे आक्सफोर्ड की विद्वद्वादी प्रवृत्ति अच्छी न लगी और जब उसके पिता की मृत्यु हुई, तब वह आक्सफोर्ड छोड़कर अपने घर चला गया। घर पर लॉक ने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया और लगभग दो वर्ष तक चिकित्सक का कार्य करता रहा; लेकिन इस कार्य में भी उसका मन नहीं लगा और वह असफल रहा। लेकिन इसी बीच उसका परिचय लार्ड एशले से हो गया। एशले महोदय ने, जो बाद में अर्ल ऑफ शैफ्टबरी के नाम से प्रसिद्ध हुए लॉक की बड़ी सहायता की। उन्होंने लॉक को अपना सिक्रेटरी नियुक्त किया। सिक्रेटरी के रूप में कार्य करते हुए भी लाक ने अपना अध्ययन जारी रखा। उसने दर्शन और विज्ञान में विशेष योग्यता प्राप्त की और १६९० में अपना प्रसिद्ध निबन्ध 'मनुष्य की समझ पर'* पर प्रकाशित किया। इसके बाद लाक ने सामाजिक विषय पर कुछ रचनाएँ प्रकाशित कीं और सन् १६९३ में 'शिक्षा पर कुछ विचार' + प्रकाशित किया। इस रचना में लाक ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। लेकिन उसके इन विचारों की अधिक स्पष्टता 'समझने का तरीका' (Of the Conduct of the Understanding) नामक रचना में मिली। इस प्रकार लाक के शिक्षा सिद्धांत के आधार ये ग्रंथ हैं और इन्हीं के अध्ययन से उसकी शिक्षा के स्वरूप को निश्चित किया जा सकता है।

लेकिन इसके पूर्व कि हम लॉक की शिक्षा का अध्ययन करें, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वह एक दार्शनिक था और उसने

---

* Essay concerning Human Understanding.

\+ Some Thoughts concerning Education .

शिक्षा में अनुशासन की भावना को वहीं तक स्वीकार किया जहाँ तक वह सत्य की खोज में सहायक होती थी। इसे हम स्पष्ट रूप से उसके उद्देश्य पर विचार करते समय समझ सकेंगे।

शिक्षा का उद्देश्य—लॉक के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बालक में गुण (Virtue), ज्ञान (Wisdom), आचार-व्यवहार(Breeding) तथा सीखने की शक्ति का विकास करे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लॉक इन चार बातों को क्रमानुसार महत्त्व प्रदान करता है। एक दूसरे स्थान पर लॉक का विचार है कि शिक्षा द्वारा शारीरिक, नैतिक और मानसिक विकास होना चाहिए। शारीरिक विकास से व्यक्ति का शरीर स्वस्थ और शक्तिशाली बनता है; नैतिक विकास से उसमें गुण उत्पन्न होते हैं और मानसिक विकास बुद्धि के लिए आवश्यक है। इस सम्बन्ध में लाक ने अपने विचार विस्तृत रूप से प्रगट किए हैं। उसने शारीरिक विकास के लिए शिक्षा का महत्त्व स्पष्ट करने के लिए 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन' की बात कही है। इससे यह स्पष्ट है कि लॉक शिक्षा में शारीरिक विकास को कितना महत्त्व प्रदान करता था। नैतिक विकास के लिए लॉक अनुशासन की शिक्षा आवश्यक समझता था। मनरो महोदय के अनुसार लॉक अनुशासन को ही शिक्षा मानता था। इस प्रकार लॉक की शिक्षा का आधार ही अनुशासन था और इसी को दृष्टि में रखते हुए उसके उद्देश्य को समझना सरल होता है।

लॉक की शिक्षा में गुण, ज्ञान, आचार व्यवहार और सीखने की शक्ति का भी उल्लेख है। शिक्षा के उद्देश्य में 'गुण' की ओर इसलिए ध्यान देना आवश्यक है कि व्यक्ति में विचार-शक्ति उत्पन्न हो और वह प्रत्येक समस्या को भली भाँति समझ सके। इस प्रकार लॉक के अनुसार गुण पूर्ण मानसिक विकास है जो मनुष्य को ठीक रास्ते पर चलने के योग्य बनाता है। 'ज्ञान' Wisdom) से लॉक

का तात्पर्य उस शक्ति से है जो मनुष्य को कार्य-कुशल बनाती है। 'आचार-व्यवहार' से लॉक का यह अर्थ है कि व्यक्ति सामाजिक जीवन में शिष्टता का व्यवहार करे और अन्त में सीखने की बात है। ऊपर जो गुण, ज्ञान और आचार सम्बन्धी बातें लिखी गई हैं, उनको सीखना आवश्यक है। इसलिए सीखने को लॉक ने अन्त में रखा। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि लाक ने 'गुण' को अर्थात् व्यक्तिगत गुणों के विकास का सर्वप्रथम स्थान देकर शिक्षा में व्यक्तिवादी उद्देश्य को स्थान दिया। लेकिन ज्ञान और आचार-व्यवहार का समावेश कर लॉक ने समाज का भी ध्यान रखा। इस प्रकार लॉक की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तिवादी होते हुए भी समाज की उपेक्षा नहीं करता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यक्तिवाद पर बल देने का कारण लाक मानवतावादी प्रतीत होता है और ज्ञान तथा आचार-व्यवहार को अपनाने के कारण यथार्थवादी।

शिक्षा का संगठन—शिक्षा के इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लॉक स्कूलों को नापसन्द करता है। उसका विचार है कि एक योग्य शिक्षक एक ही बालक को शिक्षा दे सकता है। इस प्रकार लॉक का व्यक्तिवाद शिक्षा-संगठन में वैयक्तिक शिक्षा का समर्थक है। इसमें सन्देह नहीं कि एक योग्य और विद्वान् अध्यापक एक विद्यार्थी को शिक्षा भली भाँति दे सकता है। लेकिन समाज की दृष्टि से यह व्यावहारिक नहीं है। इसके अतिरिक्त लॉक के अनुसार शिक्षा में किसी प्रकार का शारीरिक दंड वर्जित था। इस प्रकार लाक प्रचलित शिक्षा-संगठन के पक्ष में नहीं था; क्योंकि उससे शिक्षा द्वारा अनुशासन की भावना संभव नहीं थी।

शिक्षा की पद्धति—एक बालक की शिक्षा के लिए एक

योग्य अध्यापक पर बल देकर लॉक ने वैयक्तिक शिक्षा-पद्धति को पसन्द किया। लेकिन इसी के साथ उसने ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवादी शिक्षा-पद्धति को अपनाया और अनुभव, निरीक्षण तथा देशाटन को आवश्यक समझा। इसके अतिरिक्त उसने मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने की बात कही। शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से हो, इस पर यथार्थवादी विद्वानों ने बल दिया था। लाक ने इस सिद्धांत को अपनाकर अपनी शिक्षा-पद्धति को ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के समान बनाया। लाक की शिक्षा-पद्धति में तीसरी विशेषता समन्वय की है। उसका विचार था कि एक विषय की शिक्षा देते समय उस विषय से सम्बन्धित अन्य विषय के बारे में भी अध्यापक को बताना चाहिए। इस प्रकार लाक ने शिक्षा-पद्धति में समन्वय को स्थान दिया।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, लॉक सभी प्रकार के दंड और बाध्यता का विरोधी था। इसलिए उसने शिक्षा की पद्धति में मनोरञ्जन और रुचि का समावेश किया। उसके अनुसार शिक्षा की पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे बालक को यह अनुभव हो कि वह खेल रहा है। दूसरे शब्दों में वह खेल द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा देना चाहता था।

अपनी शिक्षा-पद्धति में निरीक्षण का समावेश करके लॉक ने बेकन की आगमन-पद्धति को अपनाया। देशाटन की उपयोगिता स्वीकार करके उसने सामाजिक यथार्थवादी-पद्धति को अपनाया। इस सम्बन्ध में लॉक का विचार था कि १६ और २१ वर्ष की आयु के बीच में देशाटन नहीं होना चाहिए। देशाटन १६ वर्ष की आयु के पहले हो जिससे बालक निरीक्षण करके अपने ज्ञान को बढ़ा सके, अथवा २१ वर्ष के बाद जब कि बालक वयस्क होकर

अनुभवी हो जाता है और उसमें विचार-शक्ति का समुचित विकास हो जाता है।

शिक्षा के विषय—जैसा कि हम जानते हैं, लॉक शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक विकास पर अधिक बल देता था। शारीरिक विकास के लिए व्यायाम और खेल को लॉक ने शिक्षा के विषयों में स्थान दिया। नैतिक विकास के लिए लॉक बालक को सत्य-भाषण, और सुशील बनाना सिखाना चाहता था। उसका विचार था कि बालक को ईश्वर भक्त भी होना चाहिए। बिना ईश्वर-भक्ति के नैतिक-विकास संभव नहीं। जहाँ तक बौद्धिक विकास का प्रश्न है, लॉक ने उसके लिए ऐसा पाठ्यक्रम बनाया जो मनोविकास और समन्वय के अनुकूल था। अतः हम देखते हैं कि लॉक ने सर्वप्रथम पठन पर ध्यान दिया और कहा कि इसका आरम्भ उसी समय करना चाहिए जब बालक बातचीत करना आरम्भ करे। इसके बाद लेखन और चित्रण की ओर ध्यान देना चाहिए। विदेशी भाषा फ्रेंच अंगरेजी भाषा सीख लेने पर सिखाई जाय और इसके एक या दो वर्ष बाद लैटिन भाषा। इसी के साथ लॉक ने यह भी व्यवस्था की कि विदेशी भाषाओं की शिक्षा के समय अंगरेजी भाषा की भी शिक्षा चलती रहे। इस प्रकार लॉक ने मातृभाषा को अत्यधिक महत्व दिया। पठन-लेखन और भाषा-अध्ययन के अतिरिक्त लॉक ने भूगोल की शिक्षा आवश्यक समझी और कहा कि इस विषय की शिक्षा इस प्रकार दी जाय जिससे इसी के समन्वय से गणित, नक्षत्र-विद्या, रेखागणित, इतिहास और विशेषकर रोमी इतिहास की शिक्षा संभव हो सके। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लॉक देशाटन द्वारा निरीक्षण और अनुभव के पक्ष में था। अतः भूगोल की शिक्षा द्वारा विभिन्न देशों की जानकारी आवश्यक थी। नक्षत्रों के अध्ययन से दिशा-ज्ञान में

सहायता मिल सकती थी। इतिहास के अध्ययन से किसी देश के वास्तविक गौरव का अनुमान हो सकता था। इस प्रकार लॉक ने इन विषयों की व्यावहारिक उपयोगिता का भी ध्यान रखा।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है लॉक नैतिक विकास के लिए ईश्वर-भक्ति आवश्यक मानता था। इस दृष्टि से उसने पाठ्यक्रम में बाइबिल के अध्ययन को स्थान दिया। बाइबिल के अध्ययन में बालक को ईश्वर का बोध हो सकेगा और उसमें नैतिकता उत्पन्न होगी। लैटिन भाषा की शिक्षा का विस्तार सिसरो और अन्तर्राष्ट्रीय नियम के अध्ययन के रूप में था। अंगरेजी भाषा और उसकी शैली पर लॉक ने सदा बल दिया। यह स्मरणीय है कि बेकन ने यह सिद्ध कर दिया था कि अंगरेजी भाषा भी गहन से गहन विचारों को सुन्दरतापूर्वक व्यक्त कर सकती है। अतः लॉक ने अंगरेजी भाषा और शैली के विकास के लिए इसके अध्ययन पर अधिक बल दिया; क्योंकि अंगरेजी का महत्व प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था।

लॉक के शिक्षा के विषय में सबसे अधिक मनोरञ्जक विषय हाथ के काम, घुड़सवारी और नृत्य थे। हाथ के कामों में बाग़-वानी और पुस्तक-कला को लॉक ने पसन्द किया; क्योंकि ये ऐसे काम थे जिन्हें भद्र पुरुष अपने मनोरंजन के लिए कर सकते थे। इसके अतिरिक्त उसने घेरा बनाने (Fencing) की शिक्षा भी आवश्यक समझी। रक्षा की दृष्टि से घर के अथवा खेत के चारों ओर घेरा बनाया जाना आवश्यक था। जहाँ तक घुड़सवारी का प्रश्न है, वह तो अत्यन्त आवश्यक था; क्योंकि उस समय आने-जाने के साधन सरल नहीं थे। नृत्य-कला का ज्ञान सभ्य समाज के आमोद-प्रमोद में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। इस प्रकार लॉक की शिक्षा के विषय ऐसे थे जो बालक को पूर्ण भद्र पुरुष बनाना चाहते थे।

इस पाठ्यक्रम में कुछ विषयों को स्थान नहीं दिया। ऐसे विषयों में ग्रीक, दर्शन, साहित्य, संगीत, चित्रकला, विज्ञान, तर्कशास्त्र आदि प्रधान हैं। लॉक ने इन विषयों की उपेक्षा उपयोगिता और व्यावहारिकता की दृष्टि से की। संभवतः उसका विचार था कि ये विषय ऐसे थे जो पद्धति से अधिक महत्त्वपूर्ण थे और इनमें मानवतावादी संकीर्णता थी। इसीलिए विद्वानों का विचार है कि लॉक का पाठ्यक्रम संकुचित है और साथ ही विस्तृत भी है। विस्तृत इस दृष्टि से कि इसमें उपयोगितावाद और जीवन में सफलता का ध्यान रखा गया। उदाहरण के लिए अंगरेजी भाषा के अध्ययन पर लॉक का बल देना यह सिद्ध करता है कि वह समाज में अंगरेजी की उपयोगिता को समझता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि लॉक की शिक्षा के विषय उपयोगिता और मानसिक शक्तियों के विकास की दृष्टि से चुने गये।

समाज पर प्रभाव—जैसा कि हम जानते हैं लॉक व्यक्ति की मानसिक शक्तियों का विकास करना चाहता था। वह उसे विद्वान् न बनाकर जीवन में सफल बनाना चाहता था। इस प्रकार लॉक की शिक्षा ने समाज में उपयोगितावाद का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त लॉक ने शिक्षा की ऐसी पद्धति बनाई जो व्यक्तिवादी थी और उसका विकास भद्र-समाज में ही हो सकता था। जहाँ तक दीनों की शिक्षा का प्रश्न था, उसकी ओर लॉक ने ध्यान नहीं दिया। इसीलिए कुछ विद्वानों का मत है कि लॉक की सहानुभूति समाज के निम्नवर्ग से कम थी। इस सम्बन्ध में लॉक का सरकारी व्यापार विभाग में कमिश्नर के पद पर कार्य करना उल्लेखनीय है। उन्हीं दिनों सरकार ने दीन बालकों के लिए 'वर्क हाउस' की योजना बनाई। यह योजना सन् १७२२ में कार्यान्वित हुई। कुछ दिनों बाद ही इसकी असफलता प्रगट हो

गई और दीन बालकों के साथ वर्क हाउसों में ऐसा व्यवहार होने लगा जैसा जेल के कैदियों के साथ होता था। यह देखकर लोगों ने लॉक को भी इसका जिम्मेदार ठहराया; क्योंकि इसने इस योजना से मिलती-जुलती बातें पहले कही थीं।

लॉक चरित्र के विकास के लिए बालकों पर बड़ा अनुशासन रखना चाहता था। इस प्रकार उसने शिक्षा में अनुशासन की भावना का प्रसार किया। लेकिन उसकी इस विचारधारा का प्रभाव अधिक न पड़ा। जो कुछ प्रभाव पड़ा, वह 'गुण' और आचार-व्यवहार के विकास पर ध्यान देने में दिखाई देता है। लेकिन उसके विचारों के विरुद्ध विद्यार्थियों को शारीरिक दंड दिया जाता था और प्राचीन सहित्य का अध्ययन अधिक महत्त्व-पूर्ण माना जाता था। ऐसी दशा इंग्लैंड के पब्लिक स्कूलों की थी और आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों पर भी उसका प्रभाव न पड़ा। इसके कई कारण थे—एक तो शिक्षा में अनु-शासन की भावना पहले ही से थी और दूसरे उसकी शिक्षा के विषय वैयक्तिक शिक्षा के अनुकूल थे। ऐसी दशा में लॉक का प्रभाव विचार-जगत् तक ही सीमित रहा और वह व्यवहार-जगत् में प्रवेश न पा सका।
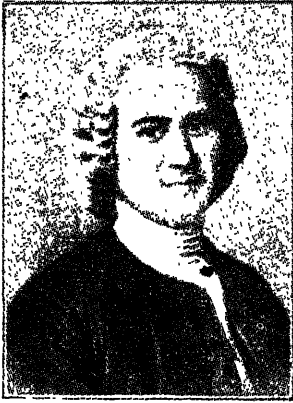
रूसो (१७१२–१७७८)

वाल्टेयर
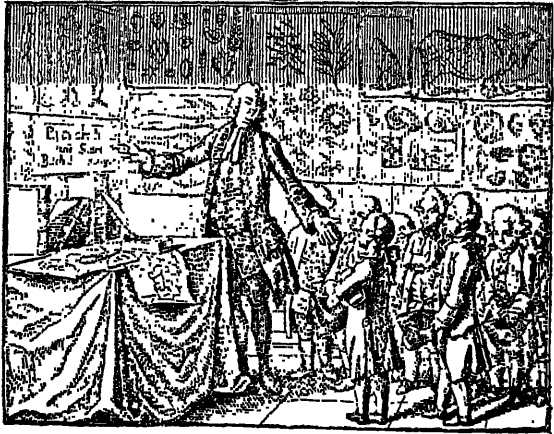
एक प्रकृतिवादी विद्यालय

प्राकृतिक विकास—रूसो

प्रकृतिवाद की भूमिका—सत्तरहवीं सदी तक यूरोपीय समाज में ऐसी प्रवृत्तियाँ विकसित थीं जो सामन्त-शाही और धार्मिक संस्थाओं के प्रभुत्व को स्वीकार करती रहीं। अठारहवीं सदी में भी इन प्रवृत्तियों की प्रधानता थी लेकिन इसी के साथ इनका विरोध भी आरम्भ हो गया था। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि १८ वीं सदी में प्रत्येक प्रकार की प्रभुता का विरोध मनुष्य ने किया। जिस विवेक की स्थापना लॉक ने की, उसी के आधार पर व्यक्ति ने अपने अस्तित्व की व्याख्या शुरू किया और इसके फलस्वरूप उसने यह अनुभव किया कि उसके जीवन की भी स्वतंत्र सत्ता है और वह प्रभुतावाद (absolutism) के लिए नहीं है। यदि हम मनुष्य के इस विरोध की ऐतिहासिक भूमिका पर दृष्टि पात करें, तो हमें ज्ञात होगा कि इस विरोध का जन्म मध्ययुग ही में हो चुका था और उसके बाद जो सुधारवाद और पुनरुत्थान आया, उनके पीछे मनुष्य का प्रभुतावाद के प्रति विद्रोह ही था। लेकिन इस विरोध का स्पष्ट स्वरूप १८ वीं सदी में ही दिखाई पड़ा क्योंकि इसके दो प्रधान नायक थे। अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध का नायक प्रसिद्ध दार्शनिक वाल्टेयर (१६९४—१७७८) और उत्तरार्द्ध का रूसो (१७१२—१७७८) था। वाल्टेयर की विचार-धारा विवेकवाद (Rationalism) का समर्थन करती थी। विवेकवाद ने सभी प्रकार के अंध-विश्वासों का विरोध किया और सभी तथ्यों का आधार विवेक-विचार माना। जिस तथ्य की व्याख्या विचार और विवेक द्वारा की जा सके, वही ग्राह्य

है। संक्षेप में विवेकवाद की यही विशेषता है। लेकिन इस विवेकवाद के साथ ही साथ एक दूसरी धारा भी प्रवाहित हो रही थी जिसे प्रबोधवाद* कह सकते हैं। वास्तव में १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में प्रबोध और विवेक की प्रधानता थी। अतः इसका आलोचनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

प्रबोध और विवेकवाद—मोनरो के अनुसार यथार्थवादी विचारधारा का जो अंत नियमवाद के रूप में हुआ, उसका विरोध प्रकृतिवाद ने किया। जिस नियमवाद का प्रकृतिवाद ने विरोध किया उसके दो रूप थे। एक तो धार्मिक नियमवाद था और दूसरा विवेकवादी नियमवाद। विवेकवादी नियमवाद से प्रबोध वाद का घनिष्ट सम्बन्ध है। जहाँ तक धार्मिक नियमवाद का प्रश्न है, वह जर्मनी में धार्मिक भावना (Piety) के साथ तथा अन्य देशों में धार्मिक कार्य-प्रणाली, पूजा-उपासना के नियम आदि से सम्बन्धित था। इस प्रकार धार्मिक नियमवाद का प्रभाव बढ़ता गया और इसका परिणाम यह हुआ कि इस नियमवाद के नायकों का नैतिक पतन आरम्भ हो गया। उनमें अधिकार-और प्रभुता, का विकास हुआ और जिस सुधार की प्रवृत्ति से धार्मिक नियमों का संस्कार किया गया था, उसके स्थान पर ऐसा नियमवाद आ गया जो प्रतिदिन संकुचित और जन-जीवन से अलग होता जा रहा था। दूसरे शब्दों में, धार्मिक अधिनायकों का नैतिक पतन हो चला था और उनके कार्यों तथा विचारों में जन-सामान्य को विश्वास न रहा। इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि धार्मिक प्रभुओं ने समाज का शोषण भी आरम्भ कर दिया। वे किसी न किसी बहाने धन एकत्रित करने लगे। इस प्रकार जब समाज में

---

* Illumination or Enlightenment.

धार्मिक शोषण बढ़ा, तब इसका विरोध किया गया और मनुष्य ने धार्मिक अंध-विश्वास और उससे विकसित नियमवाद से छुटकारे का प्रयास किया। इस प्रयास के दो रूप थे। एक तो शोषण और दमन का बौद्धिक विरोध था, और दूसरा विरोध मानव अधिकारों की माँग के रूप में प्रगट हुआ। इस तरह प्रयास के दो पक्ष थे। लेकिन इन दोनों में कुछ तात्विक भेद थे। शोषण और दमन का जो विरोध था वह प्रबोध और विवेकवाद के निकट था और मानव अधिकारों की माँग प्रकृतिवाद के अधिक निकट थी।

प्रबोध और विवेकवाद की प्रधानता १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में थी। इसका उदय शोषण-दमन के बौद्धिक विरोध के कारण हुआ था। इस विचार-धारा ने सत्तरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रचलित नियमवाद का विरोध किया और धर्माधिकारियों की सत्ता को अस्वीकार किया। इतना ही नहीं, इस विचारधारा ने सभी स्थापित स्वार्थों के विरुद्ध आवाज उठाई और सभी तथ्यों का आधार विवेक को माना। इस प्रकार प्रबोध और विवेकवाद ने परिवर्तन का प्रयास किया। लेकिन यह आवश्यक है कि हम प्रबोध और विवेकवाद के कार्यों का अध्ययन अलग-अलग करें। जहाँ तक प्रबोध का प्रश्न है, इसका लक्ष्य मानसिक स्वतंत्रता प्राप्त करना था। प्रबोध (Enlightenment) के समर्थक सामाजिक सुधार कर व्यक्ति के नैतिक व्यक्तित्व का महत्त्व स्थापित करना चाहते थे। दूसरे शब्दों में वे नैतिकता का आधार धर्म को न मानकर बुद्धि को मानते थे। इस प्रकार प्रबोधवादी बुद्धि और तर्क के आधार पर चलते थे और उनका दर्शन भी इसी पर आधारित था। लॉक का दर्शन प्रबोध के अनुकूल था और उसी के दार्शनिक सिद्धांतों की इसमें प्रधानता थी। इसके फलस्वरूप प्रबोध में दर्शन की प्रधानता हो गई और लोग इसे दार्शनिक

आंदोलन समझने लगे। दार्शनिक दृष्टिकोण से यदि हम प्रबोध की व्याख्या करें तो हम कह सकते हैं कि इसमें सभी विचारों का आधार अनुभव माना जाता है। इसमें ऐसी कोई बात स्वीकार नहीं की जाती जो मनुष्य के अनुभव के बाहर हो। इस प्रकार अनुभव (Experience) और उसी के साथ संवेदन (Sensation) ही ज्ञान का आधार था। इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन में विश्वास (Faith) के स्थान पर विचार (Reason) को प्रधानता मिली इसके फलस्वरूप व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिला क्योंकि प्रत्येक तथ्य का अंतिम निर्णय व्यक्ति की बुद्धि करती थी और धार्मिक विश्वासों और संस्थाओं के विरोध के कारण लौकिक (Secular) भावना का उदय हुआ।

दार्शनिक प्रभाव के कारण प्रबोधवादी सभी बातों की कोशिश करते थे और जब वे बुद्धि और विवेक पर बल देते थे, तब वे किसी प्रकारकी संकीर्णता का भी विरोध करते थे। लेकिन कालान्तर में प्रबोधवादियों ने जिस 'विवेक' की स्थापना साधन के रूप में की थी, वह विवेकवादियों का 'साध्य' बन गया। यद्यपि विवेकवादी यह कहते थे कि प्रत्येक सत्य की कसौटी विवेक है, लेकिन वे इस बात को कुछ समय बाद भूल गये। सामाजिक दृष्टि से विवेकवादियों ने तत्कालीन धार्मिक विश्वासों और चर्च का कड़ा विरोध किया। यह विरोध फ्रांस में अधिक तीव्र हुआ, क्योंकि इसका नायक वाल्टेयर था। वाल्टेयर ने चर्च और धर्म की बड़ी निंदा की और कहा कि समाज में जितनी बुराइयाँ फैलती हैं उसकी जिम्मेदारी चर्च और उसके द्वारा प्रचारित धर्म पर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उस समय चर्च की रक्षा में कितनी बुराइयाँ पल रहीं थीं और कितने अत्याचार सिर उठा रहे थे। अतः वाल्टेयर ने इसका बड़ा विरोध किया। लेकिन वाल्टेयर का यह

विरोध ध्वंसात्मक था। इसका कोई रचनात्मक पक्ष नहीं था। इसके कई कारण थे। सर्व प्रथम कारण यह था कि वाल्टेयर और उसके साथी विरोधी अभिजात वर्ग के थे। उनकी सहानुभूति निम्न वर्ग से न थी। उनका विश्वास था कि निम्न वर्ग में विवेक का अभाव होता है। अतः उनके लिए शिक्षा व्यर्थ है और उनका जीवन धार्मिक अंधविश्वासों पर ही चल सकता है। इस प्रकार विवेकवादियों ने अपने को निम्न वर्ग से अलग रखा। जहाँ तक उच्च वर्ग का प्रश्न है, उसी के लिए इन लोगों ने विवेक को आवश्यक समझा। दूसरे शब्दों में धर्म और चर्च के समर्थक अभिजात वर्ग के भीतर ही विवेकवादियों ने दूसरा दल बनाना चाहा। इसके फलस्वरूप उच्चवर्ग में से एक ऐसा दल बना जो विवेक को विश्वास से अधिक मानता था। लेकिन इसका भी कोई परिणाम नहीं निकलता और कुछ समय बाद विवेकवाद भी नियमवादी हो गया क्योंकि इसके समर्थक सामाजिक जीवन से अलग रहते थे और वे जो कुछ कहते थे उसके अनुसार कार्य भी नहीं करते थे। इस प्रकार प्रबोध और विवेकवाद ने १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में बुद्धि और विवेक की स्थापना की और स्थापित स्वार्थों, अंधविश्वासों और चर्च की प्रभुता का विरोध किया। यह विरोध बुद्धिवादी, ध्वंसात्मक, व्यक्तिवादी और उच्चवर्ग से सम्बन्धित होने के कारण सफल नहीं हुआ। अतः एक ऐसी विचारधारा और दार्शनिक सिद्धांत की आवश्यकता प्रतीत हुई जो जन-जीवन से सम्बन्धित हो और जिसमें हृदयपक्ष की प्रधानता हो। वही विचारधारा जन-सामान्य के जीवन में प्रचलित हो सकती है जिसमें भावना और हृदय की प्रधानता होती है। १८ वीं सदी के उत्तरार्ध में रूसो ने ऐसी ही विचारधारा प्रवाहित की जो प्रकृतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई।

प्रकृतिवाद—रूसो वाल्टेयर की भाँति विवेकवादी न था। वह हृदयवादी था। अतः उसके मन में निम्नवर्ग के प्रति अपार सहानुभूति थी और इसी सहानुभूति के आधार पर उसका प्रकृतिवाद विकसित हुआ। प्रकृतिवाद क्या है, इसका विस्तृत अध्ययन तो दर्शन का विषय है, लेकिन संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रकृतिवाद मनुष्यकी प्रकृति को धर्म और समाज का आधार मानता है। इस प्रकार प्रकृति के आधार पर जीवन में नये विश्वासों को स्थान देना प्रकृतिवाद का उद्देश्य है। मारले महोदय ने विवेकवाद और प्रकृतिवाद की तुलना करते हुए अपनी पुस्तक 'रूसो' में प्रकृतिवाद का स्वरूप इन शब्दों में निश्चित किया है—'सबसे प्रेम करना, मानव प्रकृति में पूर्ण विश्वास रखना, न्याय की सदा माँग करना, उन्नति की सदा कामना करना, और साधारण तथा संतोष के साथ काम करना कि इससे दूसरों का उपकार होगा।' ‡इस प्रकार प्रकृतिवाद ने मानव-प्रकृति पर अधिक बल दिया और प्रकृति ही को समाज तथा धर्म का आधार माना। दूसरे शब्दों में प्रकृतिवाद ने धर्म का ध्वंस न करके उसके स्वरूप को बदलना चाहा। इस प्रकार धर्म में प्रकृतिवाद का समावेश हुआ। समाज पर भी प्रकृतिवाद का प्रभाव पड़ा और इस प्रभाव के फलस्वरूप निम्नवर्ग का महत्त्व बढ़ा और सभी प्रकार की प्रभुतावाद तथा उच्चवर्गवादी विचारधारा को गहरा धक्का लगा। इस प्रकार वाल्टेयर ने जिन आदर्शों की स्थापना की, उन सब को निर्मूल करने का प्रयास प्रकृतिवाद ने किया। लेकिन प्रकृतिवाद में इस

‡ Undivided love of our fellows, steadfast faith in human nature, steadfast search after justice, firm aspiration toward improvement, and generous contentment in the hope that others may reap whatever may be......

प्रकार के गुण कैसे उत्पन्न हुए और उसका शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका अध्ययन हम रूसो के जीवन और विचारों की सहायता से सरलतापूर्वक कर सकेंगे।

रूसो † का जीवन—रूसो का जन्म (१७१२) जेनेवा नामक स्थान में हुआ था। इसकी माता का देहान्त उसी समय हो गया, जब कि यह पैदा हुआ था। अतः इसका पालन-पोषण इसकी चाची ने किया। लेकिन बाल्यकाल में रूसो को अच्छा वातावरण न मिला और उसमें कई बुरी आदतें आ गईं। झूठ बोलना, और चोरी करना, उसके लिए साधारण कार्य था। रूसो के पिता जो कि घड़ी साज़ी का काम करते थे, आरामपसन्द, और क्रोधी स्वभाव के थे। उन्हें अपने पुत्र रूसो की देख-भाल करने का समय ही नहीं मिलता था। इसका परिणाम यह हुआ कि रूसो मनमाने कार्य करने लगा। उसने अपने घर में पुस्तकालय के कथा-साहित्य को मनोरंजन के लिए पढ़ना आरम्भ किया। इसका उस पर बुरा प्रभाव इस अर्थ में पड़ा कि रूसो ने अनेक ऐसे ग्रंथ पढ़े जिनके कारण वह स्वच्छंद स्वभाव का हो गया। दूसरे शब्दों में वह अत्यन्त भावुक बन गया। उसपर अच्छा प्रभाव इस दृष्टि से पड़ा कि उसने प्राचीन यूनानी और रोमी साहित्य का अध्ययन किया। उसने प्लूटार्क की ऐसी कहानियाँ पढ़ीं जिनका प्रभाव उसके पूरे जीवन पर बना रहा।

स्कूली शिक्षा का आरम्भ रूसो ने दस वर्ष की आयु में किया। बारह वर्ष की आयु तक उसने एक शिक्षक से लैटिन और प्राचीन साहित्य की शिक्षा पाई। इस शिक्षा का रूसो पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा और उसने इसे 'व्यर्थ की शिक्षा' कहा। इसके बाद रूसो खुदाई का काम सीखने के लिए भेजा गया। लेकिन

† Jean Jacques Roussean.

इस काम में भी उसका मन न लगा और वह भाग खड़ा हुआ। घर छोड़कर भागने के बाद रूसो का जीवन निम्नकोटि का हो गया। उसकी संगति ऐसे लोगों की हो गई जो समाज के लिए घातक थे। लेकिन इस संगति में रहते हुए भी रूसो ने प्रकृति का अध्ययन किया। उसे प्राकृतिक दृश्यों को देखकर बड़ी खुशी होती थी। इस प्रकार समय बीतता गया और उसके जीवन में मोड़ उस समय आया जब उसकी आयु २५ वर्ष की हो चली थी। इस समय उसने साहित्यिक अध्ययन आरम्भ किया। उसका परिचय भी प्रसिद्ध लेखकों से हुआ। इस प्रकार रूसो ने लिखना आरम्भ किया और कुछ ही दिनों बाद वह एक प्रसिद्ध लेखक बन गया। रूसो ने अपने जीवन में अनेक कटु अनुभव किये थे। उसने गरीबी की पीड़ा को अनुभव किया था। उसने देखा था कि एक शासक के शासन का परिणाम क्या होता है? उन दिनों पंद्रहवें लुई का शासन फ्रांस में था। लुई के शासन में अनेक दोष थे। गरीब किसानों पर कर का इतना बोझ था कि उनकी मौत हो रही थी। यह सब देख कर रूसो ने लिखना आरम्भ किया था और उसने इस शोषण के विरोध को वाणी दी जिसके फलस्वरूप फ्रांस में क्रांति हुई।

रूसो के ग्रंथ—रूसो को लेखक के रूप में सन् १७५० में प्रसिद्धि मिली। उस समय उसने दिजान (Dijon) एकेडेमी की निबन्ध प्रतियोगिता में भाग लिया। निबन्ध का विषय था—'क्या कला और विज्ञान ने नैतिकता का पतन अथवा उत्थान किया है'?* रूसो ने इस विषय पर जो निबन्ध लिखा, उसमें उसने यह सिद्ध किया कि कला और विज्ञान के कारण नैतिक पतन हुआ

* Has the progress of the sciences and arts contributed to corrupt or to purify morals ?

है। अपने मत की पुष्टि के लिए उसने असभ्य जातियों का उदाहरण दिया और कहा कि असभ्य लोगों में अधिक नैतिकता है क्योंकि उनके जीवन में सभ्य लोगों की बनावट और धोखा-धड़ी नहीं है। जगंली जातियों का जीवन प्रकृति के अनुकूल होता है, वे प्राकृतिक नियमों का पालन करते हैं। इसके विपरीत कला और विज्ञान की सभ्यता में पले लोग कृत्रिम जीवन व्यतीत करते हैं। उनका स्वाभाविक विकास नहीं होता। इन सब बातों को रूसो ने अनेक प्राचीन ग्रंथों के आधार पर सिद्ध किया। फलतः एकेडेमी से उसे पुरस्कार मिला। इस पुरस्कार से उसकी ख्याति बढ़ी। इसके तीन वर्ष बाद रूसो ने पुनः दिजान एकेडेमी की निबन्ध-प्रतियोगिता में भाग लिया। अब की बार निबन्ध था—'मनुष्य जाति में असमानता का जन्म'[1] रूसो ने अपने निबन्ध में लिखा कि मनुष्य जाति ज्यों ज्यों सभ्यता की ओर अग्रसर हुई, त्यों त्यों उसमें असमानता बढ़ती गई। इसके विपरीत जब लोग वन के प्राकृतिक वातावरण में रहते थे, तब किसी प्रकार की असमानता न थी। इस सम्बन्ध में रूसो तर्क उपस्थित करता है कि—'उस पहले व्यक्ति ने जिसने जमीन के एक टुकड़े के चारों ओर घेरा बनाकर कहा कि यह मेरी जमीन है, सभ्य समाज की नींव डाली। लेकिन कितने ही अत्याचारों, अपराधों और दुःख से मनुष्य-जाति बच जाती यदि उस समय एक भी मनुष्य उस जमीन के घेरे को तोड़ कर कहता, इस धोखे बाज की बात मत सुनो। तुम्हारा उस समय अंत हो जायगा जब तुम यह भूल जाओगे कि जमीन किसी की नहीं है और इससे लाभ उठाने का अधिकार सबको है।" इस प्रकार रूसो ने यह सिद्ध किया कि समाज के जितने नियम

---

(1) The Origin of inequality among men.

बने हैं, उनसे लाभ अमीरों का होता है और गरीब उनकी दया पर छोड़ दिये जाते हैं।

रूसो के वे ग्रंथ जिनके कारण उसे प्रसिद्धि मिली है, उस समय लिखे गये जब वह सन् १७५६ में पेरिस छोड़कर मांटमोरेन्सी नामक गाँव में चला गया। प्रकृति से प्रेम होने के कारण उसे पेरिस का कृत्रिम जीवन अच्छा न लगा और वह गाँव में आकर रहने लगा। यहाँ उसे अनुकूल वातावरण मिला। लेकिन पहले की बेकारी और सुस्ती की आदत यहाँ भी बनी रही। लगभग पाँच वर्षों तक अव्यवस्थित जीवन व्यतीत करने के पश्चात् उसने तीन ऐसे ग्रंथ लिखे जिनका विश्व-साहित्य, राजनीति और शिक्षा में बड़ा महत्त्व है। पहला ग्रंथ एक स्वच्छंद उपन्यास 'दि न्यू हिलोय' है। इसमें रूसो के जीवन का रूमानी पक्ष बड़ी सुन्दरता से चित्रित है। दूसरे ग्रंथ में एक राजनीतिक निबन्ध है। इसका नाम 'सोशल कांट्रैक्ट' है। इस निबन्ध में रूसो ने राजनीति और नैतिकता के सम्बंध की मार्मिक व्याख्या की है। इस व्याख्या में रूसो ने प्रकृतिवाद का दृष्टिकोण रखा। तीसरा ग्रंथ एमील (Emile) है। इसमें रूसो ने शिक्षा सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। इस ग्रंथ का शिक्षा पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। वास्तव में आधुनिक शिक्षा के विकास में एमिल का प्रमुख स्थान है। अतः हमें इस ग्रंथ में व्यक्त शिक्षा-सम्बंधी विचारों से परिचित होना चाहिए।

'एमील' का महत्त्व–रूसो ने 'एमील' ग्रंथ की रचना द्वारा समाज में फैली बुराइयों को दूर करने का व्यावहारिक उपाय बताया। उसका विचार था कि सभ्यता द्वारा समाज में जो असमानता उत्पन्न की गई है, मनुष्य के लिए जो बंधन निर्मित किए गये हैं, उन सब से मुक्ति उचित (प्रकृतिवादी) शिक्षा ही दिला सकती है। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा में

उचित सुधार किया जाय। इस दृष्टि से रूसो ने 'एमील' की रचना की और उसके द्वारा समाज के सम्मुख शिक्षा की ऐसी योजना रखी जो बालक को पूरी स्वतंत्रता प्रदान कर उसके नैसर्गिक विकास में सहायक होती थी। दूसरे शब्दों में एमील द्वारा रूसो ने शिक्षा में प्रचलित रूढ़िवादिता, कृत्रिमता और नियमवाद का विरोध किया। यह उल्लेखनीय है कि रूसो के समय में बालक के स्वाभाविक विकास पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था, जितना कि आवश्यक था। नैतिकता और चरित्र के नाम पर बालकों को ऐसी शिक्षा दी जाती थी जो उनके मनोविकास के प्रतिकूल होती थी। सभ्य समाज में फैली कृत्रिमता और बनावटी व्यवहार, सीखना सभ्यता और संस्कृति के नाम पर उनके लिए अनिवार्य था। रूसो ने इन सबका विरोध किया और 'एमील' की कहानी द्वारा उसने जन्मकाल से लेकर प्रौढ़ावस्था तक की शिक्षा का सुंदर वर्णन किया। रूसो ने इस कथा के नायक एमील की शिक्षा को प्राकृतिक विकास के अनुसार पाँच भागों में बाँट दिया है। चार भाग में एमील के शैशव, बाल्यकाल, किशोरावस्था और युवाकाल की शिक्षा का वर्णन है। पाँचवे भाग में उसकी भावी पत्नी की शिक्षा का वर्णन है। इस प्रकार रूसो ने बालक और बालिका की शिक्षा का 'एमील' ग्रंथ में सुन्दर निरूपण किया है। अब हम 'एमील' के प्रत्येक भाग में व्यक्त विचारों का अध्ययन करेंगे जिससे रूसो के शिक्षा-सिद्धांत स्पष्ट हो जाय।

शैशवकालीन शिक्षा—एमील की शैशवकालीन (१ से ५ वर्ष) शिक्षा का उद्देश्य प्रवृत्तियों (instincts) के स्वाभाविक विकास में योग प्रदान करना था। दूसरे शब्दों में, मूल प्रवृत्तियों के विकास के लिए किसी कृत्रिम प्रयास की आवश्यकता नहीं थी।

उन्हें प्रकृति के नियमानुसार विकसित होने देना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। यदि ऐसा किया गया तो बालक में बुरी आदतें, अथवा ग़लत काम करने की प्रवृत्ति उत्पन्न न होगी। इस सम्बन्ध में रूसो का यह वाक्य उल्लेखनीय है—"प्रकृति से प्राप्त प्रत्येक वस्तु अच्छी होती है; लेकिन मनुष्य के हाथ में आकर प्रत्येक वस्तु खराब हो जाती है।[1] इसी सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए रूसो ने बालक के प्राकृतिक विकास पर शैशवकालीन शिक्षा में बल दिया है। इसके अतिरिक्त रूसो का दूसरा सिद्धांत यह था कि शिक्षा तीन प्रकार के शिक्षकों से मिलती है। वे तीन शिक्षक हैं—प्रकृति, मनुष्य और वस्तु। बिना इन तीन शिक्षकों के शिक्षा पूरी नहीं होती। लेकिन इन तीनों में रूसो प्रकृति को सर्वोच्च स्थान देता था क्योंकि उस पर अधिकार पाना असंभव था। इसलिए अन्य दो शिक्षकों–मनुष्य और वस्तु—को प्रकृति के सहयोग में शिक्षा प्रदान करना चाहिए। इसी विचार से रूसो शिक्षा को प्राकृतिक नियमों के अनुसार रखना चाहता है और इसी दृष्टिकोण से वह कहता है कि शिक्षा का उद्देश्य जीवन की तैयारी नहीं है, वरन् मानव-जीवन के कर्त्तव्य सिखाना है। इस सम्बन्ध में रूसो कहता है—"मैं उसे (शिष्य को) जीवन-शैली की शिक्षा देना चाहता हूँ।"[2]

शिक्षा को जीवन के अनुकूल बनाने के लिए शैशवकालीन शिक्षा में रूसो ने सर्वप्रथम माता-पिता द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की क्योंकि शिशु के प्रति स्नेह और सहानुभूति का व्यवहार माता-

---

(1) " every thing is good as it comes from the hands of the Author of Nature ; but every thing degenerates in the hands of man."

(2) " To live is the trade I wish to teach him."

पिता के अतिरिक्त दूसरा कोई व्यक्ति नहीं रख सकता। यदि दुर्भाग्यवश शिशु अनाथ है तो उसकी शिक्षा का दायित्व ऐसे अध्यापक पर रखना चाहिए जो बालक के प्रति स्नेह रखता हो और बालक भी उसे अपना हितैषी समझता हो। इस प्रकार शिक्षक का प्रबन्ध हो जाने के पश्चात् रूसो शिशु के वातावरण में परिवर्तन चाहता है। उसके अनुसार शिशु को ग्रामीण वातावरण में रखना अधिक अच्छा है क्योंकि वहाँ शहरों की दूषित सभ्यता का प्रवेश नहीं हुआ है। अतः ग्रामीण जीवन में शिशु की मूल-प्रवृत्तियों का विकास प्राकृतिक रूप से हो सकेगा क्योंकि वहाँ उसे अस्वाभाविक रूप से न तो कपड़े पहनने पड़ेंगे और न जीवन ही व्यतीत करना पड़ेगा। गाँव में शिशु जो चाहे, करे। उसे किसी बात की मनाही न होगी। इस प्रकार वह धीरे-धीरे प्रकृति से निकट सम्पर्क स्थापित करेगा और उसके सौन्दर्य से प्रभावित होगा। सुंदर फूल और पौदे शिशु के होंगे। वह उड़ती पक्षी को देखकर प्रसन्न होगा। इस प्रकार प्राकृतिक वातावरण में उसे मनुष्य के बनाये खिलौनों की आवश्यकता न होगी और शिशु प्राकृतिक 'खिलौनों' से खेलते हुए अनेक बातों की शिक्षा प्राप्त करेगा। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, रूसो का यह दृढ़ विचार था कि शिशु को अस्वाभाविक रूप से अनेक शब्दों और प्रौढ़ों की भाँति वार्तालाप करने की शिक्षा देना बिल्कुल ग़लत है। इसके विपरीत वह चाहता था कि शिशु में भाषा की शक्ति स्वाभाविक रूप से विकसित होने देना चाहिए। दो-चार शब्दों से आरम्भ कर वह धीरे धीरे अपने मनोविकास के अनुकूल भाषा की शक्ति प्राप्त करेगा। इस प्रकार रूसो ने शैशवकालीन शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। यदि हम उसके इन विचारों का वर्गीकरण, उद्देश्य, विषय, पद्धति और संगठन की

दृष्टि से करें तो हमें ज्ञात होगा कि शैशवकालीन शिक्षा का उद्देश्य बालक की मूल प्रवृत्तियों के प्राकृतिक विकास के लिये किसी प्रकार का प्रयास न करना है। विषय की दृष्टि से रूसो प्राकृतिक वस्तुओं, जैसे फूल, फल, पेड़-पौदे, पत्ती आदि की पहिचान, भाषा के स्वाभाविक विकास और इच्छानुसार कार्य करने पर बल देता है। पद्धति को देखते हुए, रूसो का यह विचार था कि वह प्रकृति का अनुसरण करे। दूसरे शब्दों में शैशवकालीन शिक्षा की पद्धति में स्नेह, सहानुभूति के द्वारा शिक्षक शिशु को प्राकृतिक वातावरण से निकट सम्पर्क स्थापित करने दे। इस प्रकार रूसो ने शिक्षा की पद्धति को शिशु की प्रवृत्ति तथा प्रकृति के अनुरूप बनाया। जहाँ तक शैशवकालीन शिक्षा के सगंठन का प्रश्न है, उसके लिए प्राकृतिक वातावरण अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अध्यापन-कार्य माता-पिता अथवा योग्य शिक्षक द्वारा होना चाहिए। इस प्रकार उद्देश्य, विषय ,पद्धति और संगठन की दृष्टि से शैशवकालीन-शिक्षा का उपरोक्त वर्गीकरण किया जा सकता है।

बाल्यकालीन शिक्षा—पाँच से बारह वर्ष की आयु तक एमील को जो शिक्षा दी जायगी, उसका प्रधान उद्देश्य इंद्रियों का विकास होगा। जहाँ तक मानसिक क्षेत्र का प्रश्न है, उसे इस काल में छोड़ देना हैं क्योंकि बिना इंद्रियों के सम्यक् विकास के, मानसिक विकास की चेष्टा करना व्यर्थ हैं। इन्द्रियाँ ज्ञान की आधार हैं। बालक अपने हाथ, नाक, कान, जिह्वा आदि की सहायता से वस्तुओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है और फिर उनके सम्बन्ध में धारणाएँ बनाता हैं। ऐसी दशा में यह आवश्यक हैं कि बाल्यकालीन शिक्षा में इन्द्रियों के विकास पर पूरा ध्यान दिया जाय। इसके लिए बालक को ऐसे कपड़े पहनाए जाँय जो ढीले हों और

उसके अंगों की स्वाभाविक गति में रुकावट न डालते हों। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना होगा कि उसे अधिक कपड़े न पहिनाए जाँय। यह अच्छा होगा, यदि बालक को थोड़ी गर्मी-सर्दी सहने दिया जाय। ऐसा करने से बालक प्रकृति के निकट होगा और उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा।

इंद्रियों के विकास की दृष्टि से बाल्यकालीन शिक्षा में तैरना, कूदना, खेलना अत्यंत आवश्यक है। बालक को ऐसे अनुभव भी होने चाहिए जिससे वह समय पर अपनी रक्षा कर सके। दूसरे शब्दों में बालक में अपनी रक्षा की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। उसे किसी का मुंह नहीं देखना चाहिए। इस प्रकार धीरे धीरे बालक को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाना चाहिए। उसमें इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह साधारण संकट में अपनी रक्षा स्वयं कर सके। उदाहरण के लिए यदि बालक तैरना जानता है तो वह डूबने से बच सकता है। इसी प्रकार यदि वह आग बुझाना जानता है तो आग से अपनी रक्षा कर सकता है।

एमील की बाल्यकालीन शिक्षा में यह भी ध्यान रखना होगा कि उसे 'आज्ञा और 'निषेध' न दिये जाँय। दूसरे शब्दों में बालक को पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने देना चाहिए। इस सम्बन्ध में रूसो का कथन है कि "आज्ञा-पालन, आज्ञा देना, जैसे शब्द बालक के शब्द-कोष से निकाल देना चाहिए और इन शब्दों से अधिक वर्जित शब्द हैं कर्तव्य और उत्तरदायित्व।"* इस प्रकार रूसो बालक को किसी प्रकार का दायित्व प्रदान नहीं करना चाहता। लेकिन इसी के साथ वह बालक को अनुभव प्राप्त करने का अवसर देना चाहता

---

* "The terms obey and command are proscribed from his vocabulary, and still more the terms duty and obligation."

है। दूसरे शब्दों में रूसो बालक को प्राकृतिक अनुशासन की शिक्षा देना चाहता है। जैसा कि हम जानते हैं, प्राकृतिक अनुशासन में, प्रकृति के नियमों का पालन करना पड़ता है। जो इन नियमों का उल्लंघन करता है, उसे तुरन्त दंड मिल जाता है। उदाहरण के लिए यदि बालक आग छूता है, तो उसका हाथ जल जाता है अथवा पैर में पत्थर मारता है तो पीड़ा होती है। इस प्रकार बालक को अनुभव होता है कि यदि वह आग में हाथ डालेगा तो उसका हाथ जल जायेगा, या पैर में पत्थर मारेगा तो पीड़ा होगी। इस प्रकार बालक अपने अनुभव के आधार पर कार्य-प्रणाली बनाता है कि उसे कष्ट न हो। दूसरे शब्दों में, बालक प्राकृतिक अनुशासन का पालन करने लगता है और फिर युवाकाल में उसमें नैतिकता उत्पन्न हो जाती है। रूसो की यह निश्चित धारणा थी कि नैतिक विकास के लिए बाल्यकाल में प्राकृतिक अनुशासन की शिक्षा अत्यंत आवश्यक है।

रूसो के समय की शिक्षा-पद्धति में पुस्तकों का महत्त्व था और बालकों को ऐसी बातें भी बताई जाती थीं जो उनके मनोविकास के अनुकूल न थीं। अतः रूसो ने इसका विरोध किया। पुस्तकों के सम्बन्ध में रूसो का विचार था कि वे उसके दुःख का प्रधान कारण हैं। इसीलिए उसने कहा कि बारह वर्ष की अवस्था तक एमील 'पुस्तक' से दूर रहेगा। लेकिन इसी के साथ रूसो यह भी कहता है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि एमील को पढ़ना सिखाया ही न जाय। उसे साधारण पठन की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए, पर एक शर्त के साथ। वह शर्त है पठन की आवश्यकता का अनुभव। जबतक बालक पढ़ने की आवश्यकता का अनुभव न करे, तब तक उस पर पढ़ाई का बोझ लादना अनुचित है।

रूसो ने बाल्यकालीन शिक्षा का जो स्वरूप निश्चित किया, उससे परिचित हो जाने के बाद; हम इस काल की शिक्षा के उद्देश्य, विषय, पद्धति और संगठन आदि का अध्ययन करेंगे। जहाँ तक इस काल की शिक्षा के उद्देश्य का प्रश्न है, उसमें इंद्रियों का विकास प्रधान है। दूसरे शब्दों में बाल्यकालीन शिक्षा का प्रधान उद्देश्य इंद्रियों का विकास है। शिक्षा के विषयों में देखने, सुनने, करने, उठने-बैठने, तैरने, कूदने आदि जैसे इंद्रियों के अनुभव की प्रधानता है। पद्धति की दृष्टि से रूसो इस काल में 'अनुभव' पर बल देता है और संगठन की दृष्टि से वह प्राकृतिक अनुशासन के पक्ष में है। इसी के साथ हम यह भी जानते हैं कि वह पुस्तकों का विरोध करता है क्योंकि उनके द्वारा अनुभव में कठिनाई उत्पन्न होती है। इस प्रकार रूसो ने बाल्यकालीन शिक्षा में शैशवकालीन शिक्षा से आगे बढ़ने का प्रयास किया।

किशोरकालीन शिक्षा—इस काल (१२ से १५ वर्ष) की शिक्षा में व्यक्तित्व के विकास की ओर ध्यान देना आवश्यक है क्यों कि शैशवकाल में शरीर और बाल्यकाल में इंद्रियों का सम्यक् विकास हो चुका है। इस लिए किशोरकाल में ऐसी बातों की शिक्षा देनी चाहिए जिनसे व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिले। दूसरे शब्दों में, किशोर-कालीन शिक्षा का उद्देश्य स्वतंत्रता, आत्म-निर्भरता, और जिज्ञासा का विकास करना है। इसके अतिरिक्त किशोरकाल में एमील की शिक्षा ऐसी हो जिसमें "परिश्रम, शिक्षा और अध्ययन" के लिए पर्याप्त अवसर मिले। अतः रूसो ने किशोरकाल की शिक्षा में प्रकृति और विज्ञान के अध्ययन पर बल दिया। विज्ञान को रूसो ने इसलिए चुना कि इसके द्वारा किशोर की जिज्ञासा का समुचित विकास होता है और वह जो कुछ सीखता है, उसकी उपयोगिता भी है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि

रूसो किशोरकालीन शिक्षा में उपयोगिता पर समय की कमी के कारण बल देता है। तीन वर्ष की अवधि में किशोर के लिए ऐसी व्यवस्था करना है जिससे उसे 'परिश्रम, शिक्षा, और-अध्ययन' का पर्याप्त अवसर मिले। साथ ही रूसो का यह भी विचार-था कि समय की कमी और उपयोगिता को लेकर किशोर को ऐसी शिक्षा न दी जाय जिसमें अनुभव का अभाव हो। दूसरे शब्दों में रूसो यह चाहता है कि किशोर को ऐसी शिक्षा दी जाय जो उसके मनो-विकास के अनुकूल हो और उसकी कल्पना में आ सके। इन्हीं सब कारणों से रूसो प्राकृतिक विज्ञान (Natural Sciences) की शिक्षा इस प्रकार देना चाहता है जो बालक की जिज्ञासा कौतूहल और अन्वेषण की प्रवृत्ति के विकास में सहायक सिद्ध हो। इस सम्बन्ध में रूसो का कथन है कि, ऐसे प्रश्न करो जो उसकी समझ के भीतर हों और फिर उसे प्रश्न हल करने के लिए छोड़ दो। उसे सुनकर नहीं, वरन् समझ कर जानने दो; उसे विज्ञान सीखना नहीं है, वरने उसे खोजना है।"† इस प्रकार रूसो अन्वे-षण की प्रवृत्ति और जिज्ञासा पर अत्यधिक बल देता है।

रूसो किशोरकालीन शिक्षा-पद्धति में स्वयं अनुभव प्राप्त करने के लिए किशोर की निरीक्षण और अन्वेषण शक्ति का विकास करना चाहता है। उदाहरण के लिए वह चाहता है कि उसे वास्तविक वस्तुओं की सहायता से शिक्षा प्रदान की जाय। यदि अध्यापक सूरज और चाँद के सम्बन्ध में बताना चाहता है तो उसे इनका चित्र न दिखा कर इन्हीं को दिखाना चाहिए। निकलते हुए सूर्य

† "Ask questions that are within his comprehension, and leave him to resolve them. Let him know nothing because you have told it to him, but because he has comprehended it himself; he is not to learn science,but to discover it."

को देखकर किशोर चित्र की तुलना में अधिक समझ सकता है। तात्पर्य यह है कि शिक्षा में अधिक से अधिक वास्तविकता का समावेश किया जाय। इसी को और स्पष्ट करने के लिए रूसो ने अपने समय की शिक्षा-पद्धति में ग्लोब और मानचित्रों के प्रयोग को गलत बताया और कहा कि बजाय मानचित्रों द्वारा भूगोल की शिक्षा देने के, अध्यापक को चाहिए कि वह बालकों को पास-पड़ोस की सैर कराकर पृथ्वी की बनावट के बारे में उन्हें बताए। इसी प्रकार नक्षत्र-विद्या का ज्ञान नक्शों से न कराकर आकाश के अध्ययन से कराना चाहिए।

किशोरकालीन शिक्षा में रूसो पाठ्य-पुस्तकों को स्थान नहीं देता। उसका विचार है कि "पुस्तकें ज्ञान नहीं वरन् बातें करना सिखाती हैं।" इसलिए वह पुस्तकें नहीं चाहता लेकिन उसे केवल एक पुस्तक 'राबिन्सन क्रूसो' पसन्द थी। इस पुस्तक के अध्ययन से किशोर को आत्मनिर्भरता की शिक्षा मिलेगी। इसके अतिरिक्त रूसो इस काल की शिक्षा में लकड़ी के काम को भी स्थान देता था। उसका विचार था कि किशोर को लकड़ी के सामान बनाना सीखना चाहिए जिससे उसे आर्थिक आत्मनिर्भरता भी प्राप्त हो सके। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि रूसो के समय में फ्रांस की आर्थिक अवस्था बिगड़ चली थी और राजनीतिक दशा भी शोचनीय थी। इसीलिए वह शिक्षा द्वारा आर्थिक आत्मनिर्भरता प्रदान करना चाहता है। लकड़ी का काम इसलिए रूसो को पसन्द था कि इसके द्वारा शारीरिक और मानसिक विकास दोनों होता है और साथ ही साथ प्रकृति के निकट रहने का अवसर भी मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो ने किशोर कालीन शिक्षा में जिज्ञासा, आत्मनिर्भरता, निरीक्षण तथा अन्वेषण शक्ति के विकास पर बल दिया और आर्थिक दृष्टि से

बढ़ई के काम की शिक्षा को उचित बताया। यदि हम इस काल की शिक्षा के उद्देश्य को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि किशोर की वैयक्तिक शक्तियों, आत्मनिर्भरता और जिज्ञासा का विकास करना उसका प्रधान कार्य है। शिक्षा के विषय की दृष्टि से रूसो प्राकृतिक विज्ञान और लकड़ी के सामान बनाने के काम को पसन्द करता है। पद्धति में निरीक्षण, अन्वेषण और अनुभव पर बल दिया गया है और संगठन में एक अध्यापक की प्रधानता है। एक अध्यापक (ट्यूटर) किशोर को सब कुछ बताता है। यही संगठन पहले के दो भागों में भी है।

युवाकालीन शिक्षा—एमील की युवाकालीन शिक्षा (१५ से २० वर्ष तक) में हृदय पक्ष अथवा भावनाओं की प्रधानता है। रूसो कहता है कि "हमने शरीर, इंद्रियों और बुद्धि के विकास पर बल दिया। अब भावनाओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है।"* इस प्रकार युवाकालीन शिक्षा का उद्देश्य भावनाओं का विकास है। भावना के सम्यक् विकास से मनुष्य में नैतिक गुण उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में मनुष्य में दया, करुणा, सहानुभूति, सद्भावना और प्रेम जैसे नैतिक तथा धार्मिक गुण बिना भावनाओं के नहीं हो सकते। इसीलिए रूसो एमील की भावनाओं का विकास करना चाहता है जिससे उसमें नैतिक तथा धार्मिक गुण उत्पन्न हों।

नैतिक गुणों के विकास के लिए रूसो एमील को उन स्थानों में भेजता है जहाँ दीन-दुःखी, पीड़ित, अनाथ और भिखारी रहते हैं। इन दुःखियों को देखकर एमील का हृदय द्रवित होगा

---

* "We have formed his body, his senses, and his intelligence; it remains to give him a heart."

और उसके मन में करुणा, दया, सहानुभूति जैसी नैतिक भावनाएँ उत्पन्न होंगी। साथ ही रूसो इस स्थान पर सावधान करता है कि पीड़ितों और दुःखियों के सम्पर्क में एमील को इतना न लाया जाय कि उसका हृदय कठोर हो जाय। इस प्रकार रोगियों, कैदियों, भिखारियों आदि की करुण दशा देखकर एमील ऐसे कार्यों को करना चाहेगा जिनसे उनकी स्थिति में सुधार हो। दूसरे शब्दों में एमील नैतिक कार्यों की ओर अग्रसर होगा और उन कारणों को दूर करने का प्रयास करेगा जो रोग, अपराध, दुःख और शोषण को जन्म देते हैं।

एमील में धार्मिक भावनाओं का विकास भी आवश्यक है। अतः रूसो का विचार है कि एमील युवाकाल में प्रकृति के रचयिता से परिचय प्राप्त करे। वह देखे कि प्रकृति में जितने भी कार्य हो रहे हैं उनके पीछे कौन सी शक्ति है। लेकिन यहीं रूसो संगठित तथा स्थापित धर्मों का विरोध करता है क्योंकि इनके द्वारा मनुष्य में निम्न कोटि की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए वह प्राकृतिक धर्म तथा ऐसे ईश्वर में विश्वास करने को कहता है जिनका किसी संप्रदाय विशेष से कोई सम्बन्ध न हो।

युवाकाल में अहंकार की भावना स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाती है। यह भावना सामाजिक जीवन की दृष्टि से हानिकर है। अतः इस भावना का परिमार्जन करने के लिए रूसो एमील को ऐसे लोगों के बीच भेजता है जो उसकी हँसी उड़ाते हैं। दूसरे शब्दों में रूसो एमील को धूर्त, चापलूस और धन उड़ाने वाले लोगों की संगति में भेजना चाहता है। कुसंगति में रह कर एमील उसके फल भोगेगा और फिर बचने का मार्ग ढूढ़ेगा।

युवाकालीन शिक्षा में ऐसी कहानियाँ सुनाना चाहिए जिनके आधार पर नैतिकता की स्थापना हो सके। एमील जब अनैतिक

कार्यों के परिणाम से परिचित होगा तो वह अपना सुधार आप करेगा। इसलिए रूसो युवाकालीन शिक्षा में 'हितोपदेश' की कहानियों को स्थान देता है।

अब हम युवाकालीन शिक्षा के उद्देश्य, विषय, पद्धति आदि पर विचार करेंगे। इस अध्ययन से हमें ज्ञात हुआ कि युवाकालीन शिक्षा का प्रधान उद्देश्य हृदय (भावना) का विकास करना है। इस काल की शिक्षा के विषयों में ऐसी वस्तुओं, स्थानों और कहानियों का अध्ययन है जो नैतिक तथा धार्मिक भावनाओं के विकास में सहायक होती हैं। पद्धति में निरीक्षण, और अनुभव की प्रधानता है और संगठन पूर्णवत् है। इस प्रकार रूसो ने युवाकालीन शिक्षा में नैतिक तथा धार्मिक भावनाओं के विकास की ओर ध्यान देकर एमील के पूर्ण विकास का चित्र उपस्थित करता है।

नारी-शिक्षा का स्वरूप—'एमील' नामक पुस्तक के पाँचवें भाग में एमील की पत्नी अथवा 'नारी-शिक्षा' पर रूसो अपने विचार व्यक्त करता है। विद्वानों का विचार है कि रूसो ने नारी-शिक्षा के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे अपूर्ण और अव्यावहारिक हैं क्योंकि एमील की शिक्षा में जिन सिद्धांतो की स्थापना रूसो ने की, उनका पालन सोफी (नारी) की शिक्षा में नहीं किया। अतः हम देखते हैं कि रूसो सोफी को एमील का पूरक मानता है। दूसरे शब्दों में नारी की शिक्षा का उद्देश्य पुरुष को सुखी बनाना है। इसलिए रूसो चाहता है कि सोफी उन सभी बातों को सीखे जिससे एमील खुश हो, उन सभी कार्यों को सीखे जिससे एमील का लाभ, और उसके सम्मान में वृद्धि हो। सोफ़ी शिशु-पालन भी सीखे और उसमें इतनी बुद्धि भी हो कि वह समय पर अपने पति को सम्मति और सांत्वना दे सके।

तात्पर्य यह है कि सोफी उन सभी बातों को सीखे जिससे वह अपने पति के लिए अधिक से अधिक उपयोगी सिद्ध हो। इन सब बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि रूसो नारी शिक्षा का उद्देश्य पुरुष—जीवन को सुखी बनाना मानता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए रूसो सोफी के शारीरिक विकास पर बल देता है क्योंकि बिना सम्यक् शारीरिक विकास के शरीर सुडौल और सुंदर नहीं हो सकता। यदि सोफी का शरीर स्वस्थ, सुडौल और सुंदर होगा तो उसकी संतान भी स्वस्थ और बलवान् होगी। इसके अतिरिक्त रूसो सोफी को कपड़े सीने, काढ़ने, बुनने आदि की शिक्षा देना चाहता है जिससे वह अपने लिए स्वयं अच्छे कपड़े तैयार कर सके। यहाँ रूसो परोक्ष रूप में नारी-शिक्षा में गृह-कला को स्थान देता है। सिलाई आदि जैसे कामों को शिक्षा में स्थान देकर वह आर्थिक पक्ष का ध्यान रखता है।

शारीरिक विकास और सिलाई इत्यादि की शिक्षा के अतिरिक्त रूसो सोफी में ऐसे गुण उत्पन्न करना चाहता है जिससे वह अयोग्य पति की भी सेवा कर सके। वह चाहता है कि सोफी एक निकम्मे पति की भी आज्ञा का पालन करे और उसे जितने कष्ट पति के घर में हो उन सब को सहन करे। दूसरे शब्दों में, नारी में अपार सहनशीलता और आज्ञा-पालन करने की क्षमता होनी चाहिए। यहाँ हम कह सकते हैं कि रूसो एक प्रकार से भारतीय नारी के प्राचीन आदर्शों की स्थापना कर रहा है।

रूसो नारी-शिक्षा में संगीत नृत्य आदि कलाओं को भी स्थान देता है। उसका विचार है कि इन कलाओं की शिक्षा द्वारा नारी में ऐसे गुण उत्पन्न हो सकते हैं जो पुरुष को स्वाभाविक रूप से अपनी ओर आकर्षित करते हैं। लेकिन साथ ही रूसो यह भी कहता है कि यह आकर्षण ऐसा न हो कि पुरुष नारी का दास बन

जाय। इस प्रकार रूसो नारी-शिक्षा में कला को आकर्षण की दृष्टि से स्थान देता है। कला का जो सामान्य उद्देश्य है, उसकी ओर रूसो का उतना ध्यान नहीं है, जितना कि उपयोगिता और आकर्षण की ओर।

जहाँ तक नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा का प्रश्न है, रूसो इस विचार का था कि उसे अपने परिवार के धर्म को मानना चाहिए। उदाहरण के लिए कन्या को अपनी माता का धर्म मानना चाहिए। विवाह हो जाने पर पति के धार्मिक विचारों के अनुसार चलना चाहिए। इस प्रकार नारी को धार्मिक क्षेत्र में भी पुरुष और परिवार का अनुकरण करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त नैतिकता के सम्बन्ध में रूसो इस विचार का था कि नारी समाज के अनुसार चले। दूसरे शब्दों में, समाज में जिन नैतिक मान्यताओं की स्थापना हो चुकी है, उन्हीं का पालन करना नारीके लिए उचित है।

पुरुष के लिए नारी अधिक उपयोगी और सहायक हो, इस दृष्टि से रूसो यह चाहता है कि नारी पुरुष की भावनाओं को भी भलीभाँति समझ सके। किसी समय पुरुष क्या चाहता है, क्या सोचता है, क्या करता है, इन सब का ज्ञान नारी को होना चाहिए। यदि हम इस बात को ठेठ शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि रूसो नारी को पुरुष के संकेतो पर नाचने के लिए कहता है। वह यह नहीं चाहता कि नारी अपने लिए कुछ सोचे और करे। इसलिए वह दर्शन, विज्ञान और कला की उच्च-शिक्षा को नारी के लिए वर्जित मानता है। इन विषयों की उच्च-शिक्षा से स्वतंत्र विचार की भावना जाग्रत होती है। अतः इनका अध्ययन नारी के लिए आवश्यक नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो ने नारी-शिक्षा का जो स्वरूप निश्चित किया उसमें पुरुष का दृष्टिकोण प्रधान है।

	शैशवकाल	बाल्यकाल	किशोरकाल	युवाकाल	नारी-शिक्षा
	(१ से ५ वर्ष)	(५ + से १२ वर्ष)	(१२ + से १५ वर्ष)	(१५ + से २० वर्ष)	
शिक्षा का उद्देश्य	शारीरिक विकास तथा मूल प्रवृत्तियों के विकास के लिये प्रयास न करना।	इन्द्रियों का विकास।	स्वतंत्रता, आत्म निर्भरता तथा जिज्ञासा का विकास	भावनाओं द्वारा नैतिक तथा धार्मिक विकास।	पुरुष को सुखी बनाना।
शिक्षा के विषय	प्राकृतिक वस्तुओं की पहिचान, भाषा का स्वाभाविक विकास तथा इच्छानुसार कार्य।	इन्द्रियों के कार्य जैसे, देखना, सुनना और साधारण पठन।	प्राकृतिक विज्ञान, लकड़ी का काम, तथा राविन्सनक्रूसो का अध्ययन।	हितोपदेशक कहानियाँ, जीवन के दुःख का अनुभव।	शरीर को सुडौल बनाना, सिलाई, बुनाई, संगीत, नृत्य, शिशुपालन तथा पुरुष की प्रवृत्तियों का ज्ञान।
शिक्षा की पद्धति	स्नेह और सहानुभूति के द्वारा शिशु और प्रकृति में निकटता उत्पन्न करना।	अनुभव द्वारा शिक्षा तथा दायित्व न देना।	निरीक्षण, जिज्ञासा, अन्वेषण तथा अनुभव द्वारा शिक्षा।	किशोरकालीन पद्धति के समान; तथा बुरे कार्यों का फल भोग कर इनके बारे में जानना।	अनुकरण तथा निरीक्षण द्वारा शिक्षा।
शिक्षा का संगठन	माता-पिता अथवा योग्य अध्यापक द्वारा प्राकृतिक वातावरण में शिक्षा	प्राकृतिक अनुशासन का पालन तथा पुस्तकों का वहिष्कार।	एक अध्यापक (ट्यूटर) द्वारा शिक्षा राविन्सनक्रूसो जैसी पुस्तक का अध्ययन	पूर्ववत्	घर के वातावरण में शिक्षा।

नारी-शिक्षा के स्वरूप से परिचित हो जाने के पश्चात्, अब हम उद्देश्य आदि की दृष्टि से इसका अध्ययन करेंगे। रूसो ने नारी-शिक्षा का उद्देश्य पुरुष को सुखी बनाना माना है। शिक्षा के विषयों में वह शरीर को सुंदर और सुडौल बनाना, सिलाई, कढ़ाई-बुनाई, संगीत तथा पुरुष की भावनाओं के अध्ययन को स्थान देता है। जहाँ तक पद्धति का प्रश्न है, उसमें अनुकरण की प्रधानता है। माँ का धर्म-व्यवहार पति के धार्मिक विचार, समाज की नैतिक मान्यताएँ, इन सभी को अनुकरण करके सीखना नारी के लिए हितकर है। अन्य विषयों की शिक्षा-पद्धति पुरुषों की भाँति है और संगठन में भी कोई अंतर नहीं दिखाई पड़ता।

रूसो ने 'एमील' में जिन शिक्षा-सिद्धांतों की स्थापना की है उनका तुलनात्मक अध्ययन दिए गये चार्ट से भलीभाँति हो जाता है :—

इस चार्ट के आधार पर रूसो का शिक्षा-सिद्धांत स्पष्ट हो जाता है और हम इसके द्वरा 'एमील' में व्यक्त विचारों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कर सकते हैं। इस ग्रंथ के अध्ययन के पश्चात् हमें इसके दुर्बल तथा सबल पक्षों को देखना चाहिए।

एमील की आलोचना—एमील के अध्ययन के पश्चात् हम उसमें समाज की उपेक्षा और व्यक्ति की प्रधानता पाते हैं। एमील एक अध्यापक द्वारा अपने विकास के लिए शिक्षा पाता है। जहाँ तक समाज का प्रश्न है उसको शिक्षा में कोई स्थान नहीं दिया जाता क्योंकि रूसो एमील को समाज की बुराइयों से बचाना चाहता है। लेकिन यह कहाँ तक संभव है? जिस व्यक्ति की शिक्षा के लिए रूसो प्रकृतिवाद का सहारा लेता है, उसी (व्यक्ति) का समूह समाज है। दूसरे शब्दों में, अनेक व्यक्ति मिलकर समाज का संगठन करते हैं। ऐसी दशा में शिक्षा को समाज से

अलग रखने का प्रयास उपहासपूर्ण है। लेकिन रूसो की शिक्षा का आधार व्यक्ति है और उसमें समाज की उपेक्षा की जाती है। इसके अतिरिक्त रूसो की दूसरी दुर्बलता यह है कि वह इस व्यक्तिवादी शिक्षा का पूर्ण निर्वाह नहीं कर पाता। एमील की शिक्षा का स्वरूप तो व्यक्तिवादी है लेकिन सोफी की शिक्षा में यह बात नहीं मिलती। सोफी की शिक्षा एमील के सुख के लिए है। इस प्रकार पुरुष और नारी की शिक्षा में विभिन्नता लाकर रूसो ने अपने पक्ष को दुर्बल बना लिया। ग्रीव्ज़ महोदय का विचार है कि एमील में कितनी बातें असंगत और तर्कहीन है। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि रूसो 'एमील' में आशा से निराशा की ओर, स्वाभाविकता से अधिकार की ओर और उदारता से असहिष्णुता की ओर जाता दिखाई पड़ता है। जहाँ रूसो समाज को दुराचार का घर बताता है, वहीं वह समाज के व्यक्तियों का गुण-गान करता है। इसके अतिरिक्त रूसो बुद्धि पक्ष और हृदय पक्ष में संतुलन स्थापित करने में असमर्थ दिखाई पड़ता है। एक ओर तो वह नैतिक विकास के लिए भावनाओं (हृदय पक्ष) के विकास पर बल देता है और दूसरी ओर अध्यापक द्वारा निर्देश तथा संचालन (बुद्धि पक्ष) भी चाहता है। अतः इस प्रकार के असंगत विचारों से 'एमील' पुस्तक परिपूर्ण है। लेकिन इतना होते हुए भी 'एमील' में ऐसे अनेक गुण हैं जिनके कारण रूसो अमर है।

'एमील' की रचना द्वारा रूसो ने सर्वप्रथम उस निर्जीव परम्परा का विरोध किया जो समाज की प्रगति में बाधक थी। रूढ़ियों को तोड़कर रूसो ने बालक को शिक्षा में प्रधानता दी और उसके स्वाभाविक विकास पर बल दिया। बालक की शिक्षा प्राकृतिक वातावरण में हो और उसकी शिक्षा का आधार अनुभव और निरीक्षण हो, ये ऐसे सिद्धान्त हैं जो आज भी सर्वमान्य हैं।

इस प्रकार रूसो ने शिक्षा को बालक के लिए मानकर एक महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्त को जन्म दिया। शिक्षा में बालक की प्रधानता के साथ रूसो ने उसके मनोविकास की विभिन्न दशाओं पर ध्यान दिया। ऐसा करने का परिणाम यह हुआ कि शैशव, बाल्य, किशोर तथा युवाकाल की विशेष प्रवृत्तियों के अनुसार शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया गया। आधुनिक मनोविज्ञान में बाल-मनोविकास की दशाओं के अध्ययन से यह सिद्ध है कि बालक के विकास की विभिन्न दशाओं में विशेष मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ होती हैं और शिक्षा का स्वरूप निश्चित करते समय इनका ध्यान रखना आवश्यक है।

'एमील' में जहाँ तक सामाजिक तत्व का प्रश्न है, उसका हम अभाव पाते हैं। लेकिन नैतिकता पर बल देकर रूसो ने एक प्रकार से समाज की ओर ध्यान दिया। संगठित धर्म का विरोध कर रूसो ने ऐसे ईश्वर की उपासना पर बल दिया जिसका सम्बन्ध किसी धर्म विशेष से नहीं है। इसका कारण रूसो का प्रकृतिवाद था। जैसा कि हम जानते हैं प्रकृतिवाद में किसी प्रकार की कृत्रिमता के लिए स्थान नहीं है। इसी दृष्टि से रूसो ने ऐसे विचार व्यक्त किए। लेकिन स्पष्टता के लिए यह आवश्यक है कि हम रूसो की विचारधारा से इस प्रकार परिचित हों कि उसके शिक्षा-सिद्धान्तों को भलीभाँति समझ सकें।

रूसो की विचारधारा—रूसो की विचारधारा में कई तत्व हैं। लेकिन दर्शन और शिक्षा की दृष्टि से उसके राजनीतिक, तथा धार्मिक पक्ष से परिचित होना आवश्यक है। रूसो की धार्मिक विचारधारा में व्यक्ति और प्रकृति की प्रधानता थी। वह संगठित धर्म का विरोधी था क्योंकि उसमें मानव-प्रकृति के लिए स्थान नहीं था। इसलिए रूसो ऐसे धर्म की स्थापना करता है

जिसके विश्वास का जन्म मनुष्य के मन में हो। इस सम्बन्ध में रूसो का यह कथन उल्लेखनीय है—"मैं ईश्वर में उतना ही विश्वास करता हूँ जितना किसी और सत्य में, क्योंकि विश्वास करने या न करने की बात संसार में मेरे लिए अन्तिम है।" इस प्रकार रूसो ईश्वर में विश्वास करता था और इस विश्वास का आधार मनुष्य का मन, उसकी भावनाएँ, ग़लत और सही का विचार होता था। जो बात ठीक है उसे मानना ईश्वर को मानना है।

धार्मिक—रूसो के धार्मिक विचारों के आधार पर उसके धर्म को 'प्राकृतिक धर्म' कहते हैं। "इस प्राकृतिक धर्म का अनुसरण किसी दर्शन द्वारा निर्मित नियमों के आधार पर नहीं होता, वरन् हृदय की उन गहराइयों द्वारा होता है जिन्हें प्रकृति ने स्वयं बनाया है।" इस प्रकार रूसो धार्मिक नियमवाद से मुक्त धर्म को मानता है और मानव-हृदय की प्राकृतिक भावनाओं के अनुसार कार्य करने को वास्तविक धर्म कहता है। रूसो द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक धर्म में मनुष्य को किसी अन्य शक्ति के आधार पर ईश्वर को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। उसमें मनुष्य स्वयं ईश्वर को अनुभव करता है। यदि मनुष्य आत्मा की आवाज़ सुनकर कार्य करे तो इससे बढ़कर ईश्वर-प्राप्ति का कोई दूसरा साधन है ही नहीं। अतः हम देखते हैं कि रूसो की धार्मिक विचारधारा में हृदय-पक्ष की प्रधानता और बुद्धि-पक्ष की न्यूनता है। इसके अतिरिक्त रूसो "प्राकृतिक मानव" को सभ्य मानव से अधिक धार्मिक मानता है। इन दोनों बातों में कितनी सचाई है, इस पर मतभेद है। दार्शनिक रसेल के अनुसार केवल भावनाओं पर निर्भर धर्म ठीक नहीं क्योंकि बिना बुद्धि के यह कैसे जाना जा सकता है कि भावनाएँ उचित हैं। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न मनुष्यों की भावनाएँ भिन्न-भिन्न होंगी। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति का धर्म अलग

होगा और यह संभव है कि एक का धर्म दूसरे का विरोधी हो। जहाँ तक 'प्राकृतिक-मानव' का प्रश्न है, उसका अस्तित्व ही असंभव है क्योंकि समाज में रहकर उसके प्रभावों से बच सकना संभव नहीं है। इस प्रकार रूसो की धार्मिक विचारधारा जिसमें मनुष्य की भावनाएँ प्रधान हैं उसके प्रकृति-प्रेम की परिचायक हैं। वास्तव में रूसो का प्राकृतिक धर्म, उसके प्रकृतिवाद का धार्मिक स्वरूप है। यही कारण है कि उसने प्राकृतिक-मानव, और प्राकृतिक भावनाओं को प्राकृतिक धर्म का आधार माना है।

राजनीतिक—रूसो के राजनीतिक विचार उसकी पुस्तक 'सोशल कांट्रैक्ट, में मिलते हैं। इसी पुस्तक के आरम्भ में यह वाक्य लिखा है जिससे हम भली भाँति परिचित हैं—"मनुष्य जन्म से स्वतंत्र है, और वह सर्वत्र जंजीरों में है। एक मनुष्य अपने को दूसरों का मालिक समझता है, लेकिन वह स्वयं दूसरों से अधिक गुलाम होता है।" रूसो द्वारा प्रतिपादित स्वतंत्रता और समानता का सुंदर चित्रण इस पुस्तक में मिलता है। जैसा कि हम जानते हैं रूसो प्रकृतिवादी था और वह प्राकृतिक राज्य (Natural State)का समर्थक था। अतः जब उसने 'सोशल कांट्रैक्ट लिखा तब उसके सामने व्यक्ति और समाज के ऐसे सम्बन्ध की समस्या थी जिसमें व्यक्ति समाज के लिए उत्तरदायी हो और साथ ही उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी बनी रहे। इस समस्या के रूप में रूसो ने 'सोशल कांट्रैक्ट' में जिन विचारों को व्यक्त किया, उन्हें संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं—"हममें से प्रत्येक अपना सर्वस्व 'सामान्य इच्छा' के अन्तर्गत रख दें और सामूहिक स्थिति में होने के कारण प्रत्येक सदस्य को व्यक्ति के रूप में समाज से जीविका प्राप्त होगी।" दूसरे शब्दों में व्यक्ति का सर्वस्व समाज के अधीन हो जाने के बाद, समाज व्यक्ति को जीविका (समान रूप से) प्रदान

करता है। साथ ही यह स्थिति ऐसी होती है जिसमें व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र होता है। इस प्रकार रूसो व्यक्ति को समाज के अधीन करता है और साथ ही उसे स्वतंत्र भी रखता है। समाज की अधीनता में व्यक्ति अपना सर्वस्व सौंप देता है और बदले में समानता, और ऐसी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पाता है जो किसी का अहित नहीं करती। इस प्रकार 'सोशल कांट्रैक्ट'-सामाजिक समझौता—रूसो करता है। यह समझौता कहाँ तक का व्यावहारिक है, यह विवादास्पद है। लेकिन इसी के अधार पर लोकतंत्रात्मक शासन की विचारधारा में शक्ति आई और फ्रांस की क्रांति हुई। उस समय के राजनीतिक आंदोलन में "सोशल कांट्रैक्ट" पुस्तक दिमाग़ का काम करती थी। लेकिन इसके व्यावहारिकता के अभाव ने रूसो की कल्पना को साकार न होने दिया।

शैक्षिक—रूसो की शैक्षिक विचारधारा का ज्ञान 'एमील' के अध्ययन से होता है। बालक के विकास की दृष्टि से रूसो ने शिक्षा के स्वरूप को निश्चित किया। उसने यह सिद्ध किया कि शिक्षा का आधार प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक होना चाहिए। इस दृष्टि से कृत्रिमता के लिए रूसो की शिक्षा में कोई स्थान नहीं था। रूसो की विचाराधारा में हमें यह भी मिलता है कि बालक के 'मनोवैज्ञानिक' विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। उसने बाल-मनोविकास पर बड़ा बल दिया है। इस प्रकार उसने आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन किया। बालक की मूल तथा सामान्य प्रवृत्तियों का प्राकृतिक वातावरण में विकास करना रूसो की शिक्षा का आवश्यक अंग था। जहाँ तक शिक्षा का जीवन से सम्बन्ध का प्रश्न है, रूसो शिक्षा द्वारा जीवन की तैयारी के पक्ष में न था। वह शिक्षा को ही जीवन मानता था। दूसरे शब्दों में वह जीवन द्वारा ही शिक्षा चाहता था। इस प्रकार रूसो की शिक्षा जीवन से अलग न थी।

निषेधात्मक शिक्षा—रूसो ने शिक्षा-सम्बन्धी जितनी बातें व्यक्त की, वे उस समय की प्रचलित धारणाओं का विरोध करती थीं। उदाहरण के लिए उस समय बालक को 'छोटे प्रौढ़' के रूप में देखते थे और शिक्षा में उन सभी वस्तुओं को स्थान मिलता था जो प्रौढ़-जीवन से सम्बन्ध रखती थीं। रूसो ने बालक को बालक के रूप में देखा और 'छोटे प्रौढ़' के रूप में देखने की पद्धति का विरोध किया। साथ ही रूसो ने उस शिक्षा का भी विरोध किया जो प्रौढ़ जीवन के लिए महत्वपूर्ण थीं। उसने धर्म और नैतिकता के नाम पर दी जानेवाली उस शिक्षा का विरोध किया जो बालक की बुद्धि के बाहर थी और जिनके द्वारा बालक के नैसर्गिक विकास में सहायता नहीं मिलती थी। इस प्रकार रूसो ने प्रचलित विचारों का विरोध किया और कहा—"शिक्षा में जितने प्रचलित सिद्धांत हैं, उनके विपरीत कार्य करो, तभी तुम हमेशा सही काम कर सकोगे।"* इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो ने अपने समय में निषेधात्मक शिक्षा (Negative Education) का प्रचार किया और इसे स्पष्ट करते हुए कहा—"शिक्षा को सर्वप्रथम निषेधात्मक होना चाहिए। इसके द्वारा गुण और सत्य के सिद्धांतों को सिखाना नहीं चाहिए, वरन् हृदय की दुर्गुण से तथा मन की भूलों से रक्षा करनी चाहिए।" दूसरे शब्दों में रूसो शिक्षा में बाहरी बातों का निषेध करता है और प्राकृतिक विकास पर बल देता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रूसो अपने समय की प्रचलित शिक्षा को निश्चयात्मक (Positive) कहता था और अपनी शिक्षा को निषेधात्मक। इन दोनों प्रकार

---

* Take the reverse of the accepted practice, and you will almost always do right."—Rousseau quoted by P, Monroe.

की शिक्षा की तुलना करते हुए रूसो ने लिखा है—"मैं उस शिक्षा को निश्चयात्मक कहता हूँ जो बालक के मन का विकास असमय में करना चाहती है और उसे ऐसे कामों को सिखाना चाहती है जो प्रौढ़ों से सम्बन्ध रखते हैं। मैं उस शिक्षा को निषेधात्मक कहता हूँ जो ज्ञान देने के पूर्व ज्ञान प्राप्त करने में सहायक शारीरिक अंगों का विकास करती है और जो इंद्रियों के सम्यक् विकास द्वारा विचारशील बनाती है। निषेधात्मक शिक्षा का अर्थ आलस्य में समय बिताना नहीं है; वह इससे बहुत दूर है। यह गुण प्रदान नहीं करती, वरन् दुर्गुण से बचाती है। यह सच बोलना नहीं सिखाती, वरन् झूठ से बचाती है। जब बालक में समझने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है तब यह शिक्षा उसे ऐसे मार्ग पर ले जाती है जिसके द्वारा वह सत्य तक पहुँच जाता है; और उसे अच्छाई (Goodness) की ओर उस समय अग्रसर करती है जब उसमें अच्छाई को पहिचानने और उससे प्रेम करने की शक्ति उत्पन्न हो हो जाती है।"

जीवन के अनुसार शिक्षा—रूसो की शिक्षा में दूसरी उल्लेखनीय बात हमें यह दिखाई पड़ती है कि शिक्षा का सम्बन्ध पूरे जीवन के साथ है। शैशव से लेकर प्रौढ़ावस्था की ओर ज्यों-ज्यों जीवन बढ़ता है, त्यों-त्यों शिक्षा में भी उसी के अनुरूप परिवर्तन होता जाता है। इस प्रकार रूसो ने शिक्षा को जीवन-विधान के अनुसार बनाया। जीवन के प्रत्येक काल की प्रवृत्तियों का ध्यान रखते हुए रूसो ने शैशव, बाल्य, किशोर तथा प्रौढ़ावस्था की शिक्षा के स्वरूप निश्चित किये। ऐसा करते हुए रूसो ने जीवन और शिक्षा में एकता स्थापित की तथा शिक्षा को बालक के लिए बनाया। दूसरे शब्दों में, रूसो ने जीवन-विधान के अनुसार शिक्षा के स्वरूप को निश्चित कर बाल-मनोविज्ञान की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की।

शिक्षा का केन्द्र बालक—जीवन विधान के अनुसार शिक्षा बनाकर रूसो ने शिक्षा में बालक को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। रूसो के पूर्व बालक शिक्षा के लिए था। बाद में बेकन ने शिक्षा और बालक के समान महत्त्व को प्रतिपादित किया और उसके बाद लॉक ने शिक्षा से अधिक बालक को महत्त्व दिया। लेकिन बालक की प्रवृत्तियों तथा उसके विकास की अवस्थाओं के अनुसार शिक्षा को बनाने का प्रयास सर्व प्रथम रूसो ने किया। इस प्रकार शिक्षा के आधुनिक सिद्धांत—शिक्षा का केन्द्र बालक है—जन्म हुआ।

रूसो की शैक्षिक विचारधारा में व्यक्त शिक्षा-सिद्धांत को यदि हम संक्षेप में व्यक्त करें तो वह कुछ इस प्रकार होगा :—

(१) बालक की शिक्षा नैसर्गिक हो और उसमें सामाजिक परम्परा का समावेश नहीं करना चाहिए।

(२) बालक की प्रारम्भिक शिक्षा में 'स्वयं-ज्ञान' अथवा अनुभव पर बल देना चाहिए।

(३) बालक के शारीरिक अंगों तथा इंद्रियों के विकासानुसार शिक्षा होनी चाहिए।

(४) शिक्षा और जीवन में कोई अंतर नहीं है। शिक्षा स्वयं जीवन है।

(५) शिक्षा रुचि और जिज्ञासा के आधार पर हो। रटना हानिकर है।

(६) बालक को प्राकृतिक अनुशासन का ज्ञान होना चाहिए।

(७) बालक की शिक्षा का उसके वातावरण से सम्बन्ध होना चाहिए।

(८) शिक्षा व्यावहारिक और जीवन के अनुकूल हो। भाषा की शिक्षा में यह तथ्य अत्यावश्यक है।

(९) शिक्षा में ऐसे उद्योग-धंधों को स्थान दिया जाय जो बालक के वातावरण तथा रुचि के अनुकूल हों।

(१०) बालक का नैतिक विकास उदाहरणों द्वारा होना चाहिए।

(११) शिक्षा निषेधात्मक और उसका केन्द्र बालक हो।

(१२) बालक को व्यावहारिक ज्ञान अन्वेषण के आधार पर दिया जाय।

ऊपर व्यक्त सिद्धांतों को हम और विस्तृत कर सकते हैं। रूसो ने शैशव, बाल्य, किशोर तथा प्रौढ़ काल की शिक्षा में जिन बातों की ओर संकेत किया है, उनका भी ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

रूसो का प्रभाव—रूसो की शिक्षा का प्रभाव यूरोपीय शिक्षा की १९ वीं सदी में दिखाई देता है। अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रूसो ने जिन विचारों का प्रसार किया, उनका प्रभाव १९ वीं सदी की शिक्षा की तीन प्रवृत्तियों में दिखाई पड़ता है। वे तीन प्रवृत्तियाँ हैं—मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और सामाजिक। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का उदय रूसो के उन विचारों के कारण हुआ जो बाल-मनोविकास पर बल देते थे। दूसरे शब्दों में, रूसो शिक्षा को बालक के ज्ञानेन्द्रियों तथा मूल प्रवृत्तियों के विकास में सहायक बनाकर 'मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति' के जन्म में सहायक हुआ। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि रूसो ने 'मनोविज्ञान' का अध्ययन नहीं किया था। उसने बाल-मनोविकास के सम्बन्ध में जितने भी विचार व्यक्त किये उनके पीछे उसका प्रकृतिवाद था। इस प्रकार रूसो की शिक्षा का एक प्रभाव 'मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति' के रूप में दिखाई देता है। इस प्रवृत्ति के पोषकों तथा

प्रचारकों में पेस्तालात्सी, हरबार्ट तथा फ्रोयबेल के नाम उल्लेखनीय हैं।

रूसो की शिक्षा का दूसरा प्रभाव वैज्ञानिक प्रवृत्ति के विकास में सहायक हुआ। रूसो ने शिक्षा में प्राकृतिक वातावरण को बालक की जिज्ञासा और खोज की प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए स्थान दिया। बालक को प्राकृतिक वस्तुओं के सम्पर्क में लाकर उनके विषय में बताना रूसो की शिक्षा की विशेषता थी। इस प्रकार शिक्षा में प्रकृति के अध्ययन को स्थान देकर रूसो ने वैज्ञानिक प्रवृत्ति का उदय किया इस प्रवृत्ति के विकास के फलस्वरूप १९ वीं सदी की शिक्षा में विज्ञान को अधिक स्थान दिया जाने लगा और आज शिक्षा में विज्ञान का जो महत्त्व है, उससे हम भली भाँति परिचित हैं।

रूसो की शिक्षा सामाजिक प्रवृत्ति के विकास में भी सहायक हुई। यह एक ऐसा परिणाम है जिसे रूसो नहीं चाहता था क्योंकि वह आरम्भ से ही व्यक्तिवादी था और समाज को दुर्गुण का घर समझता था। 'एमील' में उसने 'व्यक्ति' की शिक्षा के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं। इस प्रकार रूसो की शिक्षा से सामाजिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन न मिलकर व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को मिलना चाहिए था। लेकिन व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से अलग नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त रूसो ने दुःखियों, पीड़ितों और शोषितों के प्रति अपार सहानुभूति स्वयं व्यक्त किया था। अतः इसका सामाजिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इतना ही नहीं रूसो ने बुद्धि के बदले हृदय को स्थान देकर जन सामान्य के हित का समर्थन किया। शिक्षा में उद्योग-धन्धों को सम्मिलित कर उसने सामाजिक-जीवन को अपनाया। इस प्रकार रूसो की शिक्षा व्यक्तिवादी होते हुए भी सामाजिक प्रवृत्ति के विकास में सहायक सिद्ध हुई।

रूसो की शिक्षा का व्यावहारिक प्रभाव न तो फ्रांस में पड़ा और न इगंलैंड में। फ्रांस की सरकार और धर्माधिकारी रूसो के शिक्षा सम्बन्धी विचारों के समर्थक नहीं थे। इगंलैंड के लोगों का दृष्टिकोण सदा व्यावहारिक रहा है। अतः उन लोगों को रूसो की शिक्षा व्यावहारिकता के अभाव के कारण पसन्द नहीं आई। लेकिन जर्मनी में रूसो की शिक्षा का स्वागत किया गया क्योंकि वहाँ के शिक्षा शास्त्री रूसो की मौलिकता समझ सके। इसके अतिरिक्त जर्मनी में प्रयोग (experiment) के लिए बड़ा उत्साह था। जर्मनी के विद्वान् नयी-नयी बातों को जानने और समझने को लिए सदा उत्सुक रहे हैं। अतः रूसो की शिक्षा को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास जर्मनी में किया गया।

बरनार्ड बेसडो (१७२३–१७९०)—जर्मनी में रूसो के विचारों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास बेसडो ने किया। बेसडो ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादी शिक्षकों में से था। उस पर रूसो का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा और उसने स्वयं भावी शिक्षकों, जिनमें पेस्तालात्सी का नाम उल्लेखनीय है, प्रभावित किया। बेसडो भी रूसो की भाँति 'विद्रोही' था। व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से, वह रूसो की भाँति 'पतित' था क्योंकि वह स्थापित नैतिकता में विश्वास नहीं रखता था और न अपने को किसी बात के लिए उत्तरदायी ही समझता था। वह सभी प्रकार के संयम-नियम, संकीर्णता और बंधन का विरोधी था। यही कारण था कि उसने अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में धर्माधिकारियों का विरोध किया। इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि उसे किसी भी शिक्षालय में अध्यापन-कार्य नहीं मिला। अतः बेसडो ने निजी रूप से शिक्षण-कार्य आरम्भ किया। ऐसा करते समय उसे आर्थिक हानि अवश्य हुई, लेकिन उसे ऐसे

अवसर भी मिले जिनके कारण वह शिक्षा के इतिहास में अमर है। बेसडो ने निजी रूप से शिक्षण-कार्य करते हुए अनेक प्रयोग किये। उसने खेल और शिक्षा में समन्वय स्थापित किया और रूसो के अनुसार प्रकृति के आधार पर बालक के बौद्धिक विकास का प्रयास किया। बेसडो ने अपने शिक्षा-सिद्धांतों को 'डैस एलिमेन्टर् वर्क'(Das Elementer werk) या 'प्रारम्भिक कार्य' और डैस मैथडेनबख़ (Das Methodenbuch) या 'शिक्षण पद्धति' नामक पुस्तकों में व्यक्त किया है। बेसडो की इन दोनों पुस्तकों का प्रकाशन सन् १७७४ में हुआ और इनका शिक्षा-जगत् में बड़ा सम्मान भी हुआ। विद्वानों का विचार है कि 'प्रारम्भिक कार्य' द्वारा बेसडो ने कमेनियस द्वारा प्रस्तुत पाठ्य-पुस्तक में बड़ा सुधार किया। इसमें संदेह नहीं कि इस पाठ्य-पुस्तक की रचना में बेसडो ने कमेनियस की पुस्तक से सहायता ली थी क्योंकि उसके विद्यार्थियों ने पहले कमेनियस को 'आरबिस पिक्टस' (Orbis Pictus) से पढ़ना आरम्भ किया था और बेसडो इस पुस्तक को पढ़ाते समय इसकी त्रुटियों से परिचित होता गया। अतः जब उसने 'प्रारम्भिक कार्य' पाठ्य-पुस्तक की रचना की, तब उसे कमेनियस की पुस्तक में पाई जानेवाली त्रुटियों से मुक्त रखा गया। 'शिक्षण-पद्धति' नामक पुस्तक में बेसडो ने 'अनुभव द्वारा सीखने' पर बल दिया और भाषा-शिक्षण में वार्तालाप-पद्धति (Conversational Method) को श्रेष्ठ बतलाया।

फिलानथ्रोपिनम (Philanthropinum)—बेसडो ने अपने शिक्षा-सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देने के लिए डेसू (Dessau) नामक स्थान में एक स्कूल खोला। इस स्कूल की स्थापना सन् १७७४ में प्रिंस ऑफ डेसू की आर्थिक सहायता से हुई। बेसडो ने इस स्कूल का नाम 'फिलानथ्रोपिनम' रखा

'फिलानथ्रोपिनम' नाम बेसडो ने इस लिए चुना कि इसके द्वारा 'मानव जाति के प्रति प्रेम' व्यक्त होता था। इस प्रकार बेसडो के शिक्षालय में मानवता की प्रधानता थी। इसके अतिरिक्त उसने रूसो के अनुसार 'प्रकृतिवादी शिक्षा' का ही इस स्कूल में प्रबन्ध किया। अतः डेसू स्कूल की पद्धति, पाठ्यक्रम और संगठन आदि सभी प्रकृतिवादी थे। बेसडो ने इस स्कूल में जिन विचारों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया, वे इस प्रकार हैं:—

१—बालक को बालक, न कि एक प्रौढ़ की भाँति समझा जाय। दूसरे शब्दों में 'बाल मनोविज्ञान' का ध्यान रखा जाय।

२—प्रारम्भिक शिक्षा में 'गति और ध्वनि' (Motion and Noise) का ध्यान रखा जाय।

३—भाषा-शिक्षण में वार्तालाप-पद्धति का प्रयोग किया जाय।

४—शिक्षा में खेल और व्यायाम को पर्याप्त स्थान दिया जाय।

५—शिक्षा में मातृभाषा को प्रधानता होनी चाहिए।

६—शिक्षा मौखिक न होकर व्यावहारिकता और यथार्थ के आधार पर होनी चाहिए।

७—ग़रीब और अमीर विद्यार्थियों के साथ समान व्यवहार किया जाय।

८—प्रत्येक विद्यार्थी को शिक्षा और समाज की दृष्टि से किसी दस्तकारी को अवश्य सिखाना चाहिए। दूसरे शब्दों में बालक को जो दस्तकारी सिखाई जाय उसके द्वारा शिक्षा दी जा सके तथा उसका सामाजिक मूल्य भी हो।

९—नैतिकता के नाम पर 'नैतिक शिक्षा' व्यर्थ है। नैतिक शिक्षा का आधार व्यावहारिक जीवन होना चाहिए।

इस प्रकार बेसडो ने ऊपर दिए गए विचारों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। इन विचारों के अनुसार फिलानथ्रोपिनम

का विकास हुआ और बेसडो के सहयोगियों ने भी बड़ी सहायता की। लेकिन कुछ समय के पश्चात् बेसडो को इस शिक्षालय से अलग होना पड़ा क्योंकि वह एक प्रधानाध्यापक के उत्तरदायित्व का निर्वाह न कर सका। बेसडो के बाद उसके सहयोगी सैलमन (Salzmann) ने फिलानथ्रोपिनम के समान एक दूसरा स्कूल खोला। यह स्कूल बेसडो के स्कूल से कहीं अच्छा था और इसके सुंदर कार्य को देखकर इसी के अनुरूप अनेक स्कूल खोले गये। इस प्रकार बेसडो के फिलानथ्रोपिनम का अच्छा प्रभाव पड़ा और आज भी जर्मनी में ऐसे स्कूल हैं जिन्हें हम फिलानथ्रोपिनम की परम्परा में पाते हैं।

बेसडो की देन—रूसो के प्रभाव के कारण बेसडो ने जो कार्य किया, उसका भावी शिक्षा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। बेसडो के प्रयास के फलस्वरूप शिक्षा में मानवता को अधिक स्थान मिला इसके अतिरिक्त रूसो की प्रकृतिवादी शिक्षा में भी पर्याप्त सुधार हुआ। शिक्षालय के वातावरण तथा पाठन-सामग्री को भी शिक्षण-पद्धति के अनुरूप बनाया गया। शिक्षा के लिए ट्रेंड अध्यापकों को आवश्यक समझा जाने लगा तथा शिक्षा बालक के लिए हो जाने पर अनुशासन की कठोरता कम हो गई। इस प्रकार रूसो के प्रभाव के फलस्वरूप बेसडो की जो देन है उसे हम निम्नलिखित रूप में व्यक्त कर सकते हैं:—

१—शिक्षा में मानवता की प्रधानता।
२—प्रकृति-अध्ययन विधि में पर्याप्त सुधार।
३—शिक्षालय भवन तथा पाठन-सामग्री में सुधार।
४—अनुशासन की कठोरता में कमी
५—ट्रेंड अध्यापकों द्वारा अध्यापन-कार्य।

बेसडो ने अपने कार्य द्वारा इन पाँच तथ्यों के महत्त्व को भली भाँति स्पष्ट कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा में जितने भी सुधार उपस्थित हुए उनमें बालक को केन्द्र माना जाने लगा। दूसरे शब्दों में शिक्षा बालक के मनोवैज्ञानिक विकास के अनुकूल बनाई जाने लगी।
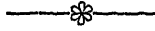
१. मनोवैज्ञानिक विकास—पेस्तालात्सी

मनोवैज्ञानिक विकास—रूसो और बेसडो ने शिक्षा के प्राकृतिक विकास द्वारा यह स्पष्ट कर दिया था कि शिक्षा बालक की मूल प्रवृत्तियों के अनुसार होनी चाहिए तथा उसके विकास में प्राकृतिक वातावरण से सहायता लेनी चाहिए। इस प्रकार अठारहवीं सदी के अंतिम भाग में यूरोपीय शिक्षा का ध्यान बालक के मनोविकास की ओर आकर्षित हुआ। इसके फलस्वरूप शिक्षा के उन सभी अंगों पर विचार होने लगा जिनके सम्बन्ध में रूसो और बेसडो के विचार स्पष्ट थे। उदाहरण के लिए प्रकृति-वादी शिक्षा ने बालक के मनोविकास की ओर संकेतमात्र किया था और शिक्षण-पद्धति को प्रकृति के अनुरूप बनाने के लिए कह कर शांत हो गई थी। अतः यह आवश्यक था कि बालक के मनो-विकास का पूर्ण अध्ययन किया जाय और शिक्षण-पद्धति को भी मनोवैज्ञानिक बनाया जाय। दूसरे शब्दों में, शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास की ओर ध्यान देने की आवश्यकता थी। शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने रूसो की निषेधात्मक शिक्षा को निश्चयात्मक (Positive) स्वरूप देना चाहा। इस कार्य में इन्होंने समकालीन दार्शनिक सिद्धांतों तथा वैज्ञनिक विचारों से भी सहायता ली क्योंकि उस समय के दार्शनिक और वैज्ञानिक भी बालक की मनोवैज्ञानिक शक्तियों का अध्ययन कर रहे थे। इस प्रकार शिक्षकों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के सम्मिलित उद्योग से शिक्षा का मनोवैज्ञानिक विकास आरम्भ हुआ। शिक्षा के मनो-वैज्ञानिक विकास में प्रमुख रूप से पेस्तालात्सी, हरबार्ट और

फ्रोयबेल सहायक हुए थे। अतः इन शिक्षाशास्त्रियों के विचारों का अध्ययन आवश्यक है जिससे कि शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास का स्वरूप स्पष्ट हो जाय।

पेस्तालात्सी का जीवन—पेस्तालात्सी का पूरा नाम जॉन हेनरिख पेस्तालात्सी * (१७४६–१८२७) था। उसका जन्म स्वीट्ज़रलैंड के ज्यूरिख (Zurich) नामक नगर (१७४६) में हुआ था। पेस्तालात्सी के प्रारंभिक जीवन पर उसकी माता और दादा का अधिक प्रभाव पड़ा क्योंकि जब वह पाँच ही वर्ष का था, तब उसके पिता का देहान्त हो गया। अतः आरम्भ से ही वह माँ के अत्यन्त निकट रहने लगा। पेस्तालात्सी की माता में अनेक गुण थे जिनका प्रभाव उस पर बराबर पड़ता रहा। पेस्तालात्सी ने अपनी माता से निःस्वार्थभाव से कार्य करना, सबके प्रति उदार होना तथा प्रत्येक की भावनाओं का ध्यान रखना सीखा।

पेस्तालात्सी के जीवनपर उसके दादा (grand father) का भी प्रभाव पड़ा। उसके दादा ईसाई पादरी थे और वे दीन-दुखियों का बड़ा ध्यान रखते थे। पेस्तालात्सी ने बचपन में ही अपने दादा के साथ आसपास के उन स्थानों में जाना आरम्भ कर दिया था जहाँ दीन-दुःखी लोग रहते थे। उनके दुःख और गरीबी का बालक पेस्तालात्सी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने निश्चय किया कि वह दुःख और गरीबी को दूर करने की पूरी कोशिश करेगा। इस कार्य के लिए उसने सोचा कि पादरी के रूप में दीन-दुखियों की सेवा भली भाँति की जा सकती है। लेकिन बाद में पेस्तालात्सी ने अनुभव किया कि उसमें भाषण-कला की कमी है और वह गिरजाघर में प्रभावशाली भाषण नहीं दे सकता। अतः उसने इस विचार को छोड़कर वकील बनने का इरादा किया। पेस्तालात्सी

* Johann Heinrich Pestalozzi

का विचार था कि वकालत का अध्ययन कर लेने के बाद वह दीन-दुखियों के अधिकारों के लिए लड़ेगा। लेकिन अनुभव ने यह सिद्ध किया कि वह इस कार्य के लिए भी अयोग्य है। इसी समय उसका ध्यान रूसो की दो पुस्तकों—सोशल कांट्रैक्ट तथा एमील—की ओर गया। इन पुस्तकों का प्रकाशन उस समय हुआ था जब पेस्तालात्सी ज्यूरिख़ विश्वविद्यालय में विद्यार्थी-जीवन व्यतीत कर रहा था। रूसो की इन पुस्तकों का पेस्तालात्सी पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने पादरी तथा वकील बनने का विचार सदा के लिए त्याग कर शिक्षा-सुधार की ओर ध्यान दिया। लेकिन उसका यह शिक्षा-सुधार आरम्भ में किसानों से शुरू हुआ क्योंकि उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी। अतः पेस्तालात्सी ने कृषि-सुधार के लिए खेती के अच्छे तरीकों का अध्ययन किया और किसानों को उन तरीकों की शिक्षा देने के लिए सन् १७६९ में, (तेईस वर्ष की अवस्था में) बिर्र (Birr) नामक स्थान की परती जमीन पर 'नया खेत' बनाया। इस नये खेत को पेस्तालात्सी अपनी भाषा में 'न्यू हौफ' (Neuhof) कहता था। 'न्यू हौफ' में कृषि के प्रयोग होते रहे और पाँच वर्ष के भीतर ही पेस्तालात्सी की असफलता प्रगट हो गई। उसकी इस असफलता का प्रधान कारण भावनाओं का आवेश और व्यावहारिकता का अभाव था।

शिक्षा के प्रयोग—'न्यू हौफ़' की असफलता के समय पेस्तालात्सी एक पुत्र का पिता बन गया क्योंकि इसी बीच उसका विवाह भी हो गया था। पुत्र के जन्म के पश्चात् पेस्तालात्सी ने बाल शिक्षण-पद्धति के प्रयोग रूसो के अनुसार करना चाहा। जिस प्रकार 'एमील' की शिक्षा का प्रबन्ध रूसो ने किया था, उसी प्रकार पेस्तालात्सी ने भी अपने पुत्र की शिक्षा का प्रबन्ध किया। पुत्र की शिक्षा के समय पेस्तालात्सी को अनेक अनुभव हुए जिन्हें

वह लिखता जाता था। उसके ये अनुभव 'फादर्स जरनल' (Father's Journal) में मिलते हैं। वास्तव में पेस्तालात्सी की शिक्षण-विधि के अनेक सिद्धान्त इस जरनल में बिखरे हुए हैं। यदि इन विचारों को महत्त्व की दृष्टि से क्रमबद्ध किया जाय तो उनमें अधिक स्पष्टता आ जाय।

न्यू हौफ-स्कूल—न्यू हौफ़ की असफलता के बाद पुत्र की शिक्षा में जो समय पेस्तालात्सी ने दिया उसी के आधार पर वह बाल-शिक्षा की ओर अग्रसर हुआ। आरम्भ से ही दीन-दुःखियों की सेवा की भावना पेस्तालात्सी के हृदय में भरी थी। अतः उसने शिक्षा के प्रयोग के लिए अनाथ बालकों को लिया। लगभग बीस अनाथ बालकों के लिए 'न्यू हौफ़' में पेस्तालात्सी ने स्कूल खोला। इस स्कूल के छात्रों को भोजन, वस्त्र, रहने का स्थान आदि पेस्तालात्सी स्वयं देता था। इस प्रकार सभी छात्र जिनमें बालिकाए भी थीं, पेस्तालात्सी की देख-रेख में शिक्षा पाते थे। इन छात्रों की शिक्षा में व्यावहारिकता तथा कार्य का पर्याप्त महत्त्व था। बालकों की रचनात्मक शिक्षा में बागवानी और कृषि की प्रधानता थी। बालिकाओं के लिए रूसो ने कढ़ाई-बुनाई, सिलाई तथा गृह-कार्य की व्यवस्था की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पेस्तालात्सी बालक तथा बालिकाओं की रचनात्मक शिक्षा में जो अंतर रखा, वह पूर्ण मनोवैज्ञानिक था। जहाँ तक मौखिक शिक्षा का प्रश्न है, न्यू हौफ़ के विद्यार्थी उसे कार्य करते समय पाते थे। दूसरे शब्दों में पेस्तालात्सी ने मौखिक तथा रचनात्मक शिक्षा में सहसम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त उन दिनों बाइबिल की प्रधानता होने के कारण पेस्तालात्सी अपने छात्रों तथा छात्राओं को बाइबिल के प्रमुख अंश कंठस्थ करा देता था। यह कंठस्थ-कार्य बालकों को लिखने-पढ़ने की शिक्षा के पहले

ही करना पड़ता था। इसके फलस्वरूप विद्यार्थियों के शब्द भाडांर में वृद्धि होती थी और वे सरलतापूर्वक वार्तालाप कर सकते थे। पेस्तालात्सी ने व्यावहारिक जीवन की सफलता के लिए बालकों को साधारण गणित की शिक्षा भी दी। इस प्रकार बालकों के लिए पेस्तालात्सी ने नवीन शिक्षा की नींव डाली। इस शिक्षा द्वारा बालकों का शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास भली भाँति होने लगा। पेस्तालात्सी अपने प्रयोग की सफलता देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ उसने अपने स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ा दी। लेकिन उसके पास इतना धन नहीं था कि वह उन सभी छात्रों के लिए भोजन-वस्त्रादि की व्यवस्था कर पाता। अतः कुछ समय के पश्चात् पेस्तालात्सी की सब पूँजी समाप्त हो गई और उसे विवश होकर न्यू हौफ़ स्कूल को बंद करना पड़ा।

लियोनार्ड और गरट्रूड—जीविका-निर्वाह के निमित्त पेस्तालात्सी को पुस्तक लिखने की ओर ध्यान देना पड़ा। यह कार्य ऐसा था जिसके द्वारा वह नवीन शिक्षा का विकास कर सकता था तथा जीविका के लिए कुछ धन पा सकता था। अतः न्यूहौफ़-स्कूल में जिस शिक्षा-पद्धति को पेस्तालात्सी ने चलाया था, उसके आधार पर उसने शिक्षा के १८० सूत्र (Aphorism) प्रकाशित किए। इन सूत्रों के संग्रह का नाम पेस्तालात्सी ने 'ईवनिंग आवर ऑफ ए हरमिट'* (एक साधु की संध्या) रखा। इस संग्रह के प्रकाशन से शिक्षा के सम्बन्ध में नवीन विचारों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। लेकिन इन सूत्रों की शैली सुगम न थी। अतः जन-सामान्य तक पेस्तालात्सी के विचार पहुँच न सके। इस कठिनाई को दूर करने के लिए पेस्तालात्सी

* Evening Hour of a Hermit.

ने लियोनार्ड और गरट्रूड (Leonard and Gertrude) की कहानी लिखी। इस कहानी की नायिका गरट्रूड एक साधारण किसान की पत्नी है। उसका पति शराबी है और वह अपने बच्चों की देख-भाल भी नहीं करता। गरट्रूड अपने पति का मुँह शराब से मोड़ती है, अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करती है और अपने पड़ोसियों को भी सुधार की ओर अग्रसर करती है। इस कहानी का नायक लियोनार्ड अध्यापक है। वह गरट्रूड के गाँव में आकर उसके शिक्षा-सुधार को देखता है और उससे प्रार्थना करता है कि उसे भी गाँव में शिक्षा-कार्य करने दिया जाय। इस प्रकार गरट्रूड और लियोनार्ड मिलकर शिक्षा का प्रसार करते हैं। उनका यह कार्य सरकार को भी प्रभावित करता है और सरकारी शिक्षा-विभाग भी उनके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करता है। इस प्रकार लियोनार्ड और गरट्रूड की रोचक कहानी द्वारा पेस्तालात्सी ने जन-सामान्य को नवीन शिक्षा के स्वरूप से परिचित किया। लेकिन लोगों ने पेस्तालात्सी की इस रचना को केवल साहित्यिक महत्त्व प्रदान किया। जहाँ तक उसके विचारों का प्रश्न था, उसकी ओर से लोग उदासीन रहे।

स्टैंज स्कूल—पेस्तालात्सी की आर्थिक दशा में पुस्तकें लिखने पर भी सुधार नहीं हुआ। उसके सामने ग़रीबी इतनी भयानक थी कि वह कुछ सोच ही न पाता और धीरे धीरे वह ५२ वर्ष का हो चला। इतनी आयु में कार्य की शक्ति बहुत कम हो जाती है। मगर फिर भी पेस्तालात्सी शिक्षा की मनोवैज्ञानिक शिक्षण-पद्धति के विकास के लिए अवसर ढूंढ़ा करता था। इसी समय स्वीट्ज़रलैंड में राजनीतिक परिवर्तन हुए और फ्रांस के क्रांतिकारियों का इस देश पर १७९८ में अधिकार हो गया। पेस्ता-लात्सी ने नये शासकों का साथ दिया क्योंकि उसका यह विश्वास

था कि ये लोग गरीबी और बीमारी दूर करने तथा शिक्षा के प्रसार में सहायक होंगे। नये शाशकों ने पेस्तालात्सी के सहयोग की सराहना की और उससे अपने लिए सुविधाएँ माँगने को कहा। लेकिन पेस्तालात्सी को तो नवीन शिक्षा की पद्धति के प्रयोग की धुन सवार थी। उसने कहा कि हमें कुछ नहीं चाहिए। केवल एक शिक्षालय की व्यवस्था कर दीजिए जहाँ मैं अपनी शिक्षण-पद्धति के प्रयोग कर सकूँ। नवीन शासकों ने पेस्तालात्सी की इस माँग को सहर्ष स्वीकार किया और उसके गाँव में ही एक स्कूल की व्यवस्था की। लेकिन यह व्यवस्था पूरी न हो सकी क्योंकि एक दूसरे गाँव स्टैंज़ (Stanz) में स्कूल की बड़ी आवश्यकता थी। इस गाँव के लोगों ने विदेशियों का विरोध किया था जिसके फलस्वरूप अनेक आदमी मारे गये और गाँव में अनाथ बालकों की संख्या बढ़ गई। नये शासकों ने इन अनाथ बालकों की देख-रेख और शिक्षा के लिए स्टैंज़ में एक स्कूल खोला जिसका अध्यक्ष पेस्तालात्सी नियुक्त हुआ।

इस स्कूल में पेस्तालात्सी ने ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जिसके द्वारा बालकों का समुचित शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास होता था। इसके अतिरिक्त उसने अपनी पद्धति में अनुभव और निरीक्षण को प्रधानता दी क्योंकि वह पाठ्य पुस्तकों तथा अन्य प्रचलित पाठ्य सामग्री को हानिकर समझता था। इसमें संदेह नहीं कि पेस्तालात्सी अनुभव और निरीक्षण द्वारा बालकों को पर्याप्त धार्मिक और नैतिक शिक्षा दे सका। उसने वास्तविक कार्यों द्वारा नैतिक तथा धार्मिक बातों की श्रेष्ठता प्रदर्शित की। इसका प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ा और उन्होंने व्यावहारिक रूप से अपने में नैतिक गुणों के विकास का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त पेस्तालात्सी ने भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल

और सामान्य विज्ञान की शिक्षा-पद्धति भी अनुभव और निरीक्षण के आधार पर निश्चित की। उसकी यह पद्धति 'आब्जरवेशनल मेथड' (Observational Method) के नाम से प्रसिद्ध है। इस पद्धति द्वारा पेस्तालात्सी ने बालकों के लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जिसमें उन्हें कम से कम कठिनाई हो और वे सरलता पूर्वक सीख सकें। स्टैंज़ स्कूल में पेस्तालात्सी अपने इस प्रयास में काफी सफल रहा। यहाँ उसने अपने उन सिद्धांतों को भी परिष्कृत किया जिनके आधार पर न्यूहौफ स्कूल की नींव डाली गई थी। इस प्रकार स्टैंज़ स्कूल द्वारा पेस्तालात्सी के शिक्षा-सिद्धांत और उसकी शिक्षा-पद्धति में पर्याप्त स्पष्टता आ गई। लेकिन उसे स्टैंज़ स्कूल में अधिक दिनों तक कार्य करने का अवसर नहीं मिला। पाँच महीने के बाद ही सरकार ने स्टैंज़ स्कूल के भवन में अस्पताल खोलने की व्यवस्था की। अतः विवश होकर पेस्तालात्सी को यह स्कूल बन्द करना पड़ा। इस प्रकार स्टैंज़ में हुए शिक्षा के प्रयोग स्थगित हो गए।

बर्गडोर्फ स्कूल—इसके बाद पेस्तालात्सी ने किसी स्कूल में अध्यापन कार्य करना चाहा। लेकिन उसे यह काम न मिला क्यों कि उसमें एक सफल अध्यापक के गुण न थे। उसका व्यक्तित्व आकर्षक न था। इसके अतिरिक्त उसकी योग्यता भी कम थी। कक्षा-प्रबन्ध, श्यामपट-कार्य, आदि में पेस्तालात्सी काफी पिछड़ा हुआ था। इन सब कारणों से पेस्तालात्सी को अध्यापन-कार्य का अवसर न मिलता था। लेकिन उसके कुछ उदार मित्रों ने सहायता की और उसे एक ऐसे स्कूल में अध्यापन कार्य मिला जहाँ गरीब बच्चे पढ़ते थे। पेस्तालात्सी ने इस स्कूल में भली भाँति कार्य किया और कुछ समय के पश्चात् उसे एक अच्छे स्कूल में अध्यापन का अवसर मिला। यह स्कूल बर्गडोर्फ

(Burgdorf) नामक स्थान में था । यहाँ पेस्तालात्सी ने अपनी शिक्षण-पद्धति को और भी सरल बनाने का प्रयास किया। उसने बाल मनो-विज्ञान के आधार पर भाषा और गणित की शिक्षण-पद्धति की सभी कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया। भाषा की शिक्षा के लिए पेस्तालात्सी ने बड़े आकार के अक्षर बनवाए जिन्हें वह बच्चों के सामने ले जाकर अक्षर-ज्ञान कराता था। इसके अतिरिक्त उसने कक्षा की दीवार पर लगे कागज़ गिनती के अंक, तरह तरह के आकार (form) स्थिति (Position) तरह-तरह के डिज़ाइन के रंगों की पहिचान के द्वारा भी भाषा की शिक्षा की व्यवस्था की। इस प्रकार दीवार के कागज़ (Wall-Paper) पर बने चित्रादि की सहायता से बालक शुद्ध भाषा का प्रयोग सीखते और पुनरावृत्ति के द्वारा लम्बे वाक्यों के बोलने का अभ्यास भी करते। भाषा की शिक्षा की इस पद्धति की नवीनता में बड़ा आकर्षण था। लेकिन व्यावहारिक रूप से इसका स्थायी मूल्य क्या था, उचित निर्णय करना अत्यन्त कठिन था।

गणित की शिक्षा के लिए पेस्तालात्सी ने बर्गडोफ शिक्षालय में नवीन पाठ्य-सामग्री का समावेश किया। गिनती की शिक्षा के लिए उसने कौड़ी, गोली आदि वास्तविक वस्तुओं की सहायता ली। इकाई-दहाई सिखाने के लिए भी उसने ऐसे तख्ते बनवाए जिन पर रेखाओं द्वारा वर्ग खिंचे होते थे। इन वर्गों में इकाई-दहाई के लिए विन्दु और छोटी रेखाएँ बनाते थे। इस प्रकार बालकों को इकाई-दहाई और पहाड़े का ज्ञान सरलता-पूर्वक हो जाता था। इन्हीं की सहायता से साधारण जोड़ने, घटाने और गुणा-भाग की भी शिक्षा दी जा सकती थी। इसके अतिरिक्त पेस्तालात्सी ने अन्य विषयों की शिक्षा-पद्धति के लिए

भी मनो-वैज्ञानिक ढंग की पाठ्य-सामग्री की व्यवस्था की। दूसरे शब्दों में पेस्तालात्सी ने अपनी शिक्षा-पद्धति को बाल-मनोविज्ञान के अनुसार बनाया। इस बात को पेस्तालात्सी ने स्वयं कहा था कि मैं शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता हूँ। इस प्रकार शिक्षा के इतिहास की दृष्टि से पेस्तालात्सी ने ऐसा कार्य किया जिसका शिक्षण-पद्धति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसकी नवीन शिक्षण-पद्धति का तात्कालिक प्रभाव भी पड़ा था क्योंकि वर्गडोर्फ स्कूल के बालकों की शिक्षा से अधिकारी वर्ग बड़ा प्रसन्न था। सरकार की ओर से पेस्तालात्सी के लिये बर्गडोर्फ के टाउनहाल में स्कूल खोलने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार पेस्तालात्सी की शिक्षण-पद्धति की सराहना अधिकारी तथा अध्यापकवर्ग करने लगा। उस समय के कुछ प्रसिद्ध शिक्षक भी पेस्तालात्सी के सहयोगी बन कर बर्गडोर्फ में अध्यापन कार्य करने लगे। लगभग साढ़े तीन वर्ष तक अध्यापन कार्य कर लेने के बाद पेस्तालात्सी 'शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास' सम्बन्धी विचारों को स्पष्टता प्रदान कर सका। इसके लिए उसने एक पुस्तक भी लिखी जिससे कि लोग उसकी शिक्षण-पद्धति को भली भाँति समझ सकें। इस पुस्तक का नाम पेस्तालात्सी ने रखा—'गरट्रूड अपने बच्चों को कैसे पढ़ाती है'।* पुस्तक के नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि पेस्तालात्सी शिक्षण-पद्धति की व्यावहारिक कठिनाइयों को दूर करना चाहता है। इस पुस्तक में पेस्तालात्सी के पंद्रह पत्र संग्रहीत हैं। ये पत्र उसने अपने मित्र गेसनर (Gessner) को अपनी शिक्षण-पद्धति के सम्बन्ध में लिखे थे। इन पत्रों में उसने अपने शिक्षा-सिद्धांत और

---

* How Gertrude Teaches Her Children, published in October 1801.

विभिन्न विषयों की शिक्षा-सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। इनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पेस्तालात्सी ने शिक्षा के सभी अंगों पर कुछ न कुछ अवश्य कहा है। लेकिन ऐसा करते समय वह यह भूल जाता है कि किस बात को कब, कहाँ और किस रूप में कहना चाहिए। इसके फलस्वरूप इस पुस्तक में स्पष्टता की कमी हो गई और सामान्य पाठक के लिए उसके विचारों से अवगत होना सरल नहीं था। इसीलिए उसके प्रसिद्ध जीवनी लेखक मोर्फ (Morf) ने पेस्तालात्सी के शिक्षा-सिद्धांत, पद्धति आदि को क्रमानुसार स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस सम्वन्ध में मोर्फ की निम्नलिखित बातों का उद्धरण आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा पेस्तालात्सी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को समझने में सहायता मिलती है:—

१—शिक्षा का आधार निरीक्षण है।

२—भाषा का सम्बन्ध निरीक्षण से होना चाहिए।

३—सीखते समय आलोचना और निर्णय से दूर रहना चाहिए।

४—प्रत्येक विषय की शिक्षा का आरम्भ सरलतम तत्वों से होना चाहिए और फिर बाल मनोविकास के अनुसार आगे बढ़ना चाहिए; अर्थात् उनमें मनोवैज्ञानिक क्रम होना चाहिए।

५—एक बात की शिक्षा देने के बाद तब तक के लिए रुक जाना चाहिए जब तक कि बालक की समझ में वह बात आ नहीं जाती।

६—शिक्षा बालक के विकास के अनुरूप होना चाहिए न कि रूढ़ सिद्धांतों के अनुसार।

७—बालक का व्यक्तित्व अध्यापक के लिए पवित्र वस्तु होना चाहिए।

८—प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य बालक को ज्ञान और कौशल प्रदान करना नहीं वरन् उसका और उसकी मानसिक शक्तियों का विकास करना है।

९—ज्ञान से शक्ति उत्पन्न हो; जिस बात को जाने उससे लाभ उठाने की भी योग्यता हो।

१०—अनुशासन की दृष्टि से अध्यापक और छात्र में सम्बन्ध की स्थापना और उसका संचालन स्नेह के आधार पर होना चाहिए।

११—शिक्षा के उच्च उद्देश्य के अंतर्गत ही अनुशिक्षा (Instruction) होनी चाहिए।*

पेस्तालात्सी के इन विचारों को मोर्फ ने जिस स्पष्टता से व्यक्त किया है, उसके आधार पर पेस्तालात्सी के शिक्षा-सिद्धांत, पद्धति आदि का आलोचनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। लेकिन इसके पूर्व पेस्तालात्सी के शिक्षा-कार्य का अध्ययन समाप्त कर लेना उचित होगा।

फलेनबर्ग का स्कूल—जिस प्रकार स्टैंज स्कूल की इमारत को अस्पताल के लिए खाली करना पड़ा था, उसी प्रकार बर्गडोर्फ स्कूल भवन की भी सरकार को आवश्यकता पड़ गई। यह आवश्यकता उस समय प्रतीत हुई जब स्वीट्ज़रलैंड में राजनीतिक परिवर्तन हो रहे थे। सन् १८०४ में पेस्तालात्सी का स्कूल बर्गडोर्फ टाउनहाल से हटा दिया गया। इस परिवर्तन से पेस्तालात्सी को बड़ा दुःख हुआ। लेकिन अपनी शिक्षण-पद्धति में पूर्ण विश्वास होने के कारण पेस्तालात्सी ने पुनः प्रयास किया और फलेनबर्ग द्वारा संचालित स्कूल में कार्य करना चाहा। फलेनबर्ग ने अपना स्कूल पेस्तालात्सी के सिद्धान्तों के अनुसार

---

* Great Educator's of Three Centuries Pages 135-136

चलाया। उसके हृदय में गरीबों और अनाथों के प्रति अपार सहानुभूति थी। अतः फलेनवर्ग ने हौफिल (Hofwyl) नामक स्थान में एक ऐसा स्कूल खोला जिसमें कृषि और उद्योग-धन्धों की शिक्षा का प्रबन्ध था। गरीब विद्यार्थी इन कामों को सीखकर कमाने योग्य बन जाते थे। फलेनवर्ग का यह स्कूल बड़ा सफल रहा। लेकिन वह इतने ही से संतुष्ट न था। वह चाहता था कि धनीवर्ग भी गरीबों की गरीबी को समझे। इसके लिए उसने एक 'साहित्यिक स्कूल' खोला। इस स्कूल में धनीवर्ग के विद्यार्थी पढ़ने आते थे। लेकिन इन्हें बाग़वानी तथा अन्य दूसरे कार्यों को गरीब विद्यार्थियों के साथ करना पड़ता था। इससे धनी और गरीब विद्यार्थियों में सम्पर्क बढ़ने लगा और कुछ सीमा तक उनमें सहयोग भी बढ़ा। इस प्रकार फलेन-वर्ग का उद्देश्य भी थोड़ा-बहुत पूरा हुआ। लेकिन यह वर्ग-भेद इतनी सरलता से मिट नहीं सकता था। मगर फिर भी फलेनवर्ग का यह प्रयास सराहनीय था और उसने शिक्षा द्वारा जीवन की समस्याओं को व्यावहारिक रूप से सुलझाने का प्रयत्न किया। फलेनवर्ग यद्यपि अपने स्कूल का संचालन पेस्ता-लात्सी के सिद्धान्तों के अनुसार करता था, लेकिन वह पेस्तालात्सी के सहयोग से अपने स्कूल को लाभ न पहुँचा सका। उसका स्वभाव पेस्तालात्सी के स्वभाव से भिन्न था। अतः दोनों में मतभेद हो जाता था। इस कारण पेस्तालात्सी को हौफिल स्कूल से अलग होना पड़ा। यहाँ से हटकर पेस्तालात्सी ने सन् १८०५ में इवरडन (Yverdun) नामक स्थान में अपना स्कूल खोला। इस प्रकार वर्गडोर्फ से पेस्तालात्सी का स्कूल हौफिल में लगभग एक वर्ष तक था। उसके बाद १८०५ में वह स्कूल इवरडन में खोला गया। यहाँ पेस्तालात्सी की शिक्षण-पद्धति को अपूर्व

अवसर मिले और वह अपने शिक्षा-सिद्धान्तों को सफलतापूर्वक सिद्ध कर सका।

इवरडन स्कूल—इवरडन स्कूल (Yverdun School) के खुलते ही उसमें दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आने लगे। कितने ही अध्यापक भी इस स्कूल में पेस्तालात्सी-पद्धति का अध्ययन करने के लिए आए। इस प्रकार कुछ ही समय के बाद इवरडन स्कूल यूरोपीय शिक्षा का केन्द्र बन गया। इसकी ख्याति इतनी बढ़ी कि शासन का ध्यान भी पेस्तालात्सी की ओर आकर्षित हुआ। उस समय के कितने ही शासकों ने पेस्तालात्सी की शिक्षण-पद्धति को पसन्द किया। रूस के ज़ार ने पेस्तालात्सी को सम्मानार्थ पदक प्रदान किया। इस प्रकार पेस्तालात्सी का सम्मान अन्य नरेशों ने भी किया। यह सन्तोष की बात है कि पेस्तालात्सी के जीवन के अन्तिम भाग में उसकी कामना पूरी हुई और उसे पर्याप्त सम्मान भी मिला।

जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं, इवरडन में पेस्तालात्सी-पद्धति पूर्णता को प्राप्त हुई। यहाँ पेस्तालात्सी निरीक्षण द्वारा भाषा शिक्षण-पद्धति को भली भाँति सफल बना सका। इसके लिए उसने जो एक स्वरी ध्वनियाँ (Syllabaries) और इकाइयों का नक्शा (Table of Units) बनाया था, उनका प्रयोग भी वह सफलतापूर्वक कर सका। इस प्रकार भाषा और गणित की प्रारम्भिक शिक्षा को पेस्तालात्सी ने अत्यन्त सरल बनाया। दूसरे शब्दों में पेस्तालात्सी ने बालमनोविकास का ध्यान रखते हुए शिक्षण-पद्धति में निरीक्षण के आधार पर क्रांतिकारी परिवर्तन किये। इवरडन स्कूल का वातावरण पेस्तालात्सी ने एक आदर्श-गृह के समान रखकर शिक्षालय और

गृह के अन्तर को कम किया। इस प्रकार की व्यवस्था का बालकों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। अनुशासन में भी पर्याप्त स्नेह था। इस रूप में इवरडन स्कूल के लगभग दो सौ विद्यार्थी भली-भाँति शिक्षा पाते थे।

इवरडन स्कूल की प्रगति सन् १८०५ से लेकर १८१० तक बहुत अच्छी रही। इसके बाद उसमें स्थिरता आ गई। इसके कई कारण थे। सर्व प्रथम पेस्तालात्सी में प्रबन्ध करने की क्षमता न थी। इस कारण उसके कई सहयोगी अप्रसन्न थे। इसी बीच उसकी पत्नी का भी देहान्त हो गया जिससे उसे बहुत दुःख हुआ और उसने इवरडन स्कूल का सारा काम अपने एक सहायक पर छोड़ दिया। पेस्तालात्सी का यह सहायक श्मिद (Schmid) भी अयोग्य था। उसने अपने व्यवहार से अन्य अध्यापकों को अप्रसन्न कर दिया जिससे वे स्कूल से अलग हो गये। इस प्रकार इवरडन स्कूल २० वर्ष बाद बंद हो गया। स्कूल के बंद हो जाने के बाद पेस्तालात्सी ने शिक्षण-कार्य त्याग दिया। इस समय कुछ लोगों ने पेस्तालात्सी की कड़ी आलोचना की। पेस्तालात्सी ने अपने विरोधियों का उत्तर भी दिया। इस प्रकार एक महान् शिक्षक के जीवन का अंत सन् १८२७ में हो गया।

शिक्षा का उद्देश्य—पेस्तालात्सी के विभिन्न कार्यों और विचारों से परिचित हो जाने के बाद हमें उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करना चाहिए। जैसा कि हमें ज्ञात है, पेस्तालात्सी रूसो के प्रकृतिवाद से पूर्णतः प्रभावित था। इसीलिए वह भी शिक्षा को प्रकृति के अनुरूप बनाना चाहता था। शिक्षा की परिभाषा करते हुए पेस्तालात्सी ने लिखा है कि मनुष्य को आगे बढ़ाने वाली शक्तियों का विकास न तो किसी कला के द्वारा होता है और न किसी संयोग से; यह केवल प्रकृति से ही संभव है।

इसलिए शिक्षा प्रकृति के अनुसार होनी चाहिए। इस बात को स्पष्ट करने के लिए पेस्तालात्सी एक पौधे का उदाहरण लेता है। जिस प्रकार प्रकृति की सहायता से एक छोटा पौधा विकसित होता है, उसी प्रकार बालक का भी विकास होना चाहिए। इस सम्बन्ध में उसने लिखा है—"दृढ़ शिक्षा हमारी कल्पना में उस वृक्ष के रूप में आती है जो जीवनदायक जल के निकट है। एक छोटा बीज जिसमें एक वृक्ष, उसके स्वरूप और अनुपातों की संभावनायें निहित हैं, मिट्टी में बो दिया जाता है। देखो, इस बीज से अंकुर कैसे निकलते हैं और फिर बढ़कर तने, डालियों, पत्तियों और फलों का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार वृक्ष का सम्पूर्ण स्वरूप बाधाहीन विकास की कड़ियाँ हैं, जिनकी रूप-रेखा बीज और जड़ में स्थित थी। मनुष्य भी वृक्ष के समान है। नवजात शिशु में वे शक्तियाँ छिपी हैं जो जीवनकाल में प्रकट होती हैं।"*

इस प्रकार वृक्ष और मनुष्य के जीवन की समानता को देखते हुए पेस्तालात्सी ने शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार की है—"शिक्षा मनुष्य की समस्त शक्तियों का प्राकृतिक, प्रगतिशील और विरोध हीन विकास है।"† शिक्षा की इस परिभाषा की व्याख्या में हम देखते हैं कि पेस्तालात्सी शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना चाहता है। उसे ऐसी शिक्षा पसन्द नहीं जो सीमित हो। इसलिए वह शिक्षा के उन उद्देश्यों का विरोधी है जो व्यक्ति की शिक्षा किसी लक्ष्य विशेष के लिए मानते हैं।

पेस्तालात्सी की शिक्षा के उद्देश्य की दूसरी विशेपता हम

---

* Great Edu ator's of Three Centuries. Page 144

† "the natural,progressive and harmonious development of all the powers and capacities of the human being."

मानव-स्वभाव के सम्यक् विकास में पाते हैं। उसके अनुसार शिक्षा का एक उद्देश्य यह होना चाहिए जिससे मनुष्य का स्वभाव और व्यवहार शिष्ट और श्रेष्ठ हो। दूसरे शब्दों में, पेस्तालात्सी शिक्षा द्वारा मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करना सर्वप्रथम कर्तव्य मानता है। इसके बाद ही वह किसी व्यवसाय-विशेष की शिक्षा के पक्ष में है। इस प्रकार पेस्तालात्सी शिक्षा का सामान्य उद्देश्य मस्तिष्क, हृदय और हाथ का ऐसा विकास चाहता है जो एक दूसरे के पूरक होकर मनुष्य को मानवीय गुणों से सुशोभित करें। जीवन और समाज की दृष्टि से किसी व्यवसाय की शिक्षा इस सामान्य उद्देश्य की विरोधी न होकर सहायक हो।

पेस्तालात्सी की शिक्षा के उद्देश्य में तीसरी बात यह है कि मनुष्य की आंतरिक, नैसर्गिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों के विकास की ओर अधिक तथा केवल ज्ञानार्जन की ओर कम ध्यान दिया गया है। उसके अनुसार उस ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं है जो मानसिक विकास के अनुकूल न हो। ज्ञान (Knowledge) वही श्रेष्ठ है जो मनुष्य की शक्तियों के विकास में सहायक हो। और यह विकास तभी संभव है जब ज्ञान बालक की स्वतंत्रता और उसके स्वच्छंद जीवन में बाधक नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि पेस्तालात्सी शिक्षा के उद्देश्य में ज्ञान को कम और मानसिक शक्तियों के विकास को अधिक महत्त्व प्रदान करता है।

पेस्तालत्सी शिक्षा का उद्देश्य बालक के विकास के लिए उचित वातावरण प्रस्तुत करना भी मानता है। जिस प्रकार पौधा प्राकृतिक वातावरण में विकास की समस्त सामग्री प्राप्त करता है, उसी प्रकार बालक का वातावरण भी ऐसा होना चाहिए जो उसके सहज विकास में सहायक हो। इस प्रकार पेस्तालात्सी

ने शिक्षा के उद्देश्यों में अनुकूल वातावरण को प्रधानता देकर शिक्षा के प्राकृतिक पक्ष को सबल बनाया है।

पेस्तालात्सी के अनुसार शिक्षा बालमनोविकास के अनुकूल होनी चाहिए। बालक की मानसिक शक्तियों को ध्यान में रखकर शिक्षा के स्वरूप को निश्चित किया जाय। दूसरे शब्दों में, पेस्तालात्सी शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता है। बालक की मनोवैज्ञानिक आयु और विकास के अनुसार शिक्षा का होना आवश्यक है।

पेस्तालात्सी की सहानुभूति दीन-दुःखियों के प्रति थी। इसलिए वह शिक्षा का एक उद्दश्य यह भी मानता था कि इसके द्वारा जन-सामान्य का हित हो। दूसरे शब्दों में पेस्तालात्सी उस शिक्षा का समर्थक था जो समाज से गरीबी, वेकारी को दूर करने में सहायक हो। वह चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों का सम्यक् विकास करने का अवसर प्राप्त हो। इस प्रकार शिक्षा में समाज के हित को निहित कर पेस्तालात्सी ने समय का साथ दिया।

इसके अतिरिक्त पेस्तालात्सी की शिक्षा के उद्देश्य के अन्य पक्ष क्या हैं, इस पर मोर्फ महोदय ने प्रकाश डाला है। मोर्फ के अनुसार पेस्तालात्सी के शिक्षा-सिद्धान्त का विवरण पहले उपस्थित किया जा चुका है। इसलिए उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है।

शिक्षा के विषय—पेस्तालात्सी की शिक्षा में उन सभी विषयों का स्थान था जिनसे बालक के विकास में सहायता मिलती और जीवन की समस्या हल होती थी। इस प्रकार पेस्तालात्सी की शिक्षा में प्रकृति अध्ययन (Nature Study) कला, भूगोल, गणित, भाषा, संगीत और धर्म के साथ कृषि तथा

अन्य उद्योग-धंधों को स्थान दिया गया। इस सम्बन्ध में पेस्तालात्सी का यह कथन उल्लेखनीय है—"मैं पहले से कहीं अधिक यह मानने लगा हूँ कि ज्योंही शिक्षालयों में कारखानों का संचालन उचित मनोवैज्ञानिक आधार पर होगा त्योंही एक पीढ़ी भविष्य में ऐसी तैयार होगी जो अपने अनुभव से सिद्ध कर देगी कि इस काल के अध्ययन में जितना समय और परिश्रम लगता है, उसके दसवें भाग से अधिक समय और परिश्रम की आवश्यकता नहीं है।"

पेस्तालात्सी के इस कथन का तात्पर्य यह है कि शिक्षा के विषय में जिन उद्योग धन्धों को सम्मिलित किया जाय, उनके मनोवैज्ञानिक आधार की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाय। ऐसा करने से बालक ऐसे व्यावहारिक कार्यों की शिक्षा ग्रहण कर सकेगा जो उसके भावी जीवन को सफल बनाने तथा गरीबी को दूर करने में सहायक होंगे। इस प्रकार पेस्तालात्सी ने शिक्षा में मनोवैज्ञानिक आधार पर व्यावहारिक विषयों को सम्मिलित किया।

शिक्षा की पद्धति—लेकिन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो पेस्तालात्सी ने किया, वह उसकी शिक्षण-पद्धति से सम्बन्धित है। पेस्तालात्सी ने मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षण-पद्धति में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किये। इस परिवर्तन के फलस्वरूप शिक्षण-पद्धति में निरीक्षण और अनुभव की प्रधानता हुई। बालकों को वास्तविक वस्तुओं के द्वारा शिक्षा दी जाने लगी। उनकी ज्ञानेन्द्रियों के विकास की दृष्टि से भी पेस्तालात्सी ने शिक्षण-पद्धति में सुधार किया। अतः बालक वास्तविक वस्तुओं को देखकर ही धारणा बनाते थे और फिर अपने विचारों को व्यक्त करते थे। इस प्रकार व्यक्तिगत अभिव्यक्ति पर भी शिक्षा

की पद्धति ने ध्यान दिया। इसके अतिरिक्त शिक्षा की पद्धति में ऐसे कार्यों का भी समावेश किया गया जो बालकों की शक्ति के अनुकूल थे और साथ ही शिक्षा के माध्यम भी बन सकते थे। शिक्षा की पद्धति में इन सभी बातों का समावेश करने के बाद पेस्तालात्सी ने विभिन्न विषयों की शिक्षण-पद्धति में भी सुधार किया।

भाषा-शिक्षण—भाषा-शिक्षण में पेस्तालात्सी ने वार्तालाप को स्थान दिया। उसका विचार था कि जिस प्रकार बोलने के पूर्व मनुष्य सोचता है, उसी प्रकार व्याकरण, लेखन, पठन और अक्षर-विन्यास (Spelling) के पूर्व वार्तालाप का महत्त्व है। इसलिए भाषा की शिक्षा का आरम्भ वास्तविक वस्तुओं के सम्बन्ध में वार्तालाप से होना चाहिए। इसके लिए पेस्तालात्सी ने एक स्वरी ध्वनियों की रचना की थी जिनके आधार पर विद्यार्थी शब्द और फिर शब्दों से वाक्य बनाते थे। लेकिन भाषा-शिक्षण की इस पद्धति द्वारा पेस्तालात्सी ने 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' के नियम का उल्लंघन किया। जैसा कि हम जानते हैं प्रारम्भिक भाषा-शिक्षण में पहले वाक्य से आरम्भ करना अधिक उचित है।

गणित-शिक्षण—भाषा-शिक्षण की प्रारम्भिक शिक्षा की भाँति पेस्तालत्सी ने गणित-शिक्षण के लिए विभिन्न अंकों की शिक्षा वास्तविक वस्तुओं के आधार पर देना ठीक समझा। इसके लिए उसने कुछ ऐसी पाठ्य-सामग्री की व्यवस्था की जिनकी सहायता से बालकों को गिनती आसानी से आ जाती थी और साथ ही उन्हें जोड़-बाकी, गुणा-भाग और पहाड़ा सीखने में भी कोई अड़चन नहीं होती थी। इस प्रकार पेस्तालात्सी ने गणित की प्रारम्भिक शिक्षा को भी बालकों के लिए सरल बनाया।

रेखागणित की शिक्षण-पद्धति में त्रिभुज, चौकोर और वृत्त आदि आकारों के सरल रूप से सहायता ली जाती थी। इन्हीं की सहायता से चित्रण (ड्राइंग) का भी कार्य होता था। इस प्रकार पेस्तालात्सी ने रेखागणित और चित्रण जैसे विषयों में सह-सम्बन्ध स्थापित कर इन विषयों की शिक्षा सरल और रोचक बनाया।

सामाजिक-विषय और विज्ञान—सामाजिक विषय (भूगोल, इतिहास, नागरिकता) तथा प्राकृतिक विज्ञान की शिक्षण-पद्धति में पेस्तालात्सी ने बालक के वातावरण को बड़ा महत्त्व दिया। बालक के प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण में पाई जानेवाली वस्तुओं के आधार पर इतिहास, भूगोल, प्राकृतिक विज्ञान जैसे विषयों की शिक्षा इस प्रकार दी जाने के पक्ष में पेस्तालात्सी था कि उनका महत्त्व जीवन में क्या है, स्पष्ट हो जाय। दूसरे शब्दों में, जीवन पर पड़ने वाले प्राकृतिक और सामाजिक प्रभावों को शिक्षा में समुचित स्थान दिया जाय। इस प्रकार पेस्तालात्सी ने शिक्षण-पद्धति में प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण को स्थान देकर शिक्षा को वास्तविक और जीवन के निकट लाने का प्रयास किया।

संगीत और धर्म—जहाँ तक संगीत और धर्म की शिक्षण-पद्धति का प्रश्न है, पेस्तालात्सी ने इन्हें भी जीवन से सम्बन्धित रखा। संगीत की शिक्षा में बालक के विकास का ध्यान रखा गया और उसके अनुसार संगीत के स्वरों के सरल रूप पहले सिखाए जाते थे और फिर कठिन रूप। तात्पर्य यह है कि संगीत की शिक्षण-पद्धति से वे सब बातें निकाल दी गई जो बालकों के मनोविकास के प्रतिकूल थीं। धार्मिक शिक्षा में पेस्तालात्सी ने जीवन के उन अंगों को स्थान दिया जिनके द्वारा

करुणा, दया, सहानुभूति, सहयोग, भ्रातृत्व और समता की भावना उत्पन्न होती थी। दूसरे शब्दों में पेस्तालात्सी ने शिक्षा में मानवीय गुणों को स्थान देकर बालक का नैतिक और धार्मिक विकास करना चाहा। इसीलिए उसने धर्म की शिक्षा में वास्तविक जीवन को पर्याप्त स्थान दिया।

शिक्षा का संगठन—पेस्तालात्सी ने शिक्षा के प्रयोग के लिए कई स्कूल खोले थे। इन स्कूलों के संगठन के अध्ययन से पेस्तालात्सी के शिक्षा-संगठन सम्बन्धी विचारों का ज्ञान हो सकता है। उसका अंतिम स्कूल इवरडन में था। अतः वहाँ जो व्यवस्था थी उसमें पेस्तालात्सी के शिक्षा-संगठन सम्बन्धी सिद्धान्त एक प्रकार से स्पष्ट हैं। इस स्कूल में पेस्तालात्सी ने बालकों के मनोविकास के अनुसार तीन कक्षाओं की व्यवस्था की। पहिली कक्षा प्राइमरी थी। इसमें आठ वर्ष तक के बालक शिक्षा पाते थे। दूसरी कक्षा 'लोअर' थी इसमें आठ से ग्यारह वर्ष के बालक शिक्षा पाते थे। तीसरी कक्षा 'अपर' कहलाती थी जिसमें ११ से १३ वर्ष के बालक पढ़ते थे। प्राइमरी कक्षा में शिक्षा का प्रारम्भिक रूप होता था और उसमें समयचक्र विभाग की कोई कड़ाई न थी। लेकिन लोअर और अपर कक्षाओं का पेस्तालात्सी ने एक समय चक्र विभाग बनाया था। इसमें प्रति सप्ताह प्रत्येक विषय के लिए कितना समय दिया जायगा उसका उल्लेख था। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन के कार्यक्रम में पेस्तालात्सी ने विद्यार्थियों से मिलने की भी व्यवस्था की। दिन के आरम्भ और अंत में पेस्तालात्सी विद्यार्थियों से मिलता था और उनकी कठिनाइयों को समझता था। जहाँ तक शिक्षण के समय का प्रश्न था, पेस्तालात्सी ने स्कूल में प्रति दिन दस घंटे शिक्षण की व्यवस्था की। प्रति घंटा साठ मिनट का होता था। एक घंटे के

समाप्त होने पर थोड़े समय का अवकाश होता था। इस प्रकार पूरे दिन पढ़ाई होती थी। लेकिन इस शिक्षण में व्यावहारिक कार्य भी था और बालकों को इतनी स्वतंत्रता थी कि उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त संध्या समय सात से आठ बजे तक बालकों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता थी। इस समय बालक खेलते-कूदते, कोई चित्र बनाते या पत्र लिखते थे। स्कूल के छात्राध्यापक विद्यार्थियों के साथ रहते थे और उनकी सहायता के लिए सदा तत्पर होते थे। इस प्रकार पेस्तालात्सी ने शिक्षालय का संगठन इस तरह किया जिसमें विद्यार्थियों के लिए घर का सा वातावरण प्रस्तुत हो जाता था। जहाँ तक अनुशासन का प्रश्न है, उसमें भी कठोरता का नाम नहीं था। बालकों के साथ अध्यापक का व्यवहार पिता तुल्य था। अतः हम देखते हैं कि पेस्तालात्सी ने शिक्षा के संगठन में कई नई बातों को स्थान दिया।

पेस्तालात्सी का प्रभाव—शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास की भूमिका प्रकृतिवादी शिक्षा ने तैयार की थी। पेस्तालात्सी ने इसके आधार पर बालक की प्रकृति का वैज्ञानिक अध्ययन किया और शिक्षण-पद्धति की दृष्टि से शिक्षा का मनोवैज्ञानिक विकास किया। इस प्रकार पेस्तालात्सी ने शिक्षण-पद्धति को मनोवैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। उसने बालक के स्वभाव को समझा और उसकी रुचि के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की। इस प्रकार पेस्तालात्सी ने प्रारम्भिक शिक्षा पर बल देकर शिक्षा की बुनियाद को मजबूत बनाया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इसके पूर्व प्राथमिक शिक्षा पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। लेकिन रूसो और उससे अधिक पेस्तालात्सी ने प्रारम्भिक शिक्षा की ओर ध्यान देकर समाज में शिक्षा के

प्रसार की व्यवस्था की। शिक्षा में उद्योग-धंधों को स्थान देकर पेस्तालात्सी ने समाज से गरीबी और बेकारी भी दूर करना चाहा जैसा कि हम जानते हैं, पेस्तालात्सी के हृदय में अनाथ, और गरीब बालकों के लिए अपार प्रेम था। इसीलिए उसने शिक्षा द्वारा सुधार करना चाहा। उसने अमीर और गरीब के बीच के अंतर को मिटाने का भी प्रयास किया। लेकिन यह वर्ग-भेद इतनी आसानी से मिटनेवाला न था। मगर फिर भी पेस्तलात्सी ने अपनी शिक्षा द्वारा जन-सामान्य के जीवन को सुखी बनाने का प्रयास किया।

पेस्तालात्सी का प्रभाव शिक्षा के पाठ्यक्रम और पद्धति पर भी पड़ा। उसने शिक्षण में वास्तविकता लाकर और आगमन-पद्धति के अनुसार शिक्षा देकर यह सिद्ध किया कि जब तक शिक्षा बाल-मनोविकास के अनुकूल न होगी तब तक वह सफल नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त पेस्तालात्सी ने शिक्षा का पाठ्य-क्रम भी मनोवैज्ञानिक आधार पर बनाया। दूसरे शब्दों में उसने शिक्षा के प्रत्येक विषय का पाठ्यक्रम बालक की आयु और योग्यता के अनुसार निश्चित किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि पेस्तालात्सी ने वास्तविक वस्तुओं के अध्ययन और आगमन-पद्धति आदि पर बल देकर निम्नलिखित बातों का शिक्षा में समावेश किया:—

(१) वास्तविक वस्तुओं का अध्ययन (२) ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर शिक्षा (३) बालक की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति (४) बाल-क्रिया का शिक्षा में समावेश और (५) बालक के मनोवैज्ञानिक विकास की व्यवस्था।

पेस्तालात्सी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों से उस समय के अनेक अध्यापक प्रभावित हुए। जर्मनी में पेस्तालात्सी का प्रभाव

सबसे अधिक पड़ा। इसके अतिरिक्त स्वीट्ज़रलैंड और फ्रांस में भी उसके सिद्धांतों का अध्ययन हुआ और शिक्षा की व्यवस्था की गई। लेकिन स्वीट्ज़रलैंड के कुछ विद्वान् पेस्तालात्सी का विरोध करते थे। उनका विचार था कि पेस्तालात्सी फ्रांस के प्रति सहानुभूति रखता है और स्वीट्ज़रलैंड के प्रति उसके हृदय में फ्रांस के समान भावना नहीं है। इस प्रकार यह विरोध राजनीतिक कारणों से था। मगर फिर भी पेस्तालात्सी-शिक्षा का प्रसार जर्मनी में भली भाँति हुआ। नैपोलियन की हार के बाद जर्मनी में जिस शासन की व्यवस्था हुई उसने पेस्तालात्सी की शिक्षा को अपनाया और उसी के आधार पर 'प्रूसियन पेस्तालात्सियन' पद्धति को चलाया। उस समय जर्मनी में अनेक ऐसे शिक्षक थे जो पेस्तालात्सी के शिष्य रह चुके थे। इसलिए उन लोगों ने पेस्तालात्सी-पद्धति को सफल बनाने का पूरा प्रयास किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पश्चिमी शिक्षा के इतिहास के दो प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबार्ट और फ्रोयबेल भी उस समय जर्मनी में अध्यापक थे और इन लोगों पर भी पेस्तालात्सी का बड़ा प्रभाव पड़ा।

पेस्तालात्सी का प्रभाव ग्रेट ब्रिटेन की शिक्षा पर इस रूप में पड़ा कि वहाँ शिशु-कक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। साथ ही ग्रेट ब्रिटेन में पेस्तालात्सी के अनुसार अध्यापकों की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। पेस्तालात्सी के प्रभाव के फलस्वरूप ब्रिटेन में एक शिक्षा-संस्था भी संगठित हुई जिसका नाम 'होम एंड कलोनियल स्कूल सोसायटी' था। इस संस्था ने शिशु और बाल शिक्षा की व्यवस्था की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। इस प्रकार ब्रिटेन में पेस्तालात्सी के कारण प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा और ट्रेंड अध्यापकों द्वारा शिक्षण-कार्य आवश्यक समझा गया।

संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में पेस्तालात्सी का प्रभाव शिक्षा की पत्रिकाओं द्वारा पहुँचा। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पेस्तालात्सी-पद्धति के सम्बन्ध में प्रकाशित लेखों ने अमरीकी शिक्षकों का ध्यान आकर्षित किया और उन्होंने अपनी शिक्षण-पद्धति में सुधार भी किया। इसके अतिरिक्त कुछ अमरीकी शिक्षक जर्मनी भी गये। इस प्रकार अमेरिका में पेस्तालात्सी-पद्धति का प्रचार हुआ। इस कार्य में जोसेफ नीफ नायक अध्यापक से बड़ी सहायता मिली। नीफ १८०६ में अमेरिका गया और वहाँ उसने एक स्कूल खोला। इसके अतिरिक्त उसने एक पुस्तक* भी लिखी। लेकिन नीफ अपने प्रयास में सफल नहीं हो सका। पेस्तालात्सी-पद्धति का प्रसार अमेरिका में सन् १८३० के लगभग भली भाँति हुआ। इस प्रकार संसार के अधिकतर देशों पर पेस्तालात्सी का प्रभाव पड़ा।

पेस्तालात्सी की त्रुटियाँ—पेस्तालात्सी की शिक्षण-पद्धति में कुछ ऐसी त्रुटियाँ भी थीं जिनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। विलियम बोयड † के अनुसार पेस्तालात्सी पद्धति में दो बड़ी त्रुटियाँ थीं। एक त्रुटि तो हमें पेस्तालात्सी की प्रारम्भिक शिक्षण-पद्धति में दिखाई देती है। जहाँ वह अनुभव के तत्वों के आधार पर शिक्षा की बात करता है, वहीं उसे यह ज्ञात नहीं कि अनुभव के तत्व (Elements of Experience) क्या हैं। इस भूल के कारण पेस्तालात्सी ने भाषा की प्रारम्भिक शिक्षा में एक स्वरी ध्वनियों को स्थान दिया जिनका बालकों के अनुभव से कोई सम्बन्ध न था। यदि उसे बालकों के अनुभव का वास्तविक ज्ञान होता तो वह जानता कि बालक का एक शब्द एक वाक्य का प्रतीक है। लेकिन इस तथ्य से अनभिज्ञ होने के कारण पेस्तालात्सी ने भाषा-शिक्षण

---

* Sketch of a Plan and a Method of Education.

† The History of Western Education. Pages 327-328.

में एक स्वरी ध्वनियों का समावेश किया जिसके कारण शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार में दुर्बलता आ गई।

बोयड के अनुसार पेस्तालात्सी की दूसरी त्रुटि उच्च कक्षाओं की शिक्षा की अवहेलना है। पेस्तालात्सी ने केवल प्रारम्भिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा के विभिन्न विषयों की उचित व्यवस्था न हो सकी। पेस्तालात्सी ने केवल उस समय पढ़ाए जानेवाले विभिन्न विषयों में नाममात्र का संशोधन करके अनुभव और निरीक्षण पर बल देते हुए उन्हें स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि किसी विषय की शिक्षा उचित रूप से सम्बन्धित और समन्वित ढंग से न दी जा सकी। एक ही विषय के विभिन्न पाठ आपस में स्वाभाविक सम्बन्ध रख नहीं पाते थे। इस प्रकार बोयड का विचार है कि पेस्तालात्सी ने शिक्षा के विभिन्न विषयों के केवल प्रारम्भिक रूप पर ही ध्यान देकर उनके विकसित रूप की अवहेलना की। इस अवहेलना के कारण पेस्तालात्सी-पद्धति उन विद्यार्थियों के लिए किसी काम की नहीं होती जिनका मानसिक विकास हो चुका है और जिन्हें प्रारम्भिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पेस्तालात्सी का ध्यान प्रारम्भिक शिक्षा से आगे नहीं गया। मगर फिर भी इन त्रुटियों के होते हुए पेस्तालात्सी ने प्रारम्भिक शिक्षा के लिए जो कार्य किया उससे आधुनिक शिक्षा के विकास में बड़ी सहायता मिली।

---

२. मनोवैज्ञानिक विकास : हरबार्ट

पेस्तालात्सी की परम्परा—शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास में पेस्तालात्सी के पश्चात् हरबार्ट का कार्य उल्लेखनीय है। पेस्तालात्सी ने बालक की प्रारम्भिक शिक्षा में ज्ञानेन्द्रियों और निरीक्षण पर बल देकर शिक्षा-मनोविज्ञान की भूमिका तैयार की। लेकिन हरबार्ट ने पेस्तालात्सी के प्रारम्भिक विचारों को आगे बढ़ाकर शिक्षा मनोविज्ञान की रूप-रेखा स्पष्ट की। रूसो और पेस्तालात्सी ने बालक के व्यक्तित्व पर अत्यधिक बल दिया। रूसो ने तो अपनी शिक्षा को व्यक्तिवादी ही बना दिया था। लेकिन पेस्तालात्सी ने कुछ सीमा तक जन-सामान्य की ओर ध्यान दिया। मगर फिर भी पेस्तालात्सी ने मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यक्ति और वातावरण के सम्बन्ध को नहीं समझा। व्यक्ति के विकास में वातावरण का क्या हाथ होता है, इस पर उचित ध्यान हरबार्ट ने दिया। इस प्रकार पेस्तालात्सी ने शिक्षा-मनोविज्ञान को जहाँ छोड़ा था, वहीं से हरबार्ट ने आरम्भ कर शिक्षा-मनोविज्ञान के जन्मदाता का पद प्राप्त किया। हरबार्ट पेस्तालात्सी की भाँति अव्यावहारिक न था। वह विचारक था और सभी बातों को स्पष्ट रूप से समझने का प्रयास करता था। इसीलिए हरबार्ट शिक्षा-मनोविज्ञान और शिक्षा-सिद्धांत के सम्बन्ध ऐसे विचार व्यक्त कर सका जिनका अध्ययन आज प्रत्येक अध्यापक के लिए अनिवार्य है। बिना हरबार्ट के पाँच सोपान के पाठ-संकेत की पूरी तैयारी नहीं हो सकती। इस प्रकार शिक्षा के आधुनिक विकास में हरबार्ट का प्रमुख स्थान है। इसके पूर्व कि हम

हरबार्ट के विचारों का अध्ययन करें, उसके जीवन का परिचय आवश्यक है।

हरबार्ट* का जीवन (१७७६-१८४१)—हरबार्ट का जन्म ओल्डनबर्ग (Oldenburg) (जर्मनी) के एक प्रतिष्ठित परिवार में ४ मई सन् १७७६ को हुआ था। हरबार्ट के बौद्धिक विकास पर उसकी पारिवारिक परम्परा का भी प्रभाव पड़ा था। उसके दादा ओल्डनबर्ग के जिमनाजियम (विद्यालय) के संरक्षक (रेक्टर) थे। उसके पिता वकील और प्रिवी कौंसिल के सदस्य थे। हरबार्ट की माता भी योग्य विदुषी थी। इस प्रकार एक बालक के सम्यक् विकास में जिस सांस्कृतिक वातावरण की अपेक्षा होती है, वह हरबार्ट के लिए उपलब्ध था।

हरबार्ट की प्रारम्भिक शिक्षा उसकी माता की देख-रेख में हुई। अपनी माता की सहायता से हरबार्ट ने यूनानी भाषा, गणित, और दर्शनशास्त्र के अध्ययन में विशेष, रुचि का परिचय दिया। ओल्डनबर्ग के जिमनाजियम में शिक्षा पाते समय हरबार्ट का ध्यान मानवीय गुणों के प्रति आकर्षित हुआ और जब वह उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के लिए जेना-विश्वविद्यालय में गया तब वह उस दार्शनिक विचारधारा से पूर्णतः प्रभावित हो गया जो मानवता और नैतिकता पर बल देती है। दूसरे शब्दों में विश्वविद्यालय में अध्ययन करते समय हरबार्ट की अभिरुचि आध्यात्मिक हो चली। उसने मानव-स्वभाव के मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक विकास का अध्ययन करना चाहा। धीरे धीरे उसका यह विश्वास हो गया कि उचित शिक्षा द्वारा मनुष्य काउच्चतर नैतिक विकास किया जा सकता है। लेकिन जिस

---

* Johann Friedrich Herbart.

मनुष्य का उच्चतर नैतिक विकास करना है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसका मनोवैज्ञानिक संगठन क्या है और उसका नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास किस प्रकार किया जा सकता है। इन सब प्रश्नों को भली-भाँति समझने का प्रयास हरबार्ट ने किया। जेना-विश्वविद्यालय से डिग्री प्राप्त करने के पूर्व ही उसे स्वीट्ज़रलैंड के गवर्नर के तीन पुत्रों का ट्यूटर बनकर इटंरलाकेन (Interlaken) जाने का अवसर मिला। ट्यूटर के रूप में हरबार्ट ने १७९७ से लेकर १७९९ तक कार्य किया। इन तीन वर्षों में उसने इन तीन बालकों के मनोविकास का पूर्ण अध्ययन किया। जिस पद्धति से इन्हें शिक्षा दी जाती थी, उसका भी अध्ययन हरबार्ट ने किया। गवर्नर महोदय समय-समय पर अपने पुत्रों की शिक्षा-सम्बन्धी प्रगति का ब्योरा भी चाहते थे। इस लिए हरबार्ट ने बालकों के मनोविकास का भली भाँति अध्ययन किया और उनकी मनोवैज्ञानिक विभिन्नताओं की ओर गवर्नर महोदय का ध्यान आकर्षित किया। इस प्रकार ट्यूटर के रूप में तीन वर्ष तक कार्य करते हुए हरबार्ट ने शिक्षा-सिद्धांत और शिक्षा-मनोविज्ञान सम्बन्धी अनेक तथ्य व्यक्तिगत अनुभव से प्राप्त किया।

पेस्तालात्सी से परिचय—स्वीट्ज़रलैंड में गृहाध्यापक का कार्य करते हुए हरबार्ट पेस्तालात्सी के बर्गडोर्फ स्कूल में गया और वहाँ उसकी पद्धति का अध्ययन किया। बर्गडोर्फ में हरबार्ट ने जो कुछ देखा, उसका सहानुभूतिपूर्ण विवरण उपस्थित किया। स्वीट्ज़रलैंड से वापस आकर हरबार्ट ने पुनः अध्ययन आरम्भ किया जिससे उसे विश्वविद्यालय की डिग्री मिल जाय। दो वर्ष बाद १८०२ में उसे गार्टिगेन (Gottingen) विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र और शिक्षाशास्त्र पर व्याख्यान देने का अवसर

मिला। सात वर्ष तक इस विश्वविद्यालय में हरबार्ट ने कार्य किया और इसी बीच उसने पेस्तालात्सी के शिक्षा-सिद्धांतों की सुंदर व्याख्या की। इसी समय हरबार्ट ने अपनी पुस्तक शिक्षा-विज्ञान (Science of Education) लिखी। इस पुस्तक के प्रकाशन के कुछ समय पहले हरबार्ट ने शिक्षा-सम्बन्धी दूसरी पुस्तकें भी लिखीं। उसने पेस्तालात्सी के ग्रंथों की आलोचना की। इन आलोचना-ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं:—(अ) 'आन पेस्तालात्सीज़ लेटेस्ट राइटिंग' (आ) 'हाउ गरट्रूड टीचेज़ हर चिल्ड्रेन' (इ) 'पेस्तालात्सीज़ आइडिया ऑफ एन ए बी सी ऑफ आब्ज़र्वेशन'। * इस प्रकार इन पुस्तकों को लिखकर हरबार्ट ने पेस्तालात्सी शिक्षण-पद्धति की विशेषताओं पर प्रकाश डाला। इसके बाद हरबार्ट ने पेस्तालात्सी के सिद्धांतों के दुर्बल पक्षों की भी आलोचना की। उसने अपने अध्ययन द्वारा यह ज्ञात किया कि पेस्तालात्सी के शिक्षा-सिद्धांतों में क्या कमी है और उनमें कितना सुधार करना चाहिए। इस अध्ययन के फलस्वरूप हरबार्ट ने जो पुस्तकें लिखीं उनके नाम इस प्रकार हैं:—(क) पेस्तालात्सी-शिक्षण पद्धति पर विचार करने का दृष्टिकोण, (ख) शिक्षा का प्रधान उद्देश्य—विश्व की नैतिकता का प्रकटीकरण। इस प्रकार इन ग्रंथों की रचना द्वारा हरबार्ट ने शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धांतों पर अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किये। इन ग्रंथों का प्रभाव तत्कालीन शिक्षा पर भी पड़ा।

---

* (1) On the Point of View in Judging the Pestalozzian Method of Instruction.

(2) On the Moral Revolation of the World as the chief function of Education.

शिक्षण-विद्यालय की स्थापना—इन्हीं दिनों जर्मनी के कोनिसवर्ग (Konigsberg) विश्वविद्यालय में दार्शनिक कांट के स्थान पर हरबार्ट की नियुक्ति हो गई। इस समय हरबार्ट की आयु ३३ वर्ष की थी। अतः कांट के स्थान पर दर्शन शास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त होना हरबार्ट के लिए सम्मान का विषय था।

कोनिसवर्ग विश्वविद्यालय में अध्यापन करते हुए हरबार्ट ने शिक्षाशास्त्र की ओर भी ध्यान दिया। उसने अध्यापकों की ट्रेनिंग की भी व्यवस्था की। हरबार्ट ने इस विश्वविद्यालय में शिक्षण-विद्यालय (Pedagogical Seminary) की स्थापना की और अध्यापन-कला की व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए इसी के साथ बच्चों का एक स्कूल भी खोल दिया। इस प्रकार आधुनिक शिक्षण-विद्यालयों की सी व्यवस्था हरबार्ट ने सर्व प्रथम किया। हरबार्ट के इस शिक्षण-विद्यालय में छात्राध्यापक पढ़ाते थे और उनकी पाठन-विधि की आलोचना विद्यालय के अध्यापकों द्वारा की जाती थी। इस प्रकार हरबार्ट ने शिक्षण-प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन किया।

हरबार्ट के पूर्व शिक्षा-मनोविज्ञान—लेकिन हरबार्ट का प्रधान कार्य शिक्षा-मनोविज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करना था। शिक्षा का मनोविज्ञान से क्या सम्बन्ध है और शिक्षा मनोविज्ञान की सहायता से पाठन-विधि में क्या सुधार किया जा सकता है, आदि प्रश्न ऐसे हैं जिनकी ओर हरबार्ट ने ध्यान दिया। उसके वास्तविक कार्य को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम हरबार्ट के पूर्व शिक्षा-मनोविज्ञान की दशा से परिचित हो लें। तभी हमें ज्ञात हो सकेगा कि हरबार्ट ने शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास के लिए क्या किया।

हरबार्ट के पूर्व शिक्षा-मनोविज्ञान के विकास में सर्वप्रथम सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के विचार सहायक हुए थे। लेकिन

इन तीनों में से सबसे अधिक उल्लेखनीय कार्य अरस्तू का था। अरस्तू ने मनोविज्ञान के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये उनकी मान्यता यूरोप में सोलहवीं सदी तक बनी रही। सत्तरहवीं सदी में जब गैलिलियो और न्यूटन के आविष्कारों द्वारा यूरोप में वैज्ञानिक क्रांति का सूत्रपात हुआ, तब मनुष्य के मन (Mind) पर वैज्ञानिक और यांत्रिक दृष्टिकोण से विचार होने लगा। टामस हौफ (१५८८—१६७९) नामक दार्शनिक ने अरस्तू के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत अंतर्दर्शन (Introspection) के साथ वाह्य-दर्शन की आवश्यकता पर बल दिया। इस प्रकार निरीक्षण, परीक्षण, आदि वैज्ञानिक पद्धतियों का मनोविज्ञान में समावेश हुआ। हौफ के अतिरिक्त डेकार्टे (Descartes) (१५६९—१६५०) ने भी मनोविज्ञान के सिद्धांतों का स्पष्टीकरण किया। इन दोनों विद्वानों के कारण मनोविज्ञान में 'चेतना' को स्थान मिला। 'चेतना' के पूर्व मनोविज्ञान 'आत्मा' और 'मन' पर ही विचार करता था। इस प्रकार १७ वीं सदी में मनोविज्ञान को 'चेतना' प्राप्त हुई।

अट्ठारहवीं सदी में लॉक ने 'चेतना' की परिभाषा की ओर इसे प्रत्ययों (Ideas) का संग्रह बताया। लॉक के मनोवैज्ञानिक विचारों का स्पष्टीकरण डेविड ह्यूम (१७११-१७७६) ने किया और 'प्रत्यय-सम्बन्ध' (Association of Ideas) का सिद्धांत स्थापित कियो। इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी मनोविज्ञान के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये। इस प्रकार हरबार्ट के पूर्व मनोविज्ञान का जो विकास हो चुका था, उसका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है :—

(क) मनोविज्ञान के अध्ययन का आधार 'आत्मा' या 'मन' नहीं, 'चेतना' है।

(ख) चेतना का आधार प्रत्यय(Ideas) है। 'प्रत्यय-सम्बन्ध' से मनोविकास होता है।

(ग) 'प्रत्यय-सम्बन्ध' के सिद्धांत के कारण मानसिक शक्तियों (Faculties of mind)का सिद्धांत अस्वीकृत हो गया।

(घ) मानसिक प्रक्रिया में ज्ञान (Knowledge) संवेदन (Feeling) और 'क्रिया' (Willing) की अवस्थाओं को स्वीकार किया गया।

(ङ) मनोविज्ञान में परीक्षण की प्रवृत्ति और बढ़ी।

हरबार्ट का मनोविज्ञान—हरबार्ट ने मनोविज्ञान में मानसिक-प्रक्रिया की तीन मानसिक अवस्थाओं के अलग अस्तित्व को अस्वीकार किया। उसने कहा ज्ञान, संवेदन और क्रिया अलग-अलग नहीं है क्यों कि यदि विचार पूर्वक अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि ज्ञान में संवेदन और क्रिया है, संवेदन में ज्ञान और क्रिया है और क्रिया में ज्ञान और संवेदन है। इस प्रकार मानसिक प्रक्रिया 'एक' है और इसकी तीन अलग दशाएँ नहीं हैं। हरबार्ट के इस मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के कारण मानसिक-शक्तियों के सिद्धांत का खंडन हुआ और लोग इस विश्वास को छोड़ बैठे जो यह कहता था कि स्मरणशक्ति, इच्छा, विवेक और ध्यान आदि स्वतंत्र मानसिक शक्तियां हैं जो बालक में जन्मकाल से ही उपस्थित रहती हैं। इस प्रकार हरबार्ट के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के कारण यह स्वीकार किया गया कि बालक का मन एक 'इकाई' है और उसका विकास मनोवैज्ञानिक रीति से ही हो सकता है।

पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष (Apperception)—हरबार्ट के मनोविज्ञान में प्रत्यय अथवा विचार का प्रधान स्थान है। हरबार्ट के अनुसार चेतना के तत्व प्रत्यय हैं जो मन और वातावरण के

सम्पर्क से बनते हैं। इस प्रकार जो प्रत्यय बन जाते हैं, वे नष्ट नहीं होते क्योंकि प्रत्येक प्रत्यय (Idea) इस बात का प्रयत्न करता है कि उसे चेतना में प्रमुख स्थान मिले। ऐसा करते समय समान प्रत्ययों में सहयोग होता है और वे एक दूसरे को चेतना तक पहुँचने में सहायता प्रदान करते हैं। भिन्न अथवा असमान (Disperate) प्रत्यय भी अपना एक समूह बनाकर 'जीवित' रहने का प्रयास करते हैं। लेकिन विरोधी (Contrary) प्रत्ययों और समान प्रत्ययों में एक प्रकार का संघर्ष चलता रहता है। 'दिन' प्रत्यय का विरोधी प्रत्यय 'रात' है। इसी प्रकार 'सफेद' प्रत्यय का विरोधी प्रत्यय 'काला' है। जब हम 'सफेद' कहते हैं, तब हमारा ध्यान 'काले' की ओर चला जाता है, लेकिन पीले की ओर नहीं जाता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सफेद और काला एक दूसरे के विरोधी प्रत्यय हैं और सफेद तथा पीले असमान प्रत्यय। हरबार्ट ने विचारों अथवा प्रत्ययों के इस प्रकार वर्गीकरण द्वारा यह सिद्ध किया कि प्रत्येक नवीन विचार मन द्वारा धारण, संशोधित अथवा अस्वीकृत पूर्व विचारों या प्रत्ययों से समानता, असमानता और विरोध के आधार पर किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में, नये प्रत्ययों, विचारों या अनुभवों का पहले के अनुभवों से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध हो जाता है। इसी के आधार पर हरबार्ट का पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान (Apperception) का सिद्धांत स्थापित है। इसी सिद्धांत के आधार पर हरबार्ट ने शिक्षा में 'पूर्वज्ञान' का महत्त्व स्थापित किया और अपने पाँच सोपान बनाए। पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान और उसका शिक्षा से क्या सम्बन्ध है, इसका विस्तृत अध्ययन 'मनोविज्ञान' का क्षेत्र है। अतः यहाँ इतना ही पर्याप्त है। इस प्रकार हरबार्ट ने शिक्षा और मनोविज्ञान के सहयोग द्वारा आधुनिक शिक्षा-मनोवि-

ज्ञान का सूत्रपात्र किया। सन् १८३३ में गार्टिगेन वापस आकर वह अपने जीवन के अंतिम वर्ष अवकाश में बिताने लगा। लेकिन इस अवस्था में भी वह कुछ न कुछ लिखता ही रहता था। इसी समय उसने 'आउटलाइंस ऑफ पेडागाजिकल लेक्चर्स' लिखे। इस पुस्तक में हरबार्ट ने शिक्षा और मनोविज्ञान के सम्बन्ध और भी स्पष्ट किया। सन् १८४१ में ६५ वर्ष की आयु में उसका देहान्त हो गया। हरबार्ट जितने दिनों तक जीवित रहा, निरन्तर कार्य करता गया। उसके कार्य का क्या मूल्य था, वह आज की शिक्षा में उसके सिद्धांतों के प्रयोग से स्पष्ट है। वह एक दार्शनिक, विचारक और शिक्षक था। उसमें सिद्धांत और प्रयोग का सुंदर सम्मिश्रण था। इस तथ्य को समझने के लिए हमें हरबार्ट के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करना चाहिए।

विचार धारा—हरबार्ट की शिक्षा के स्वरूप की स्पष्टता के लिए उसके दार्शनिक विचारों का अध्ययन आवश्यक है। दार्शनिक विचारों का हरबार्ट पर अत्यधिक प्रभाव था। वह शिक्षा को मनुष्य के नैतिक विकास का साधन मानता था। उसका विचार था—" 'गुण' (Virtue) शब्द से शिक्षा का पूर्ण उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। 'गुण' आंतरिक स्वतंत्रता का द्योतक है जो व्यक्ति में अनुभव के आधार पर विकासित होता है"* इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हरबार्ट की दृष्टि में 'गुण' का अस्तित्व जीवन से अलग नहीं है। अपने जीवन को व्यतीत करते हुए मनुष्य गुण का विकास करता है। लेकिन व्यक्ति

* The term ' virtue ' expresses the whole purpose of education. Virtue is the idea of 'inner freedom', which has developed into an abiding actualityin an in dividual.

'गुण' का विकास तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसे 'गुण' 'अवगुण' के अंतर का ज्ञान नहीं हो जाता। इस लिए हरबार्ट का विचार था कि शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य बनाए जिससे वह यह जान सके कि क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति को उचित-अनुचित और सही-ग़लत का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए क्योंकि इसी ज्ञान के आधार पर उसके 'गुण' का विकास होता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, हरबार्ट 'गुण' का आधार जीवन का अनुभव मानता है। इसलिए वह व्यक्ति अथवा बालक में नैतिक विचारों (प्रत्ययों) को उत्पन्न करना चाहता है। जब व्यक्ति की विचार धारा उचित दिशा में प्रवाहित होने लगती है तब उसका नैतिक विकास होता है। इसलिए हरबार्ट शिक्षा का कार्य व्यक्ति में उचित विचार उत्पन्न करना मानता है। लेकिन यह कार्य सरल नहीं है क्योंकि जितने भी विचार उत्पन्न होते हैं उनका पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्बन्ध होता है। इसलिए बालक के जन्म से ही इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि उसे उचित वातावरण मिले जिससे उनमें 'आंतरिक स्वतंत्रता' अथवा 'गुण' उत्पन्न हो सके।

आंतरिक स्वतंत्रता—हरबार्ट ने जिस 'गुण' अथवा आंतरिक स्वतंत्रता' का उल्लेख किया है, उसके लिए उसने चार बातों को आवश्यक माना है। बिना इन चार बातों के व्यक्ति में वह आंतरिक स्वतंत्रता उत्पन्न नहीं हो सकती जो उसे नैतिक और चरित्रवान बनाती है। ये चार बातें हैं :—इच्छा शक्ति की श्रेष्ठता, सद्भावना, समवृत्ति, और न्यायप्रियता। इन चार बातों से ही मनुष्य की 'आंतरिक स्वतंत्रता' बनाती है। दूसरे शब्दों में, हरबार्ट शिक्षा द्वारा नैतिक विकास करना चाहता है। श्रेष्ठता'[१]

---

१ Efficiency of will

का उल्लेख करता है तब उसका तात्पर्य मनुष्य की उस आंतरिक्त शक्ति है जो उसे ऐसे कार्य की ओर अग्रसर करती है जिससे जन-सामान्य की उन्नति होती है। दूसरे शब्दों में, इच्छाशक्ति की श्रेष्ठता इस बात में है कि वह व्यक्ति को अच्छे कार्यों की ओर प्रेरित करे यहाँ 'अच्छे' से तात्पर्य 'नैतिक' से है। आतंरिक स्वतंत्रता के लिए दूसरी आवश्यक वस्तु 'सद्भावना'[१] है। सद्भावना से हरबार्ट का तात्पर्य मनुष्य की उस भावना से है जो सबके हित का ध्यान रखती है। इतना ही नहीं, मनुष्य दूसरों के हित में अपना हित मानने लगता है। इस प्रकार हरबार्ट ने 'सद्भावना' के क्रियाशील स्वरूप की कल्पना की। जब हरबार्ट आंतरिक स्वतंत्रता में 'समवृति'[२] का उल्लेख करता है, तब उसका तात्पर्य उस वृति से है जो मनुष्य को उसकी सीमा के भीतर रखती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए द्वंद्व में नहीं पड़ता। झगड़ा या युद्ध 'समवृति' के विरुद्ध है। इस प्रकार मनुष्य उस वृत्ति के अनुसार चले जो किसी के अधिकारों का अपहरण नहीं करती। 'आंतरिक स्वतंत्रता' के लिए चौथी आवश्यक वस्तु है 'न्याय प्रियता'[3]। मनुष्य 'न्याय प्रियता' के आधार पर ही सामाजिक विधान बनाता है। यदि व्यक्ति में न्यायप्रियता है तो वह चाहेगा कि समाज में उन कार्यों के लिए दंड की व्यवस्था हो जिनसे समाज की हानि होती है। इसी प्रकार जिनसे समाज का हित होता है, उन्हें पुरस्कार और प्रशंसा भी मिलनी चाहिए। इस प्रकार न्यायप्रियता व्यक्तिगत होते हुए भी सामाजिक पक्ष रखती है।

कहना न होगा कि हरबार्ट ने मनुष्य की 'आंतरिक स्वतंत्रता' को लेते हुए जिन बातों का उल्लेख किया है उनका आधार नैतिक

---

१ Good will २ Justice ३ Equity

है और उन पर ईसाई धर्म का प्रभाव भी है। इस प्रकार हरबार्ट की विचारधारा मनोवैज्ञानिक होते हुए नैतिकता और धर्म को लेते हुए चलती है।

शिक्षा का उद्देश्य—हरबार्ट की नैतिक विचारधारा के फलस्वरूप उसकी शिक्षा के उद्देश्य में नैतिकता प्रधान है। अतः हरबार्ट की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को नैतिक और धार्मिक बनाना है, शिक्षा के इस नैतिक-धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए हरबार्ट को न तो रूसो की पद्धति पसंद है और न पेस्तालात्सी की, क्यों कि हरबार्ट यह नहीं मानता था कि बालक में शक्तियाँ छिपी हैं या उसकी विभिन्न मानसिक शक्तियों का विकास करना है। उसका यह दृढ़ मत था कि शिक्षा व्यक्ति में ऐसी रुचि उत्पन्न करे जो समाज के हित में भी हो। दूसरे शब्दों में, हरबार्ट शिक्षा द्वारा व्यक्ति की बहुमुखी रुचि' (many-sided Interest) का अध्ययन कराकर यह ज्ञात करना चाहता था कि इनसे व्यक्ति और समाज का क्या लाभ होता है। इस प्रकार हरबार्ट व्यक्ति में सभी प्रकार की रुचि उत्पन्न करने के लिए शिक्षा प्रदान करना चाहता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को उन सभी दिशाओं का ज्ञान हो जाय जिसमें उसकी रुचि हो सकती है। इस ज्ञान के आधार पर व्यक्ति का नैतिक विकास हो सकता है। इसी ज्ञान से व्यक्ति ऐसे कार्यों की ओर अग्रसर होगा जिससे उसका व्यक्तित्व बनेगा और साथ ही उसके द्वारा समाज का भी हित होगा। अतः हम देखते हैं कि हरबार्ट की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न करना है जो उसकी नैतिकता के विकास में सहायक हो। यहाँ यह स्पष्ट है कि हरबार्ट ज्ञान को रुचि का आधार मानता है जब कि आधुनिक शिक्षा शास्त्री हुई रुचि को ज्ञान का आधार मानते हैं।

(१) **अनुशिक्षा और शिक्षा**—हरबार्ट की शिक्षा में 'बहुमुखी रुचि' (many-sided interest) पर पहले ध्यान दिया जाता है क्यों कि इसी की सहायता से व्यक्ति का नैतिक विकास होता है। व्यक्ति की 'बहुमुखी रुचि' उत्पन्न करने के लिए हरबार्ट 'अनुशिक्षा' (Instruction) का उल्लेख करता है। यहाँ हमें 'अनुशिक्षा' और 'शिक्षा' (Instruction and Education) के अंतर को समझ लेना चाहिए। हरबार्ट का कथन है—'अनुशिक्षा विचारों का संगठन करती है और शिक्षा चरित्र को बनाती है। बिना पहले के दूसरे का अस्तित्व नहीं। इसी में मेरे शिक्षाशास्त्र का सार निहित है।'† इस प्रकार हरबार्ट की अनुशिक्षा बहुमुखी रुचि के आधार पर विचारों 'प्रत्ययों' (Ideas) का संगठन करती है और शिक्षा इसी के आधार पर चरित्र का निर्माण करती है।

(२.) **अनुभव और सामाजिक जीवन**—हरबार्ट का तात्पर्य 'बहुमुखी रुचि' से क्या है, इसको स्पष्ट करते हुए उसका कथन है कि रुचि और विचार के दो आधार हैं। एक तो अनुभव (Experience) है जिसके द्वारा प्रकृति (Nature) का ज्ञान होता है और दूसरा 'सामाजिक जीवन' (Social Intercourse) है जिससे हमारे हृदय में समाज के दूसरे व्यक्तियों के प्रति स्थायी भाव (Sentiment) उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार हरबार्ट के अनुसार 'बहुमुखी रुचि' जो कि विचारों से बनती है, उसका सम्बन्ध 'अनुभव' और 'सामाजिक जीवन' से होता है। इसी सम्बन्ध के आधार पर हरबार्ट 'बहुमुखी रुचि' के दो भाग करता है। एक

† "Instruction will form the circle of thought, and education the character. The last is nothing without the first. Herein is contained the whole sum of my pedagogy."

भाग का सम्बन्ध 'अनुभव' या 'ज्ञान' से है और दूसरे भाग का 'सामाजिक जीवन' से। 'ज्ञान' (Knowledge) सम्बन्धी रुचि के हरबार्ट तीन विभाग करता है:—(१) इंद्रिय-सम्बन्धी (२) आनुमानिक और, (३) कलात्मक।* सामाजिक जीवन सम्बन्धी रुचि के भी तीन विभाग हरबार्ट ने निश्चित किये जो इस प्रकार हैं :—(१) सद्भावना-सम्बन्धी (२) सामाजिक और (३)धार्मिक।† 'बहुमुखी रुचि' के इस प्रकार छः रूप उपस्थित हो जाते हैं। अब हमें प्रत्येक प्रकार की रुचि के रूप को समझने का प्रयास करना चाहिए।

(३) **रुचि के छः रूप**—(१) इंद्रिय सम्बन्धी रुचि उन वस्तुओं से उत्पन्न होती है जो मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करती हैं। मधुर संगीत, मधुर गंध, मधुर स्वाद, मधुर स्पर्श आदि ज्ञानेन्द्रियों को प्रिय हैं। इसी के साथ कर्कश स्वर, दुर्गन्ध, आदि जैसे अनुभव व्यक्ति को अप्रिय हैं। ये सब बातें व्यक्ति को इंद्रिय सम्बन्धी अनुभव से ज्ञात होती हैं और इसी ज्ञान के आधार पर इंद्रिय सम्बन्धी रुचि उत्पन्न होती है।

(२) आनुमानिक ज्ञान-रुचि का सम्बन्ध उन बातों से है जो किसी कार्य की उत्पत्ति और उसके परिणाम का बोध कराती हैं। आनुमानिक ज्ञान की सहायता से किसी कार्य को करने के पूर्व व्यक्ति उसकी प्रणाली का अनुमान लगाता है। इस अनुमान से उसे ज्ञात होता है कि उस कार्य के करने में कितनी कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी या कितनी सरलता होगी और फिर उसका परिणाम

---

* (I) Emperical appealing to senses (2) Speculative. (3) Aesthetic.

† (1) Sympathetic (2) Social (3) Religious.

क्या होगा। व्यक्ति की उन्नति में आनुमानिक ज्ञान बड़ा सहायक होता है। इसी के आधार पर व्यक्ति दूरदर्शी कहा जाता है। जिस व्यक्ति में आनुमानिक ज्ञान का अभाव होता है, वह भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता। अतः आनुमानिक ज्ञान सम्बन्धी रुचि भी आवश्यक है।

(३) कलात्मक ज्ञान से ऐसी रुचि उत्पन्न होती है जो व्यक्ति को सौंदर्य का बोध कराती है। मन की कोमल भावनाओं के विकास में कलात्मक ज्ञान का प्रमुख स्थान है। बिना भावनाओं के मनुष्य नीरस होता है। अतः व्यक्ति के जीवन को सुंदर बनाने के लिए कलात्मक ज्ञान आवश्यक है। कलात्मक ज्ञान से कलात्मक रुचि की उत्पत्ति स्वाभाविक है।

(४) सामाजिक जीवन सम्बन्धी रुचि में सद्भावना का महत्त्व इस दृष्टि से है कि समाज के प्रत्येक सदस्य का व्यवहार एक दूसरे के साथ ऐसा होता है जो उनकी उन्नति में सहायक बनता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सद्भावना एक दूसरे के विचारों के स्पष्टीकरण में सहायक होती है। बिना सद्भावना के एक व्यक्ति दूसरे के दृष्टिकोण को समझ नहीं पाता। इसलिए हरबार्ट सद्भावना सम्बन्धी रुचि को आवश्यक मानता है।

(५) सामाजिक रुचि का दूसरा अंग 'सामाजिकता' है। 'सामाजिकता' व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि वह अपने को समाज का समझे। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति सदा समाज का ध्यान रखे और ऐसे कार्य करे जो समाज के हित में हों। इस प्रकार व्यक्ति समाज के हित में सदा अपना हित मानता है।

(६) धार्मिकता सामाजिक जीवन सम्बन्धी 'रुचि' का ऐसा अंग है जो व्यक्ति को ऐसी 'तटस्थता' प्रदान करती है जिसके

कारण वह नैतिकता का पालन कर सकता है। धार्मिक भावनाओं के कारण व्यक्ति लोभ, मद, काम जैसे दुर्गुणों से बच जाता है। इस प्रकार 'असीम सत्ता' और 'स्वर्गीय शक्ति' का ध्यान व्यक्ति को सामाजिक जीवन में सफल बनाती है। फलतः मनुष्य के जीवन के उस उद्देश्य की पूर्ति होती है जो उसे नैतिक और चरित्रवान् बनाना चाहता है।

'बहुमुखी रुचि' के ६ रूपों की व्याख्या से स्पष्ट है कि इन सब का जीवन में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि किसी एक रुचि का अभाव हो जाय तो मनुष्य का सम्यक् और नैतिक विकास नहीं हो पाता। इसीलिए हरबार्ट चाहता है कि अनुशिक्षा (Instruction) द्वारा ऐसे विचार या प्रत्यय (Idea) उत्पन्न किए जायँ जो 'बहुमुखी रुचि' के विकास में सहायक हों और इसी बहुमुखी रुचि से मनुष्य में नैतिकता उत्पन्न हो। ऊपर के इस विवेचन से स्पष्ट है कि हरबार्ट के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य 'बहुमुखी रुचि' के आधार पर व्यक्ति में नैतिकता उत्पन्न करता है।

शिक्षा के विषय—हरबार्ट ने 'बहुमुखी रुचि' की दृष्टि से शिक्षा के विषय भी निर्धारित किये। उसके अनुसार शिक्षा के विषय ऐसे हों जो रुचि के ६ रूपों की आवश्यक वृद्धि में सहायक हों। दूसरे शब्दों में 'अनुभव' अथवा ज्ञान जिसके द्वारा मनुष्य 'प्रकृति' को जानता है, और 'सामाजिक जीवन' अथवा समाज जिनके आधार पर रुचियों का विकास होता है, शिक्षा के विषय में प्रमुख होने चाहिएँ। इसी दृष्टि से हरबार्ट शिक्षा के विषय के दो भाग करता है :—(१) ऐतिहासिक और, (२) वैज्ञानिक। शिक्षा के ऐतिहासिक पाठ्यक्रम में भाषा, साहित्य और इतिहास होंगे और वैज्ञानिक पाठ्यक्रम में गणित, प्राकृतिक विज्ञान और उद्योग-धंधे सम्बन्धी विषय होंगे। हरबार्ट ने शिक्षा

के विषय का यह वर्गीकरण प्रकृति और समाज तथा इन्हीं के आधार पर विकसित होने वाली रुचियों की दृष्टि से किया। इस सम्बन्ध में उसने स्पष्ट किया कि शिक्षा के पाठ्यक्रम का यह वर्गीकरण 'बहुमुखी रुचि' के सम्यक् विकास में बाधक न हो। अतः अध्यापक को चाहिए कि वह पाठ्यक्रम इस प्रकार संगठित करे जिससे बालक की 'बहुमुखी रुचि' बनी रहे। दूसरे शब्दों में, शिक्षा के विभिन्न विषयों में एक ऐसा सम्बन्ध हो जिससे वे एक शरीर के विभिन्न अंग से प्रतीत हों अथवा वे एक ही वस्तु के विभिन्न भाग हों। इस प्रकार हरबार्ट शिक्षा के विभिन्न विषयों के सहसम्बन्ध और समन्वय (Correlation) की ओर संकेत करता है। हरबार्ट के शिष्यों ने 'समन्वय' को और भी स्पष्ट किया। लेकिन शिक्षा के विषयों में एक स्वाभाविक सम्बन्ध होता है, इसकी कल्पना सर्व-प्रथम हरबार्ट ने की। इस प्रकार 'शिक्षा में समन्वय' लाने का श्रेय हरबार्ट को है।

शिक्षा में समन्वय—शिक्षा में समन्वय का जो आधुनिक स्वरूप है, उसका विकास पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों के आपसी सम्बन्ध से हुआ। हरबार्ट ने विभिन्न विषयों को इस प्रकार मिलाने (Unification) पर बल दिया जो व्यक्ति के चतुर्दिक विकास में सहायक हो। उसका विचार था कि बिना इसके व्यक्ति का एकांगी विकास होता है। इस प्रकार हरबार्ट ने समन्वय की दिशा में विभिन्न विषयों के मिलान (Unification) के विचार को अपनाया। इसके पश्चात् उसके शिष्यों ने इस विचार को 'केंद्रीकरण' (Concentration) का रूप दिया। केंद्रीकरण के अनुसार शिक्षा के विभिन्न विषयों के अध्ययन का एक केंद्र होना चाहिए। इतिहास अथवा साहित्य ऐसे विषय हैं जो अन्य विषयों के अध्ययन का केंद्र बन सकते

हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विभिन्न विषयों के अध्ययन का एक केंद्र निर्धारित करने का यह परिणाम हुआ कि धीरे-धीरे विभिन्न विषयों का महत्त्व और भी स्पष्ट हुआ। जहाँ पहले इतिहास अथवा साहित्य को केंद्रिय विषय माना जाता था, वहीं कुछ समय बाद यह अनुभव हुआ कि प्रत्येक विषय का किसी अन्य विषय से कम महत्त्व नहीं है। इसी अनुभव के आधार पर 'समन्वय' का आधुनिक स्वरूप निश्चित हुआ। लेकिन विभिन्न विषयों के केंद्रीकरण (Concentration) और समन्वय के बीच एक और सिद्धांत आता है जो 'सांस्कृतिक युग सिद्धांत' (Cultural Epoch Theory) के नाम से प्रसिद्ध है।

सांस्कृतिक युग-सिद्धांत—हरबार्ट ने इस सिद्धांत की ओर उस समय संकेत किया जब उसने यह कहा कि प्रत्येक जाति का सांस्कृतिक विकास भी मनुष्य के जीवन की भाँति होता है। मनुष्य के शैशव, बाल्यकाल, किशोरावस्था तथा युवाकाल के समान एक जाति का भी शैशवकाल, बाल्यकाल, किशोरावस्था और युवा-काल होता है। अतः अध्यापक को चाहिए कि वह आरम्भ में उस साहित्य को पढ़ावे जिसका सृजन जाति के आरम्भ में हुआ था। इस प्रकार हरबार्ट ने 'सांस्कृतिक युग-सिद्धांत' की ओर संकेतमात्र किया था। लेकिन इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण उसके शिष्यों द्वारा हुआ। उसके एक शिष्य ज़िलर ने शिक्षा में सांस्कृतिक युग-सिद्धांत प्रतिपादित किया। इस सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए ज़िलर ने कहा कि बालक का बौद्धिक विकास उसी प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार मानवजाति का बौद्धिक अथवा सांस्कृतिक विकास हुआ है। आरम्भ में आदिम मानव का जो जीवन था, उसकी कहानी पाँच-छः वर्ष के बालकों के लिए बहुत मनोरंजक होती है। इस प्रकार आदिम मानव शिक्षा द्वारा जैसे-जैसे सभ्यता के पथ पर अग्रसर हुआ, उसी प्रकार बालक स्वयं भी सभ्य बनता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक

और समाज से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से विचार बनते हैं और फिर विचार से कार्य होता है। इस प्रकार ज्ञान (Knowledge) विचार (Thought) और कार्य (Action) का एक चक्र है जिनका सम्मिलित प्रभाव चरित्र पर पड़ता है। इसी चक्र को हरबार्ट का विचार-चक्र * कहते हैं। इस चक्र की रूप-रेखा कुछ इस प्रकार की होती है † :—
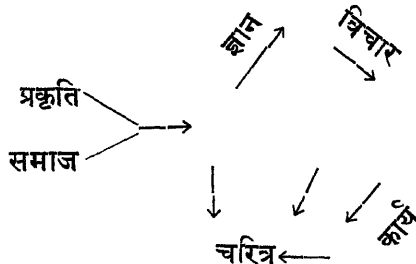
हरबार्ट का यह विचार-चक्र भी शिक्षा के विषयों के निर्वाचन पर प्रभाव डालता है।

शिक्षा की पद्धति—हरबार्ट ने शिक्षण-पद्धति में तीन वस्तुओं को प्रमुख स्थान दिया। वे हैं—रुचि, पुर्वानुवर्त्ती प्रत्यक्ष, शिक्षण के पाँच सोपान और समन्वय। इन्हीं तथ्यों के आधार पर हरबार्ट की शिक्षण-पद्धति विकसित होती है। अतः इन पर विचार करना आवश्यक है।

१. शिक्षण-पद्धति की श्रेष्ठता बालक की रुचि उत्पन्न करने में है। यदि पाठ में बालक की रुचि होती है तो वह नवीन विचारों को ग्रहण कर लेता है। दूसरे शब्दों में, बिना रुचि के बालक के लिए किसी नवीन विषय को समझना कठिन होता है।

* Herbart's "Cycle of Thought."

† History of Education by Dr. S. Duggan Page 248.

इसलिए शिक्षा की पद्धति ऐसी हो जिसमें बालक की रुचि की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाय। शिक्षण-पद्धति में रुचि का क्या स्थान है यह नवीन शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन से स्पष्ट है। अतः जब हरबार्ट ने शिक्षण-पद्धति में रुचि की आवश्यकता पर बल दिया तब उसने शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

२. हरबार्ट की शिक्षण-पद्धति में दूसरी आवश्यक वस्तु पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष (Apperception) है। हरबार्ट का यह निश्चित विचार था कि बालक कोई नयी बात तब तक नहीं समझ सकता जब तक कि उसका सम्बन्ध उसके पूर्वज्ञान से न हो। बालक अपने पुराने अनुभवों के आधार पर नवीन अनुभव प्राप्त करता है। इसलिए शिक्षण-पद्धति ऐसी हो जिसमें नवीन पाठ का आधार बालक को पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष अथवा पूर्वज्ञान माना जाय। नवीन शिक्षा-मनोविज्ञान ने हरबार्ट के इस तथ्य को स्वीकार किया है और यह उपयोगिता भली भाँति सिद्ध हो चुकी है।

हरबार्ट के पाँच सोपान—१. पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष के आधार पर बालक शिक्षा ग्रहण करता है। लेकिन पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष का शिक्षण-पद्धति में किस प्रकार प्रयोग किया जाय? इस समस्या का भी हल हरबार्ट ने किया। उसने विचारपूर्वक उन क्रमों को निर्धारित किया जिनके आधार पर बालक शिक्षा ग्रहण करता है। इसी विचार-विमर्श के आधार पर हरबार्ट ने शिक्षण के चार सोपान बनाए जो इस प्रकार थे:—स्पष्टता, (Clearness) सहयोग, (Association) व्यवस्था, (System) और व्यावहारिक प्रयोग (Method)। 'स्पष्टता' से हरबार्ट का तात्पर्य पाठ्यवस्तु को बालक के सम्मुख स्पष्ट रूप

से प्रस्तुत करने से है। स्पष्टता के आधार पर ही बालक नवीन पाठ की ओर ध्यान देता है। 'सहयोग' के सम्बन्ध में हरबार्ट का विचार यह था कि नवीन पाठ का सम्बन्ध बालक के पूर्वज्ञान से किया जाय। 'व्यवस्था' की आवश्यकता हरबार्ट ने इसलिए अनुभव की कि बिना इसके बालक अर्जित ज्ञान को अपनी स्मृति में भली भाँति नहीं रख सकता। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक बात की स्मृति युक्ति-संगति के आधार पर होती है। मस्तिष्क में वे ही बातें जमी रहती हैं जिनका तार्किक आधार होता है। शिक्षण का चौथा सोपान 'व्यावहारिक प्रयोग' है। इसकी सहायता से बालक जो ज्ञान प्राप्त करता है, उसका व्यावहारिक प्रयोग होता है।

हरबार्ट के इन चार सोपानों के आधार पर जो शिक्षण-कार्य हुआ, उससे यह निष्कर्ष निकला कि प्रथम सोपान 'स्पष्टता' के दो भाग कर दिये जायँ। पहला भाग तैयारी (Preparation) और दूसरा भाग विषय-प्रवेश अथवा मूलपाठ (Presentation) का हो। इस प्रकार कुछ काल के बाद हरबार्ट के शिष्यों ने शिक्षण के पाँच सोपान निर्धारित किये जो इस प्रकार हैं :—

१. तैयारी या प्रस्तावना २. निरीक्षण या मूलपाठ ३. तुलना तथा निष्कर्ष या स्पष्टीकरण ४. नियमीकरण ५. प्रयोग या अभ्यास।*

प्रस्तावना—शिक्षण में प्रस्तावना की यह उपयोगिता है कि इसके द्वारा प्रस्तुत पाठ का स्वरूप बालक को स्पष्ट होता है और उसे ज्ञात होता है कि प्रस्तुत पाठ के सम्बन्ध में क्या करना है। शिक्षक पाठ की प्रस्तावना करते समय पूर्वज्ञान के आधार पर ऐसे प्रश्न करता है जिनके उत्तर से प्रस्तुत पाठ की समस्या

---

* 1. Preparation 2. Presentation 3. Comparison & Abstraction 4. Generalisation 5. Application.

उपस्थित होती है। इस प्रकार प्रथम सोपान में अध्यापक मूलपाठ की समस्या बालकों की रुचि और पूर्वज्ञान के आधार पर उपस्थित करता है।

निरीक्षण या मूलपाठ—शिक्षण के दूसरे सोपान में विषय प्रवेश और प्रस्तुत पाठ का निरीक्षण होता है। दूसरे शब्दों में, शिक्षक बालकों के सम्मुख मूलपाठ प्रस्तुत करता है और ऐसा करते समय मूलपाठ को आवश्यकतानुसार कुछ भागों में विभाजित कर देता है। इस प्रकार बालक मूलपाठ भली भाँति समझ लेता है।

तुलना-निष्कर्ष या स्पष्टीकरण—तीसरे सोपान में मूलपाठ स्पष्ट करने के लिए ऐसे उदाहरण, प्रयोग तथा अन्य पाठ्य-सामग्री उपस्थित की जाती है जो बालकों को प्रस्तुत पाठ स्पष्ट करते हैं। बालक विभिन्न उदाहरणों की सहायता से तुलना करता है और समानता-असमानता को समझता है। इसके बाद वह निष्कर्ष निकालता है। इस प्रकार शिक्षण में हरबार्ट का तीसरा सोपान मूलपाठ को तुलना आदि की सहायता से स्पष्ट करता है और इसीके आधार पर बालक स्वयं निष्कर्ष पर पहुँचता है।

नियमीकरण—हरबार्ट का चौथा सोपान नियमीकरण है। शिक्षण में इस सोपान की सहायता से बालक मूलपाठ के निष्कर्ष से एक नियम निकालता है। बालक निष्कर्ष के आधार पर नियमीकरण तभी कर पाता है जब उसे मूलपाठ का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाता है। अतः यह सोपान एक प्रकार से पाठ की सफलता का सूचक है।

प्रयोग या अभ्यास—शिक्षण के पाँचवें सोपान

'अभ्यास' में बालक मौखिक ज्ञान व्यावहारिक रूप से परखता है। अभ्यास के आधार पर अर्जित ज्ञान स्थायित्व प्राप्त करता है।

इस प्रकार हरबार्ट के पाँच सोपान शिक्षण-पद्धति की पूर्णता में सहायक हुए। इसके अतिरिक्त वह समन्वय को भी शिक्षण-पद्धति में स्थान देता है। 'समन्वय' पर हम पहले विचार कर चुके हैं। इसलिए उसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है। लेकिन शिक्षण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि किसी विषय की शिक्षा इस प्रकार न दी जाय कि उसका एकांगी प्रभाव पड़े। शिक्षा को एकांगी प्रभाव से बचाने के लिए शिक्षण-पद्धति में समन्वय को स्थान देना आवश्यक है। समन्वय की सहायता से बालक की 'बहुमुखी रुचि' की आवश्यकता पूरी हो सकती है और उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है।

शिक्षा का संगठन—शिक्षा के संगठन की दृष्टि से हरबार्ट के 'अनुशासन' सम्बन्धी विचार महत्त्वपूर्ण हैं। हरबार्ट शिक्षा के नैतिक उद्देश्य की दृष्टि से यह आवश्यक समझता है कि जब तक बालकों का नैतिक विकास न हो जाय, तब तक वे शिक्षक की इच्छानुसार कार्य करें। दूसरे शब्दों में, हरबार्ट बालकों को ऐसी स्वतंत्रता नहीं देना चाहता जो उनके चरित्र-निर्माण तथा नैतिक विकास में बाधक हो। इसलिए शिक्षालय में ऐसा अनुशासन होना चाहिए जो बालकों के नैतिक विकास में सहायक हो। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि बालकों को किसी न किसी कार्य में व्यस्त रखना चाहिए। यदि वे बेकार होंगे तो ऐसे काम करेंगे जो अनुशासन के विरुद्ध होंगे। इसके अतिरिक्त बालकों को शिक्षक उचित समय पर आदेश भी दे। इस प्रकार आज्ञा-पालन से उनके नैतिक विकास में सहायता मिलेगी।

अनुशासन की दृष्टि से हरबार्ट दंड और पुरस्कार के भी पक्ष में

है। यदि कोई विद्यार्थी अनुचित कार्य करता है तो उसे दंड मिलना चाहिए। प्रशंसनीय कार्य करने वाले विद्यार्थी को प्रोत्साहित करने के लिए पुरस्कार देना आवश्यक है। इस प्रकार बालकों पर जो अनुशासन होगा उससे उनका चरित्र बनेगा। इस सम्बन्ध में हरबार्ट ने यह भी स्पष्ट किया कि अनुशासन में इतनी कठोरता न हो कि बालक का विकास रुक जाय। अतः शिक्षालय में ऐसा अनुशासन होना चाहिए जो बालकों में अच्छी आदत उत्पन्न करे। हरबार्ट के अनुसार अनुशासन ऐसी शिक्षा (Training) है जो बालकों के कार्य में बाधा नहीं पहुँचाती वरन् उनमें संयम, और आत्मविश्वास उत्पन्न करती है। अतः अनुशासन की श्रेष्ठता बालकों में सहयोग, सहानुभूति आदि जैसे नैतिक गुण उत्पन्न करने में है।

जहाँ तक शिक्षा-संगठन के अन्य अंगों का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में हरबार्ट के उल्लेखनीय विचार नहीं मिलते।

हरबार्ट का प्रभाव—हरबार्ट का पश्चिमी शिक्षा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने शिक्षा के नैतिक उद्देश्य पर बल देकर व्यक्ति और समाज के सम्यक् विकास में सहायता पहुँचाई। शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास में पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष जैसे मनोवैज्ञानिक विचारों द्वारा भी हरबार्ट ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। शिक्षा के पाठ्यक्रम में सामाजिक विषयों, विशेषकर इतिहास के शिक्षण-विधान पर उसने नवीन प्रकाश डाला। शिक्षण-पद्धति में हरबार्ट के पाँच सोपानों का क्या प्रभाव पड़ा उससे हम भली भाँति परिचित हैं। इस प्रकार हरबार्ट का पश्चिमी शिक्षा पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। डा० डगन के अनुसार हरबार्ट का प्रभाव तीन रूपों में व्यक्त है :—(१) शिक्षालय की अनुशिक्षा (Instruction) द्वारा नैतिक विकास करना तथा मानसिक

शक्तियों से अधिक उस वातावरण पर ध्यान देना जो बाल मनोविकास में सहायक होता है; (२) मानसिक प्रक्रिया के आधार पर शिक्षण-पद्धति की रचना; और (३) योग्य (ट्रेंड) अध्यापकों द्वारा शिक्षा।*

जहाँ तक हरबार्ट की शिक्षा में त्रुटियों का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में डाक्टर ठाम्पसन का विचार है कि उसने बालकों की क्रिया, भावना, मूल प्रवृत्तियों आदि पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया।† डा० ठाम्पसन की इस आलोचना से सभी सहमत नहीं हो सकते। लेकिन यह सच है कि हरबार्ट ने अनुशासन के नाम पर बालक से अधिक शिक्षा को महत्त्व दिया। हरबार्ट के पूर्व शिक्षा के प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक विकास में यह प्रयास किया गया कि शिक्षा का केंद्र बालक हो। लेकिन हरबार्ट ने बालकों को तब तक के लिए अध्यापक के बंधन में डाल दिया, जब तक कि उनका नैतिक विकास नहीं हो जाता।‡

लेकिन इन त्रुटियों के होते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शिक्षा मनोविज्ञान के विकास पर हरबार्ट का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने मनोविज्ञान के उन तथ्यों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया जिनकी ओर से लोग उदासीन थे। इस प्रकार हरबार्ट ने पेस्तालात्सी के कार्य को आगे बढ़ाया। पेस्तालात्सी के विचारों के आधार पर उसने शिक्षा में नवीन सिद्धांतों का समावेश किया। इतना ही नहीं, उसके सिद्धांतों में प्रगति की शक्ति थी क्यों कि उनके अध्ययन से शिक्षा में नवीन विचारों का समावेश हुआ। इस दृष्टि से हरबार्ट के प्रमुख समर्थकों,

---

* History of Education by Dr. S. Duggan Page 250.

† An Outline of the History of Education (Revised) Page 48.

‡ Great Educators of Three Centuries, Page 184.

ज़िलर और रीन, के नाम उल्लेखनीय हैं। ज़िलर* ने सन् १८६५ में एक पुस्तक-'शिक्षा' नैतिकता की शक्ति, † लिखकर हरबार्ट की शिक्षा की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया। इस पुस्तक का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा और इसके फलस्वरूप शिक्षा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए एक संस्था बनी जिसका अध्यक्ष ज़िलर चुना गया। इस संस्था की अनेक शाखाएँ जर्मनी में खुल गईं। इस प्रकार ज़िलर अपने विचारों का प्रसार सरलता पूर्वक कर सका। उसने सर्वप्रथम उल्लेखनीय कार्य 'शिक्षा में समन्वय' के विकास की दृष्टि से किया। हरबार्ट ने शिक्षा में समन्वय सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किये थे, वे माध्यमिक कक्षाओं के लिए अधिक उपयोगी थे। ज़िलर ने उन विचारों में आवश्यक संशोधन कर उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा के अनुकूल बनाया। इस संशोधन और स्पष्टीकरण के फलस्वरूप समन्वय और एकाग्रीकरण (Concentration) के सिद्धांत प्रतिपादित हुए और फिर इन्हीं के आधार पर ज़िलर सांस्कृतिक युग-सिद्धांत भी निश्चित कर सका। समन्वय, और सांस्कृतिक युग-सिद्धांत के स्वरूप से हम परिचित हो चुके हैं। अतः उनकी पुनरावृत्ति अपेक्षित नहीं है।

ज़िलर के शिष्य रीन (Rein) ने जेना विश्वविद्यालय में हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धांतों को और भी व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया। ज़िलर ने जिन सिद्धांतों को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया था, उनकी व्यावहारिक उपयोगिता रीन ने जेना विश्व-विद्यालय में शिक्षाशास्त्र की शिक्षा देते समय सिद्ध किया। प्रायः आठ वर्ष तक निरन्तर प्रयोग कर के रीन ने हरबार्टवादी

* Tiuskon Ziller (I817—1833)

† Basis of the Doctrine of Instruction as a Moral Force

शिक्षा सम्बन्धी सभी संदेहों को निर्मूल किया। इस प्रकार हरबार्टवादी शिक्षा का प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा। जर्मनी और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में विशेष रूप से हरबार्ट के सिद्धांतों को अपनाया गया। जेना विश्व-विद्यालय में इन देशों के शिक्षक आकर 'ट्रेनिंग' लेते थे। इस प्रकार हरबार्ट की शिक्षा का प्रसार संसार के अन्य देशों में हुआ। हरबार्टवादी शिक्षा कितनी उपयोगी है यह आधुनिक शिक्षण-पद्धति के अध्ययन से स्पष्ट है।

—*—

३. मनोवैज्ञानिक विकास : फ्रोयबेल

हरबार्टवादी शिक्षा ने व्यक्ति के नैतिक विकास पर अत्यधिक बल दिया क्योंकि हरबार्ट की दृष्टि में शिक्षा व्यक्ति के नैतिक विकास का सर्वश्रेष्ठ साधन थी। इस प्रकार हरबार्ट-वादी शिक्षा का एक ऐसा दार्शनिक आधार था जिसमें नैतिकता प्रधान थी। दूसरे शब्दों में, हरबार्टवादी शिक्षा में दार्शनिक और नैतिक विचारों तथा सिद्धांतों की प्रधानता थी और इन्हीं के आधार पर शिक्षा का प्रयोग किया गया।

हरबार्टवादी शिक्षा की दूसरी दिशा में फ्रोयबेल की शिक्षा थी। हरबार्ट की भाँति फ्रोयबेल भी पेस्तालात्सी का शिष्य था। लेकिन फ्रोयबेल की विचारधारा हरबार्ट से भिन्न थी। हरबार्ट ने माध्यमिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया और फ्रोयबेल ने प्रारम्भिक शिक्षा को अपना क्षेत्र बनाया। इस प्रकार फ्रोयबेल ने शिक्षा के उस अंग का विकास किया जिसकी अवहेलना हरबार्ट ने की थी। इसके पूर्व कि हम फ्रोयबेल की शिक्षा का अध्ययन करें, उसके जीवन से परिचित हो जाना आवश्यक है।

फ्रोयबेल का जीवन* (१७८२–१८५२)—फ्रोयबेल का जन्म जर्मनी के एक गाँव ओबेरवेसबाख़ † में हुआ था। यह गाँव एक जंगल के समीप था। इसलिए फ्रोयबेल को जन्मकाल से ही प्रकृति का सम्पर्क प्राप्त था। जहाँ तक उसके घर के वातावरण का प्रश्न है, उसमें धर्म की प्रधानता थी क्योंकि

* Friedrich Wilhelm August Froebel † Oberweissbach,

फ्रोयबेल के पिता पादरी थे। फ्रोयबेल की माँ का देहांत उसके शैशव में ही हो गया था। इसलिए उसका बाल्यकाल एक विमाता की देख-रेख में बीता। विमाता फ्रोयबेल की ओर ध्यान नहीं देती थी और पादरी पिता भी अपने कार्य में इतने व्यस्त रहते थे कि वे अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा भी भूल गये। इस प्रकार बालक फ्रोयबेल ने अपना जीवन ऐसे वातावरण में आरम्भ किया जिसमें उदासी और अवहेलना थी। अतः अपने मन को बहलाने के लिए फ्रोयबेल जंगल में चला जाता था। जगंल के वृक्ष, पौदे, फूल और पक्षियों से वह अपना मन बहलाने लगा। फ्रोयबेल जंगल की चिड़ियों का अध्ययन करता। कुछ ही दिनों में उसका मन वन में रमने लगा। उसे यह अनुभव हुआ कि वह भी इस जगंल का उतना ही आवश्यक अंग है जितने कि पेड़-पौदे और पशु-पक्षी। दूसरे शब्दों में, फ्रोयबेल ने प्रकृति और अपने में एक अटूट सम्बन्ध अनुभव किया। इतना ही नहीं, उसने संसार की भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बीच में एक प्रकार की एकता अनुभव की। फ्रोयबेल के इस अनुभव ने उसके जीवन की धारा बदल दी और इसी के आधार पर वह अपने शिक्षा-दर्शन को विकसित कर सका।

विश्वविद्यालय में—जहाँ तक फ्रोयबेल की शिक्षा का प्रश्न है, उसका कोई व्यवस्थित रूप न था। पंद्रह वर्ष की अवस्था में वह वन-विभाग में कार्य करने की शिक्षा लेने लगा। लेकिन फ्रोयबेल को यह शिक्षा भी समुचित रूप से न मिल सकी क्योंकि जिस व्यक्ति के साथ वह कार्य कर रहा था, वह भी इस योग्य न था कि फ्रोयबेल को उचित शिक्षा दे सकता। अतः फ्रोयबेल पड़ोस के एक डाक्टर से वनस्पतिशास्त्र की पुस्तकें माँग कर पढ़ने लगा। इस प्रकार दो वर्ष तक 'वन-विज्ञान' की शिक्षा

होती रही। इसके बाद फ्रोयबेल व्यवस्थित रूप से शिक्षा ग्रहण करने के लिए सन् १७९९ ई० में जेना विश्वविद्यालय का छात्र बन गया। इस विश्वविद्यालय में फ्रोयबेल को ऐसा वातावरण मिला, जिसमें दार्शनिक विचारों की प्रधानता थी। उस समय के आदर्शवादी और स्वच्छंदवादी विचार-धारा का प्रभाव भी फ्रोयबेल पर पड़ा। साथ ही वनस्पतिशास्त्र के अध्ययन और प्रकृति निरीक्षण से फ्रोयबेल की अभिरुचि विज्ञान और व्यावहारिक विषयों की ओर अधिक थी। इस प्रकार दर्शन और विज्ञान सम्बन्धी विचारों से फ्रोयबेल आकर्षित हुआ। मगर फिर भी, प्रकृति-अध्ययन द्वारा उसने जिस एकता को अनुभव किया था, उसके स्पष्टीकरण में विश्वविद्यालय की शिक्षा सहायक न हो सकी। इसलिए कुछ समय के पश्चात् निराश होकर फ्रोयबेल ने विश्वविद्यालय छोड़ दिया। विश्वविद्यालय छोड़ते समय उसको ऋण के कारण विश्वविद्यालय की जेल में नौ सप्ताह तक रहना पड़ा था। इस प्रकार फ्रोयबेल को असफलता और निराशा में विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा।

अध्यापन कार्य—विश्वविद्यालय छोड़कर फ्रोयबेल चार वर्ष तक अपने जीवन-धंधे की खोज में घूमता रहा। वह कभी खेती करता तो कभी और कोई काम। इस प्रकार उसके चार वर्ष बीत गये। लेकिन इन चार वर्षों में भी वह अपने स्वच्छंद तथा रहस्यवादी दर्शन को छोड़ न सका। इसके बाद उसकी भेंट डाक्टर ग्रुनर से हुई। डाक्टर ग्रुनर फ्रैंकफर्ट में पेस्तालात्सी आदर्श स्कूल के प्रधान थे। डाक्टर ग्रुनर ने फ्रोयबेल से अध्यापन कार्य करने के लिए कहा। उस समय (१८०५) फ्रोयबेल शिल्पकारी सीख रहा था। अतः उसने उस काम को छोड़कर शिक्षण-कार्य आरम्भ किया। फ्रोयबेल को अध्यापन कार्य बहुत प्रिय

मालूम हुआ। उसे ऐसा लगा कि जिस कार्य की खोज वह अब तक कर रहा था, वह मिल गया। लेकिन कुछ ही समय बाद उसने अनुभव किया कि एक अध्यापक को शिक्षा के विषय का जितना ज्ञान होना चाहिए, उतना ज्ञान उसमें नहीं है। इसके अतिरिक्त अध्यापन-कार्य की व्यावहारिक शिक्षा की भी आवश्यकता उसने अनुभव की। इन कठिनाइयों को देखकर फ्रोयबेल ने विचार किया कि जब तक इन्हें दूर न किया जायगा, तब तक सफलता मिलना कठिन है। अतः कुछ ही दिनों बाद वह इवरडन जाकर पेस्तालात्सी से मिला। पेस्तालात्सी की शिक्षण-पद्धति देखकर उसने कई बातों को सीखा और फिर वापस आकर डाक्टर ग्रुनर की सहायता से 'शिक्षाशास्त्र' का अध्ययन किया। अध्ययन करते समय फ्रोयबेल अपने प्रयोग भी करता था। उसने नवीन प्रकार की पाठ्य-सामग्री भी बनाई जो छोटे बच्चों की 'खेल द्वारा शिक्षा' में सहायक हो। इस प्रकार तीन वर्ष तक फ्रैंकफर्ट में अध्यापन-कार्य करने के बाद फ्रोयबेल शिक्षाशास्त्र का सम्यक् अध्ययन करने के लिए पेस्तालात्सी के पास इवरडन में चला गया।

पेस्तालात्सी के साथ—इवरडन में फ्रोयबेल दो वर्ष तक रहा। यहाँ उसने पेस्तालात्सी की शिक्षण-पद्धति का विस्तृत अध्ययन किया। इस अध्ययन से उसे बहुत लाभ हुआ। वह शिक्षा के विभिन्न विषयों से भली भाँति परिचित हो गया। उसकी विशेष अभिरुचि प्रकृति सम्बन्धी विषयों में थी। अतः इनका अध्ययन वह व्यावहारिक रूप से कर सका। इसके अतिरिक्त उसे बालकों के शारीरिक और मानसिक विकास के अध्ययन का भी अवसर मिला। उसने छोटे बच्चों की रुचि और कार्य प्रणाली को भी देखा और अनुभव किया कि छोटे

बच्चों पर माता का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिए शिशुओं की उचित शिक्षा बहुत कुछ उनकी माताओं पर निर्भर है। * जहाँ तक पेस्तालात्सी की शिक्षण-पद्धति का प्रश्न था, उस सम्बन्ध में फ्रोयबेल ने अनुभव किया कि उसमें उस 'एकता' का अभाव था जो संसार की विभिन्न वस्तुओं में पाई जाती थी। इस प्रकार इवरडन में दो वर्ष तक अध्ययन करके फ्रोयबेल ने शिक्षा-सिद्धांत और शिक्षा मनोविज्ञान सम्बन्धी नवीन ज्ञान प्राप्त किया और उसके आधार पर नवीन शिक्षा-सिद्धांतों को प्रतिपादित किया। ऐसा करते समय उसने स्वच्छंद और रहस्यवादी विचार धारा से प्रभावित 'एकता' के दर्शन का पूरा उपयोग किया। वास्तव में फ्रोयबेल का 'एकता सिद्धांत' उसकी शिक्षा का आधार है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि फ्रोयबेल ने यह अनुभव किया कि इस सिद्धांत को पूर्ण रूप से प्रतिपादित करने के लिए उच्च शिक्षा आवश्यक है। उसका विचार था कि विज्ञान के पूर्ण अध्ययन से यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु में एकता है। अतः फ्रोयबेल ने पुनः विश्वविद्यालय में अध्ययन आरम्भ किया और धातुओं के कणों की बनावट आदि का पूर्ण निरीक्षण करके 'एकता' के सिद्धांत को और भी दृढ़ बनाया।

पेस्तालात्सी के यहाँ से आने के पश्चात् फ्रोयबेल के जीवन के ६ वर्ष विश्वविद्यालय के अध्ययन, प्रशन सेना के साथ नैपोलियन के विरुद्ध युद्ध, और बर्लिन के धातु संग्रहालय में सहायक अधिकारी (क्यूरेटर) के कार्य में बीत गये। लेकिन ६ वर्षों के भीतर इन कार्यों को करते हुए भी फ्रोयबेल की रुचि शिक्षा अध्ययन में कम न हुई। वह निरन्तर रूसो और पेस्तालात्सी के ग्रंथोंका अध्ययन करता रहा। इस प्रकार वह अपने शिक्षा-

*Great Educators of Three Centuries page 198.

सिद्धांत और शिक्षा-मनोविज्ञान के स्वरूप को अध्यापन और मनन द्वारा निर्मित करता रहता था।

कीलहाउ स्कूल—जब फ्रोयबेल चौंतीस वर्ष का हुआ, तब उसने एक स्कूल ग्रीशीम (Griesheim) नामक स्थान में खोला। इस स्थान में फ्रोयबेल का स्वर्गीय भाई पादरी रह चुका था। अतः यहाँ स्कूल खोलने में उसे सुविधा अवश्य थी। लेकिन अगले वर्ष फ्रोयबेल अपना स्कूल कीलहाउ (Keilhau) गाँव में ले गया क्योंकि यहाँ उसे अधिक सुविधाएँ थी। इस स्कूल का नाम फ्रोयबेल ने 'यूनिवर्सल जर्मन एजूकेशनल इन्स्टीट्यूट' रखा था। आरम्भ में, इस विद्यालय में केवल पाँच विद्यार्थी थे जो वास्तव में फ्रोयबेल के भतीजे थे। इस प्रकार फ्रोयबेल ने अपने पाँच भतीजों को लेकर अपना विद्यालय पेस्तालात्सी के अनुसार चलाया। इसके अतिरिक्त उसने बच्चों के लिए मनोरंजक वातावरण और खेल की ओर भी ध्यान दिया। वह जो कुछ भी सिखाता, उसे बालक खेल के रूप में समझते थे। इस प्रकार फ्रोयबेल ने खेल द्वारा शिक्षा का आरम्भ किया।

लेकिन नौ वर्ष बाद सन् १८२५ में विद्यालयों के एक निरीक्षक (Inspector of schools) के कारण फ्रोयबेल के विद्यालय को आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। निरीक्षक महोदय फ्रोयबेल की सफलता से दुःखी थे। उनमें इतनी 'जलन' पैदा हुई कि वे फ्रोयबेल के विद्यालय में दी जानेवाली 'क्रियात्मक शिक्षा' की सराहना न कर सके। इस प्रकार इस विद्यालय को सरकारी आर्थिक सहायता प्राप्त न हुई। कुछ समय बाद फ्रोयबेल को अर्थाभाव के कारण इस विद्यालय को बंद करना पड़ा। इसके बाद उसने स्वीट्ज़रलैंड के अनेक विद्यालयों में अध्यापन कार्य किया। इसी बीच (१८२६) उसने अपनी प्रसिद्ध स्तक 'मनुष्य

की शिक्षा' (Education of Man) लिखा। इस पुस्तक में प्रथमबार फ्रोयबेल ने अपने विचारों को 'एकता' के सिद्धांत पर शिक्षा के सम्बन्ध में व्यक्त किया। इस पुस्तक का प्रभाव उस समय की शिक्षा पर पड़ा और फ्रोयबेल से अधिक लोग परिचित हुए। इस प्रकार फ्रोयबेल अध्यापन कार्य करता रहा और बच्चों की शिक्षा के लिए खेल, खिलौने और गीत बनाता रहा।

ब्लैकेनवर्ग स्कूल—सन् १८३७ में फ्रोयबेल ने अपना दूसरा स्कूल ब्लैकेनवर्ग (Blankenburg) में खोला। इस शिक्षालय में फ्रोयबेल ने छोटे बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध किया। इसके पूर्व फ्रोयबेल ने छोटे बच्चों की शिक्षा की ओर उतना ध्यान नहीं दिया था जितना कि आवश्यक था। इस बार उसने अपना पूरा ध्यान छोटे बच्चों की शिक्षा की ओर दिया। इस विद्यालय को फ्रोयबेल ने बच्चों का 'बाग़' बनाया। उन्हें ऐसे खिलौने और दूसरे सामान दिए जाते थे जो उन्हें मनोरंजन द्वारा शिक्षा प्रदान करते थे। इस प्रकार तीन वर्ष के बाद फ्रोयबेल ने यह अनुभव किया कि उसका विद्यालय बच्चों के लिए सुन्दर बाग की भाँति है। फिर क्यों न इस शिक्षालय को बच्चों का बाग़ या किंडर-गार्टन कहा जाय। जर्मन भाषा में 'किंडरगार्टन' का अर्थ होता है, 'बच्चों का बाग़'। इस प्रकार सर्वप्रथम १८४० में छोटे बच्चों के विद्यालय के लिए 'किंडरगार्टन' शब्द का प्रयोग किया।

किंडरगार्टन पर रोक — फ्रोयबेल 'किंडरगार्टन' की शिक्षा का विकास अध्यापन-कार्य तथा पुस्तिकाओं के प्रकाशन द्वारा करता रहा। इसके फलस्वरूप और भी 'किंडरगार्टन' स्कूल खुले। लेकिन सन् १८५१ में फ्रोयबेल पर फिर विपत्ति आई। उस समय फ्रोयबेल नाम का एक क्रांतिकारी नेता भी था। सरकार ने समझा

कि किंडरगार्टन स्कूलों में इसी 'क्रांतिकारी' की शिक्षा दी जाती है। अतः तमाम किंडरगार्टन स्कूलों पर रोक लगा दी गई। इससे फ्रोयबेल को बड़ा दुःख हुआ और उसका देहांत १८५२ में हो गया। सरकार द्वारा किंडरगार्टन स्कूलों पर जो रोक लगाई गई थी, वह सन् १८६० में हटाई गई। इस प्रकार फ्रोयबेल का किंडर गार्टन अपने प्रारम्भिक काल में पूर्ण रूप से प्रसारित न हो सका।

विचारधारा—फ्रोयबेल के जीवन और कार्यों से परिचित हो जाने के पश्चात् हमें उसकी विचारधारा का अध्ययन करना चाहिए। इस विचारधारा में फ्रोयबेल के वे सिद्धांत निहित हैं, जिनके आधार पर किंडरगार्टन का विकास हुआ था।

स्वर्गीय एकता—फ्रोयबेल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मनुष्य की शिक्षा' के आरम्भ में ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति की एकता पर सुन्दर प्रकाश डाला है और यह सिद्ध किया है कि संसार की समस्त वस्तुओं की भिन्नता में एक 'एकता' है। फ्रोयबेल लिखता है:—"एक ऐसा शाश्वत नियम (Eternal law) समस्त वस्तुओं में निहित है जो कि उनका संचालन करता है। उस व्यक्ति के लिए जिसका हृदय इस विश्वास से पूरित है और यह अच्छी तरह मानता है कि इसके विपरीत कुछ हो ही नहीं सकता, तथा अपनी स्थिर मानसिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के बाह्य स्वरूप (Outer) में आंतरिक स्वरूप (Inner) देखता है, और बाह्य के विकास में अन्तर (Inner) की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव करता है, यह नियम स्पष्ट रूप से प्रकृति (बाह्य), आत्मा (Spirit) (अन्तर) और इन दोनों के योग जीवन (life) में प्रकट होता है।" फ्रोयबेल के इस लम्बे वाक्य में, सर्वप्रथम स्थिरता और शांति तथा विश्वास पर बल दिया गया है। बिना इनके कोई व्यक्ति बाह्य में अन्तर और बाह्य के विकास में अन्तर की अनिवार्यत

अनुभव नहीं कर सकता । बाह्य और अन्तर के इस 'एकता' को समझ लेने के बाद मनुष्य के लिए यह सरल हो जाता है कि वह प्रकृति, आत्मा (ईश्वर) और जीवन में भी एकता देखे। प्रकृति उसी एकता को व्यक्ति करती है जो आत्मा में है। प्रकृति और आत्मा के योग से जीवन बनता है। जीवन का बाह्य रूप प्रकृति प्रदान करती है और उसका आंतरिक स्वरूप आत्मा से मिलता है। इसके पश्चात् फ्रोयबेल ने लिखा है—"यह सर्व व्यापी नियम अनिवार्य रूप से सर्व व्यापी, शक्तिपूर्ण, जीवित, चेतन और इसी कारण शाश्वत एकता (Eternal Unity) पर आधारित है। यह तथ्य और स्वयं 'एकता' पुनः विश्वास अथवा अंतरदृष्टि (Insight) के द्वारा स्पष्ट और विस्तृत रूप से पहिचानी जाती है , इसलिए एक व्यक्ति का शांत निरीक्षक मन (mind) तथा विचारशील और स्पष्ट बुद्धि (intellect) कभी इस 'एकता' को पहिचानने में न तो असफल हुए हैं और न कभी होंगे। यही एकता ईश्वर है। सभी वस्तुएं स्वर्गीय एकता, ईश्वर से आई हैं और इनका जन्म ईश्वर–एकता–केवल ईश्वर से होता है। समस्त वस्तुओं का उद्गम ईश्वर है। सभी वस्तुओं में स्वर्गीय एकता, (ईश्वर) निवास करती है और उनका संचालन करती है।"

फ्रोयबेल ने प्रत्येक वस्तु में ईश्वर की सत्ता देखकर अपनी धार्मिक भावना का प्रसार किया है। इस विचार-धारा के फलस्वरूप फ्रोयबेल की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु पवित्र है क्योंकि उसमें ईश्वर (स्वर्गीय एकता) निवास करता है। इस प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु ईश्वर को प्रकट करती है, फ्रोयबेल इस सत्य का अनुभव शिक्षा द्वारा कराना चाहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्व प्रथम उसकी विचार-धारा में 'एकता' की प्रधानता है।

'विकास' का सिद्धांत— फ्रोयबेल की विचार-धारा में 'विकास' की भावना भी प्रधान है। उसने अपनी रचना 'विकास द्वारा शिक्षा' * में 'एकता के आधार पर विकास की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। इस सम्बन्ध में जो उसके विचार हैं, उनका सार मोनरो † के अनुसार इस प्रकार है :—

१—इसके द्वारा हम बालक के स्वभाव को समझ सकते हैं।

२—इससे बालक जीवन के सभी सम्बन्धों के केंद्र के रूप में स्वीकार किया जाता है।

३—इसकी सहायता से हमें शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य का ज्ञान होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम उचित साधन और पद्धति प्राप्त करते हैं।

४—इस नियम पर आधारित शिक्षा व्यावहारिक होती है क्योंकि वह प्रयोग और पूर्ति की माँग करती है।

५—ऐसी शिक्षा इस व्यावहारिक युग के लिए उपयुक्त है क्योंकि इसकी माँग यह है कि जीवन के सर्वोच्च आदर्शों की प्राप्ति अनुभव से हो।

६—ऐसी शिक्षा बालक की प्रत्येक अवस्था और विकास की दशा में उपयुक्त होती है।

७—एकता की यह शिक्षा उस युग के लिए विशेष रूप से उपयोगी है जिसमें पृथकत्व (Isolation) विरोध और व्यक्तिवाद की प्रधानता हो।

८—यह शिक्षा जीवन में सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक और नैतिक विचारों को स्पष्ट और वास्तविक बनाएगी।

९—यह शिक्षा मशीन-युग की बुराइयों से व्यक्ति को बचाएगी

---

* Education † A Text-Book in the History of Education Pages 648-649.

क्योंकि इसके व्यक्तित्व की रक्षा होती है और चरित्र का निर्माण होता है।

इस प्रकार फ्रोयबेल ने 'विकास द्वारा शिक्षा' में अपने विचार व्यक्त किये है। इसके फलस्वरूप फ्रोयबेल यह मानता है कि विकासशील शिक्षा का ध्यान दो नियमों की ओर विशेष रूप से होना चाहिए। एक नियम तो 'विपरीत' का है। विपरीत के नियम (Law of opposites) के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु के विपरीत भी एक वस्तु होती है। उदाहरण के लिए नर और नारी, जड़ और चेतन, दिन और रात, और भी ऐसी ही कितनी वस्तुओं के नाम दिये जा सकते हैं। इसके आधार पर फ्रोयबेल यह भी कहता है कि बाह्य (प्रकृति) और अंतर (आत्मा) भी एक दूसरे के विपरीत हैं। इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि बालक के विकास में उसकी आंतरिक शक्ति का प्रभाव बाहरी वस्तुओं (वातावरण) पर पड़ता है और साथ ही वातावरण (बाह्य या प्रकृति) का प्रभाव उसकी आंतरिक शक्ति पर पड़ता है। इस प्रकार अंतर और बाह्य के घात-प्रतिघात से बालक का विकास होता है। दूसरे शब्दों में विपरीत तत्वों में भी एक सम्बन्ध है। इस सम्बध को फ्रोयबेल 'सम्बन्ध का नियम' (Law of Connection) कहता है। अतः यह स्पष्ट है कि विपरीत के नियम और सम्बन्धके नियम के सहयोग से एक तीसरी वस्तु 'विकास' का उदय होता है। फ्रोयबेल ने 'विकास-सिद्धांत' के आधार पर बालक की शिक्षा-योजना बनाई। इस सम्बन्ध में उसका यह कथन उल्लेखनीय है—"बालक का प्रथम सहजकार्य, शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात्, यह होता है कि वह (क) अपने वातावरण का निरीक्षण करता है और बाह्य जगत् की ओर स्वाभाविक गति से आकर्षित होता है, और फिर (ख) खेलता

है क्योंकि इसके द्वारा आंतरिक शक्ति और जीवन की अभिव्यक्ति होती है।" *

फ्रोयबेल की विचारधारा अपने काल से भी प्रभावित थी। उस समय जर्मनी में आदर्शवादी विचारधारा का प्राधान्य था। इसके फलस्वरूप मानव और प्रकृति में ईश्वर की अभिव्यक्ति और अटूट सम्बन्ध की ओर ध्यान देना स्वाभाविक था। दूसरी विचार-धारा स्वच्छंदवादी (Romantic) थी। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यूरोपीय साहित्य और कला जीवन के यथार्थ की ओर ध्यान न देकर रहस्यमयी और प्रतीकात्मक भावनाओं और विचारों का समर्थक थे। इस स्वच्छंदवादी विचारधारा के कारण भी प्रत्येक वस्तु में 'एकता' पाने का प्रयास किया जाता था। इसके अतिरिक्त यूरोप में वैज्ञानिक विचारधारा भी विकसित हो रही थी। विज्ञान के अध्ययन के फलस्वरूप वस्तु-वस्तु में एकता देखी जाती थी। इस प्रकार फ्रोयबेल की विचारधारा में एकता और विकास के सिद्धांत तत्कालीन आदर्शवादी, धार्मिक भावना, स्वच्छंदवाद, और वैज्ञानिक सिद्धांतों से प्रभावित थे।†

शिक्षा का उद्देश्य—फ्रोयबेल की शिक्षा का उद्देश्य उसकी विचार-धारा से प्रभावित है। अतः फ्रोयबेल शिक्षा का उद्देश्य 'स्वर्गीय-एकता' अनुभव कराना मानता है। दूसरे शब्दों में, फ्रोयबेल शिक्षा के उस उद्देश्य के पक्ष में है जो बालक को 'शाश्वत-नियम' का ज्ञान प्रदान करे जिससे वह इस स्वर्गीय नियम के अनुसार जीवन व्यतीत करे। फ्रोयबेल ने शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

* Pedagoics of Kindergenten, Jarvis' translation, p. 29 quoted by W. Boyd.

† Great Educators of Three Centuries Page 207

"शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इस योग्य बनाना है कि वह स्वतंत्रतापूर्वक, उस 'स्वर्गीय-सिद्धांत' का सचेत पालन करे जो उसमें निहित है और उसी सिद्धांत की स्वतंत्र अभिव्यक्ति अपने जीवन में भी करे। इसे व्यक्ति में वह क्षमता भी उत्पन्न करनी चाहिए जिससे वह जान सके कि यही सिद्धांत प्रकृति में व्याप्त है। इसके द्वारा यह भी ज्ञात होना चाहिए कि यही सिद्धांत मनुष्य और प्रकृति को अपने नियंत्रण में रखता है और इसी के आधार पर इनका ईश्वर से 'जन्म' होता है और उससे प्रभावित होते हैं। यह (शिक्षा) व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन कर उसे स्वयं का स्पष्ट बोध कराये, प्रकृति के सम्पर्क में शांतिपूर्वक रहने के योग्य बनाए और ईश्वर से 'एकता' स्थापित करने में सहायता प्रदान करे। समस्त वस्तुओं के आंतरिक सार का ज्ञान मनुष्य की आंतरिक शक्ति बाह्य स्वरूप के आधार पर प्राप्त करती है, और सब शिक्षा, अनुशिक्षा और शिक्षण (Training) का आरम्भ मनुष्य और समस्त वस्तुओं के बाह्य स्वरूप से होता है और फिर इसका प्रभाव अंतर (Inner) पर पड़ता है जिसके फलस्वरूप 'अंतर' का वास्तविक ज्ञान होता है।"*

फ्रोयबेल ने इस प्रकार सर्वप्रथम शिक्षा के उद्देश्य में मनुष्य का विकास इस प्रकार करना स्वीकार किया कि वह 'एकता' के ज्ञान के द्वारा अपने वातावरण और स्वयं को समझ सके। वातावरण और स्वयं के ज्ञान के आधार पर उसे ईश्वर का बोध होगा। ईश्वर की सत्ता किन रूपों में व्यक्त है है इसका ज्ञान 'एकता' अनुभव करने पर हो सकता है। इसके अतिरिक्त बाह्य पर आधारित शिक्षा अंतर (आत्मा) तक ले जाकर उसका वास्तविक ज्ञान कराती है। इस प्रकार फ्रायबेल ने

* Ibid page 209

शिक्षा के उद्देश्य में 'स्वर्गीय एकता' (Divine Unity) को प्रधानता दी है। अतः हम संक्षेप में कह सकते हैं कि फ्रोयबेल की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को 'स्वर्गीय-एकता' का ज्ञान कराना है।

जहाँ तक 'विकास-सिद्धांत' का शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रश्न है, फ्रोयबेल रूसो के अनुसार बालक की समस्त शक्तियों का विकास करना चाहता था। लेकिन धार्मिक दृष्टिकोण के कारण वह रूसो की शिक्षा के उद्देश्यों का समर्थक नहीं था। इसीलिए फ्रोयबेल की शिक्षा में बालक का विकास रूसो से भिन्न है। फ्रोयबेल के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का विकास ऐसी स्वतंत्रता से करना चाहिए जो उसे उसमें निहित 'ईश्वरीय शक्ति' का बोध कराये। * इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि फ्रोयबेल के कीलहाउ शिक्षालय में आत्माभियक्ति (Self-Expression) और स्वतंत्र विकास (Free development) पर बहुत बल दिया जाता था। इस प्रकार अब तक के विवेचन के आधार पर फ्रोयबेल की शिक्षा के उद्देश्य इन शब्दों में व्यक्त किए जा सकते हैं :—

शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास इस प्रकार कराना हो कि उसे स्वर्गीय-एकता अथवा 'ईश्वरीय शक्ति' का बोध हो जाय।

शिक्षा के विषय—शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी फ्रोयबेल ने 'एकता' स्थापित करना चाहा। संसार की समस्त वस्तुओं में

---

* Education must provide for the development of the free personality of every child, it must guide but not restrict, it must not interfere with the divinity in each child.—A Student's Text-Book in the History of Education Page 259.

व्याप्त 'एकता' का शिक्षा के विषयों में होना स्वाभाविक था। अतः जब शिक्षा के विषय का प्रश्न आता है, तब फ्रोयबेल अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करता है :—

"मानवीय शिक्षा में धर्म, प्रकृति और पारस्परिक-व्यावहारिक भाषा का ज्ञान और विमर्श (Appreciation) होना चाहिए। बिना इन तीनों के घनिष्ठ सम्बन्ध (एकता) के ज्ञान और विमर्श के शिक्षालय और हम स्वयं, विभिन्न प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न करने वाली अथाह भ्रांतियों में खो जायँगे।"

फ्रोयबेल के इस कथन से धर्म, प्रकृति अथवा प्राकृतिक विज्ञान और भाषा का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। साथ ही, इनके अध्ययन में जो 'एकता' होनी चाहिए उसकी ओर भी फ्रोयबेल ने संकेत किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि फ्रोयबेल शिक्षा के पाठ्यक्रम जो 'एकता' चाहता है, वह हरबार्ट के सह-सम्बन्ध और समन्वय से भिन्न है। फ्रोयबेल की दृष्टि में 'एकता' ईश्वर का ज्ञान कराती है और हरबार्ट इस प्रकार की कोई धारणा 'सह-सम्बन्ध' के विषय में नहीं रखता।

फ्रोयबेल पर प्रकृति का प्रभाव प्रारम्भिक जीवन में पड़ा था। इसलिए वह शिक्षा के विषय में प्रकृति को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। उसका विचार है कि प्रकृति के अध्ययन से बालक प्राकृतिक कला-कौशल से इस प्रकार परिचित होता है कि उसमें उसे ईश्वर की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। इस प्रकार फ्रोयबेल प्राकृतिक अध्ययन को शिक्षा में इसलिए स्थान देता है कि इसके द्वारा ईश्वरीय-अभिव्यक्ति का ज्ञान होता है। भाषा की शिक्षा के सम्बन्ध में फ्रोयबेल का विचार है बालकों को लेखन और पठन द्वारा उस वास्तविकता का बोध कराया जाय जिसका सम्बन्ध धर्म से है। दूसरे शब्दों में, भाषा के अध्ययन में धार्मिक

विचार हों। इस प्रकार भाषा और धर्म का घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। भाषा की शिक्षा में लेखन का महत्त्व फ्रोयबेल के अनुसार, इसलिए है कि इसके द्वारा बालक वास्तविक विचारों को व्यक्त कर पाता है। इस प्रकार बालक जो कुछ लिखता है, उसका सम्बन्ध वास्तविकता (धर्म) से होता है। पठन में भी धार्मिक बातों को स्थान दिया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था के फलस्वरूप धर्म और भाषा का अभिन्न सम्बन्ध फ्रोयबेल ने स्थापित किया।

प्रकृति-अध्ययन, धर्म और भाषा के अतिरिक्त फ्रोयबेल की शिक्षा के विषय में गणित, कला और बागवानी का भी महत्त्व-पूर्ण स्थान है। गणित के अध्ययन से बालक उन स्थायी नियमों का ज्ञान प्राप्त करता है जिनके आधार पर प्रकृति का कार्य होता है। समय और स्थान, आदि में निहित नियम का बोध गणित के द्वारा ही सरल है। इसलिए गणित की शिक्षा बालक को इन नियमों से धीरे-धीरे, समयानुसार परिचित करा देती है। कला की शिक्षा के सम्बन्ध में फ्रोयबेल का विचार था कि इसके द्वारा मनुष्य के अंतर (आत्मा) की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है। कला-चित्रण में प्राकृतिक वस्तुओं आदि के बाह्य स्वरूप का जो अंकन होता है उसमें केवल बाह्य सौन्दर्य ही व्यक्त नहीं होता, वरन् आंतरिक सौंदर्य (आत्मा) की भी अभिव्यक्ति होती है जो ईश्वरीय सत्ता का बोध कराती है। बागवानी प्रकृति अध्ययन का अंग है और इसकी शिक्षा के द्वारा बालक प्रकृति का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर पाता है।

फ्रोयबेल की शिक्षा के विषयों के वर्णन में ग्रेव्ज महोदय ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है। इस उदाहरण में ज्ञान (Knowledge) एक वृक्ष के समान है और उससे निकलने वाली शाखाएँ

ज्ञान के विभिन्न विषयों का एक (ज्ञान) से सम्बन्ध है। यह 'सम्बन्ध' (Connection) शिक्षा के विषयों का आधार है। यदि इसका ध्यान पाठ्यक्रम में नहीं रखा जाता तो शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति हो ही नहीं सकती। अतः पाठ्यक्रम में 'सम्बन्ध' का ध्यान भी रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त फ्रोयबेल ने 'किंडरगार्टन' में भी शिक्षा के पाठ्यक्रम पर प्रकाश डाला है। इस पर हम 'किंडरगार्टन' का अध्ययन करते समय विचार करेंगे।

शिक्षा की पद्धति—फ्रोयबेल की शिक्षण-पद्धति का उसके 'एकता' (Unity) और विकास (Development) से गहरा सम्बन्ध है। 'एकता' और 'विकास' की दृष्टि से उसने आत्म-क्रिया (Self-activity) को शिक्षण-पद्धति का आधार माना।

आत्म-क्रिया—आत्म-क्रिया से फ्रोयबेल का तात्पर्य उस कार्य से है जो आत्मा की अभिव्यक्ति में सहायक हो। दूसरे शब्दों में, आत्म-क्रिया व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती है। बालक जो कोई कार्य करता है, उसमें कार्य विशेष की पूर्ति ही नहीं है, वरन् उसके द्वारा बालक अपने व्यक्तित्व को भी प्रकट करता है। इस प्रकार आत्म-क्रिया में बालक का शरीर और मन पूर्ण रूप से लग जाते हैं और उसके बाद जो कार्य होता है वह बालक के व्यक्तित्व के विकास की कड़ी बन जाता है। यदि एकता की दृष्टि से 'आत्म-क्रिया' पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि फ्रोयबेल प्रत्येक वस्तु में ईश्वरीय सत्ता का अस्तित्व मानता है। अतः आत्म-क्रिया द्वारा न केवल व्यक्ति की 'आत्मा' की अभिव्यक्ति होती है, वरन् उस कार्य (वस्तु) की आत्मा अथवा ईश्वरीय सत्ता भी व्यक्त होती है। इस प्रकार आत्म-क्रिया

ईश्वरीय सत्ता की अभिव्यक्ति द्वारा कर्त्ता और क्रिया में 'एकता' स्थापित करती है। इस तरह आत्म-क्रिया से व्यक्ति का बहुत बड़ा लाभ होता है। जब वह कोई कार्य करता है, तब उससे केवल दूसरों का ही लाभ नहीं होता, वरन् उसका भी लाभ होता है। इतना ही नहीं, आत्म-क्रिया की पद्धति व्यक्ति को इतना क्रियाशील बना देती है कि वह अपने वातावरण को प्रभावित करने लगता है। वह इतना प्रभावशाली हो जाता है कि उसके सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं पर उसके व्यक्तित्व की छाप पड़ जाती है। इस प्रकार आत्म-क्रिया इतनी गतिशील होती है कि उसमें कार्य और कर्त्ता का भेद मिट जाता है।

'आत्म-क्रिया' के इस 'क्रांतिकारी' प्रभाव को ही फ्रोयबेल अपनी शिक्षण-पद्धति में स्थान देता है और कहता है कि "आत्म-क्रिया द्वारा बालक जीवन में प्रवेश करने योग्य बने और चारों ओर के जीवन से उसका जो सम्बन्ध है उस तथ्य का ज्ञान दूसरों के कार्यों से करे।'*

आत्म-क्रिया द्वारा जब बालक अपने वातावरण से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करता है तब उसका विकास होता है। बालक जो कार्य करता है, उसमें उसकी रुचि (interest) और मूल-प्रवृत्तियाँ प्रधान कार्य करती हैं। दूसरे शब्दों में मूल प्रवृत्तियों की क्रिया-शीलता के आधार पर बालक की शिक्षा होती है। इस प्रकार 'क्रिया द्वारा शिक्षा' (Learning by Doing) पर फ्रोयबेल ने बल दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'क्रिया

*····self-activity should be used to enable the child to enter into the life about him and to find the connection between himself and the activities of others—Great Educators of Three Centuries. Page 214.

द्वारा शिक्षा' के आधार पर फ्रोयबेल हरबार्ट से आगे बढ़ गया। हरबार्ट का प्रत्यक्ष ज्ञान (Sense-Perception) बालक को उतना क्रियाशील नहीं बनाता जितना कि मूल प्रवृत्तियों की क्रिया द्वारा शिक्षा। दूसरे शब्दों में, हरबार्ट की शिक्षा-पद्धति में विचार और क्रिया में ऐसा सम्बन्ध नहीं था जैसा कि फ्रोयबेल की शिक्षण-पद्धति में। फ्रोयबेल ने आत्म-क्रिया द्वारा विचार और क्रिया में अटूट सम्बन्ध स्थापित किया। इस प्रकार उसने अपने समय की शिक्षण-पद्धति के उस बड़े दोष को दूर करने का प्रयास किया जिसके द्वारा विचार और क्रिया के सम्बन्ध की अवहेलना होती थी।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि फ्रोयबेल की शिक्षण-पद्धति आत्म-क्रिया द्वारा बालक का 'विकास' इस दृष्टि से करना चाहती है कि उसे 'एकता' का ज्ञान हो। फ्रोयबेल की शिक्षा का उद्देश्य संसार की 'एकता' (ईश्वरीय सत्ता) का बोध कराना है और इसी उद्देश्य की पूर्ति में उसकी शिक्षण-पद्धति (आत्म-क्रिया) सहायक होती है।

शिक्षा का संगठन—फ्रोयबेल की शिक्षा का संगठन गृह और शिक्षालय के ऐसे सम्बन्ध पर स्थापित है जो बालक की शिक्षा को व्यावहारिक और सामाजिक बनाता है। फ्रोयबेल का विचार था कि बालकों को ऐसे कार्यों द्वारा शिक्षा दी जाय जिनका सम्बन्ध उनके घरेलू जीवन से भी हो। इस दृष्टि से यह आवश्यक था कि गृह और शिक्षालय में ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया जाय जो बालक की शिक्षा में सहायक हो। बालक के प्रारम्भिक जीवन पर 'घर' का प्रभाव पड़ता है। अतः शिक्षालय में ऐसी व्यवस्था की जाय जो बालक का घरेलू वातावरण अपनाते हुए उसके बौद्धिक विकास में सहायक हो।

सामाजिक जीवन—गृह और शिक्षालय के साथ फ्रोयबेल सामाजिक जीवन पर भी बल देता है। उसका विचार है कि शिक्षालय एक छोटे समाज के रूप में हो और विद्यार्थी अपने को उस समाज का सदस्य समझें। शिक्षालय के 'सामाजिक जीवन' में खेल बहुत सहायक होते हैं। बच्चे जब आपस में मिलकर खेलते हैं, तब उनमें परस्पर-सहयोग की भावना का विकास होता है। इस प्रकार घर, स्कूल और समाज का ऐसा संगठन हो जो बालक की आत्म-क्रिया के लिए अधिक से अधिक अवसर प्रदान करे। इससे शिक्षालय में ऐसा वातावरण उत्पन्न होगा जो बालक की शिक्षा का महत्त्वपूर्ण साधन (Means) बन जायगा।

शिक्षालय में सामाजिक जीवन बालक के विकास में एक दूसरी दृष्टि से भी सहायक होता है। फ्रोयबेल का विश्वास था कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह मानवीय गुणों अथवा मानवता का विकास दूसरे व्यक्तियों के सहयोग से ही कर सकता है। इसके अतिरिक्त उसकी यह भी धारणा थी कि बालक की मूल प्रवृत्तियाँ सामूहिक कार्य और जीवन को पसंद करती हैं। यह बच्चों के खेल से सिद्ध है। यदि यह बात न होती, तो बच्चे खेलना पसंद न करते। इस प्रकार शिक्षा के संगठन में सामाजिक जीवन का समावेश कर के बालक में मानवता का विकास किया जा सकता है और उसे समाज का योग्य सदस्य बनाया जा सकता है। साथ ही खेल आदि की व्यवस्था से बालकों में सहयोग की भावना विकसित होती है और उनका चरित्र-निर्माण भी होता है। इसलिए शिक्षा का संगठन ऐसा होना चाहिए जो आरंभ ही से बालक को सामाजिक सहयोग

के अवसर प्रदान करें जिससे उनका शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास हो।*

किंडर-गार्टन— फ्रोयबेल का किंडरगार्टन उसके शिक्षा-सिद्धांत, विषय, पद्धति और संगठन का समन्वित रूप है। उसने किंडरगार्टन प्रणाली में जिन सिद्धांतों का समावेश किया है, उन पर हम विस्तृत रूप से विचार कर चुके हैं। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से हम देखते हैं कि इस प्रणाली में एकता, विकास, आत्मक्रिया, और सामाजिक जीवन के आधार पर फ्रोयबेल ने तीन बातों पर बल दिया है—(१) मातृखेल और शिशु-गीत, (२) उपहार (Gift) (३) व्यापार (Occupations)।

फ्रोयबेल ने अपने स्कूल को किंडरगार्टन या बच्चों का, बाग़' कहा। किंडरगार्टन एक ऐसा बाग़ है जिसमें बच्चे पौधे के समान विकसित होते है। इस प्रकार किंडरगार्टन के स्वरूप की व्याख्या के पश्चात् फ्रोयबेल ने उसमें अपनी शिक्षा के प्रमुख सिद्धांतों का समावेश किया। किंडरगार्टन की शिक्षा का उद्देश्य एकता और विकास * है। उसकी पद्धति 'आत्म-क्रिया' पर आधारित है तथा उसके संगठन में सामाजिक जीवन की प्रधानता है। दूसरे शब्दों में, फ्रोयबेल की शिक्षा के सिद्धांत, विषय, पद्धति और संगठन का व्यावहारिक रूप किंडरगार्टन प्रस्तुत करता है।

किंडरगार्टन में बालकों की आत्माभिव्यक्ति (Self-Expression) को पर्याप्त स्थान देने के लिए फ्रोयबेल ने (क) संगीत, (ख) गति और भाव-भंगी, और (ग) रचना † का समावेश किया। यद्यपि संगीत, गति और रचना साधारण दृष्टि

---

* A Students' Text-Book in the History of Education Page 260.

* Unity and Development. † Construction.

से अलग-अलग हैं। लेकिन इनका सह-सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि व्यावहारिक रूप में ये एक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए बालक जब कोई कहानी सुनता है, तब वह उसके गीत गाता है। गाते समय वह गीत का भाव भी प्रकट करता है। तत्पश्चात् वह कहानी चित्रण करता है और वर्णित वस्तुओं की रचना करता है। अतः इस उदाहरण से स्पष्ट है कि किस प्रकार संगीत, गति और रचना में एकता स्थापित हो सकती है। व्यावहारिकता की दृष्टि से फ्रोयबेल ने किंडरगार्टन में (क) मातृखेल और शिशुगीत, (Mother Play & Nursery Songs) (ख) उपहार (Gifts) (ग) व्यापार (Occupations) को स्थान दिया।

मातृखेल और शिशुगीत—फ्रोयबेल ने मातृखेल और शिशुगीत को किंडर-गार्टन में इसलिए स्थान दिया कि इनके द्वारा शिशु के अंगों और ज्ञानेन्द्रियों का विकास सरलता से हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि 'मातृखेल और शिशुगीत' में फ्रोयबेल की शिक्षा के श्रेष्ठ तत्व निहित हैं।

'मातृखेल और शिशुगीत' फ्रोयबेल की एक छोटी पुस्तक है। इसमें खेल-गीत और चित्र संग्रहीत हैं। गीतों, खेलों और चित्रों का संग्रह एक ऐसे क्रम से किया गया है जो बालक और माता में 'एकता' स्थापित करते हैं और बालक के विकास में सहायक होते हैं। फ्रोयबेल का विचार था कि माँ के लिए संग्रहीत गीतों को जब एक नारी गायेगी, तब उसमें मातृत्व की भावना का उदय होगा और वह बालक की शिक्षा का ध्यान उसके जन्म से ही रखेगी। इसके अतिरिक्त इन गीतों का शिशु पर प्रभाव इस रूप में भी पड़ेगा कि वह अपनी माता का स्नेह अधिक पा सकेगा, उसके शरीर और इंद्रियों का विकास होगा,

तथा वह अपने वातावरण से अधिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा।

'मातृखेल और शिशुगीत' संग्रह में खेल-गीतों के अतिरिक्त सात गीत माता के लिए थे। इन्हीं गीतों को गाकर माता मातृत्व भावना का विकास करती थी और बालक की शिक्षा की ओर ध्यान देती थी। इन खेल-गीतों को फ्रोयबेल ने इस प्रकार बनाया कि प्रथम भाग में माँ के लिए एक आदर्श कथन (Motto) था, दूसरे भाग में संगीतयुक्त एक पद्य होता था, और तीसरे भाग में एक ऐसा चित्र होता था जो पद्य का भाव व्यक्त करता था। बालक के शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास के लिए फ्रोयबेल ने इन खेल-गीतों में कुछ अभ्यास-प्रश्नों का भी समावेश किया। इन अभ्यास-प्रश्नों के द्वारा बालक के शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास में सहायता मिलती थी। खेल-गीतों की दूसरी विशेषता यह थी कि इनमें ऐसा क्रम था जो बालक की आयु और योग्यता का पूर्ण ध्यान रखते थे। दूसरे शब्दों में इन खेल-गीतों द्वारा किसी ऐसे कार्य की पूर्ति में बालक अग्रसर नहीं होता था, जो उसकी शारीरिक और मानसिक योग्यता के बाहर हो। अतः इन गीतों में शैशव, और बढ़ई, लोहार के कार्य से सन्बन्धित खेल हैं।

'मातृखेल और शिशुगीत' पुस्तक के अंत में फ्रोयबेल ने व्याख्यात्मक विचारों का समावेश किया है। यहाँ उसने लिखा है कि विषय (Content) की दृष्टि से इन खेल-गीतों के चार समूह बना सकते हैं। प्रथम समूह में ऐसे खेल-गीत हैं जो बालक के प्रारम्भिक जीवन के सहज कार्य और मनोविज्ञान के अनुकूल हैं। दूसरे समूह के खेल-गीतों में संख्या, रूप, और आकार सम्बन्धी बातों का समावेश है। तीसरे समूह के खेल-

गीत सौर-जगत का रोचक वर्णन प्रस्तुत करते हैं और चौथे समूह के गीत नैतिक विकास में सहायक होते हैं। इस प्रकार किंडर-गार्टन में 'मातृखेल और शिशु गीत' द्वारा बालक का शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास किया जाता है।

उपहार—किंडरगार्टन में फ्रोयबेल ने उपहारों द्वारा आत्म-क्रिया की संभावना निहित की। इन उपहारों का वर्गीकरण और क्रम बालक के विकासानुसार है। इन उपहारों की दूसरी विशेषता यह है कि इनके द्वारा जब बालक नवीन कार्य की ओर अग्रसर होता है,तब वह पहले किये गये कार्य को भी करता है। इस प्रकार नवीन कार्य में पुनरावृत्ति को भी स्थान दिया जाता है।

किंडर-गार्टन में फ्रोयबेल ने जिन उपहारों को स्थान दिया वे बेलनाकार (Cylinder) गोला (Sphere) और घन (Cube) के विभिन्न रूप हैं। इन उपहारों में से (१) पहला उपहार एक डब्बे का होता है जिसमें विभिन्न रंगों के ऊन के ६ गेंद होते हैं। इन गेदों के रंग लाल, हरा, नीला, पीला, नारंगी और बैंगनी होते हैं। इन गेदों से जब शिशु खेलता है तब उसका शारीरिक विकास और उसे रंग रूप, स्पर्श, गति और दिशा का ज्ञान भी होता है। (२) दूसरे उपहार में लकड़ी का एक गोला, घन और बेलनाकार होता है। इस उपहार में पहले उपहार की पुनरावृत्ति गोले को स्थान देकर की गई है। बालक गोले के आकार और गति से परिचित हो चुका है। गोले से घन की तुलना कर वह आकार और गति में अंतर पाता है। फिर उसे बेलनाकार मिलता है जिसमें गोले और घन के गुणों का समावेश है। बेलनाकार गोले की तरह लुढ़क सकता है। लेकिन यदि उसे खड़ा कर दिया जाय तो वह घन की भाँति गतिहीन हो जाता है। इसी प्रकार उसमें गोले और घन के आकार का सम्मिश्रण

भी हो जाता है। (३) तीसरा उपहार एक ऐसे बड़े घन का होता है जो आठ बराबर भाग के छोटे घनों से मिलकर बनता है। इस प्रकार बालक को एक के विभिन्न भागों का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त इन छोटे घनों की सहायता से वह मेज, कुर्सी, चौकी आदि बनाता-बिगाड़ता है। इसी के साथ बालक इनकी सहायता से जोड़-बाकी, गुणा-भाग का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करता हैं। (४) चौथे उपहार में बालक को एक घन मिलता है जो आठ पाटी या 'प्रिज्म' से बनता है। इनकी सहायता से बालक विभिन्न वस्तुओं को 'बनाता' है। इस प्रकार वह नवीनता की ओर अग्रसर होता है। (५) पाँचवें उपहार में एक इतना बड़ा घन होता है जो २७ छोटे घनों से मिलकर बनता है। इसी में तीन छोटे घन ऐसे होते हैं जिन्हें आधे-आधे भागों में बाँटा जा सकता है और तीन ऐसे होते हैं जिनके चौथाई भाग किए जा सकते हैं। इन घनों की सहायता से बालक विभिन्न वस्तुओं को बनाने का प्रयास करता है और उसे विभिन्न आकारों तथा संख्याओं का ज्ञान भी सरलतापूर्वक हो जाता है। (६) छठाँ उपहार एक ऐसे बड़े घन का होता है जिसमें १८ बड़े और ९ छोटे विषम चतुर्भुज होते है। इनसे भी तरह-तरह की आकृतियों का ज्ञान होता है। चौथे, पाँचवें और छठे उपहारों की सहायता से बालक रेखागणित, बीजगणित तथा कलात्मक रचना का सरलापूर्वक ज्ञान प्राप्त करता है। इन ६ उपहारों के अतिरिक्त फ्रोयबेल ने उपहार संख्या सात, आठ और नौ की भी व्यवस्था की थी। इन उपहारों में लकड़ी की छोटी पट्टियाँ आदि दिए जाते थे जिनकी सहायता से बालक को सतह, क्षेत्र और डिजाइन आदि के ज्ञान में सहायता मिलती थी।

व्यापार (आकूपेशन)—बालकों को जो उपहार मिलते हैं,

उनके आधार पर वे व्यापार अथवा कार्य की ओर अग्रसर होते हैं। 'व्यापार' में ही बालक विभिन्न आकारों के उपहारों को नये-नये ढंग से रखता है। कभी वह कोई वस्तु बनाता है तो कभी कोई। इस प्रकार 'उपहार' (Gift) और व्यापार (Occupation) में अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपहार के कारण बालक व्यापार की ओर अग्रसर होता है और बिना व्यापार के 'उपहारों' की उपयोगिता कम हो जाती है। किंडर-गार्टन में व्यापार के महत्त्व को बतलाते हुए फ्रोयबेल ने स्वयं लिखा है—इनका (व्यापारों का) उद्देश्य है बालकों को ऐसे कार्यों में लगाना जो उनके मनोविकास के अनुकूल हैं, जो उनके शारीरिक विकास में सहायक होते हैं और जो उनकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उनका परिचय प्रकृति और उनके अन्य साथियों से कराते हैं; इससे उनकी भावनाओं और हृदय का विकास उचित दिशा में होता है; जीवन के सभी क्षेत्रों का मौलिक ज्ञान प्राप्त होता है तथा उनमें 'एकता' उत्पन्न होती है।

फ्रोयबेल के इस कथन से किंडर-गार्टन मे व्यापारों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। इसी दृष्टि से किंडर-गार्टन में अनेक व्यापारों को स्थान दिया गया। मिट्टी, बालू, लकड़ी और कागज जैसे सामानों से बालक अनेक प्रकार की वस्तुएं बनाते थे। उन्हें 'व्यापार' के अंतर्गत क्या बनाना होगा, इसकी एक लम्बी सूची भी बनाई गई। यहाँ यह स्मरणीय है कि बालकों को 'उपहार' के पूर्व 'व्यापार' में न लगाया जाय क्योंकि उपहार के आधार पर उनमें विचार उत्पन्न होते हैं इन्हीं विचारों के आधार पर 'व्यापार' होता है। इस प्रकार जब बालक को घन के आकार वाले उपहार मिलते हैं, तब वह उनके आधार पर मिट्टी की वस्तुएँ बनाता है। इसी प्रकार अन्य उपहारों की सहायता से

उसे रेखागणित सम्बंधी बातों का ज्ञान होता है और वह कागज़ों को मोड़कर विभिन्न प्रकार की ज्योमैट्रिक डिजाइन बनाता है। 'व्यापार' में बालक अन्य प्रकार के कार्य भी करता है जैसे कागज में छेद करना, कागज की पट्टियों की चटाई बुनना, चित्र बनाना, सीना-परोना, आदि। इस तरह हम देखते हैं कि किंडर-गार्टन में व्यापार बालकों के लिए अनेक प्रकार के ऐसे कार्यों की व्यवस्था करते हैं जो उनके जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और साथ ही जिनका सामाजिक महत्त्व भी है। शिक्षालय-समाज के अंतर्गत होने वाले सभी व्यापार उसके भावी सामाजिक जीवन के विकास में सहायक होते हैं।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, किंडर-गार्टन में फ्रोयबेल के सभी शिक्षा-सिद्धांत निहित हैं। 'एकता' और 'विकास' की दृष्टि से उसने संगीत, गति और रचना का समावेश किया। इसके अतिरिक्त फ्रोयबेल ने बच्चों के लिए ऐसा वातावरण उपस्थित किया जो उन्हें प्रकृति और समाज के निकट ला सका। बाग के फूलों की पहिचान, पौधों को लगाना, कुत्ता और बिल्ली पालना ऐसे कार्य हैं जो बालक के मनोविकास में सहायक होते हैं। ग्रेव्ज़ ने लिखा है कि किंडर-गार्टन के व्यापार बालकों में प्रेम, कौतूहल, आत्म-नियंत्रण, त्याग, निरीक्षण और बुद्धि के विकास में सहायक होते हैं। इस प्रकार किंडर-गार्टन के व्यापारों की सहायता से फ्रोयबेल ने बच्चों में ऐसा प्रकृति प्रेम उत्पन्न किया जो उनमें 'एकता' की विचार-धारा के विकास में सहायक होता था।

किंडरगार्टन में अनुशासन का स्वरूप भी अपूर्व था। फ्रोयबेल का विश्वास था कि बालक को अनुशासन प्रिय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्यान अच्छी बातों की ओर लगाया

जाय। जब बालक का ध्यान अच्छी बातों की ओर होगा, तब वह बुराई से अपने आप बच जायगा। इस प्रकार फ्रोयबेल ने अनुशासन में कभी दंड की आवश्यकता अनुभव नहीं की। * दंड के स्थान पर सहानुभूति और बालक की आत्मक्रिया, आत्म नियंत्रण आदि को फ्रोयबेल ने अनुशासन के लिए अधिक उपयुक्त समझा।

किंडर-गार्टन की एक विशेषता यह भी है कि इसके द्वारा छोटे बच्चों की शिक्षा हो जाती है। वास्तव में फ्रोयबेल ने अपना सम्पूर्ण ध्यान किंडरगार्टन की ओर लगा दिया था। इसलिए वह ग्यारह वर्ष से ऊपर के बालकों की शिक्षा के स्वरूप को निर्धारित न कर सका। मगर इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रोयबेल ने अपने सभी सिद्धांतों का सुंदर समावेश किंडर-गार्टन में किया।

किंडरगार्टन की आलोचना—कुछ विद्वानों के अनुसार किंडर-गार्टन में अनेक त्रुटियाँ भी हैं। सर्वप्रथम इसमें बालक के लिए उतनी स्वतन्त्रता नहीं है जितनी कि स्वयं फ्रोयबेल चाहता है। 'व्यापारों' के रूप में बालकों पर अत्यधिक बोझ लद जाता है। इसके अतिरिक्त बालकों को उपहारों के आधार पर ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जो उनके मनोविकास के प्रतिकूल होते हैं। इस सम्बन्ध में डाक्टर जेम्स वार्ड का कथन उल्लेखनीय है—"किंडर गार्टन शिक्षा प्रणाली की प्रशंसनीय सफलता उस व्यक्ति पर निर्भर है जो इसे भलि-भाँति जानता है, लेकिन इसके मशीनवत् और निर्जीव हो जाने की भी संभावना है। इसमें बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है, जिसकी कि प्रारम्भिक वर्षों में बड़ी आवश्यकता होती है।" पार्कर महोदय

* Great Educators of Three Centuries Page 222,

ने तो किंडर-गार्टन की बड़ी प्रशंसा की और कहा—"यह उन्नीसवीं सदी का सबसे महत्त्वपूर्ण शैक्षिक सुधार है।"

किंडरगार्टन की जितनी आलोचना हुई है, उसमें कुछ न कुछ सत्य अवश्य है। लेकिन यदि देश और काल की आवश्यकतानुसार किंडर-गार्टन के खेल-गीतों, उपहारों और व्यापारों में संशोधन किया जाय तो इसकी अनेक त्रुटियाँ दूर हो सकती हैं। फ्रोयबेल प्रधान रूप से आध्यात्मिक विचारधारा का व्यक्ति था। वह प्रत्येक वस्तु में 'एकता' देखता था। अतः उसके इस दृष्टि-कोण के फलस्वरूप उसकी शिक्षा में सर्वत्र स्वाभाविकता और बाल-मनोविज्ञान का निर्वाह न हो सका। उसका 'विकास' का सिद्धांत भी स्पष्ट नहीं है। इसलिए सामान्य बुद्धि का व्यक्ति उसके गूढ़ विचारों को समझ नहीं पाता। इन्हीं सब कारणों से फ्रोयबेल और उसके किंडरगार्टन की कुछ सही और कुछ ग़लत भी आलोचनायें हुई हैं।

फ्रोयबेल का प्रभाव—फ्रोयबेल का पश्चिमी और आधुनिक विश्व शिक्षा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सर्वप्रथम प्रभाव तो बाल-शिक्षा के महत्त्व की स्वीकृति के रूप में पड़ा। फ्रोयबेल ने किंडर-गार्टन द्वारा बाल-शिक्षा की एक नूतन प्रणाली का प्रादुर्भाव किया। किंडर-गार्टन अनेक देशों में अपनाया गया और देश-काल के अनुसार 'उपहारों' में कुछ परिवर्तन भी किए गए। फ्रोयबेल ने किंडर-गार्टन में जो 'उपहार' रखे थे वे प्रतीकात्मक थे। उनका स्वरूप 'एकता' और विकास का प्रतीक था। लेकिन फ्रोयबेल के बाद इन उपहारों को 'यथार्थ' के निकट लाने का प्रयास किया गया।

फ्रोयबेल की शिक्षा का दूसरा प्रभाव 'खेल द्वारा शिक्षा' के रूप में दिखाई देता है। फ्रोयबेल के मनोवैज्ञानिक विचारों के

फलस्वरूप शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान इस तथ्य की ओर गया कि 'मानव-पशु सीखना नहीं, वरन् कार्य करना पसन्द करता है।' वास्तव में मनुष्य जो कुछ भी सीखता है, करके सीखता है। और उसकी दृष्टि में वही कार्य अच्छा होता है जो उसे खेल * सा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त नवीन मनोविज्ञान का एक यह भी विचार है कि मनुष्य में संवेदन (feeling) और कार्य (action) की इच्छा स्वाभाविक रूप में होती है तथा उसकी बुद्धि (intellect) संवेदन और कार्य का सम्मिलित परिणाम है।* नवीन मनोविज्ञान के इन विचारों से फ्रोयबेल का और भी प्रचार हुआ और लोगों ने उसके द्वारा प्रतिपादित 'शिक्षा में खेल' के महत्त्व को समझा। फ्रोयबेल के अनुसार खेल केवल शारीरिक विकास में ही सहायक नहीं होते, वरन् उनसे मानसिक और नैतिक विकास भी होता है। इस प्रकार किंडरगार्टन जिसमें खेल-गीत आदि की व्यवस्था की गई थी; उसका प्रचार इस सिद्धांत के कारण भी हुआ और विद्वानों ने खेल को माध्यमिक और उच्च शिक्षा में भी स्थान दिया। इस प्रकार आधुनिक काल में 'खेल द्वारा शिक्षा' का जो महत्त्व है, उसका बहुत कुछ श्रेय फ्रोयबेल को है।

फ्रोयबेल के प्रभाव स्वरूप रचनात्मक कार्य को भी शिक्षा में स्थान दिया जाने लगा। फ्रोयबेल चाहता था कि शिक्षालय-समाज में बालक ऐसे कार्य करे जो उसकी आत्माभिव्यक्ति में सहायक हों। अतः उसने खेल में बढ़ई और लोहार के काम को भी रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा में 'रचना' को बालक के विकास का एक अच्छा साधन समझा गया। आधुनिक शिक्षा में पुस्तक कला, कताई, बुनाई, मिट्टी का काम, आदि का केवल

* S, Duggan : A Students' Text-Book in the History of Education. 3rd edition Page 263,

आर्थिक महत्त्व नहीं है, वरन् इनसे बालक की आत्माभिव्यक्ति में सहायता भी मिलती है। इस प्रकार फ्रोयबेल का प्रभाव शिक्षा में रचनात्मक कार्य के महत्त्व की वृद्धि के रूप में हुआ।

फ्रोयबेल का किंडरगार्टन संसार के अनेक देशों में प्रचलित हुआ। उसके आध्यात्मिक और नैतिक विचारों से विभिन्न देशों के उन लोगों पर प्रभाव पड़ा जिनकी रुझान अध्यात्म की ओर थी। फलतः इन लोगों ने अपने-अपने देशों में किंडरगार्टन की स्थापना की। जहाँ तक सरकारी मान्यता का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में अनेक देशों की सरकारें उदासीन थीं। इसके अतिरिक्त जर्मनी में स्वयं किंडर-गार्टन की अवहेलना की गई।* लेकिन आज किंडर-गार्टन संसार के प्रायः सभी देशों में प्रचलित है, क्योंकि आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान ने 'शिक्षा में खेल' और 'कार्य-द्वारा शिक्षा' जैसे तथ्यों का महत्त्व भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त किंडर-गार्टन का वातावरण बालकों को घर और समाज दोनों का सुख प्रदान करता है। इन्हीं सब कारणों से आज किंडरगार्टन लोकप्रिय है।

---*---

* F, P' Graves ; Great Educators of Three Centuries (Macmillan) 1912, Page 230.

पेस्तालात्सी (१७४६–१८२७)

हरबार्ट (१७७६–१८४१)

फ्रोयबेल (१७८२–१८५२)

पेस्तालात्सी, हरबार्ट और फ्रोयबेल

रूसो का प्रभाव—शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास के लिए पेस्तालात्सी, हरबार्ट और फ्रोयबेल ने अतुलनीय कार्य किया। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से इन तीन शिक्षा-शास्त्रियों के कार्यों का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि सर्व प्रथम इन सब पर रूसो की प्रकृतिवादी शिक्षा का प्रभाव पड़ा था। रूसो ने बालक को शिक्षा का केंद्र बनाया और उसके प्राकृतिक विकास पर बल दिया। इसका पेस्तालात्सी पर प्रभाव पड़ा और उसने बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया। इस अध्ययन के फल-स्वरूप पेस्तालात्सी ने निरीक्षण (Observation) द्वारा बालक के विकास पर बल दिया। इसका प्रभाव हरबार्ट और फ्रोयबेल पर पड़ा। बालक के नैतिक विकास पर हरबार्ट ने अधिक ध्यान दिया और फ्रोयबेल ने भी उसके आध्यात्मिक विकास का प्रयास किया। इस प्रकार इन तीन शिक्षाशास्त्रियों ने रूसो से प्रभावित होकर बालक के मनोवैज्ञानिक विकास पर बल दिया।

शिक्षा का उद्देश्य—शिक्षा के उद्देश्य की दृष्टि से यदि इन तीनों विद्वानों को तुलना करें तो ज्ञात होगा कि पेस्तालात्सी शिक्षा का उद्देश्य "मनुष्य की समस्त शक्तियों का प्राकृतिक, प्रगतिशील और विरोधहीन विकास" मानता था। हरबार्ट की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को नैतिक और धार्मिक बनाना था। इस प्रकार उसने पेस्तालात्सी की शिक्षा के उद्देश्य में विस्तार किया और नैतिक उद्देश्य को प्रधानता दी। जहाँ पेस्तालात्सी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का पूर्ण विकास मानता था वहाँ हरबार्ट ने 'पूर्ण'

विकास की व्याख्या की और कहा कि मनुष्य का 'पूर्ण' विकास नैतिकता में है। बिना नैतिकता का व्यक्ति का पूर्ण विकास संभव नहीं है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य नैतिक विकास होना चाहिए।

फ्रोयबेल की शिक्षा का उद्देश्य पेस्तालात्सी और हरबार्ट की शिक्षा के उद्देश्यों को लेते हुए और भी आगे था। फ्रोयबेल शिक्षा का उद्देश्य 'स्वर्गीय एकता' (Divine Unity) का बोध कराना मानता था। उसके अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बालक को संसार की समस्त वस्तुओं में एक सत्ता का दर्शन कराये और वह अनुभव करे कि संसार में जो कुछ भी है उसका 'विकास' उसी असीम सत्ता की इच्छानुसार होता है। इस प्रकार पेस्तालात्सी ने शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण विकास, हरबार्ट ने नैतिक विकास और फ्रोयबेल ने आध्यात्मिक विकास माना। इन विद्वानों में विकास की दृष्टि से समानता है; लेकिन उस विकास का स्वरूप तीनों की दृष्टि से भिन्न है।

शिक्षा के विषय—शिक्षा के विषय के सम्बन्ध में पेस्तालात्सी का विचार था कि इनके द्वारा बालक के व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिले। प्रकृतिवादी प्रभाव के कारण इन तीनों शिक्षकों ने शिक्षा के पाठ्यक्रम में प्रकृति-अध्ययन (Nature-study) को प्रधान स्थान दिया। प्रकृति-अध्ययन से बालक की निरीक्षण-शक्ति का विकास होता है। इस दृष्टि से पेस्तालात्सी ने प्रकृति-अध्ययन को चुना। प्रकृति-अध्ययन उन नियमों का ज्ञान कराता है जिन पर नैतिकता निर्भर है। संयम और व्यवस्था का सुंदर उदाहरण प्रकृति प्रस्तुत करती है। इसलिए प्रकृति-अध्ययन द्वारा हरबार्ट ने बालक का नैतिक विकास करना चाहा। फ्रोयबेल प्रकृति को 'स्वर्गीय एकता' और विकास का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मानता था। पेड़-पौदों, पशु-पक्षियों के

अध्ययन में बालक इस 'एकता' को अनुभव कर सकता था। इस प्रकार इन तीनों शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा के पाठ्यक्रम में प्रकृति-अध्ययन को स्थान दिया। शिक्षा के अन्य विषय जैसे, भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल, आदि को पाठ्यक्रम में स्थान देते समय इन शिक्षकों ने यह ध्यान में रखा कि इनके द्वारा बालक के सामाजिक पक्ष के विकास मेंसहायता मिले।

शिक्षा की पद्धति—इन महान् शिक्षकों का कार्य शिक्षा की पद्धति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पेस्तालात्सी ने भाषा, गणित, सामाजिक विषय आदि की प्रारम्भिक शिक्षा को बाल मनोविकास के अनुकूल बनाने का प्रयास किया। फलतः उसने शिक्षा की पद्धति को वातावरण से भी सम्बन्धित किया और शिक्षण में 'वास्तविकता' लाने का भी प्रयास किया। बालकों को निरीक्षण करने का अधिक अवसर देकर पेस्तालात्सी ने उन्हें क्रियाशील बनाया। हरबार्ट ने शिक्षण-पद्धति के लिए पाँच सोपान बनाए। पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष द्वारा शिक्षण-पद्धति को मनोवैज्ञानिक बनाया। इस प्रकार पेस्तालात्सी की 'निरीक्षण' पद्धति को हरबार्ट ने शिक्षा के पाँच सोपानों द्वारा अधिक मनोवैज्ञानिक बनाया। फ्रोयबेल ने भी किंडरगार्टन द्वारा शिशु-शिक्षण पद्धति की एक बड़ी कमी पूरी की। पेस्तालात्सी और हरबार्ट ने क्रमशः 'निरीक्षण' और 'रुचि' पर अधिक बल दिया, लेकिन फ्रोयबेल ने 'खेल द्वारा शिक्षा' और 'कार्य द्वारा शिक्षण' की उपयोगिता सिद्ध की। इस प्रकार इन तीनों शिक्षा-शास्त्रियों ने आधुनिक शिक्षण-पद्धति में ऐसे सिद्धांतों का समावेश किया जिनकी उपयोगिता आज भी सिद्ध है।

शिक्षा का संगठन—पेस्तालात्सी ने अध्यापक और विद्यार्थी के सम्बन्ध का आधार स्नेह माना। इसके अतिरिक्त

उसने यह भी कहा कि शिक्षालय और घर के वातावरण में सम्बन्ध होना चाहिए। पाठशाला में आकर बालक यह अनुभव न करे कि वह ऐसे स्थान में आ गया है जहाँ उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। हरबार्ट ने भी शिक्षालय का वातावरण बालक के अनुकूल बनाया। इसके अतिरिक्त उसने कक्षा-प्रबन्ध में भी पर्याप्त सुधार किया। फ्रोयबेल ने शिक्षालय को एक छोटे समाज के रूप में देखा। इस प्रकार शिक्षा के संगठन के दृष्टि से इन तीनों शिक्षकों ने वातावरण, कक्षा-प्रबन्ध, अनुशासन और शिक्षालय-समाज के विकास में बड़ी सहायता पहुँचाई।

ठामसन के विचार—ठामसन महोदय ने इन तीनों शिक्षा-शास्त्रियों के विचारों और कार्यों का विशेष अध्ययन किया है और उन्होंने इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किए हैं * :—

पेस्तालात्सी—१. शिक्षा का धार्मिक उद्देश्य, और केवल शब्दों तथा तथ्यों के शिक्षण को अस्वीकार किया। २. बालक की मूल प्रवृत्तियों, मानसिक शक्ति और विकास के अनुकूल अनुशिक्षा को मनोवैज्ञानिक और संगठित करने का प्रयास किया। ३. ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव को सम्पूर्ण अनुशिक्षा (Instruction) का आधार माना। ४. 'बालक की सभी मानसिक शक्तियों का स्वाभाविक, समुचित और अनुकूल विकास' को शिक्षा की परिभाषा कहा। ५. शिक्षा द्वारा समाज के पुनरुत्थान में विश्वास किया, मानसिक और नैतिक शक्तियों के महत्त्व को स्वीकार किया; शिक्षा को सामाजिक कार्य समझा। ६. शिक्षा में प्रतीक-

* M, M. Thompson :An Outline of the History of Education (Barnes & Noble)

वाद (Symbolism) का विरोध किया, लेकिन इसके प्रभाव से मुक्त न हो सका। ७. अनुशिक्षा का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान, और निरीक्षण माना। ८. शिक्षक बालक के व्यक्तित्व का सम्मान करे और अनुशासन का आधार प्रेम बनाए।

ठामसन के अनुसार पेस्तालात्सी ने शिक्षण-पद्धति में जिन नवीन तथ्यों का समावेश किया, वे इस प्रकार हैं :—(क) गणित की शिक्षा में वस्तु और कार्य का समावेश किया। (ख) चित्रण का आरम्भ कोण और वक्र रेखाओं से किया। अनुकरण और रटने को दूर रखा। (ग) भाषा-शिक्षण में वास्तविक वस्तुओं (Objects) का समावेश किया लेकिन एक स्वरी ध्वनियों की पद्धति को भी रखा। (घ) भूगोल और प्रकृति अध्ययन की व्यवस्था पाठशाला के अहाते में किया। (ङ) भावनाओं के विकास और नैतिक शिक्षा की दृष्टि से संगीत और व्यायाम (gymnastics) को पाठ्यक्रम में स्थान दिया। (च) शिक्षण-पद्धति का आधार बालक के अनुभव के सरल तत्वों से सम्पूर्ण की ओर अग्रसर होना स्वीकार किया।

इन सब कार्यों का शिक्षा पर जो प्रभाव पड़ा, उसके सम्बन्ध में ठामसन का विचार है कि पेस्तालात्सी ने उन्नीसवीं सदी की प्रारम्भिक पाठशालाओं के उद्देश्य और कार्य में इस दृष्टि से परिवर्तन किया कि ये (स्कूल) अब चर्च के प्रसार के साधन न होकर समाज के हित के साधन बन जाँय। इस प्रकार जिन नये स्कूलों की स्थापना हुई उनमें (क) वास्तविक वस्तुओं के अध्ययन (ख) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शिक्षा (ग) व्यक्तिगत विचारों की अभिव्यक्ति (घ) बाल-क्रिया, और (ङ) बालक की शक्तियों के सम्यक् विकास पर बल दिया गया।

इसके अतिरिक्त ठामसन के अनुसार पेस्तालात्सी ने अध्या-

पन-कला की शिक्षा की आवश्यकता भी स्पष्ट किया। इसके फल-स्वरूप नार्मल स्कूलों की स्थापना की ओर अधिकारियों का ध्यान आकर्षित हुआ।

हरबार्ट—हरबार्ट के सम्बन्ध में ठामसन का विचार है कि इन्होंने (१) मानसिक शक्तियों (faculty) का मनोविज्ञान अस्वीकार किया और उसके स्थान पर नवीन शिक्षा-मनोविज्ञान का प्रतिपादन किया। (२) शिक्षा का उद्देश्य चरित्र और नैतिकता का विकास माना। (३) शिक्षा में कुछ नवीन शब्दावली का समावेश किया; जैसे—रुचि, पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष-शिक्षण के पाँच सोपान आदि। (४) साहित्य और इतिहास की शिक्षा पर नवीन प्रकाश डाला। (५) इतिहास के पाठ्यक्रम को बाल-विकास के क्रमानुसार बनाया। (६) इतिहास और भूगोल की शिक्षा में सामाजिक दृष्टि कोण को प्रधानता दी। कक्षा-प्रबन्ध की नवीन रीतियाँ बताईं। शिक्षा में वातावरण को स्थान देने पर बल दिया। (७) मनोविज्ञान पर शिक्षा के साधन और पद्धति को आधारित किया।

फ्रोयबेल—ठामसन के अनुसार फ्रोयबेल के सिद्धांतों का सार निम्नलिखित है:—(१) प्रकृति और मनुष्य में एक निश्चित एकता है। इसी पर मनुष्य की चेतना भी निर्भर है। (२) जीवन का उद्देश्य ईश्वर की सत्ता को प्रकट करना है। (३) प्रकृति ईश्वर का बोध बालक को कराती है। (४) मन क्रिया है। (mind is activity) (५) शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं, वरन् उस जीवन में सम्मिलित होना है जो व्यक्ति के चारों ओर है। इसी दृष्टि से शिक्षालय को समाज का एक लघु रूप समझना चाहिए। (५) खेल बालक का स्वाभाविक कार्य है। (७) उसकी (बालक की) अभि-व्यक्ति के साधन हैं गति, गीत और भाषा।

फ्रोयबेल के किंडरगार्टन में ठामसन के अनुसार आत्म-क्रिया द्वारा शैक्षिक, सामाजिक और नैतिक विकास का सिद्धांत केंद्रीय स्थान रखता है। इसका उद्देश्य व्यक्ति का विकास करना है। इसकी पद्धति स्वयं-स्फूर्ति (motor-expression) और आत्म-क्रिया है। इसका साधन सामाजिक सहयोग है।

किंडरगार्टन का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा, इस सम्बन्ध में ठामसन का विचार है कि इसके द्वारा सम्पूर्ण शिक्षा प्रभावित हुई। कार्य द्वारा शिक्षा, खेल, सरल अनुशासन, और संगीत का शिक्षा में समावेश इसके प्रभाव के प्रमाण हैं।

पेस्तालात्सी, हरबार्ट और फ्रोयबेल के सम्बन्ध में जो कुछ ऊपर दिया गया है, उससे उनके तुलनात्मक महत्व का सरलता से अनुमान किया जा सकता है।

—*—

वैज्ञानिक विकास : स्पेंसर

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध—फ्रोयबेल की मृत्यु सन् १८५२ में हुई थी। इस प्रकार यूरोपीय शिक्षा उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पेस्तालात्सी; हरबार्ट और फ्रोयबेल का प्रतिनिधित्व करती थी। लेकिन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में वैज्ञानिक विकास हुआ और इसका प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। वैसे तो शिक्षा में वैज्ञानिक विकास का आरम्भ सत्तरहवीं सदी में ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादियों द्वारा हो गया था। लेकिन उसका सर्वव्यापी प्रभाव उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध ही में दिखाई दिया। इसके कई कारण थे। सर्व प्रथम अनेक प्रकार के अविष्कार हो रहे थे, और ह्वाइटहेड महोदय के अनुसार, इस समय का सबसे बड़ा आविष्कार था आविष्कार की रीति का आविष्कार। * सचमुच इस समय प्रत्येक कार्य के कारण को ढूढ़ने का प्रयास किया जाने लगा। सभी प्रकार के अंधविश्वास और आदर्शवाद का स्थान, यथार्थ और विज्ञान ने ले लिया। इस प्रकार जीवन के सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रवेश हुआ और उसके फलस्वरूप मनुष्य में प्राकृतिक शक्तियों द्वारा कार्य करने की क्षमता उत्पन्न हुई। इसी के साथ विज्ञान की जितनी शाखायें थीं उनके सिद्धांतों के सम्बन्ध में भी विचार व्यक्त किए जाने लगे। दूसरे शब्दों में, रसायनशास्त्र, भौतिक-शास्त्र, भूगर्भशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, आदि सम्बन्धी ग्रंथों की रचना तीव्रगति से होने लगी। इस दिशा में डारविन से लोगों को बड़ी

---

* A. N. Whitehead :—Science & The Modern World, (Pelican) 1938, Page 117.

प्रेरणा मिली। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के वैज्ञानिक विकास में वैज्ञानिक ग्रंथ बड़े सहायक हुए।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सूत कातने और कपड़ा बुनने की मशीन, सिलाई की मशीन, रेलवे इजंन, जहाज आदि के आविष्कारों के कारण औद्योगिक विकास भी तीव्रगति से होने लगा। उत्पादन के नये-नये साधनों से सामाजिक ढाँचा बदलने लगा। रेल और जहाज जैसे वाहन (Transport) के साधनों का भी सामाजिक जीवन पर प्रभाव पड़ा। इसका प्रभाव यह हुआ कि सामाजिक विचार-धारा बदली और जीवन में नये मूल्यों (Values) का महत्त्व बढ़ा। दूसरे शब्दों में, यूरोपीय संस्कृति ने नवीन रूप धारण किया।

यूरोपीय संस्कृति का नवीन रूप—वैज्ञानिक ग्रंथों और आविष्कारों के फलस्वरूप यूरोपीय संस्कृति का एक नवीन रूप प्रकट हुआ जिसकी विशेषता थी प्रत्येक वस्तु की जीवन में उपयोगिता देखना। दूसरे शब्दों में, उन वस्तुओं का महत्त्व कम हुआ जिनका जीवन से सीधा सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में प्रत्येक वस्तु का मूल्य दैनिक जीवन में उपयोगिता और भावी जीवन की तैयारी की दृष्टि से आँका जाने लगा। सामाजिक जीवन में भी नये विचारों का समावेश हुआ। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप मिल मालिक और मजदूर वर्ग और मध्यवर्ग भी संगठित हुए। इसके फलस्वरूप वर्ग स्वार्थ और संघर्ष की भावना का उदय हुआ। इसका प्रभाव तात्कालिक दर्शन और साहित्य पर भी पड़ा। फ्रांस के कथाकार ज़ोला ने सामाजिक जीवन में उत्पन्न नये संघर्षों का मार्मिक चित्रण किया। इंगलैंड में डिकेन्स ने सामाजिक विषमताओं का

चित्रण आरम्भ कर दिया था। कार्ल मार्क्स ने भी 'डास कैपिटल' लिख कर समाज के आर्थिक ढाँचे के खोखलेपन की ओर संकेत किया। इस प्रकार यूरोपीय संस्कृति के सम्पूर्ण भाग में नवीन विचारों का समावेश हुआ। शिक्षा, जो कि संस्कृति का क्रियाशील अंग है, भला क्यों न प्रभावित होती। फलतः शिक्षा में वैज्ञानिक विषयों का महत्त्व बढ़ा। दूसरे शब्दों में शिक्षा का वैज्ञानिक विकास हुआ।

शिक्षा का वैज्ञानिक विकास—शिक्षा में वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप व्यावहारिक विषयों का महत्त्व बढ़ा। भाषा, साहित्य, व्याकरण और गणित आदि की शिक्षा के उद्देश्य में नैतिक और आध्यात्मिक विकास के साथ व्यावहारिक जीवन का विकास भी सम्मिलित हो गया। दूसरे शब्दों में अब ऐसी शिक्षा की माँग होने लगी जो विज्ञान के अध्ययन द्वारा जीवन की नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप नये रोज़गार, नये धंधे और नये पेशे हुए, और इनके लिए वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की माँग हुई। इस प्रकार शिक्षा के उद्देश्य में परिवर्तन हुए और उसके स्थान पर 'जीवन की तैयारी' (Preparation for life) को स्थान दिया जाने लगा। इस तरह विज्ञान के प्रभाव से शिक्षा का वैज्ञानिक विकास हुआ और इसके लिए सबसे अधिक कार्य हरबर्ट स्पेंसर * (१८२०-१९०३) ने किया।

हरबर्ट स्पेंसर—स्पेंसर का जन्म इंगलैंड के डरबी नामक नगर के एक ऐसे परिवार में हुआ जिसकी एक सांस्कृतिक परम्परा

---

* Herbert Spencer.

थी। स्पेंसर के पिता विज्ञान के पंडित थे और अध्यापन-कार्य करते थे। स्पेंसर के चाचा भी अध्यापक थे। इसलिए उसके पिता ने स्पेंसर को अपने भाई के पास शिक्षा के लिए भेजा। स्पेंसर का चाचा डरबी से ११५ मील दूर हिंटन नामक स्थान में अध्यापन कार्य करते थे। इसलिए स्पेंसर हिंटन गया। लेकिन वहाँ उसका मन पढ़ने में न लगा और वह भाग खड़ा हुआ। स्पेंसर अपने चाचा के यहाँ से पैदल ही चल दिया। पहले दिन वह ४८ मील चला। दूसरे दिन ४७ मील और फिर तीसरे दिन २० मील चलकर अपने घर डरबी पहुँच गया। स्पेंसर के इस प्रकार भाग आने से उसके पिता जी बहुत बिगड़े। उन्होंने उसे हिंटन जाने के लिए कहा। इस प्रकार हरबर्ट दूसरी बार अपने चाचा के पास गया। अब की बार वह भागा नहीं और उसने तीन वर्ष तक रहकर शिक्षा ग्रहण की। इसके बाद उसको शिक्षा की कोई व्यवस्था ठीक न थी। वह विश्वविद्यालय में भी भर्ती न हुआ। इस प्रकार उसकी शिक्षा स्वाध्याय पर चलती रही। इसके फलस्वरूप उसने गणित, विज्ञान और अर्थशास्त्र का विशेष अध्ययन किया क्योंकि इनमें उसकी रुचि थी। इसके अतिरिक्त स्पेंसर ने भवन-निर्माण कला और इंजीनियरिङ्ग का अध्ययनकिया। इस प्रकार प्रायः जितने विषय थे उन सबका अध्ययन उसने किया।
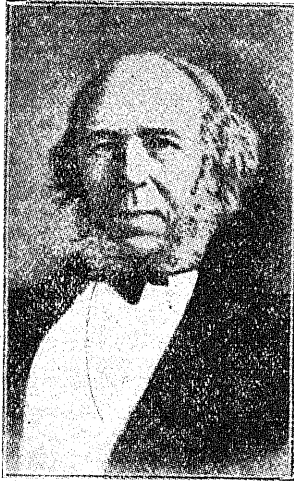
हरबर्ट स्पेंसर (१८२०-१९०३)।

लेकिन भाषा और साहित्य में उसकी रुचि न थी। इसलिए उसके अध्ययन में विज्ञान की प्रधानता थी। स्पेंसर के प्रारम्भिक जीवन की दूसरी विशेषता उसके 'चिन्तन' में दिखाई पड़ती है। स्पेंसर दार्शनिकों की भाँति चिन्तन करता था और इसी के फल-स्वरूप वह दर्शनशास्त्र सम्बन्धी विचार व्यक्त कर सका।

पत्रकारिता—स्पेंसर ने जीवन का आरम्भ पत्रकार के रूप में किया। सर्वप्रथम उसने 'नानकनफार्मिस्ट' पत्रिका में लेख भेजा। इस पत्रिका में नवीन विचारों का स्वागत होता था। इसलिए उसके लेख इस पत्रिका में कुछ समय तक लगातार प्रकाशित होते रहे। इसके बाद स्पेंसर अर्थशास्त्र की प्रसिद्ध पत्रिका 'दि इकानि-मिस्ट' के सहायक सम्पादक के रूप में कार्य करने लगा। इस समय उसकी अवस्था केवल अट्ठाइस वर्ष की थी। दो वर्ष बाद उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल स्टैटिक्स' प्रकाशित की। उस पुस्तक का प्रभाव सामाजिक और आर्थिक विचारधारा पर पर्याप्त रूप से पड़ा क्योंकि इसमें स्पेंसर ने समाज के विकास पर एक नवीन दृष्टि-कोण से विचार व्यक्त किया था। इस प्रकार स्पेंसर अपने लेखों और ग्रंथों से तत्कालीन विद्वानों में गिना जाने लगा और अड़तीस वर्ष की अवस्था में वह इंगलैंड का एक प्रसिद्ध तथा प्रभावशाली लेखक बन गया।

स्पेंसर के ग्रंथ—स्पेंसर की प्रतिभा बहुमुखी थी। उसने दर्शन-शास्त्र के सिद्धांतों पर मौलिक विचार व्यक्त किए। वैज्ञानिक दृष्टिकोण होने के साथ वह प्रत्येक विषय के 'वैज्ञानिक विकास' का अध्ययन करता था। इसी के फलस्वरूप उसने 'जीव-विज्ञान' (Biology) पर एक ग्रन्थ लिखा और जीवन के विकास पर प्रकाश डाला। 'मनोविज्ञान' ग्रन्थ में उसने मनुष्य के मन के

विकास का अध्ययन किया। समाजशास्त्र (Sociology) पर जो पुस्तक स्पेंसर ने लिखी उसमें सामाजिक विकास का विश्लेषण किया गया। 'नीतिशास्त्र के सिद्धांत' (The principles of Ethics) में नैतिकता के विकास की वैज्ञानिक आलोचना की। इस प्रकार उसने जीवन के सभी पक्षों का वैज्ञानिक अध्ययन और उन पर आधिकारिक ग्रंथों की रचना की। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, स्पेंसर ने इस विषय का गहन अध्ययन नहीं किया था। वह पेस्तालात्सी तथा अन्य शिक्षा-सुधारकों के विचारों से परिचित था। लेकिन तत्कालीन शिक्षा-पद्धति का उसे वास्तविक ज्ञान था। इंगलैंड में उस समय जैसी शिक्षा का प्रबन्ध था, उससे स्पेंसर को संतोष न था। इसलिए उसने शिक्षा पर चार लेख लिखे जो कुछ समय पश्चात् सन् १८६५ में 'एजूकेशन' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। इस पुस्तक में स्पेंसर के जो चार लेख संग्रहीत हैं उनके नाम इस प्रकार हैं :-(१) कौन सा ज्ञान सबसे अधिक उपयोगी है ? (२) बौद्धिक शिक्षा (३) नैतिक शिक्षा (४) शारीरिक शिक्षा। * इनमें से प्रथम लेख का शिक्षा जगत् पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इस लेख द्वारा स्पेंसर ने शिक्षा के वैज्ञानिक विकास पर बल दिया और विज्ञान की उपयोगिता पर प्रकाश डाला। अतः स्पेंसर की शैक्षिक विचारधारा से परिचित होने के लिए इस लेख की मुख्य बातों का उल्लेख आवश्यक है।

उपयोगी ज्ञान—कौन सा ज्ञान सबसे अधिक उपयोगी है इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए स्पेंसर ने और भी कितने ही प्रश्नों

---

* 1. What Knowledge is of Most Worth ? 2. Intellectual Education. 3. Moral Education. 4. Physical Education.

की ओर संकेत किया है। फिर इन्हीं के आधार पर जीवन के विभिन्न कार्यों की व्याख्या की है। जो कार्य जीवन में जितना आवश्यक हो, उसके लिए उतनी ही आवश्यक तैयारी और ज्ञान चाहिए। जिस बात का जीवन में कम महत्त्व है, उसकी ओर कम ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार स्पेंसर ने जीवन के भिन्न-भिन्न कार्यों की साधारण आलोचना करने के पश्चात् उनका वर्गीकरण भी किया जो इस प्रकार है:—

(१) वे कार्य जो प्रत्यक्ष रूप से आत्म-रक्षा (self-preservation) में सहायक होते हैं।

(२) वे कार्य जो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा परोक्ष रूप से आत्म-रक्षा में सहायक होते हैं।

(३) वे कार्य जो संतान के पालन-पोषण और शिक्षा सम्बन्धी होते हैं।

(४) वे कार्य जो सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों को अच्छा बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं।

(५) वे विभिन्न कार्य जो अवकाश के समय किये जाते हैं।*

प्रत्यक्ष आत्म-रक्षा—इन पाँच प्रकार के कार्यों में सबसे अधिक आवश्यक कार्य वह है जो प्रत्यक्ष रूप से आत्म-रक्षा में सहायक होता है। स्पेंसर का मत है कि यदि कोई व्यक्ति एक शिशु के समान अज्ञानी है तो निश्चय ही उसका जीवन संकट में है। हमें पग-पग पर प्रतिक्षण सावधानी से कार्य करना है। यदि तनिक भी भूल हुई तो निश्चय ही जीवन ख़तरे में पड़ जाता है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि मनुष्य को ऐसा ज्ञान हो जो प्रत्यक्ष रूप से आत्म-रक्षा में सहायक हो। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है

---

* H. Spencer :—Education (Thinkers Library, No 2) Page 8.

कि जीवन के आरंभ में प्रकृति पर्याप्त सीमा तक सहायक होती है। लेकिन बाद में जब व्यक्ति का शारीरिक विकास होता है तब वह प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करता है। इसके फलस्वरूप उसे रोग होते हैं। इसलिए इनसे बचने का उपाय करना चाहिए। शरीर-विज्ञान के अध्ययन के इस कार्य में सहायता मिल सकती है। लेकिन इससे अधिक आवश्यक है उन रोगों का अध्ययन जो साधारणतः हो जाते हैं। इन सब दृष्टियों से स्पेंसर चाहता था कि शरीर और स्वास्थ्य व रक्षा सम्बन्धी शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जाय।

परोक्ष आत्मरक्षा—शिक्षा अथवा ज्ञान की उपयोगिता निश्चित करने के लिए उन कार्यों को देखना चाहिए जो परोक्ष रूप से आत्मरक्षा में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से मनुष्य के उन कार्यों का महत्त्व है जो जीवकोपार्जन से सम्बन्ध रखते हैं। जीविका के निर्वाह में कौन सा ज्ञान सबसे अधिक उपयोगी होगा, इसका उत्तर देते हुए स्पेंसर का कथन है कि समाज में अधिकतर लोग किसी न किसी वस्तु के उत्पादन, रचना और वितरण में लगे हुए हैं। लोग इन कार्यों को भली भाँति उसी समय कर सकते हैं जब कि उन्हें उत्पादन, रचना और वितरण के सर्व श्रेष्ठ नियमों और पद्धतियों का ज्ञान हो। दूसरे शब्दों में, उत्पादन, रचना और वितरण के लिए विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। विज्ञान की शिक्षा के बिना व्यक्ति जीविकोपार्जन के इन कार्यों को भली भाँति नहीं कर सकता। * इस सम्बंध में स्पेंसर का यह कथन उल्लेखनीय है—"जिसे हम किसी व्यवसाय को सीखना कहते हैं, वह वास्तव में उस कार्य में निहित

---

* H. Spencer : Education (Thinkers Librar) Page 17

विज्ञान की शिक्षा है।" इस प्रकार अनेक तर्कों द्वारा स्पेंसर ने यह सिद्ध किया कि परोक्ष रूप से आत्मरक्षा के निमित्त भी प्राकृतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन आवश्यक है।

संतान सम्बन्धी कार्य—स्पेंसर के अनुसार संतान के पालन-पोषण तथा रक्षा सम्बंधी कार्यों का बड़ा महत्त्व है क्योंकि किसी भी जाति का विकास और प्रगति बच्चों के उचित पालन-पोषण पर निर्भर है। इसलिए यह आवश्यक है कि माता-पिता को संतान सम्बंधी कार्यों का वैज्ञानिक ज्ञान हो। बिना इसके बालक का शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास नहीं हो सकता। यदि माता को बालक के शारीरिक विकास की आवश्यक बातों का ज्ञान नहीं है तो बालक रोगी हो सकता है। इस प्रकार जाति और देश में रोगी व्यक्तियों की संख्या की वृद्धि होगी। इसके फलस्वरूप उत्पादन में कमी और भावी समाज के लिए अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। यदि माता-पिता को बाल-मनोविकास का ज्ञान नहीं है तो वे बालक में ऐसी मानसिक ग्रंथियाँ डाल देंगे जो हानिकर होंगी। बालक को कब दंड देना चाहिए और उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार करना चाहिए आदि प्रश्नों के लिए बाल-मनोविकास का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। इसी प्रकार बालक के नैतिक विकास के लिए भी माता-पिता को सामान्य नैतिकता का अवश्य अध्ययन करना चाहिए। इस सम्बंध में स्पेंसर कहता है कि जूता बनाने के लिए, जहाज या रेल के इंजन के काम के लिए इन कार्यों को सीखना आवश्यक है। लेकिन यह कितने आश्चर्य की बात है कि संतान-पालन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य की शिक्षा आवश्यक नहीं

समझी जाती ।* इन सब तर्कों द्वारा स्पेंसर ने सिद्ध किया कि वही ज्ञान सबसे अधिक उपयोगी है जिसमें संतान सम्बन्धी कार्यों की शिक्षा का भी समावेश हो। इस दृष्टि से शिक्षा में सामान्य शरीर विज्ञान, और प्रारम्भिक मनोविज्ञान का अध्ययन आवश्यक है।

सामाजिक तथा राजनीतिक कार्य—मनुष्य के जीवन में सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों का चौथा स्थान है। अतः इस दृष्टि से जीवन की तैयारी में कौन सा ज्ञान उपयोगी है? सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों में कुशलता प्राप्त करने के लिए इतिहास का अध्ययन आवश्यक है। लेकिन इतिहास-अध्ययन का स्वरूप कैसा हो? क्या बड़े-बड़े शासकों और राजाओं के जीवन-मरण की तिथि के ज्ञान से कोई अच्छा नागरिक बन सकता है? क्या युद्ध के विशद् वर्णन की क्षमता सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में सहायक होती है? इसी प्रकार के अन्य कितने ही प्रश्नों द्वारा स्पेंसर सिद्ध करता है कि ऐसे इतिहास की शिक्षा व्यर्थ है। वास्तविक इतिहास तो जनता के जीवन का होना चाहिए। किसी देश और काल विशेष में सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन कैसा था, जन-संस्कृति का क्या रूप था, जन-जीवन की कठिनाइयाँ क्या थीं, आदि प्रश्नों पर जो इतिहास प्रकाश डालता है, उसी का ज्ञान सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों में सहायक होता है। दूसरे शब्दों में स्पेंसर इतिहास के समाज शास्त्रीय † अध्ययन को अधिक उपयोगी मानता है। लेकिन इतिहास का समाज-शास्त्रीय अध्ययन विज्ञान की सहायता के बिना असंभव है। स्पेंसर अपने इस कथन को इस प्रकार स्पष्ट करता है:—समाज व्यक्तियों से बना

---

* Ibid. Page 29. † Sociological.

है। समाज में जितने भी कार्य होते हैं वे व्यक्तियों के आपसी सहयोग के परिणाम हैं। इस लिए एक व्यक्ति के कार्य में भी सामाजिक सत्य निहित है। लेकिन एक व्यक्ति का कार्य उसके स्वभाव और प्रवृत्तियों पर निर्भर है। बिना व्यक्ति के स्वभाव और प्रवृत्तियों के अध्ययन के उसके कार्यों के वास्तविक रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिए जीव-विज्ञान (biology) और मनोविज्ञान (psychology) का अध्ययन आवश्यक है।' इस प्रकार जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान के अध्ययन से समाज शास्त्रीय इतिहास का वास्तविक ज्ञान होता है। जब तक व्यक्ति के, स्वभाव और प्रवृत्तियों का अध्ययन नहीं किया जायगा, तब तक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का विकास असंभव है। और बिना समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के इतिहास का अध्ययन भी व्यर्थ है क्योंकि वह सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों में सहायक नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्पेंसर शिक्षा के सामाजिक तथा राजनीतिक पक्ष में भी विज्ञान को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। उसके अनुसार यदि व्यक्ति को नागरिक जीवन में सफलता प्राप्त करना है तो उसे जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान का अध्ययन करना चाहिए। इस अध्ययन की सहायता से वह इतिहास का समाज-शास्त्रीय महत्त्व समझेगा जो उसके सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों में अधिक सहायक होगा।

अवकाश के कार्य—जीवन में जो अवकाश मिलता है उसमें कैसा कार्य किया जाय? स्पेंसर के अनुसार अवकाश और विश्राम की जीवन में बड़ी आवश्यकता होती है। अवकाश का सदुपयोग किस प्रकार हो इसके लिए भी शिक्षा की आवश्यकता होती है। इस शिक्षा में काव्य और कला का प्रमुख स्थान होता है। दूसरे शब्दों में, अवकाश के सदुपयोग के लिए मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति

का समुचित विकास आवश्यक है। व्यक्ति में काव्य और कला के प्रति सहज आकर्षण अपेक्षित है। बिना इसके जीवन में सरसता नहीं आती। लेकिन इसी के साथ स्पेंसर महोदय यह भी कहते हैं कि जीवन में अवकाश का समय तभी मिलता है जब व्यक्ति अन्य आवश्यक कार्य जैसे प्रत्यक्ष आत्मरक्षा, परोक्ष आत्मरक्षा, संतान पालन, सामाजिक तथा राजनीतिक कार्य आदि कर लेता है। दूसरे शब्दों में अवकाश का स्थान इन सभी कार्यों के बाद आता है। अतः अवकाश के सदुपयोग के लिए काव्य-कला का शिक्षा में वही स्थान है जो अवकाश का जीवन में है। *

अवकाश की दृष्टि से काव्य-कला का शिक्षा में स्थान निश्चित कर लेने के पश्चात् स्पेंसर महोदय एक दूसरे दृष्टिकोण से भी काव्य-कला के महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं। इसके लिए उन्होंने एक पौदे का उदाहरण चुना है। स्पेंसर का कथन है कि काव्य-कला तथा अन्य सांस्कृतिक कार्य पौदे के फूल के समान है। लेकिन जिस पौदे में फूल खिलता है, वह जीवन सम्बन्धी अन्य आवश्यक कार्यों के समान है। यदि हम चाहते हैं कि पौदे में सुंदर फूल खिले, तो हमें पौदे की जड़ और उसके तने की ओर पूरा ध्यान देना होगा। पौदे की उपेक्षा करके सुंदर फूल की आशा करना ग़लत है। इस प्रकार स्पेंसर ने प्रत्यक्ष आत्मरक्षा, परोक्ष आत्मरक्षा, संतान-पालन और सामाजिक कार्य को पौदे की जड़ और तने से तुलना कर यह सिद्ध किया है बिना इन कार्यों की ओर ध्यान दिये अवकाश सम्बन्धी कलात्मक कार्यों की ओर ध्यान देना भारी भूल है। सांस्कृतिक ज्ञान का स्थान सबसे अंत में है, इसे नहीं भूलना चाहिए।

---

*As they occupy the leisure part of life, so should they occupy the leisure part of education—Ibid. page 37.

सांस्कृतिक ज्ञान की आवश्यकता और उसके स्थान को इस प्रकार निश्चित कर लेने के बाद स्पेंसर महोदय उसकी प्राप्ति के साधन पर प्रकाश डालते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार जीवन के अन्य कार्यों में विज्ञान की शिक्षा सहायक होती है, उसी प्रकार सांस्कृतिक कार्य में भी विज्ञान अत्यंत आवश्यक है। इतना ही नहीं, स्पेंसर का विचार है कि काव्य-कला आदि का ज्ञान बिना विज्ञान के असंभव है। अपने उसके शब्दों में प्रत्येक प्रकार की सर्वश्रेष्ठ कला का आधार विज्ञान है। † यह किस प्रकार है, इसे सिद्ध करने के लिए स्पेंसर महोदय प्रत्येक कला की वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं। इस दृष्टि से स्पेंसर का कथन है कि प्रत्येक कला में अनुपात और संयोजन * की आवश्यकता पड़ती है। बिना इनके नियमों के अध्ययन के कलाकार श्रेष्ठ कला की रचना नहीं कर सकता। इसी प्रकार मूर्तिकला में शरीर के विभिन्न अंगों का वैज्ञानिक ज्ञान आवश्यक है। संगीत में भी ध्वनि (Sound) का अध्ययन अपेक्षित है। कविता के लिए भी भाषा-विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। इस प्रकार अनेक तर्कों द्वारा स्पेंसर ने यह सिद्ध किया कि काव्य और कला का आधार विज्ञान है। अतः अवकाश के सदुपयोग के लिए जब काव्य और कला की शिक्षा दी जाय तब उसके वैज्ञानिक आधार की उपेक्षा न की जाय। दूसरे शब्दों में, स्पेंसर ने जीवन के सभी कार्यों को कुशलतापूर्वक करने के लिए विज्ञान का अध्ययन अत्यंत आवश्यक माना है। यदि व्यक्ति को प्रत्यक्ष आत्मरक्षा करना है तो विज्ञान आवश्यक है। यदि उसे परोक्ष आत्मरक्षा करना है तो विज्ञान का

---

†The highest Art of every kind is based on Science.—Ibid. * Proportion & Composition

अध्ययन करना चाहिए। यदि संतान पालन करना है तो विज्ञान पढ़ना चाहिए। यदि कुशल नागरिक बनना है तो विज्ञान पढ़ना चाहिए। यदि अवकाश में सांस्कृतिक कार्य करना है तो भी विज्ञान की आवश्यकता है। इस प्रकार स्पेंसर की दृष्टि में सबसे अधिक उपयोगी विज्ञान का ज्ञान है।

विज्ञान द्वारा अनुशासन—विज्ञान की उपयोगिता स्पेंसर महोदय अनुशासन की दृष्टि से भी सिद्ध करते हैं। यह तो हमें ज्ञात ही है कि मानवतावादी शिक्षा में ग्रीक तथा लैटिन साहित्य के अध्ययन को इसलिए स्थान दिया जाता था कि उसके द्वारा बालक में मानसिक अनुशासन विकसित होता था। दूसरे शब्दों में प्राचीन साहित्य का अध्ययन बालक में अच्छे संस्कारों का विकास करता था। यह धारणा स्पेंसर के समय में भी थी और इसीलिए ग्रामर-स्कूलों और पब्लिक स्कूलों में ग्रीक और लैटिन की शिक्षा को उच्च स्थान प्राप्त था। लेकिन स्पेंसर ने इस धारणा का विरोध किया उसने कहा विज्ञान द्वारा जीवन की आवश्यकतायें ही पूरी नहीं होती वरन् इसके द्वारा अनुशासन की भी शिक्षा मिलती है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य, जो अनुशासन और चरित्र के विकास के लिए श्रेयस्कर समझा जाता था, विज्ञान की शिक्षा को देखते हुए व्यर्थ प्रतीत होने लगा। अनेक उदाहरण और तर्क देकर स्पेंसर ने यह सिद्ध किया कि विज्ञान द्वारा बालक प्राचीन साहित्य (classics) से कहीं अधिक अनुशासन सीख सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्पेंसर ने ज्ञान की उपयोगिता की दृष्टि से शिक्षा पर विचार किया। इसका कारण था उस युग में व्यावहारिक और उपयोगी ज्ञान का महत्त्व।

स्पेंसर ने अपने निबंधों के प्रकाशन द्वारा शिक्षा के वैज्ञानिक

विकास में बड़ी सहायता दी। उसने शिक्षा के प्रायः सभी अंगों पर अपने विचार व्यक्त किये जिनका प्रभाव तत्कालीन शिक्षा पर स्पष्ट रूप से दिखाई दिया। उसके इन विचारों का हम अब शिक्षा के उद्देश्य, विषय, पद्धति और संगठन के अंतर्गत अध्ययन करेंगे।

शिक्षा का उद्देश्य—स्पेंसर ने शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये उनके कारण तत्कालीन शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्त्तन हुए। स्पेंसर ने शिक्षा का उद्देश्य जीवन की पूर्ण तैयारी माना। उसके अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। कौन-सा ज्ञान सबसे अधिक उपयोगी है, उसका वर्णन करते समय स्पेंसर ने जीवन की पाँच प्रमुख आवश्यकताओं का वर्णन किया है। उन आवश्यकताओं को देखते हुए स्पेंसर ने शिक्षा का उद्देश्य जीवन की पूर्ण तैयारी माना। जब स्पेंसर शिक्षा का उद्देश्य जीवन की पूर्ण तैयारी निश्चय करता है, तब वह केवल भौतिक आवश्यकताओं की ही बात नहीं करता। उसका ध्यान बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक शिक्षा की ओर भी होता है। इस प्रकार स्पेंसर बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक विकास 'जीवन की पूर्ण तैयारी' की दृष्टि से चाहता है। इसके लिए वह विज्ञान की शिक्षा उपयोगी मानता है क्योंकि इससे बालक जीवन के लिए पूर्ण रूप से तैयार होता है।

शिक्षा के विषय—शिक्षा के विषय ऐसे होने चाहिएँ जो जीवन की पूर्ण तैयारी में सहायक हों। जीवन की तैयारी में वे ही विषय सहायक हो सकते हैं जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करें। व्यक्ति के जीवन में प्रत्यक्ष आत्मरक्षा का प्रथम स्थान है। इस दृष्टि से शिक्षा के पाठ्यक्रम में शरीर और स्वास्थ्य

विज्ञान[1] को स्थान मिलना चाहिए। परोक्ष आत्मरक्षा की दृष्टि से गणित, रसायनशास्त्र[2], भौतिकशास्त्र[3], और प्राणिशास्त्र[4] का अध्ययन आवश्यक है। जीवन की तीसरी आवश्यकता संतान-पालन की दृष्टि से शरीर-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, मनोविज्ञान और नीति-विज्ञान को शिक्षा में स्थान मिलना चाहिए। बिना इन विषयों के अध्ययन के संतान-पालन कार्य सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। जीवन की चौथी आवश्यकता सामाजिक तथा राजनीतिक है। नागरिक जीवन की तैयारी के लिए इतिहास, राजनीति और अर्थ शास्त्र का शिक्षा के पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन में अवकाश की उपयोगिता की दृष्टि से काव्य, कला संगीत आदि का अध्ययन अपेक्षित है। लेकिन इनका उचित अध्ययन बिना मनो-विज्ञान, श्रवण शास्त्र (acoustics) और यंत्रशास्त्र (mechanics) के संभव नहीं। इसलिए सांस्कृतिक विषयों के साथ उनसे सम्बन्धित वैज्ञानिक विषयों को भी शिक्षा में स्थान मिलना चाहिए। इस प्रकार स्पेंसर के अनुसार पाठ्यक्रम में वे ही विषय हों जो जीवन की पूर्ण तैयारी में सहायक होते हैं।

शिक्षा की पद्धति—स्पेंसर ने 'बौद्धिक शिक्षा' पर जो निबन्ध लिखा, उसमें उसने शिक्षा की पद्धति की व्याख्या की। ऐसा करते समय स्पेंसर ने पेस्तालात्सी, हरबार्ट और फ्रोयबेल के विचारों को संभवतः अपनाया, क्योंकि शिक्षण-पद्धति सम्बन्धी स्पेंसर के विचार इन शिक्षा शास्त्रियों के विचारों से बहुत मिलते-जुलते हैं। स्पेंसर ने शिक्षा की पद्धति में निम्नलिखित सिद्धांतों पर अत्यधिक बल दिया :—

---

१. Physiology & Hygiene २. Chemistry ३. Physics
४. Biology.

१. शिक्षण में सरल से कठिन की ओर बढ़ना चाहिए।

२. पाठ का आरम्भ स्थूल से होकर सूक्ष्म में समाप्त होना चाहिए।

३. बाल-शिक्षण में 'सांस्कृतिक युग सिद्धान्त' का ध्यान रखना चाहिए। अतः शिक्षण-पद्धति मानव जीवन के सांस्कृतिक विकास के अनुकूल होनी चाहिए।

४. प्रत्येक प्रकार की अनुशिक्षा (Instruction) में 'प्रयोगसिद्ध से बुद्धिमत' * के सिद्धांत का पालन करना चाहिए।

५. स्वयं-विकास (Self-development) के लिए बालक को उत्साहित करना चाहिए।

६. शिक्षण-पद्धति मनोरंजक होनी चाहिए।

स्पेंसर के इन सिद्धांतों की शिक्षण-पद्धति की दृष्टि से जो उपयोगिता है, वह स्पष्ट है क्योंकि इनका आधार मनोवैज्ञानिक है। अतः इन सिद्धांतों की व्याख्या आवश्यक नहीं है। इनमें केवल चौथा सिद्धांत ऐसा है जिसके सम्बन्ध में दो शब्द आवश्यक हैं। चौथे सिद्धान्त के अनुसार अनुशिक्षा में प्रयोगसिद्ध से बुद्धिमत ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक ज्ञान का आधार प्रायोगिक हो। बिना अनुभव और प्रयोग के कोई अनुशिक्षा नहीं होनी चाहिए। प्रयोग और अनुभव के आधार पर प्राप्त ज्ञान को विचारपूर्वक ग्रहण करना बुद्धिमत (Rational) है। इस प्रकार स्पेंसर ने शिक्षण-पद्धति में भी वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग किया।

---

* emperical to rational.

शिक्षा का संगठन—शिक्षा के संगठन सम्बन्धी विचार स्पेंसर ने 'नैतिक शिक्षा' शीर्षक निबन्ध में व्यक्त किया है। लेकिन ये विचार शिक्षा-संगठन के सभी पक्षों पर प्रकाश नहीं डालते। इस निबन्ध में दो तथ्यों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। एक तो यह है कि बालक की शिक्षा में उसके गृह और समाज का क्या स्थान है। इस दृष्टि से स्पेंसर ने माता-पिता का बालक के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए और बालक का नैतिक विकास किस प्रकार करना चाहिए आदि प्रश्नों को सुलझाया है। जहाँ तक बालक की प्रकृति का प्रश्न है, स्पेंसर उसको स्वभावः अच्छा नहीं मानता। उसका विचार था कि बालक आदिम मानव के समान है और उसका स्वभाव भी आदिम है। इसलिए शिक्षा द्वारा उसकी आदिम प्रवृत्तियों को बदलने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, बालक के नैतिक विकास की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इसके लिए माता-पिता को पूरा ध्यान देना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे अपनी संतान में अच्छी आदतें डालें। बालक के नैतिक विकास में गृह के वातावरण का प्रमुख स्थान है। इस लिए माता-पिता को चाहिए कि वे बालक में अच्छी आदतें डालें और उसे सदाचरण की ओर आकर्षित करें। यह कार्य स्वाभाविक रूप से करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, बालक का नैतिक विकास प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। इस प्रकार गृह और शिक्षालय में ऐसा नैसर्गिक वातावरण होना चाहिए जिससे बालक का नैतिक विकास सरलतापूर्वक हो सके।

शिक्षा के संगठन की दृष्टि से, स्पेंसर के अनुशासन सम्बन्धी विचार महत्त्वपूर्ण हैं। स्पेंसर के अनुसार नैतिक अपराध के लिए प्राकृतिक दंड होना चाहिए। जिस प्रकार आग में हाथ डालने से

हाथ जल जाता है, उसी प्रकार अपराध करने पर बालक को दंड मिलना चाहिए। इस प्रकार अनुशासन के लिए स्पेंसर प्राकृतिक दंड की व्यवस्था करता है। लेकिन प्राकृतिक दंड की एक सीमा होती है और कुछ विशेष दशाओं में ही उनकी आवश्यकता होती है। इस तथ्य पर स्पेंसर ने प्रकाश नहीं डाला।

शिक्षालय-संगठन के सम्बन्ध में ही स्पेंसर की शारीरिक शिक्षा का उल्लेख उचित होगा। स्पेंसर चाहता था कि शिक्षालय में बालकों के शारीरिक विकास पर उचित ध्यान दिया जाय। अतः स्कूल में बालकों से व्यायाम कराया जाय और उनके स्वास्थ्य की देखभाल की जाय। स्पेंसर का यह निश्चित मत था कि बौद्धिक विकास के समान ही शारीरिक विकास पर भी ध्यान देना चाहिए।

स्पेंसर का प्रभाव—स्पेंसर की शिक्षा का जो प्रभाव पड़ा, उसे हम शिक्षा के वैज्ञानिक विकास में पाते हैं। स्पेंसर के पूर्व जीवन को आवश्यकताओं के अनुरूप पाठ्यक्रम बनाने पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता था। लेकिन स्पेंसर ने शिक्षा का उद्देश्य जीवन की पूर्ण तैयारी निश्चित कर, शिक्षा के स्वरूप में पूर्ण परिवर्तन करना चाहा। यही स्पेंसर की नवीनता थी, जिससे समाज अत्यधिक प्रभावित हुआ। इसके अतिरिक्त स्पेंसर ने शिक्षा की पद्धति के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये उनमें रूसो, पेस्तालात्सी, हरबार्ट और फ्रोयबेल के सिद्धांतों का निचोड़ निहित था। इस प्रकार शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास की जो परम्परा थी, उसके आधार पर स्पेंसर ने शिक्षा के वैज्ञानिक विकास का प्रयास किया। लेकिन इतना तो कहा जा सकता है कि स्पेंसर ने विज्ञान की शिक्षा का जो महत्त्व व्यक्त किया वह अपनी सीमा से पार हो गया। इसके फलस्वरूप सांस्कृतिक तथा साहित्यिक शिक्षा की अव-

हेलना अवश्य हुई। लेकिन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के यूरोप का वातावरण ही वैज्ञानिक हो चला था। इसलिए उस समय विज्ञान को सभी क्षेत्रों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था।

हक्सले और इलियट—स्पेंसर के विचारों से अनेक शिक्षाशास्त्री भी प्रभावित हुए। लेकिन उनमें से हक्सले और इलियट के नाम उल्लेखनीय हैं। हक्सले (१८२५-१८६५) का भाषा पर बड़ा अधिकार था। वह कठिन से कठिन बात को सरल रूप में व्यक्त कर सकता था। अतः विज्ञान की शिक्षा के सम्बन्ध में जो बातें हक्सले ने व्यक्त की उनका जन सामान्य पर पूरा प्रभाव पड़ा। जन-जीवन में आनेवाली कठिनाइयों को दूर करने में विज्ञान किस प्रकार सहायक हो सकता है, इसे हक्सले बड़े प्रभावशाली ढंग से कहता था। इस प्रकार हक्सले ने शिक्षाके वैज्ञानिक विकास में जो भी अड़चने थीं उनको दूर करने का पूरा प्रयास किया।

इलियट महोदय (१८३४-१९२६) संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के निवासी थे और उनका शिक्षा-जगत पर बड़ा प्रभाव था। अमेरिका की प्रसिद्ध हरवार्ड यूनीवर्सिटी के वे प्रेसीडेंट भी रह चुके थे। अतः उन्होंने विज्ञान की उपयोगिता के सम्बन्ध में जो कुछ कहा उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके प्रभाव के फलस्वरूप अनेक विद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। इस प्रकार शिक्षा के पाठ्यक्रम में विज्ञान का एक निश्चित स्थान हो गया। लेकिन विज्ञान को पाठ्यक्रम में किस प्रकार विभिन्न देशों में स्थान दिया गया, इसका भी उल्लेख आवश्यक है।

पाठ्यक्रम में विज्ञान—शिक्षा के पाठ्यक्रम में विज्ञान को स्थान वैसे तो बहुत पहले ही मिल चुका था, लेकिन उसके आधु-

निक रूप का विकास उन्नीसवीं सदी के मध्य से आरम्भ हुआ। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के स्कूलों में विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध १९ वीं सदी के मध्य में हो गया था। इंगलैंड में विज्ञान को पाठ्यक्रम में उचित स्थान १९ वीं सदी के अंत में मिला। इसके अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक पश्चिमी देश के माध्यमिक विद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया।

जहाँ तक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की शिक्षा का प्रश्न है, उस दृष्टि से १९ वीं सदी के आरम्भ में, प्रारम्भिक कक्षाओं में भूगोल का अधिक प्रचार था। इसके बाद १९ वीं सदी के मध्य में शरीर विज्ञान की ओर अधिक ध्यान दिया गया। पेस्तालात्सी के प्रभाव के फलस्वरूप प्रकृति अध्ययन (नेचर स्टडी) का महत्त्व बढ़ा और फिर इसके बाद बीसवीं सदी में भौतिक-शास्त्र, आदि-विषयों की शिक्षा माध्यामिक विद्यालयों में दी जाने लगी।

सामाजिक विकास

समाजशास्त्रीय रूप—पश्चिमी शिक्षा में एक ऐसी धारा प्रवाहित हुई जिसे हम सामाजिक विकास कह सकते हैं। यहाँ जब हम शिक्षा के सामाजिक विकास का उल्लेख करते हैं, तब हमारा तात्पर्य समाज शास्त्रीय (Sociological) विकास से है। अतः समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से शिक्षा में सामाजिक विकास उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है जो समाज को स्थायित्व और उन्नति के पथ पर लाना चाहती है। दूसरे शब्दों में, शिक्षा का सामाजिक विकास व्यक्ति में ऐसी योग्यता उत्पन्न करना चाहता है जो उसे सामाजिक जीवन में सफलता प्रदान करे। इस प्रकार शिक्षा और समाज के गहरे सम्बन्ध की अभिव्यक्ति सामाजिक विकास में दिखाई देती है।

मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक विकास से सम्बन्ध—शिक्षा के सामाजिक विकास का मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक शिक्षाधाराओं से भी सम्बन्ध है। पेस्तालात्सी, हरबार्ट और फ्रोयबेल शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास द्वारा सामाजिक विकास में भी सहायक हुए क्योंकि उन्होंने शिक्षा के उद्देश्य के नैतिक और सामाजिक पक्ष को अधिक महत्त्व प्रदान किया। पेस्तालात्सी और फ्रोयबेल तो शिक्षा को सामाजिक उत्थान का महत्त्वपूर्ण साधन समझते थे। इस प्रकार शिक्षा के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विकास में निकट का सम्बन्ध है। जहाँ तक वैज्ञानिक विकास का प्रश्न है, यह हमें स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि इसमें दैनिक जीवन की कुशलता और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर पूरा

ध्यान दिया जाता है। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक विकास ने भी व्यक्ति के जीवन को ऐसा बनाना चाहा कि वह समाज में सुख से रह सके। इस प्रकार शिक्षा के सामाजिक विकास का वैज्ञानिक विकास से भी सम्बन्ध है। लेकिन इनमें अंतर केवल इस दृष्टि से है कि वैज्ञानिक विकास में व्यक्ति का महत्त्व अधिक है, और समाज का कम तथा सामाजिक विकास में व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं।

सामाजिक विकास की भूमिका—शिक्षा के सामाजिक विकास का एक दूसरी दृष्टि से भी महत्त्व है। अट्ठारहवीं सदी के अंत और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में यूरोप के महान् राजनीतिज्ञों ने अनुभव किया कि शिक्षा राजनीतिक और राष्ट्रीय जीवन की उन्नति में बहुत सहायक हो सकती है। उन लोगों ने अनुभव किया कि जनतंत्रात्मक सत्ता की स्थापना के लिए जनता की शिक्षा आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं सदी की यूरोपीय विचारधारा में भी बड़े परिवर्तन हुए। नये-नये सामाजिक और राजनीतिक विचारों का उदय हुआ। इंगलैंड में नये आर्थिक मूल्यों की स्थापना एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो ने किया। फ्रांस में भी 'यूटोपियन सोशलिज्म' की चर्चा चल रही थी। मार्क्स और एंगिल्स ने 'कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' द्वारा यूरोपीय विचार-धारा में क्रांति उत्पन्न की। इन सब का शिक्षा पर जो प्रभाव पड़ा, उसके आधार पर शिक्षा का सामाजिक विकास हुआ।

सामाजिक विकास की अवस्थाएँ—लेकिन शिक्षा का सामाजिक विकास सहसा नहीं हो गया। इसके विकास की तीन दशायें स्पष्ट हैं। समाजिक विकास पहली अवस्था में शिक्षा का स्वरूप वैज्ञानिक विकास के समान था और यह स्वीकार किया जाता था कि शिक्षा

का कार्य सामान्य ज्ञान का प्रसार-करना है। सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था में यह धारणा बदल गई। अब व्यावहारिकता का समाज में प्राधान्य हुआ। अतः शिक्षा को सामाजिक नियंत्रण का एक साधन समझा जाने लगा। शिक्षा के समाजिक विकास की तीसरी अवस्था में शिक्षा के सूक्ष्म स्वरूप विचार किया जाने लगा, और उसे सामाजिक मन (Social mind) का आवश्यक अंग स्वीकार किया गया। इस प्रकार सामाजिक विकास की तीसरी अवस्था में शिक्षा का सामाजिक महत्त्व पूर्ण रूप से स्वीकृत हो गया। इसके फलस्वरूप शिक्षा को सामाजिक विकास की एक शक्ति माना गया। इतना ही नहीं, विद्वानों ने यह भी स्पष्ट किया कि शिक्षा की सामाजिक शक्ति द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी का ज्ञान सरलतापूर्वक समाज में अक्षुण्ण रह सकता है। इस प्रकार शिक्षा के सामाजिक विकास ने शिक्षा की उस शक्ति को प्रकट किया जो समाज को जीवन प्रदान करती है तथा उसे उन्नति की ओर ले जाती है।

सामाजिक विकास के काल—शिक्षा के सामाजिक विकास सम्बन्धी इन विचारों के फलस्वरूप लोगों में ऐसे कार्य करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई जो सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक थे। लेकिन इन विचारों के अतिरिक्त कुछ वाह्य कारण भी थे। सर्व प्रथम कारण था चर्च के प्रभाव में कमी और शिक्षा में समाज की अभिरुचि। कुछ देशों की सरकारों ने भी शिक्षा का प्रबन्ध किया। लेकिन इस प्रकार के सामाजिक और सरकारी प्रयत्न केवल अपवाद स्वरूप थे। इसलिए जब शिक्षा के सम्बन्ध में समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार होने लगा, तब शिक्षा प्रसार के निमित्त सेवा-संस्थाओं आदि द्वारा प्रयत्न होने लगे और समाज-

शास्त्रीय उद्देश्यों के अनुसार स्कूल खोले जाने लगे। इस प्रकार के जो प्रयत्न आरंभ हुए उन्हें काल की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं:—(१) लोकहित काल[१] जिसमें दानी लोगों के सहयोग से सामाजिक शिक्षा का प्रसार हुआ, (२) संक्रमण काल[२] जिसमें फ्रांस की क्रांति, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का उदय और इंगलैंड के औद्योगिक क्रांति का शिक्षा पर प्रभाव पड़ा, और (३) राजनीतिक काल[३] जिसमें लौकिक (Secular) शक्तियों ने शिक्षा के स्वरूप को निश्चय किया। इस प्रकार शिक्षा का सामाजिक विकास हुआ। स्पष्टता की दृष्टि से सामाजिक विकास के इन तीन कालों पर विचार करना आवश्यक है।

(१) **लोकहित काल**—शिक्षा के सामाजिक विकास के प्रथम काल को लोकहित काल कहते हैं क्योंकि जब शिक्षा चर्च के कार्य क्षेत्र से बाहर आई तब लोकहित की संस्थाओं ने इसका संचालन किया। यह तो हम जानते हैं कि चर्च का प्रभाव किस प्रकार कम हुआ और लोगों ने किस प्रकार शिक्षा का संचालन अपने हाथों में लिया। दूसरे शब्दों में शिक्षा जब धार्मिक के स्थान पर लौकिक हुई तब लोकहित की संस्थाओं ने शिक्षा का भार अपने ऊपर लिया। लेकिन यह कार्य प्रत्येक देश में एक ही समय और एक ही साथ नहीं हुआ क्योंकि प्रत्येक देश की परिस्थिति दूसरे देश से भिन्न थी। जर्मनी की परिस्थिति कुछ ऐसी थी कि वहाँ शिक्षा अन्य देशों से पहले लौकिक (Secular) बन गई। १८ वीं सदी के मध्य से ही शिक्षा लोकहित की भावना से प्रेरित व्यक्तियों और शिक्षकों द्वारा संचालित होने लगी। इस

१. The Period of Philanthropy. २. Transition Period
३. Political Period.

सम्बन्ध में बेसडो द्वारा संचालित फिलान्थ्रोपिनम नामक स्कूल का उल्लेख आवश्यक है। बेसडो ने लोकहित (फिलान्थ्रोपी) की भावना से प्रेरित होकर फिलान्थ्रोपिनम नामक स्कूल खोला। उसके इस स्कूल की भाँति जर्मनी में और भी स्कूल खुले। इसके अतिरिक्त पेस्तालात्सी, फ्लेनबर्ग तथा कुछ अन्य शिक्षकों ने भी इसी प्रकार के स्कूल खोले। इन स्कूलों का प्रभाव यूरोप के अन्य देशों पर भी पड़ा। लेकिन इंगलैंड मे लोकहित शिक्षा का विकास तीव्रगति से हुआ। अतः इंगलैंड में लोकहित शिक्षा का अध्ययन आवश्यक है।

इङ्गलैंड में चैरिटी स्कूल—इंगलैंड में लोकहित शिक्षा का विकास सत्तरहवीं सदी में आरम्भ हो गया था क्योंकि वहाँ चर्च ने शिक्षा की ओर उस समय नाममात्र को ध्यान दिया। इसलिए कुछ 'चैरिटी स्कूल' (Charity School) खोले गये। लेकिन कुछ चैरिटी स्कूलों द्वारा इंगलैंड की शिक्षा-समस्या हल होनेवाली नहीं थी। इंगलैंड की अधिकतर जनता गरीब थी। उनके रहन-सहन की दशा शोचनीय थी। सरकार जनता की शिक्षा और स्वास्थ्य की चिंता करना अपना कर्त्तव्य नहीं मानती थी। अतः इंगलैंड के कुछ लोक सेवकों ने अट्टारहवीं सदी के आरंभ में एक संस्था स्थापित की इसका नाम था 'सोसाइटी फॉर प्रोमोटिंग क्रिश्चियन नालेज'। इस संस्था ने सराहनीय कार्य किया और इसकी ओर से इंगलैंड के प्रायः सभी स्थानों में चैरिटी स्कूल खोले गये। इन स्कूलों के विद्यार्थियों को न केवल निःशुक्ल शिक्षा ही मिलती थी, वरन् उन्हें मुफ्त पुस्तकें, भोजन तथा वस्त्र भी दिये जाते थे। ऐसे स्कूल बालक तथा बालिकाओं दोनों के लिए थे। बालिकाओं की शिक्षा में गृह-कार्य की प्रधानता थी और बालकों की शिक्षा में उद्योग-धंधों की। इस प्रकार चैरिटी स्कूलों का बड़ा प्रचार हुआ और १८ वीं सदी के मध्य में दो हजार ऐसे स्कूल खुल गये। इन

में कार्य करने के लिए कहा गया। इस प्रकार इंगलैंड में लोकहित शिक्षा का एक अंग संडे स्कूलों के रूप में विकसित हुआ।

लैंकास्टर का मानीटोरियल स्कूल—चैरिटी स्कूल और संडे स्कूल यद्यपि लोक-हित भावना से खोले गये थे, लेकिन उनका स्वरूप पूर्णतः लौकिक नहीं था। इन स्कूलों में धार्मिक शिक्षा की भी व्यवस्था थी। दूसरे शब्दों में चैरिटी स्कूल और संडे स्कूल लौकिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा प्रदान करते थे। लेकिन ज्यों-ज्यों लौकिक तथा जनतांत्रिक भावना का उदय होने लगा, त्यों-त्यों इस प्रकार की शिक्षा नापसंद की जाने लगी। फलतः ऐसी शिक्षा की आवश्यकता अनुभव हुई जो पूर्णतः लौकिक अथवा सामाजिक हो। इसके लिए जोसेफ लैंकास्टर* ने उल्लेखनीय कार्य किया। उसने सन् १७९८ ई० में 'मानीटोरियल' स्कूल' की स्थापना की। जैसा कि इस स्कूल के नाम से स्पष्ट है, इसमें शिक्षा-कार्य मानीटरों की सहायता से होता था। लैंकास्टर ने इस प्रकार शिक्षकों की कमी दूर करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त मानीटर-पद्धति लैंकास्टर ने इसलिए भी चलाया कि इसके द्वारा वह अधिक विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान कर सकता था। लैंकास्टर पहले मानी-टरों को पाठ पढ़ाता था और फिर मानीटरों द्वारा अन्य विद्यार्थियों की शिक्षा होती थी। मानीटर स्कूल के होनहार विद्यार्थी नियुक्त किये जाते थे। इस प्रकार लैंकास्टर अपने स्कूल में एक हजार बालकों को शिक्षा प्रदान करता था। उसकी शिक्षा लौकिक होती थी और उसमें किसी धर्म अथवा संप्रदाय सम्बन्धी शिक्षा के लिए स्थान न था। लैंकास्टर की लौकिक शिक्षा के समर्थकों ने सन् १८०८ ई० में एक संस्था बनाई। इस संस्था द्वारा लैंकास्टर के स्कूल को

*Joseph Lancaster (1778-1838)

सहायता प्रदान की जाने लगी क्योंकि लैंकास्टर की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। कुछ वर्षों के बाद सन् १८१४ ई० में 'ब्रिटिश एंड फारेन स्कूल सोसाइटी'* नामक संस्था संगठित हुई। इसके द्वारा लैंकास्टर के मानीटोरियल स्कूलों की स्थापना होने लगी और समाज में लौकिक शिक्षा का प्रसार होने लगा।

बेल का मानीटोरियल स्कूल—लौकिक शिक्षा की प्रगति देखकर धार्मिक और सांप्रदायिक शिक्षा के समर्थक चौकन्ने हुए और इन लोगों ने सन् १८११ में 'नेशनल सोसाइटी फॉर प्रोमोटिंग द एजूकेशन ऑफ द पूअर' नामक संस्था स्थापित की। इस संस्था की ओर से भी ऐसे मानीटोरियल स्कूल खोले गये जिनमें लौकिक से अधिक धार्मिक शिक्षा पर बल दिया जाता था। इस संस्था की ओर से डाक्टर ऐन्ड्रयू बेल † शिक्षा संचालक नियुक्त किए गये। इसके पूर्व डाक्टर बेल भारत के मद्रास प्रांत में ईसाई धर्म के पादरी के रूप में कार्य करते थे। इसी समय आपने मानीटर-पद्धति का 'आविष्कार' किया। भारत में यह पद्धति प्राचीन काल से प्रचलित थी और इसी को बेल महोदय ने इंगलैंड में चलाया। यह एक ऐसा सत्य है जिसे स्वीकार करने में पश्चिमी इतिहासकार आनाकानी करते हैं। बेल महोदय ने जो शिक्षा-पद्धति इंगलैंड में चलाई उसके सम्बन्ध में ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने बंगाल के गवरनर जनरल के नाम ३ जून सन् १८१४ को जो पत्र लिखा था उसका निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय है। यह पत्र भारतीय शिक्षा प्रणाली की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए लिखा गया था :—"शिक्षा का ज़ो तरीका बहुत पुराने समय से भारत में वहाँ के आचार्यों

---

*British & Foreign School Society

†Dr. Andrew Bell (1753-1832)

के अधीन जारी है, उसकी सबसे बड़ी प्रशंसा यही है कि रेवरेंड डॉक्टर बेल के अधीन, जो मद्रास में पादरी रह चुका है, वही तरीक़ा इस देश (इंगलैंड) में भी प्रचलित किया गया है; अब हमारी राष्ट्रीय संस्थाओं में इसी तरीके के अनुसार शिक्षा दी जाती है, क्योंकि हमें विश्वास है कि इससे भाषा का सिखाना बहुत सरल और सीखना बहुत सुगम हो जाता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि बेल महोदय ने जिस 'मानीटोरियल पद्धति' अथवा 'म्यूचुअल ट्यूशन' को चलाया, उसे उन्होंने भारत में सीखा था।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, बेल की अध्यक्षता में धार्मिक संप्रदायों द्वारा संचालित स्कूल थे। ये स्कूल लैकांस्टर की लौकिक शिक्षा की प्रतिक्रिया के रूप में थे। मगर इन दो प्रकार की संस्थाओं के स्वरूप में जो भी अंतर हो, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इनके द्वारा इंगलैंड की शिक्षा के विकास में सहायता मिली। जनता में अज्ञान का जो गहन अंधकार था, उसमें पर्याप्त कमी हुई। गरीब बालकों की शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था हुई। इस प्रकार मानीटोरियल पद्धति द्वारा अधिक से अधिक बालकों की शिक्षा कम से कम व्यय में होने लगी। लेकिन शिक्षा का जो मनोवैज्ञानिक विकास हो चुका था और जिसके फलस्वरूप बालक शिक्षा का केंद्र बन गया था, उस दृष्टि से मानीटर-पद्धति की शिक्षा दोषपूर्ण थी। मानीटोरियल स्कूलों में बालक से अधिक महत्त्व शिक्षा का था। अनुशासन अत्यंत कठोर था। विद्यार्थियों के लिए किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। इस प्रकार इंगलैंड में मानीटोरियल स्कूल शिक्षा के सभी नवीन सिद्धांतों की अवहेलना करते थे। लेकिन इतना होते हुये भी, विद्वानों का विचार है कि मानीटोरियल स्कूलों ने इंगलैंड की शिक्षा का स्तर ऊँचा किया। उस समय जो दूसरे स्कूल थे, उनकी दशा और भी गिरी हुई थी।

इसलिये मानीटोरियल स्कूलों का प्रचार और प्रसार हुआ। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी लैंकास्टर के मानीटोरियल स्कूल खोले गये। फ्रांस, हालैंड, बेल्जियम और डेन्मार्क में भी इनका प्रचलन हुआ। लेकिन कुछ समय के बाद मानीटोरियल स्कूलों के दोष इतने स्पष्ट हो चले कि लोगों ने कुछ दूसरी व्यवस्था करना चाहा।

शिशु-शिक्षा आंदोलन—लोकहित काल की शिक्षा का तीसरा स्वरूप शिशु-शिक्षालय आंदोलन में दिखाई देता है। वैसे तो इस आंदोलन का सूत्रपात पूर्वी फ्रांस में पादरी ओबरलिन ने किया था, लेकिन इसको वास्तविक सफलता राबर्ट ओवेन के कारण मिली। राबर्ट ओवेन* न्यू लेनार्क (स्काटलैंड) के एक कारखाने का व्यवस्थापक था। उसके हृदय में दीन-दुखियों के प्रति अपार करुणा थी। जब वह कारखाने में छोटे बच्चों को काम करते देखता, तब उसे बड़ा दुःख होता था। उन दिनों पाँच-छः वर्ष के बच्चे नौ वर्ष तक किसी कारखाने में १२-१३ घंटे प्रतिदिन काम करने के लिए ठीके पर दे दिये जाते थे। जब नौ वर्ष बाद वे कारखाने छोड़ कर निकलते, तब उनका स्वास्थ्य गिरा होता था और वे बिल्कुल अशिक्षित होते थे। इस प्रकार कितने ही बालकों का जीवन नष्ट होता था। इस बुराई को रोकने का प्रयास ओवेन ने शिशु-शिक्षालयों द्वारा किया। उसने सर्वप्रथम १८१६ ई०† में अपने कारखाने के पास ही शिशु-शिक्षालय खोला। इसमें तीन वर्ष की आयु के शिशु भर्ती किये गये और उन्हें सात वर्ष की आयु तक

---

*Robert Owen (1771—1858)

†ओवेन ने शिशु-शिक्षालय कब खोला, इसमें मतभेद है। मोनरो ने 'about 1799' लिखा है, लेकिन ग्रेव्ज़ और डगन ने १८१६। मेरे विचार से १८१६ ई० ही ठीक है।

शिक्षा दी जाती थी। शिशु-शिक्षालय में शिशुओं को नाचने, गाने और खेलने के पर्याप्त अवसर मिलते थे। उनकी शिक्षा मनोवैज्ञानिक थी। इसलिए शिशु-शिक्षालयों का इंगलैंड में बड़ा प्रचार हुआ। ओवेन ने जेम्स बचनन (James Buchanan) नामक जुलाहे को शिशु-शिक्षक नियुक्त किया। जेम्स सरल और उदार था। वह अधिक पढ़ा-लिखा भी न था। लेकिन ओवेन ने उसे साधारण शिक्षा देकर शिशु-शिक्षक बना दिया। कुछ दिनों के बाद जेम्स को शिशु-शिक्षण कार्य के लिए लंदन जाना पड़ा। लंदन में शिशु-शिक्षा के महान् समर्थक सैमुअल विल्डरस्पिन (Samuel Wilderspin) थे। इन्होंने ही जेम्स बचनन को शिक्षण-कार्य के लिए बुलाया था। जेम्स साधारण-बुद्धि का व्यक्ति था। उसने लंदन में जो शिशु-शिक्षालय खोला, उसमें ओवेन की मौलिकता न थी। इसलिए लंदन का शिशु-शिक्षालय निर्जीव-सा था। मगर फिर भी विल्डरस्पिन के अथक परिश्रम से शिशु-शिक्षालयों की उन्नति हुई। सन् १८३४ में शिशु-शिक्षकों की ट्रेनिंग की व्यवस्था के लिए 'होम एंड कलोनियल स्कूल सोसाइटी' की स्थापना हुई। इस प्रकार शिशु-शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था की गई और शिक्षकों की ट्रेनिंग पेस्तालात्सी और फ्रोयबेल के अनुसार दी जाने लगी। इसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी शिशु-शिक्षा आंदोलन सफलतापूर्वक चला।

(२) **संक्रमण काल**—मोनरो महोदय शिक्षा के सामाजिक विकास में संक्रमण काल का उल्लेख नहीं करते। उनके अनुसार लोकहित काल के पश्चात् राज्य-शिक्षा काल आना चाहिए। लेकिन डगन महोदय के अनुसार संक्रमण काल का उल्लेख आवश्यक है क्योंकि इसी काल में शिक्षा पर राज्य के पूरे अधिकार की भूमिका तैयार हुई थी। शिक्षा किस प्रकार राज-

नीतिक दृष्टिकोण से अपनायी गई, यह संक्रमण काल के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

शिक्षा के सामाजिक विकास के संक्रमण काल में 'समय' का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि विचारधारा का। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि जर्मनी में फ्रेड्रिक महान् ने अठारहवीं सदी में ही शिक्षा द्वारा राज्य को शक्तिशाली बनाने का सिद्धांत स्वीकार कर लिया था। लेकिन उसके समय में शिक्षा राज्य की शक्ति के रूप में विकसित न हो सकी क्योंकि चर्च का इससे विरोध था। लेकिन १८०६ ई० में नैपोलियन के आक्रमण के बाद जर्मनी के शासकों और नेताओं ने यह अनुभव किया कि सम्पूर्ण राष्ट्र में राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की भावना उत्पन्न करने के लिए शिक्षा-प्रणाली का परिवर्तन आवश्यक है।

जमनी की भाँति संयुक्तराष्ट्र अमेरिका और फ्रांस में भी यह अनुभव किया गया कि राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए शिक्षा पर सरकारी अधिकार आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका जब स्वतंत्र हुआ और नाममात्र का लोकतंत्र स्थापित हुआ तब लोगों ने अनुभव किया कि लोकतंत्र को शक्तिशाली बनाने के लिए नागरिकों को नागरिकता की शिक्षा देना आवश्यक है। इसी प्रकार फ्रांस की क्रांति के बाद फ्रांस में भी जन-शिक्षा की माँग की जाने लगी और सन् १८३३ ई० में प्रारम्भिक शिक्षा का आरंभ किया गया। समय के साथ शिक्षा पर राज्य का अधिकार बढ़ने लगा और सन् १८८१-८२ में कानून द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य बना दिया गया। इतना ही नहीं कानून द्वारा धार्मिक तथा सांप्रदायिक शिक्षा पर रोक लगा दी गई।

इंगलैंड में शिक्षा की राज्य-प्रणाली के विकास में न तो जर्मनी की भाँति राज्य-शक्ति का प्रश्न था और न संयुक्त राष्ट्र अमेरिका

तथा फ्रांस की भाँति नागरिकता और लोकतंत्र का। वहाँ वर्ग-भेद की शक्ति कार्य कर रही थी। एक वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के निमित्त शिक्षा द्वारा विरोधी वर्ग को हानि पहुँचाने की कोशिश करता था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप इंगलैंड में उद्योग-धंधों का विकास तीव्रगति से होने लगा। देहातों से लोग आकर नगरों में, कारखानों के निकट बसने लगे। उद्योगपतियों की उन्नति देखकर जमींदार वर्ग मन ही मन कुढ़ने लगा और ऐसे उपाय ढूँढ़ने लगा जिनके द्वारा उद्योगपतियों के मुनाफे में कमी की जा सके और उनकी हानि हो सके। फलतः जमींदार वर्ग ने कारखाने में काम करनेवाले मजदूरों का पक्ष लेकर उनकी शिक्षा आदि के लिए विधान बनवाया। इस प्रकार के विधान की स्वीकृति के लिए सन् १८०२ से १८३५ तक जमींदार वर्ग प्रयत्नशील रहा। इसके फलस्वरूप, खानों और कारखानों में स्त्रियों और बालकों के कार्य करने पर कुछ बंधन लगा दिये गये। उद्योग-पतियों ने भी जमींदारों के विरुद्ध ऐसे विधान स्वीकृत कराये। इसके फलस्वरूप किसानों को अधिक सुविधायें मिलीं। इस प्रकार इंगलैंड के किसान और मजदूरों को अधिक सुविधायें मिली और उनमें शिक्षा का प्रचार हुआ। फलतः सरकार ने शिक्षा का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया।

(३) राजनीतिक काल—शिक्षा के सामाजिक विकास की पूर्ति राजनीतिक काल में होती है। संक्रमण काल के पश्चात् पश्चिमी देशों की शिक्षा राज्य (स्टेट) के संरक्षण में पूर्ण रूप से आ गई। जर्मनी में उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ही राज्य-शिक्षा प्रणाली कार्यन्वित हो चली थी। सन् १८०७ में राज्य की ओर से 'ब्यूरो ऑफ एजूकेशन' खोला गया और फिर बाद में इसी का नाम सन् १८२५ में 'मिनिस्ट्री आफ एजूकेशन' कर दिया गया। जर्मनी में

शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण बढ़ने लगा। इसलिए १८२५ ई० के बाद १८५४ और १८७२ ई० में भी जर्मनी में राज्य-शिक्षा-प्रणाली को भली भाँति संगठित करने का प्रयास किया गया। फलतः प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में पर्याप्त सुधार हुआ। पेस्तालात्सी, हरबार्ट और फ्रोयबेल ने प्राथमिक विद्यालयों के संगठन की नींव मजबूत बना दी थी। लेकिन समय के परिवर्तन के साथ प्राथमिक विद्यालयों में भी सुधार हुआ। राज्य ने माध्यमिक विद्यालयों का भी संगठन किया और जर्मन परम्परा को ध्यान में रखते हुए उनके तीन रूप निश्चित किये गये जो इस प्रकार हैं:—(१) जिमनैजियम, (२) रीयल स्कूल, (३) रीयल जिमनैजियम।

फ्रांस में राज्य-शिक्षा प्रणाली का आरंभ नैपोलियन ने सन् १८०८ में 'यूनीवर्सिटी ऑफ फ्रांस' की स्थापना के रूप में किया। इसी यूनीवर्सिटी की देख-रेख में माध्यमिक शिक्षा का संगठन किया गया। लेकिन प्राथमिक शिक्षा में कोई सुधार नहीं हुआ। इसकी ओर ध्यान 'थर्ड रिपब्लिक' के समय में गया और सन् १८८१ ई० में प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क और सन् १८८२ में अनिवार्य कर दी गई। इसके बाद सन् १८८६ में राज्य ने पादरियों को शिक्षा से अलग कर दिया। इस प्रकार फ्रांस में राज्य-शिक्षा प्रणाली की स्थापना हुई।

इगंलैंड में राज्य-शिक्षा प्रणाली का आरंभ सन् १८३३ से होता है जब कि सरकार ने बीस हजार पौंड शिक्षा के लिए दिया। धन से शिक्षालय-भवन बने और मानीटोरियल संस्थाओं को अनुदान (grant) दिये गये। इसके बाद सन् १८७० में 'फारस्टर एलिमेंटरी एजूकेशन एक्ट' द्वारा शिक्षा के लिए बोर्ड बनाने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार बोर्ड की ओर से सरकारी सहायता प्राप्त

स्कूल खोले गये। लेकिन इस एक्ट में कुछ दोष था। फलतः १८७६ में अनिवार्य शिक्षा का विधान स्वीकृत हुआ। इसके बाद १९०२ में प्रारम्भिक शिक्षा का पूरा उत्तरदायित्व राज्य ने अपने ऊपर ले लिया। इस प्रकार अन्य देशों में भी राज्य-शिक्षा-प्रणाली की स्थापना हुई और उनके द्वारा शिक्षा के सामाजिक विकास हुआ।

सामाजिक विकास का प्रभाव—लेकिन शिक्षा के जिस सामाजिक विकास का हमने अध्ययन किया उसमें दो बातें ऐसी हैं जो उसके प्रभाव को स्पष्ट करती हैं। पहली बात तो यह है कि शिक्षा के सामाजिक विकास में राजनीतिक चेतना है। दूसरे शब्दों में शिक्षा द्वारा सामाजिक जीवन के नागरिक और जन-तांत्रिक पक्ष की ओर ध्यान दिया गया। दूसरी बात यह है कि शिक्षा के सामाजिक विकास में आर्थिक दशा का भी ध्यान रखा गया। इस प्रकार राजनीतिक और आर्थिक दशाओं का शिक्षा के सामाजिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान था और इनके कारण शिक्षा में नवीन विचारों का समावेश हुआ।

राजनीतिक पक्ष—राजनीतिकप्रभाव के फलस्वरूप नाग-रिक अधिकारों और जनतंत्रात्मक शासन के लिए शिक्षा को उप-योगी समझा गया। अतः इसके कारण (१) सार्वजनीन, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। (२) राज्य ने शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। (३) शिक्षा के पाठ्यक्रम में नागरिक शास्त्र और सामाजिक विषय का महत्त्व बढ़ा (४) पाठन-विधि में परिवर्तन हुआ। अतः सामाजिक विषयों (इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र) का दृष्टिकोण बदला। इस बदले हुए दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास राजाओं और उनके युद्धों का वर्णन न होकर सामाजिक विकास और जन-संस्कृति की कहानी बन गया।

भूगोल पर्वतों, नदियों आदि की सूची न होकर जीवन पर भौगोलिक प्रभावों का अध्ययन हो गया। इसी प्रकार नागरिक-शास्त्र में राज्य के संगठन से अधिक उसकी कार्य-प्रणाली के अध्ययन पर अधिक बल दिया गया। (५) और सबसे बड़ा परिवर्तन अध्यापक के जीवन में आया। अब अध्यापक समाज का आवश्यक अंग बन गया। इस प्रकार शिक्षा के सामाजिक विकास के राजनीतिक पक्ष के फलस्वरूप ऊपर दिये गये परिवर्तन हुए।

आर्थिक पक्ष—औद्योगिक विकास के फलस्वरूप शिक्षित और कुशल कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसके अतिरिक्त कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों में भी चेतना उत्पन्न हुई और उन्होंने भी अपने कार्य के अनुकूल शिक्षा की माँग की। फलतः 'औद्योगिक शिक्षा' का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त 'टेकनिकल', 'कमर्शियल' और 'एग्रिकल्चरल' स्कूलों की व्यवस्था की गई जिससे प्रत्येक क्षेत्र में कुशल कार्यकर्त्ता मिल सके और अधिक से अधिक उत्पादन हो सकें। इस प्रकार शिक्षा के आर्थिक पक्ष के फलस्वरूप कई प्रकार के औद्योगिक शिक्षण संस्थाओं का संगठन हुआ और साथ ही व्यक्ति को उत्पादन में सहायक बनाने, तथा आर्थिक लाभ के लिए शिक्षा का दृष्टिकोण भी बदला गया।

सामयिक विकास

पश्चिमी शिक्षा के सामयिक विकास में शिक्षा की अनेक विचार-धारायें निहित हैं। इसके आरंभ में सर्वप्रथम हमें मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और सामाजिक आदि प्रवृत्तियों के श्रेष्ठ और शाश्वत तत्वों का संग्रह मिलता है। ऐसा होना उचित भी है क्योंकि जो भी नवीन विकास होता है उसका बीज अतीत के विकास में निहित है। अतः हम देखते हैं कि सामयिक विकास के आरंभ में एक प्रकार की समाहारक, उद्धारक (Eclectic) प्रवृत्ति कार्य कर रही है। इसके फलस्वरूप पश्चिमी शिक्षा के प्रगतिशील तत्वों एकीकरण की ओर ध्यान दिया गया, और इसी के साथ व्यावहारिकता की भी माँग की गई। दूसरे शब्दों में, पश्चिमी शिक्षा का सामयिक विकास अतीत की शिक्षा के जीवित तत्वों के संग्रह द्वारा होता है। इस संग्रह की विशेषता है समभावना, एक-रसता और व्यावहारिकता। इस प्रकार सामयिक शिक्षा, सिद्धांत और व्यवहार पर समान बल देती है।

समाहारक प्रवृति*—सामयिक शिक्षा के विकास को पूर्ववर्त्ती प्रवृत्तियों से बड़ी प्रेरणा मिली। इसीलिए शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास के तत्वों का समावेश सामयिक शिक्षा की पद्धति में किया गया। वैज्ञानिक विकास के प्रकाश में शिक्षा के विषयों में परिवर्त्तन तथा परिवर्धन किया गया। सामाजिक विकास की सहायता से सामयिक शिक्षा ने अपने उद्देश्यों का विस्तार और व्यक्ति तथा समाज में शिक्षा द्वारा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित

---

*Eclectic Tendency.

किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी शिक्षा के सामयिक विकास का आरंभ समाहारक प्रवृत्ति द्वारा होता है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप सामयिक शिक्षा रूसो के उन विचारों को ग्रहण करती हैं जो बालक को शिक्षा का केंद्र और शिक्षा को जीवन का अभिन्न अंग मानते हैं। यही प्रवृत्ति पेस्तालात्सी के इस सिद्धांत को स्वीकार करती है कि शिक्षा के लिए बालक का 'ज्ञान' और उसके प्रति सहानुभूति आवश्यक है। यही प्रवृत्ति हरबार्ट के अनुसार यह मानती है कि शिक्षण तथा पाठ्यक्रम का संगठन मनोवैज्ञानिक होना चाहिए। इसी प्रवृत्ति में फ्रोयबेल के बाल-क्रिया और खेल द्वारा शिक्षा सम्बन्धी विचार निहित हैं। स्पेंसर ने जीवन की पूर्णता और तैयारी की दृष्टि से जिस वैज्ञानिक शिक्षा का चित्रण किया उसका भी समाहारक प्रवृत्ति में स्थान है। और आज जब शिक्षा का उद्देश्य सुयोग्य नागरिकता का निर्माण करना कहा जाता है तब उसके पीछे हमें शिक्षा के सामाजिक विकास की झलक दिखाई देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामयिक विकास के आरंभ में शिक्षा की समाहारक प्रवृत्ति ने क्या कार्य किया।

सामयिक शिक्षा का स्वरूप—समाहारक प्रवृत्ति की प्रेरणा से सामयिक शिक्षा ने अपना ऐसा स्वरूप निश्चित किया जिसमें प्रगतिशील विचारों और सिद्धांतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सामायिक शिक्षा के स्वरूप में निम्नलिखित बातें प्रमुख हैं:—

(१) शिक्षा का पाठ्यक्रम सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल हो।

(२) शिक्षण-पद्धति मनोवैज्ञानिक तथा सभी दोषों से मुक्त हो।

(३) शिक्षण-पद्धति की सफलता के लिए शिक्षकों की उचित दीक्षा हो।
(४) शिक्षा के विभिन्न विषयों में सह-सम्बन्ध और समन्वय हो।
(५) शिक्षण-कार्य के लिए विशेष-योग्यता * आवश्यक हो।
(६) शिक्षण-कार्य उपजीविका † के रूप में स्वीकृत हो।
(७) शिक्षा धार्मिक न होकर लौकिक (Secular) हो।
(८) शिक्षा द्वारा अंध-विश्वास के स्थान पर विचार-शक्ति का विकास हो।
(९) शिक्षा में उद्योग-धंधों का समावेश हो।
(१०) समाज शिक्षा के विकास में पूर्ण रूप से सहायक हो।

सामयिक शिक्षा-पद्धति—इस प्रकार सामयिक शिक्षा के स्वरूप में जो दस बातें प्रमुख स्थान रखती हैं, उनका सम्बन्ध शिक्षा के मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और सामाजिक विकास से किसी न किसी रूप में है। इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा की जिन बातों पर पूर्वकालीन शिक्षाशास्त्रियों ने बल दिया, उन्हें सामयिक शिक्षा ने आवश्यकतानुसार अपनाया। फलतः सामयिक शिक्षा-पद्धति में बाल मनोविज्ञान के अध्ययन पर अत्यधिक बल दिया जाता है और कहा जाता है कि जब तक बालक की रुचि शिक्षा में नहीं होगी तब तक उसका मन शिक्षा में नहीं लगेगा। जब शिक्षक बालक में पाठ के प्रति रुचि उत्पन्न करेगा, तभी बालक पाठ ग्रहण करने के लिए प्रयास करेगा। सामयिक शिक्षा-पद्धति के इस नवीन दृष्टि कोण के फलस्वरूप बालक के सहज अवधान का महत्त्व बढ़ गया है और किसी प्रकार की बाध्यता द्वारा अवधान

---

*Specialization †Profession.

लाने का विचार त्याग दिया गया है। इसी के साथ बालक को स्वयं सीखने और अनुभव करने का अधिक अवसर दिया जाता है।

सामयिक शिक्षा का पाठ्यक्रम—सामयिक शिक्षा व्यक्तिका विकास सामयिक जीवन की सफलता की दृष्टि से करना चाहती है। अतः सामयिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में जीवन और समाज की आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता है। इस दृष्टि से शिक्षा के पाठ्यक्रम में उन विषयों को स्थान दिया जाता है जो बालक के जीवन को सुखमय बना सके और उसे सामाजिक कार्यों को करने की कुशलता प्रदान कर सके। इसी के साथ सामयिक शिक्षा बालक के नैतिक और सांस्कृतिक विकास पर भी बल देती है। मगर इतना सब कुछ होते हुए भी शिक्षा की समस्या सदा बनी रहती है। उस समस्या को हल करने में अनेक विद्वान लगे हुए हैं। ऐसे विद्वानों और शिक्षकों में जॉन डिवी और डा० मांटसोरी का नाम उल्लेखनीय है। अतः अब हम इनके विचारों का अध्ययन करेंगे।

ठामस हक्सले (१८२५-१८९५)

जॉन डुई (१८५९)

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक
(१८७४)

जॉन डिवी

जीवन और कार्य—जॉन डिवी का जन्म संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के बर्लिंगटन, वर्मोंट नामक स्थान में सन् १८५९ में हुआ था। उनके जीवन के प्रारम्भिक बीस वर्ष वर्मोंट के नैसर्गिक वातावरण में बीते। यहीं उन्होंने शिक्षा भी पाई। इस प्रकार डिवी के जीवन में 'ग्रामीण सरलता' का समावेश हुआ। दर्शनशास्त्र में उनकी विशेष रुचि थी। इसलिए इस विषय का डिवी ने पूर्ण अध्ययन किया। अध्ययन के पश्चात् उन्होंने अध्यापन कार्य आरंभ किया। मिनसोटा विश्वविद्यालय में (१८८८-८९) तक, मिशीगन विश्वविद्यालय में (१८८९-९४) तक और शिकागो विश्वविद्यालय में (१८९४-१९०४) तक डिवी ने अध्यापन कार्य किया। शिकागो विश्वविद्यालय में जब डिवी अध्यापन-कार्य के लिए नियुक्त किये गए, तब उन्हें दर्शनशास्त्र के साथ शिक्षाशास्त्र भी पढ़ाने के लिए कहा गया। डिवी की रुचि शिक्षाशास्त्र में विशेष रूप से थी। इसलिए उन्होंने शिक्षा-सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये। इसके लिए डिवी ने शिकागो में एक स्कूल भी खोला, जिसे 'प्रोग्रेसिव स्कूल' का नाम दिया गया। डिवी ने शिक्षा-सम्बन्धी जो अनुभव प्राप्त किये उसे उन्होंने अपनी पुस्तक 'द स्कूल एंड सोसाइटी' (१८९९) में लिखा। इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् डिवी को बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त हुई। शिकागो विश्वविद्यालय से डिवी कोलम्बिया यूनिवर्सिटी न्यूयार्क में चले आए। यहाँ आकर डिवी ने शिक्षा के अनेक दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या की। उनका शिक्षा-दर्शन हमें 'डिमाक्रेसी एंड एजूकेशन' (१९१३) में मिलता है। इसके बाद उन्होंने 'स्कूल्स ऑफ टुमारो' (१९१५) नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी।

विद्वानों का विचार है कि 'डिमाक्रेसी एंड एजूकेशन' डिवी की शिक्षा-संम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है।

प्रगतिशील शिक्षा—जॉन डिवी के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का अध्ययन स्पष्टतापूर्वक उस समय कर सकेंगे जब कि हमें उनके समय में प्रचलित शिक्षा-विचारधारा का ज्ञान होगा। इस दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि शिक्षा में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को लेकर अनेक विचार प्रगट किये जा रहे थे। यह सभी स्वीकार करते थे कि शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व के विकास के अधिक अवसर उपस्थित होने चाहिएँ। साथ ही लोग यह भी मानते थे कि शिक्षा जनतंत्र, तथा सामाजिक न्याय की रक्षा का महान् साधन है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन विचारों को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि जिस व्यक्तिवादी शिक्षा का आरंभ रूसो ने अट्ठारहवीं सदी में किया, उसके विकास में व्यक्तिवादी मनोविज्ञान लगा। इसी के फलस्वरूप वैयक्तिक शिक्षा पर बल दिया गया और इसी की पूर्ति के लिए अनेक क्रियाशील पद्धतियाँ (Activity methods) प्रचलित हुईं। दूसरी ओर हरबार्ट और फ्रोयबेल के विचारों के सहारे प्रगतिशील शिक्षा (Progressive education) की कल्पना की जाने लगी। इस वर्ग के अनुसार व्यक्तित्व का विकास सक्रिय सामाजिक जीवन से हो सकता था। दूसरे शब्दों में, शिक्षकों का जो वर्ग प्रगतिशील शिक्षा के पक्ष में था उसने पाठ्यक्रम में सामाजिक विषयों को प्रमुख स्थान दिया। इसी के साथ शिक्षालय-संगठन में बालकों को सक्रिय भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाने लगा। इसके फलस्वरूप विद्यार्थी-सभा' आदि के संगठन की आवश्यकता स्कूलों में अनुभव हुई क्योंकि यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाने लगा कि यदि बालकों को जनतांत्रिक समाज में जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देना है,

बो उन्हें यह सिखाना होगा कि जनतांत्रिक समाज कैसे बनता है और उसमें किस प्रकार रहना चाहिए। इस प्रकार प्रगतिशील शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक विचार व्यक्त किये जा रहे थे। लेकिन उन विचारों को सैद्धांतिक स्वरूप देने का कार्य जॉन डिवी ने किया। इसीलिए डिवी को बीसवीं सदी का सबसे बड़ा शिक्षा-शास्त्री प्रायः सभी लोग मानते हैं।

प्रगतिशील शिक्षालय—जैसा कि हमें ज्ञात है, डिवी ने शिकागो में प्रगतिशील शिक्षालय (प्रोग्रेसिव स्कूल) खोला था। इस स्कूल में चार वर्ष से लेकर तेरह वर्ष के विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। डिवी ने इसी प्रगतिशील शिक्षालय के अनुभवों के आधार पर प्रगतिशील शिक्षा के सिद्धांत निर्धारित किये। ऐसा करते समय उन्होंने सामाजिक मनोविज्ञान (Social psychology) तथा दर्शनशास्त्र के सिद्धांतों से भी सहायता ली। इस प्रकार डिवी ने शिक्षा के जो सिद्धांत निर्धारित किये उनका बहुत प्रभाव पड़ा और उन्हीं के सहारे प्रगतिशील शिक्षा का स्वरूप निश्चित हो सका। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बीसवीं सदी में शिक्षा के नवीन आंदोलन को संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में 'प्रोग्रेसिव' कहते हैं और इसी को यूरोप में 'न्यू एजूकेशन' कहा जाता है।

डिवी ने अपने प्रगतिशील शिक्षालय का संचालन इस सिद्धांत पर किया कि स्कूल जीवन की तैयारी में उसी सीमा तक सहायक हो सकता है जिसमें वह सामाजिक जीवन के अनुकूल परिस्थितियाँ उपस्थित करता है। दूसरे शब्दों में, डिवी का यह निश्चित मत था कि शिक्षालय में ऐसी पद्धति का अनुसरण किया जाय जो बालक का सामाजिक जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से परिचय करावे। इस प्रकार शिक्षालय-समाज में प्रत्येक विद्यार्थी नागरिक की हैसियत से हो। डिवी के अनुसार स्पेंसर का यह मत कि शिक्षा जीवन

की तैयारी में सहायक हो, अपूर्ण सिद्ध होता है। डिवी तो शिक्षा और जीवन को एक मानता है। उसके मतानुसार जीवन को शिक्षालय होना चाहिए।* इस प्रकार जीवन और शिक्षालय को एक मानकर डिवी ने शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन करना चाहा। इसीलिए उसने अपने प्रगतिशील शिक्षालय में जीवन के उन सभी कार्यों को स्थान दिया जिनकी कि आवश्यकता पड़ती है।

दार्शनिक विचारधारा—जान डिवी मूलतः दार्शनिक हैं। उनका दर्शन शिक्षा को भी प्रभावित करता है। इसलिए उनकी दार्शनिक विचारधारा का संक्षेप में उल्लेख आवश्यक है। जहाँ तक दार्शनिक वादों (isms) का सम्बन्ध है, जान डिवी प्रमुख रूप से प्रयोगवादी (Pragmatist) और विचार-साधनवादी (Instrumentalist) हैं। प्रयोगवाद (Pragmatism) किसी विचार की व्यावहारिकता को सत्य मानता है। † विचार-साधनवाद (Instrumentalism) के अनुसार विचार प्रतिक्रिया (response) और परिस्थितिके अनुकूल कार्य करने (adaptation) के साधन हैं और उनके सत्य की कसौटी उनसे उत्पन्न होनेवाला प्रभाव है। इस प्रकार डिवी के अनुसार सत्य किसी विचार की व्यावहारिकता और उसका प्रभाव है। ‡

व्यावहारिकता को सत्य मानकर डिवी आदर्शवादी दर्शन का

---

* The "school should be life not a preparation for living".—Dewy

† Pragmatism : the doctrine that truth is the practical efficacy of an idea.

‡ Instrumentalism : the doctrine that ideas are instruments of response and adaptation, and that their truth is to be judged in terms of their effectiveness.

त्याग करता है, और दर्शन के व्यावहारिक पक्ष पर बल देकर उसे धार्मिक प्रभावों से भी मुक्त करता है। इसलिए डिवी की दार्शनिक विचारधारा में धार्मिक पुट नहीं है। वह तो दर्शनशास्त्र को सामाजिक न्याय का साधन मानता है। इसीलिए वह अपने दर्शन द्वारा लोगों के विचारों में स्पष्टता लाना चाहता है जिससे वे सामाजिक गुत्थियाँ सुलझा सकें। यह कार्य डिवी के अनुसार प्रयोग और अनुभव द्वारा हो सकता है। इस दृष्टि से लोगों की विचार-प्रणाली प्रयोगवादी होनी चाहिए। बिना इसके सामाजिक जीवन में पूर्णता नहीं लाई जा सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि डिवी की दार्शनिक विचारधारा व्यावहारिक है। इसीलिए वह दर्शनशास्त्र को संसार के ज्ञान का साधन नहीं मानता, वरन् वह शिक्षा मानता है जो संसार पर नियंत्रण रखने और उसके पुर्नसंगठन में सहायक होती है। दूसरे शब्दों में, दर्शन और शिक्षा दो होते हुए भी एक है। इसीलिए डिवी का कथन है कि दर्शन शास्त्र को शिक्षा का सामान्य सिद्धांत भी कहा जा सकता है।*

जीवन और शिक्षा—डिवी की दार्शनिक विचारधारा से परिचित होने के पश्चात्, अब हमें उनके उन विचारों का अध्ययन करना है जो उसके शिक्षा-सिद्धांत के निर्माण में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से हमें सर्व प्रथम डिवी के जीवन और शिक्षा सम्बन्धी विचार जानना चाहिए। 'डिमाक्रेसी एंड एजूकेशन' के प्रथम अध्याय में उन्होंने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। डिवी का विचार है कि शिक्षा जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक है क्योंकि बिना शिक्षा के जीवन की प्रगति नहीं हो सकती। यहाँ

*Philosophy may even be defined as the general theory of education.

यह उल्लेखनीय है कि जब डिवी जीवन का उल्लेख करता है, तब उसका तात्पर्य उस जीवन से है जिसका जीव-वैज्ञानिक महत्त्व नहीं, वरन् समाजशास्त्रीय महत्त्व है। इसीलिए डिवी जीवन की व्याख्या करते समय कहते हैं कि जीवन में रीति-रिवाज, संस्थायें, विश्वास, जय और पराजय, मनोरंजन और कार्य सभी सम्मिलित हैं। दूसरे शब्दों में, डिवी जब जीवन का उल्लेख करते हैं, तब उनका तात्पर्य सामाजिक जीवन से होता है। यह सामाजिक जीवन समय के साथ परिवर्तित होता रहता है। इसका कभी अंत नहीं। अंत तो उन व्यक्तियों का होता है जो समाज में रहते हैं। लेकिन उन व्यक्तियों द्वारा किये गये सामाजिक कार्य सदा जीवित रहते हैं। शिक्षा इन्हीं सामाजिक कार्यों से उन व्यक्तियों का परिचय कराती है जो समाज में जन्म लेते हैं। इस प्रकार शिक्षा जाने और आने वाली पीढ़ियों का सम्बन्ध बनाये रखती है। दूसरे शब्दों में, शिक्षा सामाजिक जीवन के प्रवाह को बनाये रखती है। यदि शिक्षा न हो तो (सामाजिक) जीवन न हो। अर्थात् शिक्षा का अभाव (सामाजिक) जीवन का अभाव है। शिक्षा का होना (सामाजिक) जीवन का होना है। इसीलिए डिवी महोदय शिक्षा को जीवन कहते हैं।

समाज और शिक्षा—सामाजिक जीवन और शिक्षा के इस अटूट सम्बन्ध को देख लेने के बाद समाज और शिक्षा पर इस दृष्टि से विचार करना है कि समाज शिक्षा में कहाँ तक सहायक होता है। डिवी महोदय का विचार है कि जब व्यक्ति समाज में जन्म लेता है, तब उसका विकास सामाजिक वातावरण में होता है। वातावरण का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है और उस प्रभाव के फलस्वरूप व्यक्ति की ओर से प्रतिक्रिया होती है। इन्हीं प्रतिक्रियाओं के आधार पर वह सामाजिक जीवन और संस्कृति

ग्रहण करता है। इस प्रकार डिवी का विचार है कि व्यक्ति को जैसा वातावरण मिलता है उसी के अनुरूप उसका जीवन बनता है। यहाँ वातावरण से डिवी का तात्पर्य उन परिस्थितियों से है जिनपर व्यक्ति की कार्य-प्रणाली की सफलता या असफलता निर्भर होती है। इस प्रकार व्यक्ति जो भी कार्य करता है, उसका स्वरूप उसके वातावरण के अनुसार बनता है।

व्यक्ति और उसके वातावरण के इस घनिष्ट सम्बन्ध के आधार पर डिवी सामाजिक वातावरण पर विशेष प्रकाश डालते हैं। व्यक्ति जो कुछ भी करता है, उसका सामाजिक महत्त्व होता है। वास्तव में व्यक्ति के कार्य का महत्त्व इसमें है कि उसके द्वारा समाज की किन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। समाज की विभिन्न आवश्यकताओं में से किसी आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार करता है। लेकिन जब तक उसमें योग्यता नहीं होती, तब तक वह सामाजिक कार्य नहीं कर पाता। अतः इस योग्यता को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रयत्न करता है। प्रयत्न करते समय वह अपने वातावरण से प्रभावित होता है। उस पर उन व्यक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है, जिनके सम्पर्क में वह आता है; और इन प्रभावों के फलस्वरूप उसकी जो प्रतिक्रिया होती है, उसी के अनुसार उसका जीवन और उसकी योग्यता का विकास होता है। समाज शिक्षा द्वारा व्यक्ति के विकास के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करता है। इसीलिए डिवी का विचार है कि शिक्षालय को समाज का लघु रूप होना चाहिए, जिससे बालक शिक्षालय-समाज में सामाजिक जीवन की शिक्षा ग्रहण कर सके।

जनतंत्र और शिक्षा—समाज और शिक्षा पर विचार कर लेने के पश्चात् यह विचार करना है कि शिक्षा द्वारा कैसे

समाज का विकास आवश्यक है, क्योंकि समाज के अनेक रूप हो सकते हैं। क्या शिक्षा उस समाज का विकास करे जिसमें अधिनायकवाद हो ? अथवा शिक्षा ऐसे समाज के निर्माण में सहायक हो जो जनतांत्रिक हो ? डिवी का विचार है कि शिक्षा द्वारा ऐसे समाज का निर्माण हो जिसमें समाज के सभी सदस्य आपस में एक दूसरे के साथ सहयोग करें। शिक्षा द्वारा ऐसे समाज का निर्माण नहीं होना चाहिए जिसके सदस्यों में आपसी सहयोग, और भ्रातृत्व न हो। इसके अलावा समाज में व्यक्ति के विकास की पूरी स्वतन्त्रता हो। इस प्रकार डिवी के अनुसार शिक्षा द्वारा ऐसे समाज का विकास किया जाय जिसके सभी सदस्यों में आपसी सहयोग हो और प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व के विकास की पूरी स्वतन्त्रता हो। डिवी की धारणा है कि इस प्रकार की सुविधाएँ केवल जनतांत्रिक समाज में ही हो सकती है। जनतांत्रिक समाज में प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार और अवसर प्राप्त होते हैं और जो भी कार्य होता है उसमें समाज के हित का पूरा ध्यान रखा जाता है। इसलिए डिवी का कथन है कि ऐसे जनतांत्रिक समाज के निर्माण में शिक्षा उसी समय सहायक हो सकती है जब व्यक्ति में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि उसका हित समाज का हित है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति की उन्नति और समाज की उन्नति में एकता स्थापित करने वाली शिक्षा ही जनतांत्रिक समाज के अनुकूल हो सकती है। जो शिक्षा व्यक्ति में इस प्रकार की भावना न उत्पन्न कर, उसे असहयोग, और असंयम के मार्ग पर ले जाय, वह कभी भी जनतांत्रिक समाज के योग्य नहीं हो सकती। इस प्रकार डिवी शिक्षा और जनतंत्र के आपसी सम्बन्ध पर बल देते हैं। उन्होंने यह भली-भाँति स्पष्ट किया कि आधुनिक समाज जब तक जनतांत्रिक न होगा, तब तक न तो व्यक्तियों में सहयोग होगा

और न प्रत्येक को विकास के लिए समुचित अवसर प्राप्त होंगे। इसलिए शिक्षा द्वारा जनतांत्रिक समाज का निर्माण करना ही हितकर है।

शिक्षा का उद्देश्य—डिवी शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करने के पूर्व केवल 'उद्देश्य' पर विचार करना भी आवश्यक समझते हैं, क्योंकि जब तक 'उद्देश्य' के स्वरूप का स्पष्ट बोध नहीं होगा, तब तक शिक्षा के उद्देश्यों के वास्तविक महत्त्व का ज्ञान असंभव है। इस दृष्टि से डिवी की धारणा है कि कोई भी उद्देश्य हो, उससे सर्व प्रथम यह स्पष्ट होना चाहिए कि क्या वह कार्य की पूर्ति का भी निर्देश करता है? दूसरे शब्दों में, डिवी महोदय चाहते हैं कि उद्देश्य परिणाम (result) का भी संकेत करे। किसी कार्य के उद्देश्य से ज्ञात होना चाहिए कि उस कार्य को एक व्यवस्था है जो उसके परिणाम का भी निर्देश करती है। इस प्रकार उद्देश्य कार्य की व्यवस्था (order) का आभास देता है जो परिणाम की कल्पना में सहायक होता है।* इसके पश्चात् डिवी का मत है कि उद्देश्य से केवल कार्य की व्यवस्था और परिणाम का ही बोध न हो, वरन् उससे कार्य की पूर्ति का उपाय भी ज्ञात हो।† जब ऐसा होगा, तब कार्य में कठिनाई न होगी। दूसरे शब्दों में उद्देश्य का जब स्पष्ट बोध होता है तब व्यक्ति वास्तविक स्थिति को भली भाँति समझता है, और देखता है कि वर्तमान स्थिति में उसे क्या सुविधा मिल सकती है तथा उसके मार्ग में कौन सी कठिनाइयाँ है। इसके बाद वह उन उपायों के विषय में सोचता है

*An aim implies an orderly and ordered activity...... aim means foresight in advance of the end or possible termination. † aim as a foreseen end gives direction to the activity.

जिनके द्वारा वह कार्य सरलतापूर्वक कर सकता है। इस प्रकार विचार कर लेने के पश्चात् व्यक्ति उद्देश्य की पूर्ति में लग जाता है। यदि व्यक्ति में विचार और कार्य के परिणाम की कल्पना करने की क्षमता नहीं है तो वह उद्देश्य निश्चित नहीं कर सकता।

उद्देश्य के स्वरूप की सामान्य व्याख्या के पश्चात् डिवी 'श्रेष्ठ-उद्देश्य' की विशेषता पर प्रकाश डालता है। कोई उद्देश्य उसी दशा में श्रेष्ठ कहा जायगा जब वह वस्तु-स्थिति की प्रगति में सहायक हो। वर्तमान परिस्थितियों में सुधार, विकास और उन्नति में उद्देश्य को सहायक होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, उद्देश्य का संबंध वर्तमान और भविष्य से होना चाहिए क्योंकि वर्तमान से ही भविष्य विकसित होता है। जो उद्देश्य बिना वर्तमान का विचार किये भविष्य की कल्पना करता है उसे श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। श्रेष्ठ उद्देश्य की दूसरी विशेषता यह होती है कि वह अनुभव के आधार पर कार्य की पूर्ति की ओर अग्रसर करता है। दूसरे शब्दों में, श्रेष्ठ उद्देश्य में अनुभव और प्रयोग के माध्यम से ही कार्य की पूर्ति की कल्पना की जाती है। इस प्रकार उद्देश्य 'साध्य' होते हुए भी साधन बन जाता है।

उद्देश्य के सामान्य स्वरूप और विशेषताओं से परिचित हो जाने के पश्चात् शिक्षा के उद्देश्यों को स्पष्ट करना सरल हो जाता है। इस दृष्टि से डिवी का विचार है कि शिक्षा के उद्देश्य में तीन विशेषताओं का होना आवश्यक है। प्रथम यह कि शिक्षा के उद्देश्य में बालक की शक्ति, योग्यता और आवश्यकता का ध्यान रखा जाय। द्वितीय यह कि शिक्षा के उद्देश्य में सहयोग की संभावना हो। जितने बालक शिक्षा प्राप्त कर रहे हों, उनमें आपसी सहयोग हो और यह तभी संभव है जब कि प्रत्येक बालक का कार्य दूसरे बालकों के कार्य से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित हो। तृतीय

यह कि शिक्षा का उद्देश्य बालकों के दृष्टिकोण के विस्तार में सहायक हो। दूसरे शब्दों में, शिक्षा का उद्देश्य किसी प्रकार की संकीर्णता को प्रश्रय न देकर बालक की दृष्टि और कल्पना का विस्तार करे। इस प्रकार डिवी के अनुसार शिक्षा को सर्वदेशीय और सर्वकालीन होते हुए देश और काल-विशेष की भी आवश्यकता पूरी करनी चाहिए। शिक्षा का जो उद्देश्य केवल किसी देश और काल विशेष के लिए निश्चित होता है, उसमें संकीर्णता होती है। यह संकीर्णता केवल सामयिक और बाहरी प्रगति में सहायक होती दिखाई देती है। लेकिन जब उद्देश्य विस्तृत और विशाल होता है तब उसमें सामयिक और शाश्वत, दोनों के लिए स्थान होता है। शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में इन सामान्य तथ्यों को ध्यान में रखते हुए डिवी आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य ऐसे जनतांत्रिक समाज का निर्माण करना मानते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सहयोग द्वारा अपनी योग्यतानुसार कार्य कर सके। दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में समाज के प्रति ऐसी भावना उत्पन्न करना हो जिससे वह सामाजिक कार्यों में व्यक्तिगत रुचि रख सके। संक्षेप में, डिवी की शिक्षा का उद्देश्य है सामाजिक कुशलता ; व्यक्ति की योग्यता और शक्तियों का पूर्ण उपयोग।*

शिक्षा के विषय—शिक्षा के विषय अथवा पाठ्यक्रम निश्चित करते समय डिवी महोदय 'बालक' को योग्यता और आवश्यकता पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। इसलिए

* The aim of education is social efficiency ; utilization rather than subordination of capacities of individual.—An Outline of the History of Education by M. M. Thompson. Page 51.

उनका विचार है कि पाठ्यक्रम ऐसा हो जिसमें 'बालक की दुनिया' का पूरा ध्यान रखा जाय। 'बालक की दुनिया' में उन्हीं वस्तुओं को स्थान है जो बालक के जीवन से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। दूसरे शब्दों में, जिन वस्तुओं और व्यक्तियों में बालक की रुचि हो उन्हीं के आधार पर पाठ्यक्रम बनाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि बालक के जीवन और उसकी दुनिया में एकता होती है। बालक जो कुछ भी करता है, उसमें उसका सम्पूर्ण 'जीवन' होता है। प्रौढ़ व्यक्ति की भाँति वह कोई कार्य विशेष स्वार्थ अथवा दृष्टिकोण से नहीं करता। वह जो कुछ भी करता है उसका उसके जीवन और संसार से सीधा सम्बन्ध होता है। इसके साथ जितनी और भी चीजें बालक देखता है या कार्य करता है, उनमें गति और प्रवाह की अधिकता होती है। वह किसी वस्तु अथवा कार्य में अधिक समय नहीं लगाता। इसका कारण यह है कि वह सभी वस्तुओं को एक ही वस्तु के विभिन्न रूप समझता है। इसलिए बालक की शिक्षा के जो विषय निर्धारित किये जाँय उनमें 'गति' और 'एकता' का ध्यान रखा जाय। जब इस बात का ध्यान रखा जायगा, तब पाठ्यक्रम अथवा शिक्षा के विषय का बालक के अनुभव से सम्बन्ध होगा। ऐसा करते समय अध्यापक को यह स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि बालक के अनुभव में विकास की असीम संभावनायें होती हैं। इस प्रकार अनुभव के आधार पर जब शिक्षा के विभिन्न विषय निर्धारित किये जाँय तब उनकी विभिन्नता में भी एकता देखी जाय। दूसरे शब्दों में भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल आदि विषयों को एक ही 'सत्य' (reality) का अंग समझा जाय। शिक्षा के विभिन्न विषय वास्तव में मानव-जाति के संचित अनुभव हैं। इन संचित अनुभवों का ज्ञान बालक अपने अनुभव के आधार पर ही कर सकता

है। अतः पाठ्यक्रम निश्चित करते समय इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :—

१. पाठ्यक्रम का स्वरूप बालक के वर्तमान अनुभव के आधार पर निश्चित किया जाय।
२. पाठ्यक्रम में ऐसी बातें न हों जो बालक को कार्य करने के लिए प्रेरित न करें।
३. कोई विषय बालक के सम्मुख पहले से तैयार कर के न उपस्थित किया जाय। दूसरे शब्दों में जिस विषय की शिक्षा बालक को दी जाय, वह बालक के अनुभव और वातावरण विकसित हो।

इसके पश्चात् शिक्षा के विषयों पर सामाजिक प्रगति और कुशलता की दृष्टि से प्रकाश डालना आवश्यक है। आधुनिक काल में अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप 'कार्य' का विशेष महत्त्व है। इस प्रकार 'अनुभव' और 'कार्य की दृष्टि से भी पाठ्यक्रम का क्रियात्मक होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में शिक्षा के विषय व्यावहारिक हो।

शिक्षा की पद्धति—बालक के वर्तमान अनुभव के आधार पर विभिन्न विषयों की शिक्षा व्यावहारिक रूप से देने की आवश्यकता पर डिवी ने प्रकाश डाला है। लेकिन डिवी के अनुसार शिक्षा की वही पद्धति श्रेष्ठ है जिसके द्वारा बालक में निम्नलिखित विशेषतायें उत्पन्न हों:—

१. निरीक्षण-शक्ति का विकास हो।
२. रचनात्मक कल्पना का विकास हो।
३. तर्कपूर्ण विचार-शक्ति का विकास हो।
४. वास्तविकता के आधार पर यथार्थ ज्ञान हो।
५. सामाजिक कुशलता उत्पन्न हो।

इनके अतिरिक्त शिक्षण-पद्धति में यह भी विशेषता हो कि बालक को जिस कार्य द्वारा शिक्षा दी जाय उसमें उसकी वास्तविक रुचि हो तथा उस कार्य का जो परिणाम हो, उसका भी ध्यान रहे। बालक के मनोविकास की दृष्टि से उसे कार्य में स्वतंत्रता भी आवश्यक है। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह एक निरीक्षक की भाँति कक्षा में उपस्थित हो तथा बालकों में यह भाव उत्पन्न करे कि जो कुछ भी कार्य वे कर रहे हैं, वह उनकी इच्छानुसार हो रहा है। दूसरे शब्दों में उनपर कोई दबाव नहीं डाला जा रहा है। डिवी के इन्हीं विचारों के आधार शिक्षा की पद्धति 'प्रोजेक्ट मेथड' का विकास हुआ। इसके विकास का श्रेय प्रोफेसर डब्ल्यू. एच. किलपैट्रिक * तथा अन्य कुछ व्यक्तियों को है।

प्रोजेक्ट पद्धति की प्रथम रूप-रेखा सन् १९१८ में किलपैट्रिक महोदय द्वारा तैयार की गई थी। उसके पश्चात् अनेक शिक्षा-शास्त्रियों ने इस पद्धति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये। अनेक लोगों ने प्रोजेक्ट की परिभाषा भी निश्चित करने की कोशिश की। लेकिन प्रो० स्टीवेन्सन ने जो परिभाषा प्रोजेक्ट की वही अधिक मान्य है। उनके अनुसार 'प्रोजेक्ट वह समस्यामूलक कार्य है जो अपनी स्वाभाविक परिस्थितियों के अंतर्गत पूर्णता को प्राप्त होता है।' इस प्रकार डिवी के प्रयोगवाद (Pragmatism) के अनुसार प्रोजेक्ट पद्धति में कार्य की जो योजना बनाई जाती है उसका एक उद्देश्य (या अंत) निश्चित होता है, उसकी कार्य-प्रणाली भी कार्य के समय स्पष्ट होती है, और उसके द्वारा कार्य में रुचि की भी वृद्धि होती है। प्रोजेक्ट-पद्धति के इन विशेषताओं के फलस्वरूप शिक्षा के विभिन्न विषयों जैसे इतिहास, भूगोल, आदि में एकता स्थापित हो जाती है और शिक्षा समन्वित रूप से

* W. H. Kilpatrik.

प्रोजेक्ट प्रणाली के अनुसार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के एक प्रारम्भिक स्कूल के विद्यार्थी अपने जूतों की मरम्मत कर रहे हैं।

प्रोजेक्ट कार्य के अनुसार विद्यार्थी विद्यालय की सड़क बना रहे हैं। (संयुक्तराष्ट्र अमेरिका)

होने लगती है। ठामस और लैंग † महोदय के अनुसार प्रोजेक्ट इच्छानुकूल ऐसा कार्य है जिसमें रचनात्मक प्रयास अथवा विचार हो और जिसका कुछ साकार परिणाम हो। प्रोजेक्ट सामाजिक तथा व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। प्रोजेक्ट कक्षा में निष्क्रिय ज्ञान प्राप्ति का विरोधी है। दूसरे के विचारों अथवा सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षा नहीं है, प्रत्युत बालक को इस प्रकार शिक्षा देनी चाहिए जिससे वह उस ज्ञान और कौशल को स्वयं ही प्राप्त कर सके जिनकी वास्तविक जीवन के क्षेत्र में आवश्यकता पड़ती है। पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान ही सच्चा ज्ञान नहीं है। सत्य ज्ञान तो वही है जो बालकों में विभिन्न परिस्थितियों में ठीक व्यवहार करने की क्षमता उत्पन्न करे। 'क्रिया द्वारा सीखो' प्रोजेक्ट का केन्द्रीय सिद्धांत है।

प्रोजेक्ट पद्धति का जो संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है, उससे डिवी की शिक्षण-पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि प्रोजेक्ट पद्धति के पक्ष में सभी शिक्षाशास्त्री नहीं है। प्रोजेक्ट का वास्तविक मूल्यांकन शिक्षा-सिद्धांत का विषय है। अतः यहाँ इतना ही अलम् है।

शिक्षा का संगठन—शिक्षा के संगठन की दृष्टि से डिवी के 'शिक्षालय' सम्बन्धी विचार महत्त्वपूर्ण हैं। डिवी शिक्षालय को समाज के लघु रूप में देखता है। इसलिए वह चाहता है कि शिक्षालय का वातावरण सामाजिक वातावरण के समान हो। इसके फलस्वरूप बालक के सामाजिक जीवन का विकास होता है। इसी सामजिक जीवन के आधार पर उसमें अनुशासन उत्पन्न होता है

† Thomas & Lang in **Principles of Modern Education,** quoted **Shiksha : April' 50, Page 117.**

क्योंकि बालक जो (सामाजिक) कार्य करते हैं, उसमें सहयोग की आवश्यकता होती है। इसीलिए डिवी का विचार है कि अनुशासन सामाजिक जीवन और सहयोग से उत्पन्न होता है। अतः जब शिक्षालय 'समाज' बन जाता है, तब बालक समाज के सदस्यों की भाँति सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं। इस सामाजिक जीवन में सामाजिक सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। इसी के फलस्वरूप अनुशासन विकसित होता है। यही अनुशासन बालकों के चरित्र-निर्माण में सहायक होता है, और व्यवस्थित रूप से कार्य करने की आदत डालता है। उन्हें उत्तरदायित्व का भी ज्ञान होता है और उनमें सामाजिक कुशलता भी उत्पन्न होती है। इस प्रकार शिक्षालय जब 'समाज' के समान होता है तब बालकों में ऊपर दिए गए गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए डिवी के अनुसार शिक्षा का संगठन ऐसा होना चाहिए जिससे शिक्षालय समाज के अनुरूप हो और उसका वातावरण भी सामाजिक वातावरण के समान हो।

डिवी का प्रभाव—डिवी के शिक्षा-दर्शन से आधुनिक शिक्षा बहुत प्रभावित हुई। शिक्षा और जनतन्त्र के सम्बन्ध पर नवीन प्रकाश डालकर डिवी ने शिक्षा को 'शक्ति' के रूप में परिणत कर दिया। इसके अतिरिक्त अपने प्रयोगवाद के द्वारा डिवी ने 'कार्य-सिद्धि' पर अत्यधिक बल दिया। इन सब का समाज पर प्रभाव पड़ा और उनके स्वरूप आधुनिक-शिक्षा में डिवी के निम्नलिखित सिद्धांतों का अत्यधिक प्रचलन हुआ :—

१—आदर्श शिक्षालय समाज का लघु स्वरूप है।

२—शिक्षालय सामाजिक प्रगति का प्रमुख साधन है।

३—सामाजिक कुशलता शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है।

४—शिक्षा का सक्रिय होना आवश्यक है।

५—शिक्षा जीवन है न कि जीवन की तैयारी।

६—शिक्षा के साधन हैं : खेल, रचना, औजारों क...
प्रकृति-निरीक्षण, अभिव्यक्ति (expression) तथा क्रिया ।

७—शिक्षालय का सामाजिक वातावरण सरल, पवित्र संतुलित और क्रमानुकूल हो।

८—शिक्षालय का ध्येय सहयोग तथा एक दूसरे की सहायता करते जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देना है।

९—शिक्षा कार्य द्वारा होती है। मौलिकता और आरंभशक्ति का विकास शिक्षालय का प्रधान कार्य होना चाहिए।

१०—शिक्षालय विद्यार्थियों में उत्तरदायित्व और सामाजिक दृष्टि का विकास कर उन्हें जनतांत्रिक जीवन के योग्य बनाता है।

११—शिक्षा का आधार मनोविज्ञान और समाजशास्त्र होना चाहिए।

१२—सामाजिक संस्थायें मनुष्य को कुछ देती नहीं, वरन् उसका निर्माण करती हैं।*

इस प्रकार डिवी ने आधुनिक शिक्षा में सामाजिक तत्वों का समावेश किया। इसके फलस्वरूप जनतांत्रिक संस्थाओं को बड़ा बल मिला। यही डिवी की सबसे बड़ी देन है।

---

* M. M. Thompson : An Outline of the History of Education (Barnes & Noble, N. Y.) 1942. Pages 51-52.

मैरिया मांटसोरी

जीवन और कार्य—आधुनिक युग में शिक्षा के सामाजिक-जनतांत्रिक विकास का जितना श्रेय जॉन डिवी को है, उतना ही डा० मैरिया मांटसोरी * को शिक्षा के वैयक्तिक विकास की दृष्टि से है। मैरिया मांटसोरी का जन्म इटली में सन् १८७० में हुआ था। यह समय इटली में राजनीतिक परिवर्तन का था। अतः मांटसोरी के जीवन पर भी इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा और जब वे बड़ी हुई तब यथाशक्ति इन आंदोलनों में भाग भी लिया। जहाँ तक शिक्षा का प्रश्न है, मैरिया मांटसोरी ने चिकित्साशास्त्र का विशेष अध्ययन रोम विश्वविद्यालय में किया। शिक्षा के पश्चात् उन्होंने मंद बुद्धि के बालकों की चिकित्सा का कार्य आरम्भ किया। यह कार्य करते हुए डा० मांटसोरी ने अनुभव किया कि यदि मंद बुद्धि के बालकों को उचित शिक्षा दी जाय तो उनकी दशा सुधर सकती है। अतः उन्होंने मंद बुद्धि के बालकों के उपयुक्त शिक्षण-पद्धति के विषय में विचार किया और एक पद्धति का प्रयोग भी किया। इस प्रयोग से मांटसोरी ने देखा कि मंद बुद्धि के बालक में पर्याप्त सुधार हो गया और वह सामान्य बालक की स्तर पर पहुँच गया है। इस परिणाम से उन्हें बड़ा प्रोत्साहन मिला और उन्होंने प्रायोगिक मनोविज्ञान (experimental psychology) के विशेष अध्ययन द्वारा शिक्षण-पद्धति में पर्याप्त सुधार किया। ऐसा करते समय मांटसोरी ने एडवर्ड सेग्विन † नामक मनोवैज्ञानिक द्वारा प्रचलित 'शैक्षिक चिकित्सा' ‡ से बहुत लाभ उठाया। यह उल्लेख-

---

*Maria Montessori (1870—) †Edward Seguin.
‡Pedagogical Treatment

डा० मैरिया मांटसोरी

मांटसोरी के शिक्षण-यंत्रों का बच्चों द्वारा प्रयोग

नीय है कि उस समय (१८९८-१९००) जब कि मांटसोरी ने यह कार्य आरम्भ किया था, यह विचार सर्वमान्य सा हो चला था कि बहरेपन, लकवा, बुद्धि के मंद पड़ जाने आदि रोगों में 'शैक्षिक चिकित्सा' उपयोगी है। इस प्रकार शिक्षाशास्त्र और चिकित्सा में सहयोग होना स्वाभाविक हो गया। इसी विचारधारा से मिलता-जुलता 'वैज्ञानिक शिक्षाशास्त्र' भी * विकसित होने लगा था। 'वैज्ञानिक शिक्षाशास्त्र' के समर्थकों में इटली का प्रसिद्ध मानव-शास्त्री सर्गी † भी था। सर्गी का कथन था—'आज सामाजिक संसार में एक बहुत बड़ी आवश्यकता अपने को व्यक्त कर रही है, और वह है शिक्षण-पद्धति का पुनर्संगठन। जो इस कार्य के लिए प्रयत्न करता है, वह मानव-जाति के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न करता है। ‡ सर्गी ने शिक्षा-शास्त्र पर अनेक भाषण और लेख देकर नवीन शिक्षण-पद्धति की आवश्यकता पर बल दिया। मैरिया मांटसोरी भी सर्गी के विचारों से प्रभावित हुई। लेकिन 'वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्र' से उन्हें संतोष न हुआ। इसलिए मांटसोरी ने स्वतन्त्र रूप से शिक्षण-पद्धति सम्बन्धी प्रयोग आरम्भ किये। यह कार्य उन्होंने वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्र, और 'शैक्षिक चिकित्सा' आदि सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन से आरम्भ किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'वैज्ञानिक शिक्षाशास्त्र' के अनुसार संचालित शिक्षालय की यह विशेषता होना चाहिए कि बालकों को स्वाभाविक आत्माभिव्यक्ति के अवसर मिलें। इस प्रकार उनकी शक्ति को विकसित करने के लिए स्वतंत्र वातावरण आवश्यक है। दूसरी

---

*Scientific Pedagogy. †Giuseppe Sergi

‡Maria Montessori : The Montessori Method (London : William Heinemann) April 1937, page 2.

बात मांटसोरी ने अपनी शिक्षण-पद्धति के आरम्भ में यह अनुभव की, कि बाल-मनोविज्ञान के सामयिक सिद्धांतों को छोड़कर नवीन शिक्षण-पद्धति का विकास किया जा सकता है। बालक को पूरी स्वतन्त्रता देकर उसकी प्रवृत्तियों और कार्यों का निरीक्षण किया जाय और फिर इसी निरीक्षण के आधार पर बाल-मनोविज्ञान सम्बन्धी तथ्य स्वीकार किये जायें। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उन्नीसवीं सदी के अन्त से बाल-मनोविज्ञान अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। इसलिए उसमें ऐसी अनेक बातें आगई थीं जो नवीन शिक्षण-पद्धति की दृष्टि से प्रतिकूल थीं।

मांटसोरी का प्रयोग—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, मांटसोरी ने मंद बुद्धि के बालकों की चिकित्सा का कार्य पहले किया। उसी समय उनका ध्यान उस शिक्षण-पद्धति की ओर गया जिनके द्वारा मंद बुद्धि के बालकों का सुधार किया जा सकता था। एडवर्ड सेग्विन नामक चिकित्सक ने ऐसी शिक्षण-पद्धति बनाई थी जो मंद बुद्धि के बालकों के सुधार के काम में आती थी। मांट-सोरी ने सेग्विन के संपूर्ण साहित्य का गहन अध्ययन किया। उन्होंने सेग्विन द्वारा संचालित स्कूलों को भी देखा और फिर १८९८ से १९०० तक स्वयं मंद बुद्धि के बालकों को शिक्षा दी। इस सम्बन्ध में उन्होंने फ्रांस की क्रांति के समय में मंद बुद्धि के बालकों की शिक्षा की ओर ध्यान देने वाले डाक्टर इटार्ड (Itard) के साहित्य का अध्ययन किया। वास्तव में मैरिया मांटसोरी पर इटार्ड और सेग्विन के शैक्षिक विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने इन दोनों विद्वानों के विचारों के आधार पर अपनी शिक्षण-पद्धति का विकास किया। इटार्ड बहरेपन की चिकित्सा के लिए ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षण-पद्धति का प्रयोग करता था। मांटसोरी ने इटार्ड की ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षण-पद्धति को अपनाया और उनका विचार है कि

इटार्ड 'वैज्ञानिक शिक्षाशास्त्र' का जन्मदाता था। * लेकिन इस शिक्षण-पद्धति को पूर्णता प्रदान करने का श्रेय सेग्विन को था। इस प्रकार इटार्ड और सेग्विन के आधार पर मांटसोरी ने शिक्षण-पद्धति सम्बन्धी प्रयोग किये, और ऐसा करते समय उन्होंने अनुभव किया कि बालक के विशेष व्यक्तित्व का विकास करना आवश्यक है। इसके लिए शिक्षण-पद्धति का आरम्भ आध्यात्मिक तत्वों से होना चाहिए। सेग्विन ने भी ऐसा ही किया था।†

मांटसोरी ने प्रयोग के समय 'आध्यात्मिक आवश्यकता' के अतिरिक्त यह अनुभव किया कि मंद बुद्धि के बालक शिक्षा पाकर सामान्य बुद्धि के बालकों के समान हो जाते हैं। यह बात मांटसोरी को उस समय मालूम हुई जब उन्होंने मंद बुद्धि के बालकों को सामान्य बुद्धि के बालकों के साथ परीक्षा में बैठाया। परीक्षाफल देखकर मांटसोरी इस निष्कर्ष पर पहुँची की सामान्य बुद्धि के बालकों को ऐसा वातावरण नहीं मिलता जिसमें वे स्वाभाविक आत्माभिव्यक्ति कर सकें। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी दशा सामान्य स्तर से गिर कर शिक्षित मंद बुद्धि के बालकों के समान हो जाती है। यदि मंद बुद्धि के बालकों की शिक्षण-पद्धति का प्रयोग सामान्य बुद्धि के बालकों की शिक्षा के लिए किया जाय, तो उनका बड़ा विकास होगा। मैरिया मांटसोरी का यह निष्कर्ष वास्तव में उनके प्रयोग की सफलता का सूचक था।

प्रयोग के सम्बन्ध में तीसरी बात मांटसोरी ने यह अनुभव की कि ६ वर्ष का मंद बुद्धि बालक ३ वर्ष के सामान्य बालक के समान होता है। जो शिक्षण पद्धति ६ वर्ष के मंद बुद्धि बालक के लिए उपयोगी है, वह ३ वर्ष के सामान्य बालक की शिक्षा में भी उपयोगी

*Maria Montessori : The Discovery of the child (Kalakshetra, Adyar) 1948 Page 35. †Ibid. Page 38-39.

होगी। इस विचार के आधार पर मांटसोरी ने तीन वर्ष के सामान्य बालकों को शिक्षा उसी पद्धति के अनुसार दी जो वे मंद बुद्धि के बालकों के लिए उचित समझती थीं। इस प्रयोग में उन्हें बड़ी सफलता मिली। इस प्रकार जो शिक्षण-पद्धति मंद बुद्धि के बालकों के लिए थी उसका प्रयोग मांटसोरी ने ३ वर्ष के सामान्य बालकों की शिक्षा में किया। उनके प्रयोग की सफलता 'बच्चों के घर' (Children's House) नामक स्कूल में सिद्ध हुई। यह स्कूल ६ जनवरी १९०७ को रोम के सेन लोरेंजों * नामक स्थान में खोला गया था और इसमें ३ से ६ वर्ष तक आयु के बच्चे भर्ती किये। ये बच्चे गरीब और अशिक्षित लोगों के थे। इनको शिक्षित बनाना बड़ा कठिन था। इसके अतिरिक्त 'बच्चों के स्कूल' अथवा 'चिल्ड्रेंस हाउस' उन बड़े घरों के एक भाग में खोले गये थे जिनमें गरीब, अशिक्षित और शरणार्थी लोग रहते थे। इसलिए बच्चों का वातावरण भी अनुकूल न था। लेकिन मांटसोरी के प्रयास से 'चिल्ड्रेंस हाउस' सफल हुए। वास्तव में 'चिल्ड्रेंस हाउस' की सफलता ही मांटसोरी की शिक्षण पद्धति के विकास और प्रसार में सहायक हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि मांटसोरी ने जो प्रयोग किया उसमें इटार्ड, और सेग्विन के विचारों से बड़ी सहायता ली गई। इसीलिए मांटसोरी का कथन है कि उनकी शिक्षण पद्धति का विकास तीन डाक्टरों (इटार्ड, सेग्विन, मांटसोरी) के प्रयासों का परिणाम है।

विचारधारा—मैरिया मांटसोरी की विचारधारा व्यावहारिक अधिक और सैद्धांतिक कम है। इसलिए उनके विचारों को सिद्धांत का रूप देना कठिन है। मगर फिर भी जहाँ तक बालक

---

*San Lorenzo

का प्रश्न है उसे वह सामाजिक मानती है। १ जून १९४८ को मांटसोरी ने मद्रास रेडियो स्टेशन से 'बालक के सामाजिक प्रश्न' पर एक वार्त्ता प्रसारित की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मैरिया मांटसोरी 'थियोसोफिस्ट' हैं और भारत में मद्रास के निकट अड्यार में रहती हैं। मांटसोरी ने अपनी इस वार्त्ता में कहा— 'इधर कुछ वर्षों से बच्चों की भलाई के लिए एक सामाजिक आंदोलन चल पड़ा है। उसमें संगठन की कमी है। नेतृत्व का अभाव है। सभी महत्त्वपूर्ण आंदोलनों में ऐसा ही होता है। अब विज्ञान-स्वेच्छापूर्वक इस क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है; विज्ञान ने ही सर्व प्रथम जेहाद शुरू किया क्योंकि बाल-मृत्यु के विरुद्ध सबसे पहले आरोग्य-शास्त्र ने काम किया है। इसी ने हमें सबसे पहले बतलाया है कि पाठशालायें परिमाण से अधिक काम करके बच्चों का विनाश किस प्रकार कर रही हैं। आरोग्यशास्त्र ही एक ऐसी विद्या है जिसने दिखा दिया कि श्रम की बलवेदी पर बालक का बध किस प्रकार हो रहा है। वास्तव में हमारी पाठशालायें आजन्म दंड प्राप्त बालकों के लिए क्रूरतापूर्ण बालसुधार बंदीगृह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। 'आजन्म दंड' इसलिए कि वह तब तक सजा भोगता रहता है जब तक कि उसका बचपन समाप्त नहीं हो जाता और जब पाठशाला के दिन व्यतीत हो जाते हैं तब फिर उसमें बचपन बाकी नहीं रहता। छात्र जीवन का परिचय देनेवाले आरोग्यशास्त्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार बालक का जीवन आनंद-विहीन हो जाता है, उसकी आत्मा सिकुड़-सी जाती है और उसका मन उदास हो जाता है। और यह सब मजदूर की तरह बड़ी मेहनत के कारण नहीं होता, वरन् उस कठोरदंड के फल स्वरूप के होता है जिसके बोझ से बच्चा दब जाता है।

मानव जाति द्वारा उसकी (बालक की) घोर उपेक्षा की गई है।

और तारीफ की बात तो यह है कि ऐसा उन्हीं लोगों ने किया जो उससे प्रेम करते हैं—जिन्होंने उसे जीवन दान दिया है। आधुनिक नगरों के छोटे-छोटे घरों में, जहाँ पशुओं की भाँति मनुष्य ठुँसे भरे रहते हैं, बच्चों के लिए क्या स्थान है ? सड़कों पर उसके लिए कहाँ स्थान है जिनपर अब पहले से अधिक मोटरें और गाड़ियाँ चलती हैं। जहाँ माता-पिता दोनों नौकरी करते हैं और काम के भारी बोझ से दबे रहते हैं, वहाँ उन्हें अपने बच्चों के लिए कुछ भी समय नहीं मिलता। जहाँ आर्थिक दशा अच्छी है, माता-पिता सम्पन्न हैं, वहाँ बच्चों को पालन पोषण के लिए शिशु गृहों (नर्सरी) के अनजान व्यक्तियों के सिपुर्द कर दिया जाता है। ऐसे बच्चों को अपने माता-पिता के कमरों में भी जाने की मनाही होती है। ऐसी अवस्था में बालक कहाँ शरण ले ? उसकी मानसिक आवश्यकताओं को कौन समझे ? ऐसी आशा की जाती है कि वह चुपचाप रहे और शोर न करे ; किसी वस्तु को न छुए, क्योंकि उसके आप-पास की सभी वस्तुएँ बड़ों की है। इसलिए उसे अपने हाथ उन चीजों से दूर रखने चाहिएँ। उसके लिए कोई भी अपनी निजी वस्तु कहाँ है ?' इस प्रकार बच्चे की दयनीय दशा का वर्णन करने के पश्चात् मांटसोरी ने कहा कि अब युग बदल गया है और बालक का महत्त्व स्वीकार किया जाने लगा है। 'बच्चा हमारे अस्तित्व का आरंभ है और मानवता का वास्तविक निर्माता' अब सभी मानने लगे हैं।

इसके बाद मांटसोरी ने जो कहा उससे उनके विचारों की दार्शनिकता स्पष्ट होती है—'मनुष्य में जो गुण और बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं, उनकी उत्पत्ति बचपन में ही हो चुकी होती है; बच्चा तो भावी मानवता है। वह हमारी निर्मित वस्तु है। हमारी सभी भूलों का बोझा वही ढोता है; उस पर हमारी गलतियों के अमिट

निशान बन जाते हैं। हम नष्ट हो जायँगे, पर हमारी संतानें रहेंगी और वे सदा हमारे विकृत प्रभावों के विनाशकारी प्रभाव का चिन्ह अपने स्वभाव पर लिए फिरेंगे। यह चक्र चलता रहेगा, टूट नहीं सकता। जो बच्चे का स्पर्श करता है वह एक अत्यंत अनुभूतिपूर्ण वस्तु को छूता है जिसकी जड़ सुदूरभूत में है और जो सुंदर भविष्य तक पहुँचती है। बच्चा उस कोमल पौदे के समान है जो भूमि से वाहर आने पर तत्काल नवजीवन की ताजगी की ओर आकर्षित होता है। हमें यह ज्ञात करने के लिए कि पौदे की जड़ें सभी दिशाओं में फैल रही हैं या नहीं, गहराई तक खोदना होगा। जो इस पौदे को प्रकाश में लाने के लिए प्रवृत्त होगा—उसकी जड़ और शाखाओं को फैलाना चाहेगा उसे तब तक गहरी खुदाई करनी पड़ेगी जब तक कि सारी पृथ्वी की नींव नहीं हिल जाती।' इस प्रकार मैरिया मांटसोरी ने सिद्ध किया कि बच्चों का जो सामाजिक प्रश्न है उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव-समाज से है और मानव जाति के विकास तथा उन्नति के लिए बालक के सामाजिक प्रश्न को हल करना होगा। दूसरे शब्दों में वालकों को भी व्यस्क नागरिकों की भाँति स्वतंत्रता, और शक्तियों के विकास का अवसर देना होगा।

शिक्षा और प्रकृति—मैरिया मांटसोरी शिक्षा और प्रकृति में आवश्यक सम्बन्ध मानती हैं। उनका विचार है कि प्रकृति में बालक की जन्मजात और सहज रुचि है। इसलिए बालक की शिक्षा में प्रकृति का होना आवश्यक है। जब शिक्षा प्रकृति के अनुरूप होती है, और उसमें प्राकृतिक सौंदर्य के लिए स्थान होता है, तब शिशु में अद्भुत अध्यात्मिकता जाग्रत हो जाती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इटार्ड भी शिक्षा में प्रकृति को महत्त्वपूर्ण स्थान देता था। इटार्ड ने अपनी अमर पुस्तक—एवीरान के

जंगली युवक का प्रथम विकास * में शिक्षा और प्रकृति के सम्बन्ध पर नवीन प्रकाश डाला था। मांटसोरी इटार्ड की पुस्तक से काफी प्रभावित हुई और उन्होंने इसका विशेष वर्णन भी किया है। † इस प्रकार मांटसोरी शिक्षा में प्रकृति को ऐसा स्थान देना चाहती हैं जो बालक के विकास में सहायक हो। जैसे एक पौदा प्रकृति की गोद में विकसित होता है, उसी प्रकार शिशु के विकास में भी प्रकृति से सहायता लेनी चाहिए।

शिक्षा-सिद्धांत—मांटसोरी के शिक्षा-सिद्धांत सम्बन्धी विचार उनकी पद्धति से ही प्रकट होते हैं। क्योंकि उनके विचार व्यावहारिकता के आधार पर ही विकसित होते हैं। फलतः जब हम मांटसोरी के शिक्षा-सिद्धांत पर विचार करते हैं, तब स्वाभाविक रूप से हमारा ध्यान मांटसोरी-पद्धति में निहित सिद्धांतों की ओर होता है।

विशेष व्यक्तित्व का विकास—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मांटसोरी बालक के स्वाभाविक विकास पर अत्यधिक बल देती है। इसीलिए वह शिक्षा को विकास भी कहती हैं। दूसरे शब्दों में, मांटसोरी के अनुसार शिक्षा ऐसी हो जो बालक का स्वाभाविक विकास उसमें निहित शक्तियों द्वारा करे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक बालक में कुछ विशेष शक्तियाँ होती हैं। इन विशेष शक्तियों के विकास से उसका विशेष व्यक्तित्व बनता है। अतः शिक्षा में इन विशेष शक्तियों की ओर भी ध्यान देना

---

* Of the First developments of the young savage of Aveyron.

† See chapter on 'Nature in Education' in 'The Discovery of the Child' by M. Montessori.

आवश्यक है। इसके लिए मांटसोरी चाहती हैं कि बालक को इस प्रकार सुविधायें दी जायँ जिससे उसकी व्यक्तिगत रुझान प्रकट हो सके और वह अपनी रुझान के अनुसार कार्य कर सके। इस प्रकार बालक अपनी रुचि के अनुसार कार्य करके किसी विशेष कार्य में असाधारण निपुणता प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार वह समाज का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा कर सकता है। इसलिए विशेष व्यक्तित्व के विकास की ओर ध्यान देना शिक्षा का आवश्यक कार्य है।

स्वतंत्रता—बालक के साधारण और विशेष विकास की सबसे अधिक संभावना उस समय रहती है जब कि उसे पूरी स्वतंत्रता प्राप्त होती है। स्वतंत्रता के अभाव में बालक का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता। इसलिए शिक्षा में स्वतंत्रता आवश्यक है। लेकिन जब मांटसोरी स्वतंत्रता का उल्लेख करती हैं, तब उनका तात्पर्य उन परिस्थितियों से होता है जिनमें बालक की मूल और सामान्य प्रवृत्तियाँ शिक्षा में सहायक होती हैं। दूसरे शब्दों में, बालक की मूल और सामान्य प्रवृत्तियों के माध्यम से शिक्षा प्रदान करना बालक को वास्तविक स्वतंत्रता प्रदान करना है। जब ऐसा होगा, तब बालक को गति और अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवसर मिलेंगे और वह सब कुछ अपने आप सीखने का प्रयास करेगा।

शिक्षा का उद्देश्य—मांटसोरी के शिक्षा-सिद्धांत सम्बन्धी विचारों से परिचित होने के पश्चात् यदि हम उनको शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करना चाहें तो कह सकते है कि मांटसोरी की शिक्षा का उद्देश्य बालक की ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है। 'द डिस्कवरी ऑफ द

चाइल्ड' की भूमिका में मांटसोरी ने लिखा है—'मानवता अपनी समस्याओं को, जिनमें शांति और एकता प्रमुख हैं, उसी समय हल कर सकती है जब उसका ध्यान और समस्त शक्तियाँ 'बालक की खोज' और मानवीय व्यक्तित्व की असीम संभावनाओं के विकास में लग जायँगी।' उनके इस कथन से शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है और यह स्पष्ट होता है कि मांटसोरी शिक्षा द्वारा व्यक्ति में निहित शक्तियों की अभिव्यक्ति चाहती हैं। *

शिक्षा के विषय—शिक्षा के उद्देश्य के अनुरूप मांटसोरी शिक्षा के विषय निर्धारित करती हैं। उनकी दृष्टि में वही पाठ्यक्रम अच्छा है जो बालकों की कर्मेन्द्रियों की शिक्षा में सहायक होता है। डा० मॉटसोरी ने शिशुओं की शिक्षा के पाठ्यक्रम सामान्य रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की है† :—

कक्षा एक (फर्स्ट ग्रेड)—व्यावहारिक जीवन : कुर्सी आदि को शांतिपूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखना, वस्तुओं को ले जाना, पंजे पर चलना। बटन लगाना, खोलना, फीते बाँधना ज्ञानेन्द्रियों के विकास के निमित्त अभ्यास कार्य ठोस प्रक्षेप (Solid inset) द्वारा ठोस प्रक्षेपों का सरल से कठिन की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है:—

(क) एक ही ऊँचाई के प्रक्षेप लेकिन उनके व्यास क्रमानुसार कम होते जायँ।

(ख) ऐसे प्रक्षेप जो क्रमानुसार सभी प्रकार से छोटे होते जायँ।

(ग) ऐसे प्रक्षेप जिनकी ऊँचाई क्रमानुसार कम होती जाय।

---

* To make patent what is latent.

† The Discovery of the Child. Page 505-506.
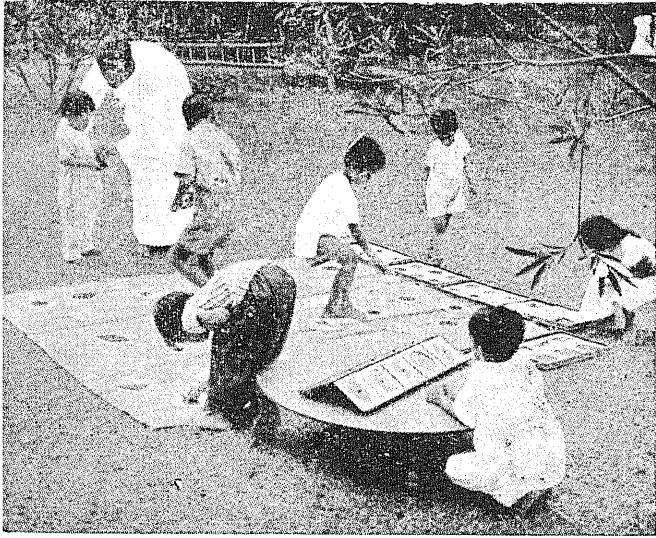
भारतीय मांटसोरी स्कूल का एक दृश्य

कक्षा दो (सेकंड ग्रेड)—व्यावहारिक जीवन : अपने कपड़े पहिनना और उतारना, हाथ-मुँह धोना, नहाना आदि। आसपास के स्थान में सफाई रखना। ठीक से बैठकर भोजन करना। गति सम्बन्धी अभ्यास।

कक्षा तीन (थर्ड ग्रेड)—कपड़े पहिनना और उतारना, नहाना-धोना। सफाई रखना। उचित रीति से भोजन करना। गति सम्बन्धी अभ्यास। सीधी रेखा पर चलकर गति पर नियंत्रण सम्बन्धी अनेक अभ्यास। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा सम्बन्धी अभ्यास (Exercises)। ड्राइंग, मौन का अभ्यास।

कक्षा चार (फोर्थ ग्रेड)—व्यावहारिक जीवन: भोजन परसना, बर्तन धोना, कमरे को व्यवस्थित रूप से रखना। गति (movement) सम्बन्धी अभ्यास : लययुक्त मार्चिंग (rhythmic marches) विभिन्न गतियों की पहिचान। अक्षर ज्ञान। चित्रण (ड्राइंग) गणित—वस्तुओं की सहायता से गिनती आदि का ज्ञान। चर्च में जाना।

कक्षा पाँच (फिफ्थ ग्रेड)—व्यावहारिक जीवन: व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी ऊपर व्यक्त सभी प्रकार के अभ्यास। दाँत नाख़ून आदि की सफाई पर विशेष ध्यान देना। शिष्टाचार और संयम की शिक्षा। चित्रण और रंगना। लिखना और पढ़ना। प्रारम्भिक गणित। भौगोलिक, ऐतिहासिक, जीवशास्त्रीय आदि वैज्ञानिक शब्दों का पठन। खेल द्वारा व्याकरण की शिक्षा देते हुए पठन का विकास और अभ्यास।

इन पाँच कक्षाओं के अतिरिक्त मांटसोरी का पाठ्यक्रम कक्षा छः, सात और आठ के लिए भी है। इस प्रकार मांटसोरी की शिक्षा के विषय केवल प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए ही नहीं, वरन्

माध्यमिक कक्षाओं के लिए भी है। माध्यमिक कक्षाओं में मांटसोरी शिक्षा का क्या स्वरूप होगा, इस पर श्रीमती मांटसोरी ने 'द एडवांस्ड मांटसोरी मेथड' * नामक पुस्तक में अपने विचार व्यक्त किए हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कक्षा एक से पाँच तक का ऊपर दिया गया पाठ्यक्रम तीन वर्ष से लेकर छः वर्ष के बालकों के लिए है।

शिक्षा की पद्धति—मांटसोरी की शिक्षण-पद्धति में कर्मेंद्रियों की शिक्षा (motor education) की ओर सर्व-प्रथम ध्यान दिया जाता है। इसके लिए ऐसा वातावरण उपस्थित किया जाता है कि बालक पूरी स्वतन्त्रता अनुभव करे और जो चाहे करे। अतः बच्चों की पाठशाला 'बच्चों के घर' के रूप में होती है। 'बच्चों के घर' में छोटी-छोटी कुर्सियाँ, मेज, तश्तरियाँ आदि होती हैं। इन सामानों को बच्चे शान्तिपूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखते हैं। इसी प्रकार व्यावहारिक जीवन के अन्य कार्य, उठना-बैठना, चलना-फिरना, वस्तुओं को उठाना-रखना आदि ऐसे कार्य हैं जो कर्मेन्द्रियों की शिक्षा में सहायक होते हैं। इनके अतिरिक्त व्यक्तिगत कार्यों की शिक्षा भी मांटसोरी आवश्यक समझती हैं। बच्चों को कपड़े पहिनने और उतारने की शिक्षा का आरम्भ फ्रेम पर चढ़े कपड़े के बटन खोलने और बन्द करने, आदि से किया जाता है। बच्चों को इस कार्य की शिक्षा उसी प्रकार दी जाती है जैसे कि आदिम मानव ने इसको सीखा था। दूसरे शब्दों में, कपड़े पहिनने और उतारने की क्रिया की शिक्षा 'सांस्कृतिक-युग सिद्धांत' के अनुसार देने का प्रयास मांटसोरी पद्धति में किया जाता है।

---

*The Advanced Montessori Method, first published, January 1918 by William Heinemann Ltd. London.

जहाँ तक शिक्षक का प्रश्न है, वह बालकों के सम्मुख कार्य-विशेष को इस प्रकार करके दिखाता है कि वे उसकी प्रक्रिया को समझ जायँ।

कर्मेन्द्रियों की शिक्षा के लिए मांटसोरी पद्धति में घरेलू कार्यों को स्थान दिया जाता है। भोजन परसनें, बर्तन धोने आदि कार्य बच्चे देखकर सीखते हैं। इस प्रकार आरम्भ से ही घरेलू कार्यों की शिक्षा द्वारा उनकी कर्मेन्द्रियाँ विकसित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त मांटसोरी पद्धति में खेल और व्यायाम, बागवानी तथा अन्य शारीरिक कार्यों का भी स्थान है क्योंकि इनके द्वारा भी कर्मेन्द्रियों के विकास में सहायता मिलती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मांटसोरी पद्धति में कर्मेन्द्रियों के विकास के लिए जितने भी कार्य रखे गये हैं वे उनके मनोविकास तथा शारीरिक विकास के अनुकूल होते हैं। दूसरे शब्दों में, बच्चों को जितने प्रकार के भी कार्य करने पड़ते है, उनमें उनकी स्वाभाविक रुचि होती है तथा वे उनकी शक्ति के बाहर नहीं होते।

मांटसोरी पद्धति में ज्ञानेन्द्रियों के विकास के लिए शिक्षण-यंत्र (Didactic apparatus) का प्रयोग किया जाता है। इन शिक्षण-यंत्रों की सहायता से शिशु एक विशेष प्रकार के कार्य कर सकते हैं क्यों कि इनकी बनावट ही कुछ ऐसी होती है। इससे यह लाभ होता है कि विद्यार्थियों को निषेधात्मक आदेश नहीं देने पड़ते। सच तो यह है कि शिक्षण-यंत्रों की इन विशेषताओं के कारण शिक्षक का कार्य केवल निर्देशन का हो जाता है। विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के विकास के लिए विभिन्न प्रकार के शिक्षण-यंत्र (Didactic apparatus) का व्यवहार होता है। बच्चों को क्रमानुसार आकार में छोटे दस ऐसे बेलनाकार (cylinder) दिये जाते हैं जिनको वे अपने-आप क्रमानुसार लगाना चाहते हैं।

ऐसा करने में बच्चे ग़लती भी करते हैं। लेकिन कुछ अनुभव के पश्चात् वे सही तरीका सीख लेते हैं। इस प्रकार बच्चे 'स्वयं-शिक्षा' (auto-education) प्राप्त करते हैं। बेलनाकार लकड़ी के टुकड़ों को क्रम से लगाने के अभ्यास के बाद बच्चे लकड़ी के दस ऐसे घनों (cubes) की सहायता से मीनार बनाने की कोशिश करते हैं जो क्रमानुसार छोटे होते हैं और जिनका रंग गुलाबी होता है। इनके अतिरिक्त बच्चों को लकड़ी के दस भूरे 'प्रिज्म' दिये जाते जाते हैं जो क्रमानुसार आकार में छोटे-बड़े होते हैं। लकड़ी की हरे रंग के दस ऐसे लम्बे टुकड़े भी दिये जाते हैं जिनकी लम्बाई क्रमानुसार दस सेंटीमीटर से एक सेंटीमीटर के भीतर होती है। इन सब लकड़ी के शिक्षण-यंत्रों की सहायता से बच्चे विभिन्न आकारों का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

स्पर्शेन्द्रिय की शिक्षा के लिए बच्चों को आयताकार दफ्ती अथवा अन्य किसी वस्तु की दो ऐसी तख्तियाँ दीजाती हैं जिनमें एक की सतह खुरदरी और दूसरे की चिकनी होती है। ऐसी भी आयताकार तख्तियाँ दी जाती है जिनपर खुरदरे और चिकनेपन की दृष्टि से कई प्रकार के कागज चिपकाये जाते हैं। इनका स्पर्श कर बच्चे विभिन्न प्रकार की सतहों की चिकनाई या खुरदरापन पहिचानते हैं। इसके बाद उन्हें मखमली, ऊनी, रेशमी, सूती आदि कई प्रकार के कपड़ों के छोटे रुमाल से टुकड़े दिये जाते हैं। इन कपड़ों को छूकर बच्चे स्पर्शेन्द्रिय का विकास करते हैं। आयताकार लकड़ी की छोटी टिकियाँ जो एक ही प्रकार की होती हैं, लेकिन जिनका भार और रंग भिन्न होता है, बच्चों को दी जाती हैं। विभिन्न प्रकार के रंग और भार की लकड़ियों की इन टिकियों के स्पर्श से बच्चों को भार का अनुमान होने लगता है। विभिन्न रंगों की पहिचान के लिए दो डब्बों में रंगीन टिकियाँ

होती हैं। प्रत्येक डब्बे में चौंसठ टिकियाँ होती हैं। ये टिकियाँ आठ रंग की होती हैं। प्रत्येक रंग में आठ शेड होते हैं। लाल रंग की टिकियों के आठ शेड, हरे रंग की टिकियों के आठ शेड, इसी प्रकार अन्य रंगों के आठ-आठ शेड मिलकर चौंसठ टिकियाँ एक डब्बे में हो जाती है। ठीक इन्हीं रंगों और शेड की चौंसठ टिकियाँ दूसरे डब्बे में होती हैं। इन रंगीन टिकियों को दोनों डब्बों में से पहले रंगीन टिकियों के जोड़े बनाते हैं। इस प्रकार उन्हें रंग की पहिचान हो जाती है। इसके बाद उन्हें एक रंग के विभिन्न शेड का ज्ञान होता है। एक ही रंग के विभिन्न शेड की पहिचान से बालकों की दृश्येन्द्रिय की शिक्षा होती है। इसी प्रकार ज्योमैट्रिक शक्ल के भी कुछ शिक्षण-यन्त्र होते हैं। इनकी सहायता से भी बालकों को अनेक प्रकार के आकारों का ज्ञान होता है। इनके अतिरिक्त श्रवणेन्द्रिय, तथा स्वादेन्द्रिय सम्बन्धी अभ्यासों की व्यवस्था मांटसोरी-पद्धति में है। नमक, चीनी, चाय आदि की शीशियाँ स्वादेन्द्रिय सम्बन्धी अभ्यास के लिए होती हैं। घ्राणेन्द्रिय की शिक्षा के लिये भी चाय, काफी तथा अन्य वस्तुओं की बोतलें होती हैं। इनकी महक से बच्चे वस्तुओं को पहिचानते हैं। श्रवणेन्द्रिय की शिक्षा के लिए विभिन्न ध्वनियों की घंटियों का प्रयोग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि जितनी भी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं उनकी शिक्षा की ओर मांटसोरी पद्धति में पूरा ध्यान दिया जाता है। ऐसा करते समय समानता और विरोध तथा विभिन्न प्रकारों में क्रम निकालने का सिद्धांत काम में आता है। बच्चे वस्तुओं का वर्गीकरण इन्हीं दृष्टियों से करते हैं और इस प्रकार उनकी ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा होती है।

मांटसोरी पद्धति में भाषा-शिक्षण का आरंभ 'लिखने' से होता है, क्योंकि मांटसोरी का यह विचार है कि बच्चों को पहले

'लिखना' सिखाना चाहिए और फिर पढ़ना। उनका कथन है कि बच्चों के लिए पढ़ने से अधिक लिखना सरल है क्योंकि पठन में शुद्ध उच्चारण आवश्यक है। बच्चे आरंभ में शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते। लेकिन लिखने में इन्हें कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती। ड्राइंग करते-करते लकड़ी के बने अक्षरों से खेलते हुए, अक्षरों के आकारों पर उंगलियाँ फेरते हुए बच्चे लिखना सरलता-पूर्वक सीख जाते हैं। यह कार्य बच्चे चौथी कक्षा में करते हैं। जब वे पाँचवीं कक्षा में पहुँचते हैं तब उन्हें पढ़ना भी सिखाया जाता है। मांटसोरी पद्धति में इस बात की कोशिश की जाती है कि बच्चे समझकर पढ़ें। इसके लिए उन्हें वे ही शब्द और वाक्य पढ़ने को कहा जाता है जिनका अभ्यास लिखने में उन्होंने कर लिया है। इसी प्रकार पाठ्यक्रम के अन्य विषयों गणितादि की स्वयं-शिक्षा बच्चे ग्रहण करते हैं। सच तो यह है कि मांटसोरी पद्धति का वास्तविक रूप मांटसोरी विद्यालय में ही देखने को मिल सकता है। बिना मांटसोरी स्कूल में गये मांटसोरी पद्धति का वास्तविक ज्ञान संभव नहीं है। इसलिए मांटसोरी-पद्धति के अध्ययन के लिए मांटसोरी स्कूल का निरीक्षण अत्यंत आवश्यक है।

शिक्षा का संगठन—शिक्षा के संगठन की दृष्टि से मांटसोरी स्कूल की बनावट का बड़ा महत्त्व है। मांटसोरी चाहती हैं कि बच्चों को उनके अनुकूल वातावरण में शिक्षा दी जाय। अतः बच्चों का स्कूल उनके घर के समान होना चाहिए। मांटसोरी ऐसे शिक्षालय-भवन को नापसंद करती हैं जो प्रौढ़ व्यक्तियों के आराम की दृष्टि से बनाए जाते हैं। उनके अनुसार 'बच्चों के घर' में छोटी-कुर्सियाँ मेज़ और ऐसे सामान होने चाहिएँ जिन्हें वे आसानी से हटा रख सकें। इसके अतिरिक्त बच्चों को पूरी स्वतन्त्रता हो जिससे वे अनुभव करें कि उनके लिए कोई अवरोध नहीं है। इसका

प्रभाव बच्चों पर बड़ा अच्छा पड़ता है और यही उनके आंतरिक विकास में बड़ा सहायक होता है। मांटसोरी का यह निश्चित मत है कि उनकी शिक्षा का महत्त्व उसके संगठन में नहीं, वरन् बच्चों पर पड़ने वाले प्रभाव में है। बच्चे के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास इसी 'प्रभाव' का परिणाम होता है। जहाँ तक अनुशासन का सम्बन्ध है, वह बाहरी नहीं, वरन् भीतरी होता है। दूसरे शब्दों में मांटसोरी विद्यालय में बच्चे विभिन्न शिक्षण-यंत्रों में इस प्रकार तल्लीन रहते हैं कि उन्हें व्यर्थ की बातों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं होती। इसलिए मांटसोरी विद्यालय में अनुशासन की समस्या उपस्थित नहीं होती। मांटसोरी के शिक्षा-संगठन में शिक्षक का भी महत्त्व है। शिक्षक के हृदय में बच्चों के प्रति स्नेह और सहानुभूति आवश्यक है। इतना ही नहीं, वरन् शिक्षक को सदा बच्चों के विशेष व्यक्तित्व का ध्यान रखना चाहिए। जब शिक्षक का व्यवहार बच्चों के साथ इस प्रकार होता है, तब उनके हृदय में भी शिक्षक के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है और वे उसे अपना संरक्षक और सहायक समझते हैं। इस प्रकार मांटसोरी विद्यालय में बच्चे स्वतंत्र रूप से, अपनी इच्छानुसार, व्यक्तिगत स्वयं-शिक्षा प्राप्त करते हैं।

मांटसोरी का प्रभाव—मांटसोरी की शिक्षण-पद्धति फ्रोयबेल की शिक्षण-पद्धति का एक प्रकार से विकसित रूप है। अतः शिक्षा के इतिहास की दृष्टि से मांटसोरी का महत्त्व इसलिए की है कि उन्होंने फ्रोयबेल की परम्परा को आगे बढ़ाया और बालक की स्वयं-शिक्षा का प्रबन्ध किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मांटसोरी के समान शिशु-शिक्षा के लिए किसी अन्य शिक्षा-शास्त्री ने कार्य नहीं किया। अतः मांटसोरी ने जब तीन वर्ष से छः वर्ष के बालकों की शिक्षा पर प्रकाश डाला तब उसका सारे संसार पर

प्रभाव पड़ा। मांटसोरी शिक्षण-पद्धति में विशेष-व्यक्तित्व और अध्यात्मिक जीवन पर जो बल दिया जाता है, उसके फलस्वरूप इसके सबसे प्रधान समर्थक थियोसाफिकल सोसायटी के सदस्य हैं। थियोसाफिकल स्कूलों के साथ मांटसोरी स्कूलों का होना स्वाभाविक सी बात है। इस प्रकार मांटसोरी की शिक्षा का प्रभाव सारे संसार पर पड़ा है और उसके फलस्वरूप बच्चों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है।

आलोचना—मांटसोरी-पद्धति की उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ शिक्षाशास्त्रियों को संदेह है। किलपैट्रिक महोदय ने इस पद्धति पर एक पुस्तक लिखा है जिसका नाम है—'मांटसोरी सिस्टम एक्ज़ामिंड'। इस पुस्तक में मांटसोरी पद्धति की त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। साधारणतः निम्नलिखित त्रुटियाँ मांटसोरी-पद्धति में बताई जाती हैं :—

१—मांटसोरी पद्धति में ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान के प्रयोगों से यही परिणाम निकलता है। इसके अतिरिक्त ज्ञानेन्द्रियों के विकास पर बुद्धि का विकास निर्भर नहीं है क्योंकि ऐसे कितने ही व्यक्तियों को देखा गया है जिनकी बुद्धि तो प्रखर है, पर उनकी ज्ञानेन्द्रियों का विकास निम्नकोटि का है। जहाँ तक ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा की पद्धति का प्रश्न है, वह भी ग़लत है क्योंकि मांटसोरी पद्धति में प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की शिक्षा अलग-अलग दी जाती है जब कि सभी ज्ञानेन्द्रियाँ एक दूसरे के सहयोग से काम करती हैं। अतः उनकी शिक्षा भी सम्मिलित रूप से होनी चाहिए।

२—मांटसोरी पद्धति में व्यक्तित्व के विकास के लिए ऐसे कार्यों की व्यवस्था है जो बच्चों की आयु के अनुकूल नहीं है। शिशुओं को वयस्कों के कार्य सिखाना अमनोवैज्ञानिक है।

३—मांटसोरी पद्धति में वास्तविक खेल के लिए कोई स्थान नहीं है। खेल के नाम पर बच्चों से काम कराया जाता है। जिस कार्य में बच्चा अकेला हो और जिसमें उसकी कल्पना का प्रयोग न हो वह खेल नहीं हो सकता। अतः मांटसोरी पद्धति में वास्तविक खेल के स्थान पर बच्चों के लिए बोझिल कार्य होता है।

४—मांटसोरी-पद्धति में बच्चों की कल्पना को प्रोत्साहित नहीं किया जाता।

५—मांटसोरी पद्धति सामूहिक भावना की अवहेलना करती है। इसके द्वारा बालक में सामाजिक चेतना उत्पन्न नहीं होती।

इस प्रकार के विरोध मांटसोरी पद्धति के सम्बन्ध में व्यक्त किये जाते हैं। इन विरोधों में कुछ तथ्य है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मांटसोरी पद्धति उपयोगी नहीं है। उसकी उपयोगिता तो उस समय और बढ़ जाती है जब उसकी त्रुटियों को दूर कर दिया जाता है। अतः मांटसोरी पद्धति में अनुभव के आधार पर कुछ संशोधन आवश्यक है।

शिक्षा के अन्य रूप

अब तक हम सामान्य बाल-शिक्षा के दृष्टिकोण से विचार करते आए हैं। लेकिन शिक्षा में जब से सामाजिक और जनतांत्रिक चेतना का समावेश हुआ है, तब से अंधे, बहरे, मंद बुद्धि के बालकों आदि की शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। ऐसा होना उचित भी है क्योंकि समाज का जब कोई सदस्य किसी कारण अपना कार्य नहीं कर पाता, तब समाज का यह अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है कि उसकी सहायता करे। इन्हीं सब कारणों से शिक्षा के अन्य रूपों का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त शिक्षा के उन सामान्य रूपों की ओर अधिक ध्यान दिया गया जिनका महत्त्व आधुनिक युग में स्वीकार किया जाता है।

नर्सरी-स्कूल—नर्सरी स्कूल के लिए जो आंदोलन चला उसके पीछे बाल-मनोविज्ञान की प्रेरणा थी। फलतः दो वर्ष से लेकर चार वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा के लिए नर्सरी स्कूलों की व्यवस्था की गई। नर्सरी स्कूलों की प्रगति इंगलैंड में सन १९१८ में संतोषप्रद थी और इनके सम्बन्ध में सरकार ने एक ऐक्ट (Fisher Act) भी स्वीकृत किया। इसके अतिरिक्त नर्सरी स्कूल आंदोलन को मिस मारगरेट मैक्मिलन तथा ग्रेस ओवन के कार्यों से बड़ी सहायता मिली। इन लोगों ने लंदन और मैंचेस्टर के जिलों में नर्सरी स्कूलों का प्रबन्ध किया। इस प्रकार धीरे-धीरे इंगलैंड में नर्सरी-शिक्षा की व्यवस्था हुई और कितने ही लोग इसके विशेषज्ञ भी हो गये। सन् १९२० में नर्सरी-शिक्षा के कुछ विशेषज्ञ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के न्यूयार्क टीचर्स कालेज कोलम्बिया यूनीवर्सिटी में अध्यापन कार्य के

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का एक पब्लिक स्कूल
बच्चे दोपहर का भोजन कर रहे हैं।

लिए गये। इसके बाद अन्य स्थानों में नर्सरी स्कूलों की स्थापना हुई। आज संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में नर्सरी स्कूलों की पर्याप्त संख्या हो चली है। इन स्कूलों में जहाँ दो-तीन वर्ष के बच्चे 'शिक्षित' होते हैं, वहीं इन बच्चों की सहायता से बाल-मनोविज्ञान सम्बन्धी अनेक तथ्यों की जानकारी भी प्राप्त हुई है। मांटसोरी ने बच्चों की जिन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया, उनके सम्बन्ध में भी नर्सरी स्कूलों में पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार पश्चिम के प्रायः सभी उन्नतिशील देशों में नर्सरी स्कूलों की व्यवस्था हो चली है।

बुद्धि-परीक्षा का विकास—बाल मनोविज्ञान और शिक्षा-मनोविज्ञान के विकास में मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से बड़ी सहायता मिली है। अल्फ्रेड बिनेट और साइमन ने बुद्धि-परीक्षा की ओर शिक्षा-विशेषज्ञों का ध्यान सन् १९०५ में आकर्षित किया। इनके पूर्व वुंड ने सन् १८७९ ई० में तथा कैटल फेरैंड ने १८९०-९६ ई० में विद्यार्थियों की बुद्धि-परीक्षा सम्बन्धी प्रयोग किये। कैटल के समकालीन एबिंघास ने भी १८९७ ई० में बुद्धि परीक्षा के प्रयोग किये थे। कहना न होगा कि शिक्षा-मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण बुद्धि-परीक्षा सम्बन्धी प्रयोग होना स्वाभाविक था। शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षा सम्बन्धी तथा अन्य दोष बुद्धि-परीक्षा द्वारा दूर करना चाहा। उनके इस कार्य की प्रगति की रूपरेखा कुछ इस प्रकार है :—

१९०८ में बिनेट ने अपनी पहली बुद्धि-परीक्षा में परिवर्तन किया और उसे आयु के अनुसार सामूहिक बुद्धि परीक्षा का रूप दिया। १९०९ में थार्नडाइक ने हाथ की लिखावट के आधार पर बुद्धि-परीक्षा की। इसी वर्ष कोर्टिस ने गणित की बुद्धि-परीक्षा निर्धारित की। १९११ में बिनेट द्वारा निर्धारित परीक्षा में

अंतिम संशोधन हुआ। १९११-१४ ई० में स्टार्च, इलियट, केली जानसन आदि मनोवैज्ञानिकों ने शिक्षालयों में प्रचलित परीक्षा की मनोवैज्ञानिक जाँच की और उनमें जो त्रुटियाँ थीं, उनकी ओर ध्यान आकर्षित किया। इसी समय बिनेट की बुद्धि-परीक्षा का व्यवहार आरंभ हुआ। १९१५-१६ ई० में टरमैन ने बिनेट की बुद्धि-परीक्षा में परिवर्तन किया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भाषा, गणित, आदि विषयों की जाँच के लिए मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं का व्यवहार हुआ। १९१७-१८ ई० में प्रथम महायुद्ध के अवसर पर सेना में बुद्धि-परीक्षा का व्यवहार किया गया और १९२० के बाद बुद्धि-परीक्षा का विकास तीव्र गति से होने लगा। इस विकास की यह विशेषता रही है कि विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए अलग-अलग बुद्धि-परीक्षाए निर्धारित की गई और इस प्रकार शिक्षा में मनोवैज्ञानिक बुद्धि-परीक्षा का समावेश हुआ।

पाठ्यक्रम में सुधार—परीक्षा की भाँति पाठ्यक्रम का पुनर्संगठन भी मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया। प्रथम महा-युद्ध के पूर्व पाठ्यक्रम सम्बन्धी सुधार के प्रयास आरंभ हुए। लेकिन वैज्ञानिक रीति से प्रयास और सुधार करने का श्रेय बॉबिट, बॉसंर और चार्टर्स * को है। इनके कार्यों के फलस्वरूप पाठ्यक्रम सम्बन्धी खोज (रिसर्च) की ओर शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान गया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में पाठ्यक्रम-सुधार सम्बन्धी कार्य अत्यधिक मात्रा में हुआ। इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य टीचर्स कालेज कोलम्बिया यूनिवर्सिटी न्यूयार्क में हुआ है। सन् १९४८ तक इस कालेज में चौदह हजार से अधिक पाठ्यक्रमों पर प्रयोग किये जा चुके थे। अतः सरलतापूर्वक अनुमान किया जा सकता है कि

---

* Bobbitt, Bonser, and Charters.
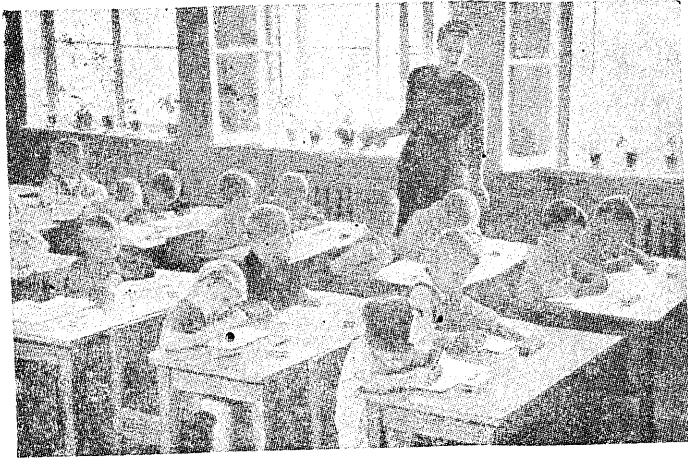
सोवियत रूस, मास्को का एक किंडरगार्टन स्कूल

पाठ्यक्रम में मनोवैज्ञानिक आधार पर सुधार करने का कितना प्रयास किया जा रहा है। इन प्रयोगों के आधार पर आधुनिक शिक्षाशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पाठ्यक्रम बालक की आवश्यकताओं तथा जीवन की दृष्टि से बनाना चाहिए। अतः उसी पाठ्यक्रम को आज अच्छा मानते हैं जो बालक की विभिन्न परिस्थितियों का विरोध न कर उनके साथ सामंजस्य उत्पन्न करता है। †

अपराधी बालकों की शिक्षा—उपयुक्त वातावरण न पाने के कारण कुछ बालक अपराधी (deliquent) हो जाते हैं। उनमें अपराध करने की आदत पड़ जाती है। अतः ऐसे अपराधी बालकों का सुधार कैसे किया जाय, इसके सम्बन्ध में भी शिक्षा-शास्त्रियों ने विचार किया। सर्व प्रथम न्यूयार्क में सन् १८२५ में अपराधी बालकों के लिए 'सुधार-घर' (Reformatory House) की स्थापना हुई। इस सुधार-घर में अपराधी बालक एक निश्चित अवधि तक रखे जाते थे। वास्तव में यह सुधार-घर एक ऐसे जेल के समान था जिसमें उनकी आदत में सुधार और परिवर्तन की कोशिश की जाती थी। अतः अपराधी बालकों के लिए इस प्रकार के सुधार-घरों की अन्य स्थानों में भी व्यवस्था होने लगी। इसके अतिरिक्त यह भी अनुभव किया गया कि उन कारणों को भी दूर करना चाहिए जिनके कारण बालक अपराधी बनते हैं। अतः कुछ ऐसे स्कूलों की भी व्यवस्था हुई जिसमें माता-पिता को यह शिक्षा दी जाती थी कि बच्चों को किस प्रकार रखा जाय कि वे अपराधी न बने। साथ ही स्कूलों में अनुशासन की

† S. Duggan : A Students' Text-Book in the History of Education. Page 335.

ओर भी ध्यान दिया गया। यह तो हुई अपराधी बालकों के सुधार की बात। जहाँ तक उनको दंड देने का प्रश्न था, उसके लिए 'तरुण न्यायालय' (Juvenile Court) की स्थापना की गई। ऐसा न्यायालय सर्व प्रथम शिकागो में (१८९९) स्थापित हुआ। धीरे-धीरे इस प्रकार के तरुण न्यायालय पश्चिम के अन्य देशों में भी स्थापित हुए। इंगलैंड, फ्रांस, हंगरी, कनाडा, अर्जेनटाइन आदि देशों में अपराधी बालकों के लिए न्यायालय की व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

बीसवीं सदी के आरम्भ में मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अपराधी बालकों की दशा पर नवीन प्रकाश पड़ा और सन् १९२१ में इस सम्बन्ध में एक आंदोलन का सूत्रपात हुआ। इस आंदोलन के फलस्वरूप न्यूयार्क में अपराधी बालकों के लिए बाल-सुधार मनोविज्ञानशालाओं की स्थापना हुई। इसी प्रकार के प्रयास अन्य देशों में भी हुए और मनोविज्ञान की सहायता से उन कारणों को दूर करने की कोशिश की जाने लगी जो बालक को अपराधी बनाते थे। मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि अपराधी बालकों को सुधार घर या स्कूल में रखना ग़लत है। ऐसे बालकों का सुधार सामान्य सामाजिक परिस्थितियों में हो सकता है। इसके लिए बालक के घर, स्कूल और जातीय वातावरण को इस प्रकार बनाना आवश्यक है कि बालक 'अपराध' की ओर आकर्षित न हो। इसके अतिरिक्त तरुण-न्यायालयों की कार्य-प्रणाली में भी परिवर्तन हुआ। उनका कार्य अब अपराधी बालकों को 'सज़ा' देना ही नहीं है, वरन् उनके सुधार और उत्थान की भी व्यवस्था करना हो गया है। इस प्रकार आधुनिक काल में अपराधी बालकों की शिक्षा की ओर पश्चिमी देशों में पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है।

अंधों की शिक्षा—सामाजिक उत्तरदायित्व के विकास के फलस्वरूप अंधे बालकों की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। सन् १७८४ में फ्रांस के पेरिस में अंधों के लिए एक स्कूल खोला गया। संभवतः यह स्कूल संसार में सबसे पहला था। इसकी स्थापना का श्रेय वैलेंटिन हाव (Valentin Hauy) को था। इसके बाद सन् १७९१ में ब्रिटेन के लिवरपूल नामक स्थान में दूसरा नेत्र-विहीन विद्यालय स्थापित हुआ। इसकी देखा-देखी इंगलैंड में ऐसे अनेक स्कूल खुल गये। अंधों के लिए स्कूल आस्ट्रिया में सन् १८०४ में तथा जर्मनी के बर्लिन नगर में सन् १८०६ में स्थापित हुआ। इसके बाद अन्य देशों में भी इस प्रकार के स्कूल खोले गये। जैसा कि शिक्षा के सामाजिक विकास में देखा गया, नेत्र-विहीन विद्यालयों की स्थापना भी दानी और लोकहित से प्रेरित व्यक्तियों द्वारा हुई।। इसके बाद राज्य ने अंधों की शिक्षा के लिए अनुदान (Grant) देना आरंभ किया। अंधों की शिक्षा के लिए उभरे अक्षरों की पुस्तकों की रचना का भी उल्लेख आवश्यक है। इस प्रकार की सर्व प्रथम पुस्तक सन् १७८६ में पेरिस में बनाई गई। इसके बाद लुई ब्रेल (Louis Braille) ने 'ब्रेल-पद्धति' के अनुसार अंधों के लिए सन् १८२५ में पुस्तक तैयार किया। ब्रेल पद्धति अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई और आज सारे संसार में अंधों की शिक्षा के लिए इसी पद्धति के अनुसार तैयार की गई पुस्तकों का प्रयोग होता है।

बहरों की शिक्षा—अंधों की भाँति बहरों की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। कहते हैं कि स्पेन के एक 'मांक' ने बहरों के लिए पहला स्कूल सोलहवीं सदी में खोला। इसके बाद सन् १७६० में पेरिस में बहरों का स्कूल खोला गया। इस स्कूल में बहरों को संकेत द्वारा शिक्षा दी जाती थी। इसकी प्रगति की ओर

फ्रांस की सरकार का ध्यान गया और सन् १७९१ में यह स्कूल सरकारी हो गया। इसी प्रकार इंगलैंड और जर्मनी में भी बहरों के लिए स्कूल खोले गये। इंगलैंड में ब्रेडवुड (Braidwood) तथा जर्मनी में हाइनेक (Heinecke) ने बहरों की शिक्षा के लिए स्कूल खोलने का सर्व प्रथम प्रयास किया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में टामस हापकिन्स (Thomas Hopkins) ने बहरों का सर्व प्रथम स्कूल सन् १८१७ में स्थापित किया। इस स्कूल में भी संकेत द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। इतना ही नहीं हापकिन्स ने बहरों के शिक्षकों की ट्रेनिंग की भी व्यवस्था की। सन् १८६४ में अमेरिका में गूँगे-बहरों की उच्च-शिक्षा के लिए एक कालेज की भी स्थापना हुई। लेकिन इसी समय शिक्षण-पद्धति के सम्बन्ध में वाद-विवाद आरंभ हो गया। जर्मनी के हाइनेक ने बहरों के लिए मौखिक पद्धति (Oral method) बनाया था। अतः प्रश्न उपस्थित हुआ कि संकेत पद्धति तथा मौखिक पद्धति में से कौन सी पद्धति अधिक उपयोगी है। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् १८९० में बहरों के अमरीकी शिक्षकों की सभा ने मौखिक पद्धति को अधिक उपयोगी स्वीकार किया। इसके बाद बहरों की शिक्षा का विकास तीव्रगति से होने लगा और आज प्रायः सभी देशों में इस शिक्षा का प्रबन्ध है।

अपाहिजों की शिक्षा—अपाहिजों (Crippled) की शिक्षा का सर्व प्रथम प्रबन्ध करने का श्रेय जर्मनी को है। सन् १८३२ में म्यूनिख़ के कुर्त्स (Kurtz) नामक व्यक्ति ने अपाहिजों की शिक्षा का प्रयास किया। उसने इसके लिए एक संस्था संगठित की जो बाद में राज्य के संरक्षण में हो गई। इस संस्था की ओर से अपाहिजों के लिए एक गृह-शिक्षालय (home school) की व्यवस्था हुई। इस प्रकार अपाहिजों के रहने तथा शिक्षा का एक साथ प्रबंध
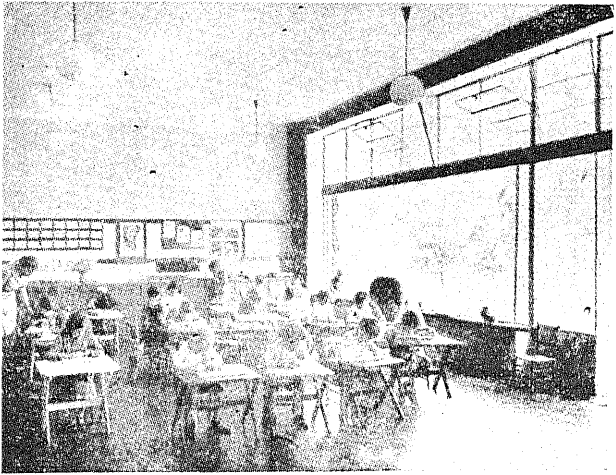
ब्रिटेन का आधुनिक जूनियर स्कूल

किया गया। इस स्कूल की शिक्षा-प्रणाली ऐसी थी कि अपाहिज शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने जीवन-निर्वाह के लिए कार्य करने लग जाते थे। सन् १८७७ से १९०२ तक के बीच इस स्कूल में जितने अपाहिज छात्र भर्ती हुए उनमें से नब्बे प्रतिशत शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जीवन-निर्वाह के योग्य बन गये। ग्रेट ब्रिटेन में भी अपाहिजों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया। सन् १८६६ में इसके लिए 'द इनवैलिड चिल्ड्रेनेंस एंड सोसायटी' की स्थापना की गई। १८९८ में लंदन के स्कूल-बोर्ड ने अपाहिजों की शिक्षा का प्रबन्ध किया। इसके बाद अपाहिज बालकों की शिक्षा की व्यवस्था के लिए सन् १८९९ में एक एक्ट बनाया गया। संयुक्त (राष्ट्र अमेरिका में अपाहिजों की शिक्षा का श्रेय डाक्टर नाइट Knight) और उनकी पुत्री को है। इन लोगों ने अपने घर पर सन् १८६१ में अपाहिज बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध किया। इसी कार्य के आधार पर अपाहिज बच्चों के लिए अस्पताल की भी व्यवस्था की गई और शिक्षा के लिए शिक्षकों को रखा गया। धीरे-धीरे अन्य स्थानों में भी अपाहिजों की शिक्षा के लिए कई संस्थाएं संगठित हो गईं। सन् १९०६ में न्यूयार्क के 'सिटी बोर्ड ऑफ एजूकेशन' तथा अन्य संस्थाओं के सहयोग से अपाहिजों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया गया। १९०७ में अपाहिजों को उनके घर से स्कूल तक लाने और ले जाने के लिए सवारी का भी प्रबन्ध हुआ। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के अन्य राज्यों में भी अपाहिजों की शिक्षा की व्यवस्था हुई। शिकागो में 'पब्लिक स्कूल सिस्टम' के साथ अपाहिजों की शिक्षा की व्यवस्था कानून बनाकर अनिवार्य कर दी गई। मेसाचूसेट्स में १९०७ में केवल अपाहिजों के लिए एक अच्छे स्कूल की स्थापना हुई। अब तो अपाहिजों की शिक्षा का सुंदर प्रबंध हो गया है। उन्हें शिक्षा देने के साथ-

साथ उनकी चिकित्सा की ओर भी ध्यान दिया जाता है और साथ ही उनके उपयुक्त कार्य की भी व्यवस्था की जाती है।

मंद बुद्धि की शिक्षा—मांटसोरी पद्धति का विकास मंद बुद्धि (Feeble minded) की शिक्षा से हुआ था। लेकिन इसकी ओर सबसे पहले ध्यान देने का श्रेय नैपोलियन को है। उसने सन् १८११ में मंद बुद्धि के लोगों की गणना कराई। इस गणना से मंद बुद्धि के लोगों की दशा सुधारने का प्रयास किया गया। सन् १८१६ में आस्ट्रिया के साल्जबर्ग नामक स्थान में मंद बुद्धि की शिक्षा के लिए पहला स्कूल खोला गया। लेकिन इसमें सफलता नहीं मिली और इसे १८३५ में बंद कर देना पड़ा। फ्रांस के डाक्टर सेग्विन को इस कार्य में सन् १८३७ में सफलता मिली। सेग्विन की सफलता के फलस्वरूप अन्य देशों में भी मंद बुद्धि की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। स्विट्ज़रलैंड और ग्रेट-ब्रिटेन में मंद बुद्धि की शिक्षा का प्रबन्ध सन् १८४५ में किया गया। इन देशों में तीन ऐसे स्कूलों की स्थापना हुई जिनमें मंद बुद्धि के उपचार और शिक्षा दोनों का प्रबन्ध था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में मंद बुद्धि के बालकों की शिक्षा का प्रयास १८२० ई० में आरंभ किया गया। लेकिन वास्तविक रूप से इनकी शिक्षा का प्रबन्ध सन् १८४८ में बोस्टन में हुआ। इसके बाद १८५१ में मेसाचूसेट्स में मंद बुद्धि के बालकों के लिए एक अच्छे स्कूल * की स्थापना हुई। इसी प्रकार अन्य देशों में भी मंदबुद्धि की शिक्षा का प्रबंध हुआ। मंद बुद्धि के बालकों की शिक्षा में बुद्धि-परीक्षा सम्बन्धी प्रयोगों से बड़ी सहायता मिली और आज इनकी शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध पश्चिम के प्रायः सभी देशों में हो गया है।

---

* Massachusetts School for the Idiotics and Feeble-minded Youth.

पद्धतियों का विकास—शिक्षा के अन्य रूपों में पद्धतियों के विकास का उल्लेख आवश्यक है। सामूहिक शिक्षा में जब कि एक साथ चालीस-पचास विद्यार्थी एक कक्षा में उपस्थित होते हैं, तब शिक्षक के लिए यह असंभव है कि वह प्रत्येक छात्र की ओर व्यक्तिगत ध्यान दे सके। अतः इस कठिनाई को दूर करने के लिए अनेक प्रयोग किए गये और उनके फलस्वरूप बटाविया पद्धति, डाल्टन पद्धति, और विनेटिका पद्धति आदि का विकास हुआ। मांटसोरी पद्धति से इन पद्धतियों के विकास में पर्याप्त सहायता मिली। बटाविया पद्धति के निर्माता जान केनेडी थे। सन् १८९८ में सामूहिक और वैयक्तिक शिक्षा में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास केनेडी महोदय ने न्यूयार्क राज्य के बटा-विया नामक स्थान में किया। इसी लिए इस पद्धति का नाम बटा-विया पद्धति पड़ा। इस पद्धति के अनुसार शिक्षण में यह विशेषता है कि शिक्षक प्रत्येक विद्यार्थी की ओर व्यक्तिगत ध्यान देता है और यह मालूम करता है कि कौन बालक तीव्र बुद्धि का और कौन मंद बुद्धि का है। इतना ज्ञात कर लेने के बाद शिक्षक मंद बुद्धि के बालक की प्रगति के लिए कोशिश करता है जिससे कि वह कक्षा के समान स्तर पर आ जाय। इस प्रकार बटाविया पद्धति में शिक्षक का महत्वपूर्ण स्थान है।

डाल्टन पद्धति की रचना कुमारी हेलेन पार्खर्स्ट ने की है। कुमारी हेलेन १९१४ में इटली गईं और वहाँ मांटसोरी पद्धति का अध्ययन किया। इसके बाद सन् १९१९ में उन्होंने डाल्टन, जो मेसाचूसेट्स राज्य में एक स्थान है, के हाई स्कूल में अपनी पद्धति का प्रयोग किया। कुमारी हेलेन की शिक्षण-पद्धति डाल्टन में सफल हुई। इसलिए इसका नाम डाल्टन पद्धति पड़ा। इस पद्धति पर कुमारी हेलेन ने स्वयं एक पुस्तक लिख कर प्रकाश डाला है।

इस पुस्तक का नाम है 'एजूकेशन ऑन द डाल्टन प्लान' और यह सर्व प्रथम १९२२ ई० में प्रकाशित हुई थी। डाल्टन-पद्धति के सिद्धांतों और कार्य प्रणाली का वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है लेकिन उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है, जो इस प्रकार है :—

१. कक्षा से अधिक बालक की प्रधानता। २. शिक्षण से अधिक स्वाध्याय की प्रधानता। ३. समय से अधिक स्वतंत्रता की प्रधानता। ४. शिक्षण के स्थान पर निश्चित कार्य की व्यवस्था। ५. विभिन्न गतियों का समावेश। ६. पथ-प्रदर्शक के रूप में शिक्षक। प्रयोग-शाला के रूप में कक्षा। ८. दैनिक कार्य के आधार पर परीक्षा।

शिक्षाशास्त्रियों का विचार है कि डाल्टन पद्धति में बालक की प्रगति वास्तविक और ठोस होती है क्योंकि इसमें बालक के लिए पूरी स्वतंत्रता की व्यवस्था होती है। यदि कोई बालक सुस्त भी होना चाहे तो वह नहीं हो सकता क्योंकि उसे निश्चित कार्य करना है। डाल्टन पद्धति से यह भी लाभ है कि बालक अपनी रुचि के विषय का गहन अध्ययन कर पाता है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति द्वारा शिक्षा बालकों में संगठन-शक्ति के विकास में सहायक होती है।

जहाँ डाल्टन पद्धति के गुणों का वर्णन होता है, वहीं इसके कुछ दोष भी बताये जाते हैं। सामान्यतः मांटसोरी पद्धति में जो त्रुटियाँ हैं, उन्हीं को इस पद्धति में भी बताते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी त्रुटियाँ हैं जिन्हें शिक्षा-शास्त्र * के अध्ययन द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

---

* शिक्षाशास्त्र, लेखक : सीताराम जायसवाल, प्रकाशक : नन्दकिशोर ऐण्ड ब्रदर्स, बनारस।

डाल्टन पद्धति के अतिरिक्त विनेटका पद्धति भी प्रचलित है। इस पद्धति के जन्मदाता इलिनाय (Illinois, U.S.A.) राज्य में विनेटका के कार्लटन डब्ल्यू वाशबर्न महोदय हैं। यह पद्धति निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित है :—

१—बालकों को वे बातें सिखायी जाय जिनका ज्ञान जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है।

२—बालक की प्रवृत्तियों और प्रकृति के अनुकूल जीवन और शिक्षा हो।

३—बालक के व्यक्तित्व का विकास सामाजिक हित के अनुकूल हो।

४—बालक शिक्षा द्वारा व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को भली भाँति समझे।

विनेटका पद्धति के अलावा गैरी पद्धति का भी उल्लेख आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमेरिका के इंडियाना राज्य में गैरी निवासी विलियम वर्ट * ने इस पद्धति का आविष्कार किया। गैरी पद्धति को 'प्लेटून पद्धति' भी कहते हैं। इस पद्धति द्वारा शिक्षालय में स्थान की कमी की समस्या हल हो जाती है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति द्वारा विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम की पूर्ति में सरलता होती है क्योंकि जब कक्षा का एक भाग गणित में लीन है, तब उसका दूसरा भाग बागबानी का काम करता है। इस प्रकार एक ही समय में पाठ्यक्रम के विभिन्न अंगों की व्यवस्था हो जाती है और बच्चों का 'कार्य तथा खेल' एक साथ चलता रहता है।

आधुनिक शिक्षा—आधुनिक शिक्षा के विकास में विद्या-

---

* William Wirt.

र्थियों के माता-पिता और अभिभावकों के सहयोग का भी प्रमुख स्थान है। यह अनुभव किया गया है कि जब तक शिक्षक और अभिभावक में सम्पर्क और सहयोग न हो, तब तक बालक की शिक्षा समुचित रूप से नहीं हो सकती। इसलिए अभिभावक-शिक्षक संस्था (Parent-Teacher Association) के संगठन की ओर ध्यान दिया गया, और आज ऐसी संस्थाओं का बड़ा महत्त्व है।

बालकों के सामाजिक विकास की दृष्टि से आधुनिक शिक्षा बालक की रुझान के अनुसार कार्य निश्चित करती है। शिक्षा के इस रूप को 'वोकेशनल गाइडेंस' कहते हैं। पश्चिमी देशों में 'वोकेशनल गाइडेंस' (Vocational Guidance) का बड़ा महत्त्व है। इसी के साथ बालकों के शारीरिक विकास की ओर भी पूरा ध्यान दिया जाता है। अब तो यह धारणा बन गई है कि जितना ध्यान बालकों के मानसिक और बौद्धिक विकास की ओर दिया जाता है, उतना ही ध्यान उनके शारीरिक विकास की ओर भी दिया जाय। फलतः आधुनिक शिक्षा में शारीरिक विकास (Physical Education) का बड़ा महत्त्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक शिक्षा के चतुर्दिक विकास का पूर्ण प्रयास पश्चिमी देशों में हो रहा है और इसका प्रभाव संसार के अन्य देशों पर भी पड़ रहा है क्योंकि अब यातायात के साधन इतने सुलभ हो गये हैं कि पूर्व और पश्चिम की दूरी मिटती जा रही है। ऐसा होना उचित ही है क्योंकि हमारा ध्येय विश्व-बंधुत्व है। जिस दिन मनुष्य विश्व-बंधुत्व और मानवता का ज्ञान प्राप्त कर लेगा उस दिन उसकी शिक्षा पूरी हो जायगी।

———:———